प्रकाशक—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
( भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक )
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पोस्ट बाक्स नं० १२९
वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ५५३५७





द्वितीय संस्करण १९८४
मूल्य Rs 60/-

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा विद्याभवन
( भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक )
चौक ( बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे ),
पो० बा० नं० ६९,
वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE

**CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA**

**34**

# NYĀYASIDDHĀNTAMUKTĀVALĪ

OF

VIŚWĀNĀTHAPANCANANA BHAṬṬĀCĀRYA

Edited with

**'Balapriya' Hindi Commentary**

*By*

Dr. Gajanana Shastri Musalagaonkar
M. A., Ph. D.
**Mimamsa-Vedanta-Sahityacarya, Sahityaratna**
*Ex-Head of the Department of*
Mimamsa-Dharmashastra, B. H. U., Varanasi.



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

*( Oriental Booksellers & Publishers )*
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

Second Edition
1984
Price Rs. [redacted]

*Also can be had of*
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
*( Oriental Booksellers & Publishers )*
CHOWK ( Behind The Benares State Bank Building )
Post Box No. 69
VARANASI 221001

ब्रह्मभावमवाप्ताः पूजनीयाः श्रीगुरुचरणाः



पूज्यपादेषु

पण्डितराज-राजेश्वरशास्त्रिचरणेषु

**श्रद्धाञ्जलिः**

ईशावतारमिव वागधिदेवतायाः
पुंविग्रहं प्रथितमुज्ज्वलकीर्तिकायम् ।
अध्यापनव्रतमनुज्झित-शास्त्रचिन्तं
श्रीमद्गुरुं कमपि पण्डितराजमीडे ॥

मुसलगाँवकरोपनामकस्य गजाननस्य

# प्राक्कथन

मैंने पण्डितप्रवर श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर द्वारा लिखित न्यायसिद्धान्तमुक्तावली प्रत्यक्षखण्ड की बालप्रिया व्याख्या का अवलोकन किया। इस व्याख्या में मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को सरल और सुन्दर हिन्दी भाषा के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। आवश्यकतानुसार शंका और समाधान शीर्षकों द्वारा प्रश्नों को प्रस्तुत कर उनके सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ के जो स्थल छात्रों की दृष्टि से कठिन माने जाते हैं उन स्थलों को विशेष रूप से सरल और सुस्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ के विभिन्न स्थलों में जो पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनका हृदयस्पर्शी ढंग से अत्यन्त मनोरम स्पष्टीकरण किया गया है। पूरे ग्रन्थ की व्याख्या देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि छात्रों को इस पुस्तक का अध्यापन करते समय छात्रों की जो कठिनाइयाँ श्री मुसलगांवकरजी के सामने आयीं, वे ग्रन्थ-रचना के समय स्मृति-रूप में बनी रहीं। फलतया उन्होंने ग्रन्थ की ऐसी व्याख्या की रचना की, जिससे छात्रों की उक्त कठिनाइयाँ निस्सन्देह निराकृत हो सकती हैं। न्याय-वैशेषिक के ऐसे उपयोगी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से एक सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए मैं शास्त्रीजी को धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि उनकी सुन्दर लेखनी से ऐसे ग्रन्थ सतत निर्गत होते रहेंगे।

**बदरीनाथ शुक्ल**
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

दि० ५ जून, १९७८

# आशीर्वाद

**महामीमांसक**

**विद्यासागर श्री पट्टाभिरामशास्त्री**

न्याय-मीमांसा-साहित्याचार्य

**सञ्चालक—वेदमीमांसानुसन्धान केन्द्र**

न्याय-वैशेषिक शास्त्र में विश्वनाथ का न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थ परम श्रेष्ठ माना गया है। यह अपने शास्त्र के पदार्थों को समझाने में अत्यन्त उपकारक है, साथ ही अन्य शास्त्रों के पदार्थों के जानने में भी इस ग्रन्थ का अध्ययन परम आवश्यक है। इस ग्रन्थ के ज्ञान के विना शास्त्रान्तर का ज्ञान अपूर्ण ही समझा जाता है। इस ग्रन्थ की संस्कृत व्याख्या, उपव्याख्या दिनकर भट्ट, रामरुद्र आदि धुरन्धर विद्वानों ने की है, किन्तु गुरुमुख से पढ़े विना उनका अर्थावबोध होना संभव नहीं है। आजकल की अध्येताओं की प्रवृत्ति को देखते हुए सर्वसाधारण को बोधगम्य होने के निमित्त मेरे प्रिय छात्र डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर ने सरल हिन्दी भाषा में उसकी व्याख्या की है, जो अतीव हृदयङ्गम है। इस ग्रन्थ में अनेक स्थल ऐसे हैं कि जिनको समझने में और समझाने में छात्र और अध्यापकों को अत्यन्त कष्ट का अनुभव करना पड़ता है। जैसा—जातिबाधक संग्रह, विशेष पदार्थ, साधर्म्य वैधर्म्य प्रकरण, 'पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्', आत्मनिरूपण-प्रकरण के नास्तिकवाद आदि स्थलों को सुगम रीति से समझाने का सफल प्रयत्न पण्डित जी ने किया है। आजकल संस्कृत-माध्यम से पढ़ने पढ़ाने की धारा एक प्रकार से अवरुद्ध ही है। उत्तर प्रदेश में पठन-पाठन हिन्दी से ही चल रहा है। इसको सोचकर ही शास्त्रीजी ने हिन्दी में व्याख्या की है। यह व्याख्या मुक्तावली ग्रन्थ के ज्ञानसंपादन में निःसन्देह परमोपकारक सिद्ध होगी। मैं अपने प्रिय छात्र शास्त्रीजी को आशीर्वाद देते हुए उनका अभिनन्दन करता हूँ और प्रेरणा देता हूँ कि वे इस प्रकार के कठिन ग्रन्थों की हिन्दी में व्याख्या करते हुए हिन्दी साहित्य को उपबृंहित करें और इस पवित्र कार्य से श्रेय और प्रेय को प्राप्त करें।

मेष सङ्क्रमण सप्तमी
वाराणसी

**पट्टाभिराम शास्त्री**

# दो शब्द

करुणावरुणालय प्रातःस्मरणीय आराध्य गुरुचरणों की निर्व्याज करुणा के परिणामस्वरूप 'बालप्रिया' व्याख्या प्रिय छात्रों एवं पूज्य विद्वानों के कर-कमलों में प्राप्त हो रही है यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

श्रीविश्वनाथ न्यायपञ्चानन भट्टाचार्य निर्मित **'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली'** की जटिल शैली से अध्येतागण विमनस्क होकर घबराते हैं, किन्तु घबरा कर उसके अध्ययन से वे विरत भी नहीं हो सकते, क्योंकि यह ग्रन्थ, दर्शनशास्त्रों के मन्दिर का प्रवेशद्वार है। इस प्रवेशद्वार पर स्वशिरोवनमन करना सभी प्रविविक्षुजनों के लिये अपरिहार्य है। इस विकट परिस्थिति को ध्यान में रखकर मेरे आराध्य-गुरुचरणों ने अत्यन्त कृपावन्त होकर स्नेहपरिप्लुत आशीर्वाद के साथ मुझे आदेश दिया कि न्यायशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में उपस्थित परिस्थिति की जटिल समस्या का शीघ्रातिशीघ्र समाधान का मार्ग यहीं हो सकता है कि न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पर एक ऐसी व्याख्या हिन्दी भाषा में लिखी जाय, जो सुविस्तृत हो और न्यायशास्त्रीय पद-पदार्थों को अध्येताओं की बुद्धि में अच्छी तरह जमा सके। अतः इस लोकोपकारक कार्य को तुम्हें ही करना है। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है, तुम इस कार्य को कर सकोगे, मुझे विश्वास है।

पूज्य गुरुजी की अनुल्लंघनीय आज्ञा पाकर और उनके आशीर्वाद का अवलम्बकर व्याख्या लिखने का कार्य मैंने प्रारम्भ कर दिया। मंगलवाद तक का व्याख्याग्रन्थ पूज्य गुरुजी की दृष्टि से परिपूत हो ही पाया कि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' नियम के अनुसार मेरे दुर्दैव के मेघों का उमड़ना शुरु हो गया। ई० सन् १९७७ की मार्च ६ तारीख को मेरे पूज्यगुरुचरण ८० वर्ष की अवस्था में अपने पार्थिव शरीर का त्याग कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये। अकस्मात् हुए व्रजपात से मैं आहत, होकर किंकर्तव्यविमूढ हो गया, व्याख्या लिखने का कार्य भी अवरुद्ध हो गया, किन्तु शतवर्षीय मेरे पूज्य पितृचरणों ने उस समय मुझे सांत्वना देते हुए कहा कि सच्छिष्य वही है, जो गुरु की आज्ञा सभी परिस्थितियों में पालन कर उनकी इच्छा को पूर्ण करता है। 'प्रारभ्य चोत्तमगुणा न परित्यजन्ति' यह उत्तम धीर प्रकृति का लक्षण है। अतः उनकी आज्ञा से जो कार्य कर रहे हो उसे शीघ्र पूर्ण करो, जिससे वे सन्तुष्ट होंगे। वे तो अमर हैं, उनका कीर्ति-शरीर आज भी है और सर्वदा

विद्यमान रहेगा। उनकी आज्ञा का बल पाकर मैंने पुनः व्याख्यालेखन का कार्य आरम्भ किया, बराबर प्रतिदिन करता रहा और योगजसन्निकर्ष पर लेखन चल ही रहा था कि मेरे शतवर्षीय पूज्य पितृचरण भी ई० सन् १९७७ को दिसम्बर २४ तारीख को सायं पाँच बजे अपने पार्थिव शरीर का त्यागकर भगवन्नामोच्चारण करते हुए ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये। पार्थिव शरीर त्यागने के चार दिन पूर्व ही व्याख्या के कतिपय अंशों को उन्होंने सुन लिया था, यह मेरे लिये सन्तोष की बात थी। इस दूसरे वज्रपात से मैं बहुत ही आहत हुआ। सिर पर से छत्र उठ गया, निर्व्याजस्नेह और अहैतुकी कृपा से मुझे परिपुष्ट करने वाले दोनों गुरुजन कर्णधार अपनी आशीर्वाद की नौका में मुझे बैठाकर स्वयं इस विनश्वर संसार से सदा के लिये चल बसे। पश्चात् उनकी आज्ञा और वात्सल्य ने उनकी कर्णधारता को स्वीकार कर मुझे पार पहुँचा ही दिया। मैं अपने दोनों गुरुजनों से कभी भी ऋण मुक्त हो ही नहीं सकता। उनके आशीर्वाद के बलपर ही व्याख्यालेखन समाप्त हुआ और चौखम्भा सुरभारती के संरक्षक बन्धुगणों की कार्यतत्परता एवं उत्साह तथा प्रेरणा से पुस्तक के आकार में यह व्याख्या आज पाठकों के कर कमलों में स्थान प्राप्त कर सकी है। तदर्थ इन बन्धुओं को हार्दिक आशीर्वाद के साथ अनेकानेक धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझ रहा हूँ। पुस्तक लेखन का कार्य केवल लेखक पर ही अवलंबित नहीं हुआ करता, बल्कि उसके अंगभूत अनेक कार्यों के सम्पादनार्थ उसे अनेक सहायकों की भी आवश्यकता होती है। तदनुसार इस लेखन कार्य में प्रेसकापी, उसका संशोधन, अनेक बार प्रूफसंशोधन, विषयसूची, चित्रपट, शुद्धिपत्र, लेखश्रवण, यत्र तत्र परामर्श आदि अनेक कार्य आवश्यक रहते हैं। ग्रन्थ सम्पादनार्थ एक सम्पादक की भी आवश्यकता रहती है। तब एक ग्रन्थ की निष्पत्ति हो पाती है।

इस ग्रन्थ में विषयसूची, शुद्धिपत्र, और चित्रपट के निर्माण में मेरे प्रिय छात्र चि० सोमनाथ नेने रिसर्चस्कालर B. H. U., ने बड़े मनोयोग के साथ सहायता दी है, तदर्थ मैं हार्दिक आशीर्वाद के साथ उसके अभ्युदय की कामना कर रहा हूँ। उसी तरह लेखश्रवण तथा यत्र-तत्र परामर्श देने में आत्मीयता के साथ जिन्होंने सहायता दी है, वे हैं उदारचरित्र विद्वान् मेरे कनिष्ठ गुरुबन्धु पण्डितप्रवर श्रीकीर्त्यानिन्द झा, न्यायाचार्य, प्राध्यापक दर्शन-विभाग काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, तथा महाकवि रतिनाथ झा, रीडर, दर्शनविभाग, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, एवं मेरी छात्रा डॉ० कु० विमला कर्नाटक प्राध्यापिका आर्ट्सकालेज, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय इन सभी के



अभ्युदय की कामना करता हुआ उन्हें अनेकानेक धन्यवाद देकर मैं अपना कर्तव्य पालन कर रहा हूँ। उसी तरह प्रूफसंशोधन, प्रेसकापी आदि कार्यों को तत्परता के साथ करने में मेरी कन्या कु० मीनामुसलगांवकर एम. ए. और मेरी छात्रा कु० वाराणसी लढ्ढा, रिसर्चस्कॉलर काशी हिन्दूविश्व-विद्यालय तथा मेरे भ्रातुष्पुत्र चि० श्यामराव एम. ए. वि. लिब. तथा चि० शेखर मुसलगांवकर एम. कॉम. का महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, तदर्थ उन सभी पुत्रों एवं कन्या और छात्रा के अभ्युदयार्थ उन्हें अनेक आशीर्वाद दे रहा हूँ।

सांगोपांग पुस्तक के सम्पादन में मेरे छात्र डॉ० कमलनयन शर्मा न्याय, मीमांसा, व्याकरण आदि नानाशास्त्राचार्य, एम. ए., पी. एच. डी., अस्थायी मीमांसा प्राध्यापक, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय ने बड़े मनोयोग के साथ महत्त्वपूर्ण सहायता की है, तदर्थ उनके अभ्युदय की कामना करता हुआ उन्हें आशीर्वाद के सहित अनेक साधुवाद प्रदान कर रहा हूँ।

अन्त में प्रूफवाहक, सीसकाक्षरयोजक आदि कर्मचारीगणों को भी जिनकी तत्परता से पुस्तक को मूर्त आकार प्राप्त हो सका है, उन्हें आशीर्वाद दे दे रहा हूँ।

शुभचिन्तक—
—गजाननशास्त्री

# भूमिका

अभिवन्द्य गुरुं भक्त्या **श्रीराजेश्वरशास्त्रिणम् ।**
पूज्यं **सदाशिवं** तातं कुर्वे व्याख्यां शिशुप्रियाम् ॥

पशु से लेकर मनुष्य तक सभी अपने-अपने जीवन की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। पशुजीवन उसकी सहज-प्रवृत्ति से परिचालित होता रहता है, किन्तु मनुष्य का जीवन उसकी अपनी बुद्धि की सहायता से चलता है। वह अपने बारे में तथा बाह्य जगद् के बारे में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। वह वर्तमान तथा भविष्य के परिणामों पर भी सोचता रहता है। मनुष्य में बुद्धितत्त्व की विशेषता है। उसकी सहायता से वह युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर पाता है। युक्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान के लाभार्थ किये जाने वाले प्रयत्न को ही **'दर्शन'** कहते हैं।

शब्द-व्युत्पत्ति के अनुसार यदि विचार करें तो 'दृश्यते अनेन तद् दर्शनम्' जिसके द्वारा देखा जाय उसे 'दर्शन' कहते हैं। मनुष्य के मन में सहज भाव से उठनेवाले प्रश्नों का समुचित उत्तर देकर मनुष्य को सन्तुष्ट करना ही दर्शन का मुख्य ध्येय है। मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाना है ? मेरा कर्तव्य क्या है ? यह सृष्टि ( संसार ) क्या है ? इसका कारण कौन है ? यह सृष्टि चेतन है या जड़ ? अपने जीवन को अच्छी तरह व्यतीत करने के लिए कौन-सा सुन्दर उपाय है ? इत्यादि अनेक प्रश्न मन में अहर्निश उठते रहते हैं, उन सबका समाधान एकमात्र दर्शनशास्त्र ही करता है। 'दर्शन' को **'शास्त्र'** शब्द से भी कहा जाता है। **'शास्त्र'** शब्द की निष्पत्ति दो धातुओं से होती है—'शास्' आज्ञा करना और 'शंस्' प्रकट करना या वर्णन करना। विधि या निषेध के रूप में आज्ञा ( शासन ) देने वाले शास्त्र श्रुति ( वेद ) स्मृति ( धर्मशास्त्र ) रूप हैं। इसलिये 'शासन' अर्थ में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग वेद और धर्मशास्त्र के लिए किया जाता है और वर्णन या प्रकट करने वाले शंसक ( बोधक ) शास्त्र का प्रयोग 'दर्शन' के लिए किया जाता है। इसके द्वारा किसी भी वस्तु के सत्य स्वरूप को बताया जाता है। **शासक शास्त्र** ( वेद, धर्मशास्त्र आदि ) क्रिया ( अनुष्ठान ) परक होता है और **शंसक शास्त्र** ( दर्शन ) ज्ञानपरक होता है। दर्शन शब्द के साथ 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग शंसक शास्त्र ( बोधक शास्त्र ) के अर्थ में ही किया जाता है। धर्मशास्त्र और वेद का कर्मकाण्डभाग कर्तव्याकर्तव्य का मुख्यरूप से विधान करता है,



इसलिए वह **'पुरुष परतन्त्र'** है और दर्शनशास्त्र, वस्तु-स्वरूप का वर्णन करता है इसलिये वह **'वस्तुतन्त्र'** है[1]।

## भारतीय दर्शन की व्यापक तथा उदार दृष्टि

भारतीय दर्शन की दृष्टि बहुत व्यापक और उदार है। भारतीय दर्शन की अनेकानेक शाखाएँ हैं और उनमें परस्पर मतभेद भी हैं, तथापि वे एक दूसरे के विचारों को समझने का प्रयास करती हैं, उनमें एक दूसरे के विचारों की उपेक्षा नहीं की गई है। सभी शाखाएँ परस्पर एक दूसरे की युक्तिपूर्वक उचित समीक्षा करती हैं तभी किसी ठोस सिद्धान्त पर पहुँच पाती हैं। इसी उदार मनोवृत्ति का यह परिणाम है कि भारतीयदर्शन में विचार-विमर्श के लिए एक विशेष पद्धति का निर्माण हुआ है। इस पद्धति के अनुसार प्रथमतः पूर्वपक्ष लिया जाता है, पश्चाद् उसका खण्डन करके तब अन्त में सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है। भारतीयदर्शन की प्रत्येक शाखा का समृद्ध होना, उक्त पद्धति का ही परिणाम है। भारत का प्रत्येक दर्शन, ज्ञान का एक-एक भण्डार है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपनी व्यापक विभूतियों के वर्णन के प्रसंग में अध्यात्मविद्या ( विचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र ) को अपना ही स्वरूप बताकर उसकी महत्ता ( प्रौढ़ता ) का समर्थन किया है[2]। मुण्डकोपनिषद् ने ब्रह्मविद्या को सर्वविद्याप्रतिष्ठा के रूपमें बताया है[3]। अर्थ-शास्त्र के प्रणेता कौटिल्य कहते हैं कि आन्वीक्षिकी विद्या, समस्त विद्याओं के लिए प्रकाशरूप दीपक है, तथा समस्त कर्मों के अनुष्ठान का साधनमार्ग है और सब धर्मों का आश्रय है[4]। विचारशास्त्र की स्वतन्त्रता यहाँ जैसी अन्यत्र न कहीं थी और न है।

## दर्शन और धर्म

भारत वर्ष में दर्शन और धर्म का तथा तत्त्वज्ञान और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्रिविध ताप से नितान्त तप्त हुई जनता की शान्ति के लिए,

---

१. 'शासनाद् शंसनाद् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते ।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः ।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम् ।

२. अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्'—[ गी० १०।३२ ]

३. स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह — [ मुं० उ० १।१ ]

४. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥ [ कौ. अ. १।२ ]

दुःखमय संसार से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति के लिए ही भारतीय दर्शनशास्त्रों का आविर्भाव हुआ है। यह विचारशास्त्र (दर्शन शास्त्र) विद्वानों की कमनीय-कल्पना का विलासमात्र नहीं है, अपितु उसका आधिपत्य इस व्यावहारिक सृष्टि-पर है। भारत के बाहर अन्य देशों में दर्शनशास्त्र ( विचारशास्त्र ) और धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं दिखाई देता, किन्तु भारतवर्ष में दर्शन और धर्म का सुदृढ़ सम्बन्ध सहज लक्षित होता है। दर्शन शास्त्र के द्वारा सुचिन्तित, सुविचारित व्यवहार ही धर्म है। भारत की दृष्टि में दर्शन और धर्म दो पृथक् नहीं है। दर्शन का व्यावहारिकरूप धर्म है, और धर्म का सैद्धान्तिकरूप दर्शन है। यही कारण है कि धर्म-विचारात्मक मीमांसा को षड्दर्शनों में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। अतः दार्शनिक वही है जो धर्म का ज्ञाता हो और तदनुरूप आचारसम्पन्न हो तथा धर्म का ज्ञाता और तदनुष्ठाता वही है जो दार्शनिक विद्वान् हो।

भारतीय दर्शन दो भागों में विभक्त किये गये है—आस्तिक तथा नास्तिक। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त, ये वैदिक आस्तिक दर्शन हैं। इन्हें षड्दर्शन भी कहते हैं। आस्तिक दर्शन का अर्थ ईश्वरवादी दर्शन नहीं है। इन दर्शनों में से सभी ने ईश्वर की चर्चा नहीं की है। फिर भी उन्हें आस्तिक इसीलिए कहा जाता है कि ये सभी वेद को प्रमाण मानते हैं। आस्तिक का अर्थ 'वेदानुयायी' तथा नास्तिक का अर्थ 'वेदविरोधी' है, अथवा परलोक में विश्वास रखने वाले को 'आस्तिक' तथा परलोक नहीं मानने वाले को 'नास्तिक' कहते हैं। आस्तिक की उक्त दो पारिभाषाओं में से किसी में भी 'चार्वाकदर्शन' नहीं आता, इसलिए उसे 'नास्तिकदर्शन' कहा जाता है।

श्री विद्यानिवास भट्टाचार्य के पुत्र **श्री विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य** के द्वारा विरचित **कारिकावली** ( भाषापरिच्छेद ) तथा उस पर उन्हीं के द्वारा निर्मित **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** नामक व्याख्यात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। इस व्याख्या ग्रन्थ की रचना पुत्रतुल्य प्रिय अपने **राजीव** नामक शिष्य को न्याय-वैशेषिकदर्शनों के सिद्धान्तों का यथार्थज्ञान कराने के लिये उन्होंने की है। इस ग्रन्थ पर दर्शनशास्त्र के अनेक महापण्डितों ने अनेकानेक संस्कृत-व्याख्याओं को लिखकर प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं श्रेष्ठता को स्पष्ट किया है।

न्यायदर्शन के प्रवर्तक महर्षि **गोतम** हैं, **'अक्षपाद'** नाम से भी इसकी प्रसिद्धि है। अतः 'न्यायदर्शन' का दूसरा नाम 'अक्षपाद-दर्शन' भी है। न्यायदर्शन के अध्ययन से युक्तियुक्त विचार तथा आलोचना करने की शक्ति प्राप्त होती है।



अतः उक्तदर्शन को न्यायविद्या, तर्कशास्त्र, आन्वीक्षिकी[१] भी कहते हैं। उक्त दर्शन में 'प्रमाण' का महत्त्व सर्वोपरि होने से इस दर्शन को 'प्रमाणशास्त्र' भी कहते हैं।

उसी तरह **'वैशेषिक-दर्शन'** के प्रवर्तक महर्षि **कणाद** हैं। इनका दूसरा नाम 'उलूक' भी है। इसलिये वैशेषिक दर्शन को 'औलूक्यदर्शन' भी कहते हैं। इस दर्शन में 'विशेष' संज्ञक पदार्थ की विशद विवेचना की गयी है, इस कारण इस दर्शन को 'वैशेषिकदर्शन' कहा जाने लगा। विशेषतः पदार्थों की विवेचना की गयी है, इसलिए इस दर्शन को 'पदार्थ-विज्ञानशास्त्र' भी कहने लगे। न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शनों में बड़ी समानता है। दोनों का उद्देश्य मोक्षप्राप्ति कराना है। दोनों के अनुसार समस्त दुःखों का मूल कारण **'अज्ञान'** है। इन दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही **मोक्ष** है। दोनों दर्शन 'वस्तुवादी' दर्शन हैं। यह वस्तुवाद, अनुभव एवं तर्क पर आधारित है। इतनी समानता रहने पर भी उक्त दोनों दर्शनों में दो मुख्य बातों को लेकर मतभेद लक्षित होता है। ( १ ) **न्यायदर्शन में** जहाँ चार प्रमाणों—'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द'—का स्वीकार किया गया है, वहाँ **वैशेषिक दर्शन** में दो प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान—को ही स्वीकार किया गया है। न्यायदर्शनोक्त उपमान और शब्द दो प्रमाणों को यह दर्शन अनुमान के ही अन्तर्गत मान लेता है।

( २ ) न्यायदर्शन जहाँ सोलह[२] पदार्थों के नाम गिनाता है, वहाँ वैशेषिक दर्शन केवल सात[३] पदार्थों के नाम गिनाता है। वैशेषिकदर्शन ने 'ज्ञेयत्व' और 'अभिधेयत्व' को ध्यान में रखकर सप्त पदार्थों का परिगणन किया है। वैशेषिक दर्शन ने शब्दबोध्य पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया है ( १ ) भावपदार्थ और ( २ ) अभाव पदार्थ। जिस वस्तु की सत्ता ( विद्यमानता ) है, उसे भाव-पदार्थ कहते हैं और जिसकी सत्ता नहीं है उसे अभाव पदार्थ कहते हैं। यह दर्शन भाव और अभाव दोनों को वास्तविक

---

१. 'प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकीन्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ।'–( वात्स्या. १।१।१ )

२. न्यायदर्शन के १६ पदार्थ—(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान।

३. वैशेषिकदर्शन के ७ पदार्थ—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और (७) अभाव।

समझता है। भाव पदार्थों में भी 'सत्ता' और 'वृत्ति' का अन्तर किया गया है। जो देश तथा काल में वर्तमान रहे वह 'सत्ता' ( Ixistance ) है, और जिसका दैहिक ( Spatial ) या कालिक ( Temporal ) अस्तित्व नहीं है, वह 'वृत्ति' ( Subsistence ) है। द्रव्य गुण और कर्म ऐसे भाव पदार्थ ( Positive entities ) हैं, जिनकी 'सत्ता' कही जाती है। न्यायदर्शन के अनुसार द्वितीय पदार्थ 'प्रमेय' है। प्रमाण के द्वारा जो जाने जाते हैं, उन्हें 'प्रमेय'[१] कहते हैं।

उक्त दोनों दर्शनों के पदार्थ-विभाजन को देखने पर किसका विभाजन उचित समझा जाय? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। किन्तु दोनों दर्शनों के दृष्टिकोणों को समझने पर जिज्ञासा का समाधान हो जाता है। दोनों ने विभिन्न अर्थों में 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। वैशेषिक ने सत्तापदार्थ ( Ontological categories ) की दृष्टि से 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। जो-जो सत्ताएँ जगत् में हैं, वे सब उक्त छह पदार्थों की ही किसी न किसी कोटि में आवेंगी। अतः वैशेषिक की दृष्टि से छह प्रकार की मूल सत्ताएँ— (Fundamental entities) षट् पदार्थ हैं, और न्यायदर्शन ने 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग, प्रमाणों के द्वारा विवेच्य विषय ( Epistemological Categories ) की दृष्टि से किया है। यही न्याय और वैशेषिक के दृष्टिकोण में भिन्नता है। दोनों की पदार्थ-नामावली तथा संख्या में भेद रहते हुए भी परस्पर विरोध नहीं है। सामान्य, विशेष और समवाय ये भाव पदार्थ हैं तथापि सत्तावान् नहीं हैं अर्थात् वे किसी द्रव्य, गुण, कर्म की तरह किसी देश-विशेष तथा काल-विशेष में नहीं रहते, इसलिये उनमें सत्ता ( Existence in Time & Space ) नहीं, केवल वृत्तिता ( Being ) मात्र है। जगत् के सम्बन्ध में न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन के विचार समान हैं। न्यायदर्शन का तत्त्वविचार उसके प्रमाणविचार पर निर्भर है। न्यायदर्शन में उक्त चार प्रमाणों में प्रथम प्रमाण 'प्रत्यक्ष' है। इस पर भारतीय दार्शनिकों ने बड़ा ही सूक्ष्म विचार किया है। 'उस असन्दिग्ध अनुभव को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं, जो इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है और यथार्थ भी होता है[२]।' प्रत्यक्ष के इस लक्षण को प्रायः सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं, तथापि कतिपय नैयायिक तथा वेदान्ती इसे स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि

१. (१) आत्मा, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय, (४) अर्थ, (५) बुद्धि, (६) मन, (७) प्रवृत्ति, (८) दोष, (९) प्रेत्यभाव ( पुनर्जन्म ), (१०) फल, (११) दुःख और (१२) अपवर्ग।

२. न्या. सू. १।१।४



इन्द्रियसम्बन्ध के बिना भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। ईश्वर को सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान बिना इन्द्रियसम्बन्ध के ही होता है, क्योंकि ईश्वर को इन्द्रियाँ नहीं हैं। रज्जु-सर्प की प्रतीति में वास्तविक सर्प के साथ बाह्य इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं रहता, एवं सुखदुःखादि मानसिक भावों का प्रत्यक्ष, बाह्य इन्द्रिय के सम्बन्ध के बिना ही हुआ करता है। इससे यह स्पष्ट है कि उक्त प्रत्यक्षलक्षण ( इन्द्रिय-सम्बन्ध··· ), प्रत्यक्ष ज्ञान के सभी भेदों का सामान्यलक्षण इन्द्रिय सम्बन्ध नहीं, बल्कि 'साक्षात् प्रतीति' है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान तब होता है, जब उसका साक्षात्कार होता है, अर्थात् जब उस वस्तु का ज्ञान बिना किसी पुराने अनुभव या बिना किसी अनुमान के होता है[१]। प्रत्यक्ष, लौकिक और अलौकिक दो प्रकार का हो सकता है। लौकिक प्रत्यक्ष भी बाह्य तथा मानस दो प्रकार का होता है। अर्थात् चाक्षुष, श्रौत्र, स्पार्शन, रासन, घ्राणज तथा मानस भेद से लौकिक प्रत्यक्ष के छह प्रकार होते हैं। तथा सामान्यलक्षण, ज्ञान-लक्षण, और योगज भेद से अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार छह ज्ञानेन्द्रियों में से पाँच बाह्य और एक अन्तरिन्द्रिय है। घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र इन पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है। प्रत्येक इन्द्रिय उस भौतिक तत्त्व से निर्मित है, जिसका विशेष गुण वह जान सकती है। इस कारण ये इन्द्रियाँ भौतिक कहलाती हैं। 'मन' अन्तरिन्द्रिय है, इसके द्वारा आत्मा को इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख तथा दुःख का प्रत्यक्ष होता है। यह बाह्य इन्द्रियों की तरह भूतों से निर्मित नहीं है। लौकिक प्रत्यक्ष के बाह्य और मानस दो भेदों की तरह और भी दो भेद निर्विकल्पक तथा सविकल्पक नाम से किये गये हैं। इन दो भेदों का आधार प्रत्यक्ष का अविकसित और विकसित रूप है। इनके अतिरिक्त प्रत्यक्ष का एक प्रकार और है जिसे 'प्रत्यभिज्ञा' प्रत्यक्ष कहते हैं। अलौकिक प्रत्यक्ष तो हमेशा निश्चित और स्पष्ट होने से सभी सविकल्पक होते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में किसी वस्तु के अस्तित्वमात्र का ज्ञान होता है, वह वस्तु क्या है, यह स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। इस प्रकार के 'अस्पष्ट प्रत्यक्ष' को 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' कहते हैं। और किसी वस्तु के स्पष्ट तथा निश्चित प्रत्यक्ष को 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' कहते हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु के धर्मों का स्पष्ट ज्ञान रहता है। निर्विकल्पक में वस्तु के अस्तित्वमात्र का ज्ञान होता है, किन्तु सविकल्पक में यह वस्तु

१. तर्कभाषा, सि० मुक्ता०, तत्वचिन्तामणि।

अमुक है, यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के हुए बिना सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वस्तु क्या है यह जानने के लिये उसका अस्तित्व पहले जानना आवश्यक है।

प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में 'प्रत्यभिज्ञा' की व्युत्पत्ति 'अभिज्ञाम् प्रतिगता इति प्रत्यभिज्ञा' होती है। जिस वस्तु का पहिले साक्षात्कार हो चुका है, उसी का पुनः प्रत्यक्ष होने पर 'प्रत्यभिज्ञा' ( Recognition=पहिचान ) होती है। साधारण प्रत्यक्ष, इन्द्रियजन्य होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष इन्द्रिय और पूर्व संस्कार दोनों के योग से उत्पन्न होता है। साधारण प्रत्यक्ष केवल वर्तमानावगाही होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा में वर्तमान और भूत ( अतीत ) दोनों का मिश्रण रहता है।

पूर्वोक्त अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार श्री गंगेशोपाध्याय ने बताये हैं— सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज। एक वस्तु को देखने से उसकी सजातीय वस्तुओं का भी जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति रहती है। एक वस्तु को देखकर तत्सजातीय वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान, 'सामान्यज्ञान' के बल पर होता है। यह सामान्यज्ञान, अलौकिक सन्निकर्ष से होता है। जैसे किसी एक मनुष्य या गाय आदि पशु को देखकर संसार के सभी मनुष्य और गो जाति का ज्ञान हो जाता है। यह मनुष्यजाति या गोजाति का ज्ञान, अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। अर्थात् मनुष्यव्यक्ति या गोव्यक्ति को देखकर उसे क्रमशः यह मनुष्य और यह गो है जानते हैं, तो यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि हमें उसमें मनुष्यत्व का और गोत्व का (सामान्य=जाति का) भी प्रत्यक्ष अवश्य ही होता है। अन्यथा किसी मनुष्य-व्यक्ति को देखकर या गो व्यक्ति को देखकर हम नहीं कह सकते कि यह मनुष्य है, और यह गो है। अर्थात् व्यक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ ही उसके मनुष्यत्व का तथा गोत्व का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तभी हम संसार भर के मनुष्यत्व-धर्मविशिष्ट या गोत्वधर्मविशिष्ट सभी व्यक्तियों को बिना किसी के बताये जान लेते हैं। सामान्यज्ञान के द्वारा ही इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है, इसलिए इसे 'सामान्यलक्षणप्रत्यक्ष' कहते हैं। ज्ञानलक्षण अलौकिकप्रत्यक्ष तब होता है, जब विभिन्न इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान, आपस में मिलकर एक हो जाते हैं, अर्थात् एक इन्द्रिय, दूसरी इन्द्रिय के ज्ञान का भी जब अनुभव करती है। जैसे नींबू को देखते ही कहा जाता है कि यह खट्टा है, किन्तु खट्टेपन का ज्ञान तो रसनेन्द्रिय से होता है, चक्षुरिन्द्रिय से नहीं, तथापि नींबू के देखते ही अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय से ही जो उसके खट्टेपन का ज्ञान हो रहा है, वह अलौकिक



सन्निकर्ष के बल पर हो रहा है। अतीतकाल में अनेक बार नींबू को देखा है और चूसा भी है। अतः दोनों इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषय होते हुए भी उनमें एक संबंध स्थापित हो गया है। अतएव नींबू को देखते ही उसके खट्टेपनका अनुभव भी साथ-साथ हो जाता है। खटाई का वर्तमान अनुभव, खटाई के अतीत ज्ञान पर आधारित है। इसलिये इसे 'ज्ञानलक्षण' प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके अनुसार एक इन्द्रिय, दूसरी इन्द्रिय के ज्ञान का अनुभव करती है, जो साधारणतया संभव नहीं है, यह इसकी अलौकिकता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष का तीसरा प्रकार 'योगज' है। इस योगज प्रत्यक्ष के द्वारा भूतकालीन, भविष्यत्कालीन, गूढ़ तथा सूक्ष्म सभी प्रकार की वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। साधारण लोगों की इन्द्रियशक्ति सीमित होती है। उस सीमित शक्ति से वे लोग सार्वकालिक और गूढ़, सूक्ष्म वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। सार्वकालिक, गूढ-गूढतर, सूक्ष्म-सूक्ष्मतर वस्तुओं का प्रत्यक्ष, योग-साधनासिद्ध सहजप्राप्त अलौकिकशक्तिसम्पन्न व्यक्तियों को ही हो पाता है। जिन व्यक्तियों को अविनाशिनी योगजशक्ति प्राप्त रहती है, उन व्यक्तियों को 'युक्तयोगी' कहते हैं, और जिन्होंने योग में आंशिक सिद्धि प्राप्त की है, उन्हें 'युञ्जानयोगी' कहते हैं। युञ्जान व्यक्ति को योगज शक्ति सहज प्राप्त नहीं रहती, किन्तु उसे उस शक्ति की प्राप्ति के लिए कुछ ध्यान, धारणा करनी पड़ती है।

न्यायदर्शन में उक्त सामान्यलक्षण तथा ज्ञानलक्षण अलौकिक प्रत्यक्ष को वेदान्ती नहीं मानते। वे शास्त्रसम्मत केवल योगजप्रत्यक्ष को ही मानते हैं।[1] इस प्रकार लौकिक तथा अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद बताये गये हैं। अन्य सभी प्रमाण इस प्रत्यक्षप्रमाण के आधार पर ही आश्रित रहते हैं।

इन प्रमाणों के द्वारा ही 'प्रमेय' का सम्यक् ज्ञान हो पाता है, और प्रमेय के सम्यक् ( यथार्थ ) ज्ञान होने पर ही मुक्ति का लाभ होता है। अतः न्याय-वैशेषिक दर्शन का आग्रह है कि संसारी मानव को प्रमाणों का ज्ञान प्राप्त करके उनके द्वारा प्रमेय का ठीक-ठीक ज्ञान आवश्य प्राप्त करना चाहिये।

**गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर**

---

१. अद्वैतसिद्धि., वेदान्तपरिभाषा

## ॥ व्याख्याप्रयोजनम् ॥

येन न्यायनये न पण्डितनृपाद् राजेश्वरद्राविडात्
स्वाध्यायावसरः प्रयत्नशतकेनाप्यापि दुर्दैवतः ।
अंशेनापि तदीयपाठनकला तेनाप्युपेता भवे-
दित्यालोच्य मयाऽवधानसहितेनेयं कृतिस्तन्यते ॥

श्रीमद्गुरोर्मुखाम्भोजान्निर्गतां तत्त्वदीधितम् ।
आत्मन्याधाय सुधियां पुरो न्यस्यामि वो मुदे ॥
अनेन मम यत्नेन प्रीयन्ते यदि पण्डिताः ।
तदाहं कृतकृत्यः स्यां श्रमस्य फलवत्तया ॥

विद्वच्चरणावनतो
गजाननशास्त्रि-मुसलगांवकरः

## विषयानुक्रमणिका

### प्रत्यक्षखण्डे पदार्थसामान्यनिरूपणं नाम प्रथमं प्रकरणम्



### प्रत्यक्षखण्डे द्रव्यनिरूपणं नाम द्वितीयं प्रकरणम्

**प्रत्यक्षखण्डे बुद्धिनिरूपणं नाम तृतीयं प्रकरणम्**



—: ० :—

# न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

## भाषापरिच्छेदापराभिधा च कारिकावली

### बालप्रियाव्याख्योपेता

**❀ मुक्तावली ❀**

( मङ्गलाचरणम् )

चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकिः ।
भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः ॥ १ ॥

**❀ बालप्रिया ❀**

( ताण्डवनृत्त के समय ) जिसने शिरोभूषणमणि के स्थान में चन्द्रमा को धारण किया और कंकण के स्थान में 'वासुकि' सर्प को धारण किया, ताण्डवनृत्त करने में कुशल ( ऐसे वे ) शिवजी ( सबके ) कल्याण के लिए हों अर्थात् सब का कल्याण करें।

उक्त मङ्गलाचरण के द्वारा ताण्डवनृत्त करनेवाले शिवजी की प्रार्थना से यह ध्वनित हो रहा है कि नृत्त-नृत्य आदि का समय आनन्दजनक होता है, उस समय अभीष्ट फल की प्राप्ति होना सम्भव है, यह विचार कर श्री विश्वनाथ-पंचानन भट्टाचार्य ने अपने क्रियमाण ग्रन्थ ( मुक्तावलि ) की निर्विघ्नतया शीघ्र समाप्ति हो जाय, इस अभीष्ट फल के प्राप्त्यर्थ उन्हीं शिवजी की प्रार्थना की है।

**शंका**—उपर्युक्त मङ्गलाचरण के श्लोक ( पद्य ) में कुछ विद्वान् **'समाप्त-पुनरात्तत्व'** नामक दोष प्रदर्शित करते हैं।

उनका यह कहना है—**'समाप्तपुनरादानात् समाप्तपुनरात्तता'** इस लक्षण से जिस प्रकार 'उदयति चन्द्रः कुमुदबन्धुः' में 'चन्द्रः उदयति' इस प्रकार चन्द्र का 'उदयति' क्रिया के साथ अन्वय हो जाने से शान्त आकांक्षावाले 'चन्द्रः' इस विशेष्यवाचक पद का 'कुमुदबन्धुः' इस विशेषण के द्वारा पुनः अनुसन्धान करना उचित नहीं है। अर्थात् निराकांक्ष हुए 'चन्द्रः' पद में पुनः 'कुमुदबन्धुः' यह विशेषण जोड़ना अनुचित ( व्यर्थ ) है। यही **'समाप्तपुनरात्तत्व'** दोष है। इसी दोष को अन्य शब्दों में इस प्रकार भी कहा जाता है—'क्रियान्वयेन शान्ताकांक्षस्य विशेष्यवाचकपदस्य विशेषणान्तरान्वयार्थं पुनरनुसन्धानं समाप्तपुनरात्तत्वम्'। निर्दिष्ट उदाहरण के समान ही मंगलाचरण के श्लोक में 'भवो भवतु भव्याय' इस

प्रकार अन्वय करने से ही 'भवः' पद की आकांक्षा शान्त हो जाती है, तब पुनः 'लीलाताण्डवपण्डितः' यह विशेषण देना उचित नहीं है, क्योंकि 'भवः' के साथ इस विशेषण ( लीलाताण्डवपण्डितः ) को अन्वित करने पर ( जोड़ने पर ) 'भव' के स्मरण करने की पुनः आवश्यकता होती है—यही 'समाप्तपुनरात्तत्व' दोष है। अतः 'लीलाताण्डवपण्डितः' यह विशेषण नहीं देना चाहिये।

**समाधान**—चन्द्रमा को शिरोभूषण क्यों बनाया ? और क्यों वासुकी सर्प को कर-कंकण बनाया ? यह आकांक्षा होती है। और कार्य की सिद्धि निराकांक्ष होने पर ही होती है, इसलिए 'लीलाताण्डवपण्डितः' यह विशेषण देना उचित ही है, अनुचित नहीं। क्योंकि नृत्त-नृत्य आदि में आभूषणादि की ही तो शोभा है। **अथवा**—'लीलाताण्डवपण्डितः' पद, यहाँ पर विशेष्य है, विशेषण नहीं। अतः 'समाप्तपुनरात्तत्व' नामका काव्यदोष उक्त श्लोक में नहीं है ॥ १ ॥

**निजनिर्मितकारिकावलीमतिसङ्क्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः ।**
**विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशंवदः ॥२॥**

**सद्रव्या गुणगुम्फिता सुकृतिनां सत्कर्मणां ज्ञापिका**
**सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताभावप्रकर्षोज्ज्वला ।**
**विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली**
**विन्यस्ता मनसो मुदं वितनुतां सद्युक्तिरेषा चिरम् ॥३॥**

मैं ( विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ) राजीवनामक शिष्य पर दयावशंगत होने के कारण[1] गोतम-कणादादि प्राचीन महर्षि ग्रन्थकारों के अत्यन्त संक्षिप्त वचनों को लेकर स्वयं रची हुई कारिकावली अर्थात् भाषापरिच्छेद नामक ग्रन्थ के अर्थ को अत्यन्त उत्साह से सुस्पष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

मैंने ( विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य नाम के चतुर विद्वान् ने ) सिद्धान्तमुक्तावली नामक व्याख्या-ग्रन्थ बड़ा ही युक्तियुक्त निर्माण किया है, और उसे ( मुक्तावली को ) भगवान् विष्णु के वक्षस्थल पर अर्पण[2] किया है ( पहनाया है ) यह ग्रन्थ विद्वानों के चित्त को सदा प्रसन्न करता रहे। मुक्तावली ग्रन्थ की मुक्तावली ( मोतियों की माला ) से उपमा दे रहे हैं। इस ग्रन्थ में नौ द्रव्य, चौबीस गुण, उत्क्षेपणादि पाँच कर्म, सामान्य विशेष, समवाय तथा प्रागभाव आदि अभाव

( १ ) राजीव नामक शिष्य ने शुश्रूषा तथा श्रद्धा, भक्ति, विनय आदि अपने सद्गुणों से गुरु को इतना प्रसन्न किया था जिससे उनका चित्त दयार्द्र हो उठा और वे दया के अधीन हो गये। सेवा से वशीभूत हुए गुरु शास्त्ररहस्य को अतिशीघ्र शिष्य के हृदय में उतार देते हैं। इसीलिए कहा गया है—'गुरु-शुश्रूषया विद्या'। शुश्रूषा ( सेवा ) से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है।

( २ ) "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्" इस गीतावचन के अनुसार मुक्तावली के तुल्य अपने रचित ग्रंथ को भागवदर्पण किया गया है।



कहे गये हैं। मुक्तामाला ( मोतियों की माला ) भी द्रव्यसाध्या ( द्रव्य होने से मिलती है ), गुणों से ( सूत्र से ) ग्रथित ( गुम्फित ) रहती है, उस माला को धारण करनेवाले ( पहननेवाले ) के भाग्य और सत्कर्म को सूचित करती है, सुन्दर जाति के मोतियों की वह ( माला ) होती है, महत्त्व—निर्मलत्व ( बड़े-छोटे व उजले दाने ) आदि से निरन्तर युक्त रहती है, और तेज के अभाव ( अन्धकार ) में दीपक के समान पदार्थों को प्रकाशित करती है ॥ ३ ॥

## ❀ कारिकावली ❀

### ( मङ्गलाचरणम् )

**नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।**
**तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥ १ ॥**

**अन्वयः**—नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय संसारमहीरुहस्य बीजाय तस्मै कृष्णाय नमः ।

**नूतनजलधररुचये०**—नूतनश्चासौ जलधरो मेघो नूतनजलधरः, नूतनजलधरस्य रुचिरिव रुचिर्यस्य स नूतनजलधररुचिः तस्मै। जिस प्रकार सजल मेघ वृष्टि प्रदान कर जनसमूह को प्रसन्न कर देता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने भक्तजनों की अभिलाषा को पूर्ण कर उन्हें आनन्द प्रदान करें।

१. **गोपवधूटीदुकूलचौराय०**—गाः पान्तीति गोपाः, गोपानां वधूटयः, गोपवधूटीनां दुकूलानि गोपवधूटीदुकूलानि, चोरयति यः स चौरः, गोपवधूटीदुकूलानां चौरः, तस्मै गोपवधूटीदुकूलचौराय। गौओं का पालन करनेवाले ग्वालों की स्त्रियों के वस्त्रों को चुरानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार ग्वालबालाओं के वस्त्रों का अपहरण किया उसी प्रकार मेरे मिथ्याज्ञान का भी वे अपहरण करें।

**२. अथवा**—गाः इन्द्रियाणि पान्तीति गोपाः जीवात्मानः तेषां वधूटयः दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानि, तां एव दुकूलानि मोक्षावस्थाऽऽच्छादकत्वात्, तेषां चौरः स्वसहित-यावत्-तत्त्वविषयकश्रवण-मनन-निदिध्यासनद्वारा नाशकः, तस्मै। इन्द्रियों के पालक जो जीवात्मा, उनके दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानस्वरूप वस्त्रों ( मोक्षावरणों ) को चुरानेवाले अथवा अपना श्रवण-मनन-निदिध्यासन कराते हुए दुःखजन्मप्रवृत्ति आदि का नाश करनेवाले।

**३. अथवा**—गां पृथ्वीं पातीति गोपो युधिष्ठिरः, तस्य वधूटी द्रौपदी, तस्याः दुकूलानि एकोनसहस्र ( ९९९ ) वस्त्राणि तेभ्यः ( तदर्थं ), चौरः अदृश्यतया सभायां स्थितः, तस्मै।

अथवा चौराय चौलाय वर्धयित्रे।

धर्मराज युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी को नौ सौ निन्यानबे वस्त्र वितरण करने के निमित्त सभा में अदृश्य होकर स्थित रहनेवाले।

**४. अथवा—'गोपवधूटीदुकूलचौराय'**—गाम् पातीति गोपं मनः, तस्य वधूटी स्त्री धी बुद्धिः, तस्याः दुकूलानि अज्ञानादिवस्त्राणि, तेषां चौराय।

**संसारमहीरुहस्य बीजाय**——संसारः जन्मस्थितिलयशीलं जगत् स एव महीरुहः वृक्षः तस्य बीजाय निमित्तकारणाय ।

जो समस्त संसार का उत्पादक और संरक्षक है उसे मेरे मनोरथों को पूर्ण करने में कौनसी कठिनाई होगी ।

**तस्मै**——'तद्' पद की शक्ति बुद्धिस्थ प्रकारावच्छिन्न में है । यहाँ पर बुद्धिस्थ-प्रकार 'इष्टसिद्धिप्रदातृत्व' है । अतः इष्टसिद्धिप्रदातृत्व गुण से विशिष्ट, 'कृष्णाय' भगवान् कृष्ण को 'नमः' मेरा प्रणाम है ।

**कृष्णः**——'कर्षति सर्वदैव' आनन्दस्वरूप होने से अपने आश्रितों के सकल दुःखों का जो उन्मूलन करता है । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । कृष्णस्तद्भावयोगाच्चेति कृष्णशब्दस्य व्युत्पत्तिः ।'

नवीन मेघ की कान्ति के तुल्य कान्तिसम्पन्न, गोपाङ्गनाओं के वस्त्रों का अपहरण करनेवाले और संसाररूपी वृक्ष के निमित्त कारण, विश्वप्रसिद्ध उस भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ ।। १ ।।

मन की स्त्री जो बुद्धि, उसके जो अज्ञानादि वस्त्र, उनको चुरानेवाले अर्थात् अज्ञान को दूर करनेवाले । इस विशेषण से यह सिद्ध होता है कि 'नग्न-स्नान धर्मशास्त्र में निषिद्ध है' इस कारण उनके वस्त्र चुराकर भगवान् ने उनको जैसे शिक्षा दी, तद्वत् मेरे दोषों को दूर कर मेरे मनको प्रेरणाद्वारा वही भगवान् श्रीकृष्ण शिक्षा दें, यह ध्वनित होता है।

विघ्नविघाताय[१] कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति-नूतनेत्यादि ।

---

(१) 'विघाताय' पद में 'वि+घात' दो अंश हैं। पहिला उपसर्ग है और दूसरा प्रातिपदिक है । दूसरे पद ( प्रातिपदिक ) की स्वार्थवाचकता समस्त शास्त्रकारों के मत से निश्चित है, किन्तु उपसर्ग में कुछ लोग वाचकता और कुछ लोग द्योतकता मानते हैं । द्योतकतावादी के पक्ष में तो कोई दोष नहीं है, लेकिन वाचकतावादी के पक्ष में 'घात' प्रातिपदिक का अर्थ ही उत्पत्तिवाले पदार्थ का अभाव होने से 'वि' पद व्यर्थ हो जाता है, तथापि शास्त्रकारों का यह संकेत है कि जहाँ विशिष्टवाचक पद के समीप विशेषणवाचक पद होता है, वहाँ विशिष्टवाचक पद में विशेष्यमात्र की वाचकता होती है । जैसे——सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः' महाकवि कालिदास के इस श्लोक में 'कीचका वेणवस्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इस अमरकोष के अनुसार जो वायु से पूर्ण होकर शब्द करने वाले बाँस होते हैं, उन्हीं को 'कीचक' कहते हैं । तब मारुतपूर्णरन्ध्रत्व को कीचक का विशेषण बनाकर रखना व्यर्थ हुआ । इस पर समाधान यह दिया जाता है कि यहाँ पर विशिष्टवाचक पद को विशेष्यमात्र का वाचक समझना चाहिये । अर्थात् 'कीचक' पद का केवल बाँस अर्थ करना और 'मारुतपूर्णरन्ध्रैः' पद का 'पवन से भर कर शब्द करनेवाले' ऐसा अर्थ करना चाहिये । ऐसा करने से विशेषण देना व्यर्थ नहीं होगा । उसी प्रकार प्रस्तुत में भी केवल 'घात' पद का अर्थ 'अभाव' मात्र है, और 'वि'——इस विशेषण के लगाने से 'उत्पत्तिवाले का अभाव' यह अर्थ होता है । अतः वाचक पक्ष में भी कोई दोष नहीं होगा ।

(२) इस मुक्तावली ग्रन्थ की **तीन प्रकार ( उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा )** से प्रवृत्ति हुई है । नाममात्र से वस्तु का जो कथन है, वह ( १ ) **उद्देश्य** है । जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय तथा अभाव । जिस वस्तु का जो असाधारण (मुख्य) धर्म रहता है, वही उस वस्तु का ( २ ) **लक्षण** कहा जाता है, जैसे——गन्ध गुण केवल पृथिवी का ही है अर्थात् पृथ्वी का असाधारण धर्म है, इसलिये 'गन्धवत्व' ( गन्ध का होना ) ही पृथ्वी का लक्षण समझा जाता है । जिस वस्तु का लक्षण किया गया है, वह लक्षण उस वस्तु में सम्भव भी है या नहीं, इस विचार को (३) **'परीक्षा'** कहते हैं । जैसे–'पृथ्वी, जलादि इतर पदार्थों से भेदवाली (भिन्न) है, गन्धवाली ( गन्धविशिष्ट=युक्त ) होने से' । जो-जो वस्तु, जलादि पदार्थों से भेद करा देनेवाली नहीं है, वह-वह गन्धवाली भी नहीं है, जैसे——जलादि वस्तु । यही शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति है । इसके बिना किसी भी शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।



कर्तव्य ग्रन्थ[१] की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगल[२] किया जाता है । किन्तु ग्रन्थारम्भ में मंगल लिखने का प्रयोजन शिष्यों को शिक्षा देना ही है । उसी उद्देश्य से 'नूतन' इत्यादि श्लोक मंगल के रूप में लिखा गया है ।

बुद्धिमान् पुरुषों की शास्त्र में प्रवृत्ति, उसके अनुबन्धों को जाने विना नहीं हो सकती । वे अनुबन्ध चार होते हैं । जैसे-(१) अभिधेय (विषय), (२) प्रयोजन (३) अधिकारी, (४) सम्बन्ध । शास्त्र के सम्बन्ध तथा प्रयोजन को जानकर ही उसके श्रवण करने में श्रोता प्रवृत्त होता है । इस कारण शास्त्र के प्रारम्भ में विषयादि अनुबन्धों को अवश्य बताना चाहिए । अनुबन्धत्वं नाम——ग्रन्थप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम् ।' अतः——'अनुबन्ध' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है——पुरुषमनुबध्नाति स्वज्ञानेन प्रेरयति–इति अनुबन्धः ।

१. **अभिधेय**——'शास्त्रजप्रमानिवर्त्याऽज्ञानगोचरोऽभिधेयः' । जिस शास्त्रजन्य प्रमाज्ञान से निवृत्त होने योग्य अज्ञान का जो पदार्थ विषय होता है वही पदार्थ, उस शास्त्र का अभिधेय ( विषय ) समझा जाता है। जैसे——'न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली' के अध्ययन से पूर्व द्रव्यादि पदार्थों का अज्ञान रहता है, वह अज्ञान उस 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' के अध्ययनजनित यथार्थज्ञान से निवृत्त हो जाता है, अतः **द्रव्यादिपदार्थ**, इस न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' के **अभिधेय** ( विषय ) हैं ।

२. **प्रयोजन**——'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् ।' मनुष्य जिस पदार्थ की प्राप्ति के उद्देश्य से उसके साधन ( सम्पादन ) में प्रवृत्त होता है, उसे **प्रयोजन** कहते हैं ।

३. **अधिकारी**—'द्विविध' प्रयोजन-प्राप्तिकामोऽधिकारी' मुख्य अथवा गौण किसी भी प्रकार के प्रयोजन की कामनावाला पुरुष इसका **अधिकारी** होता है।

४. **सम्बन्ध**—सम्बन्धस्त्वनेकविधः—यथा, अभिधेय-शास्त्रयोः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावः सम्बन्धः। पदार्थतत्त्वज्ञान-शास्त्रयोर्जन्यजनकभावः सम्बन्धः। निःश्रेयस-शास्त्रयोः प्रयोज्य-प्रयोजकभावः सम्बन्धः। तथा निःश्रेयस-पदार्थतत्त्व-ज्ञानयोः प्रयोज्य-प्रयोजकभावः सम्बन्धः। द्रव्यादिपदार्थ-तत्त्वज्ञानयोः विषयविषयि-भावः सम्बन्धः। निःश्रेयसाधिकारिणोः प्राप्य-प्रापकभावः सम्बन्धः। अधिकारि-विचारयोः कर्तृ-कर्तव्यभावः सम्बन्धः।

सम्बन्ध अनेक प्रकार के हैं। जैसे—अभिधेय और शास्त्र का प्रतिपाद्यप्रति-पादक भाव सम्बन्ध है। यहाँ द्रव्यादि अभिधेय प्रतिपाद्य हैं और मुक्तावली प्रति-पादिका है। पदार्थतत्त्वज्ञान तथा ग्रन्थ का जन्य-जनकभाव सम्बन्ध है। यहाँ पर पदार्थतत्त्वज्ञान जन्य है और यह ग्रन्थ उसका जनक है। निःश्रेयस और शास्त्र का प्रयोज्य-प्रयोजकभाव सम्बन्ध है, यहाँ पर निःश्रेयस प्रयोज्य है और यह ग्रन्थ उसका प्रयोजक है। निःश्रेयस और पदार्थ-तत्त्वज्ञान का प्रयोज्य-प्रयोजकभाव सम्बन्ध है। यहाँ पर निःश्रेयस प्रयोज्य है और पदार्थ-तत्त्वज्ञान उसका प्रयोजक है। द्रव्यादिपदार्थ तथा तत्त्वज्ञान का विषय-विषयिभाव सम्बन्ध है। यहाँ पर द्रव्या-दिपदार्थ विषय है और तत्त्वज्ञान विषयी है। निःश्रेयसरूप फल तथा अधिकारी का प्राप्य-प्रापकभाव सम्बन्ध है। फल प्राप्य है और अधिकारी प्रापक है। अधि-कारी और विचार का कर्तृ-कर्तव्यभाव सम्बन्ध है। अधिकारी कर्ता है और विचार कर्तव्य है। इस प्रकार अनुबन्ध-चतुष्टय का निरूपण किया गया।

(२) किसी भी कार्य के आरम्भ में मंगल अवश्य करना चाहिए—यह सिद्धान्त केवल नैयायिकों का ही नहीं, अपितु व्याकरण-महाभाष्यकार आदि का भी है। महाभाष्यकार कहते हैं—'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाण्यध्येतारश्च बुद्धियुक्ता यथा स्युरिति' ग्रन्थ के आदि, मध्य तथा अन्त में मंगल अवश्य करना चाहिए। मंगल करने से रचे हुए शास्त्रों का ( ग्रन्थों का ) प्रसार-प्रचार होता है। उन ग्रन्थों को पढ़नेवाले लोग वीरता से पूर्ण तथा दीर्घायु एवं बुद्धिमान् होते हैं।

यह मंगल तीन प्रकार का होता है—'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्'—१. आशीर्वादात्मक, २. नमस्कारात्मक, ३. वस्तुनिर्देशात्मक। 'परमे-श्वरात् स्वस्य स्वशिष्यस्य वा वाञ्छितार्थप्रार्थनम्—**आशीर्वादः**।' अपने या अपने शिष्य के लिये वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति के निमित्त परमेश्वर से प्रार्थना करना ही **आशीर्वाद** है।

'स्वापकर्षबोधानुकूलः स्वीयव्यापारविशेषो नमस्कारः।' प्रणाम के योग्य गुरु अथवा परमेश्वर के प्रति अपनी न्यूनता बोधन करने के लिए प्रणाम करने वाले पुरुष के शरीर-मन-वाणीकृत-व्यापार विशेष को ही **नमस्कार** कहते हैं।



**ननु [1]मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्तिं प्रति कारणं विनाऽपि[2] मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्नपरिसमाप्तिदर्शनादिति चेत् ?**

**शंका**—विघ्नविनाश अथवा ग्रन्थ की समाप्ति के प्रति मंगलाचरण कारण होता है—इस प्रकार कार्य-कारण भाव मानना उचित नहीं है, क्योंकि मंगलाचरण के विना भी नास्तिकों के ग्रन्थों ( किरणावली आदि ) की समाप्ति हो गई है; और मंगलाचरण करने पर भी आस्तिकों के ग्रन्थों ( बाणभट्ट आदि के कादम्बरी आदि) की समाप्ति नहीं हो पाई।[3] अतः मंगलाचरण को विघ्नविनाश अथवा ग्रन्थ समाप्ति के प्रति कारण कहना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

---

'ग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुनो निर्देशनं **वस्तुनिर्देशः**।' ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयरूप वस्तु का निर्देशमात्र करना ही **वस्तुनिर्देश** है। जैसे कुमारसम्भव काव्य के प्रारम्भ में वस्तुनिर्देशात्मक मंगल है। रत्नावली आदि ग्रन्थों में आशीर्वादात्मक मंगल है। इस मुक्तावली ग्रन्थ में नमस्कारात्मक मंगल है।

**जिज्ञासा**—यदि ग्रन्थकर्ता को मंगल करना ही था तो मन ही मन में कर लेना था, ग्रन्थ में क्यों लिखा ?

**समाधान**—मन में मंगल करने से ग्रन्थकर्ता की आस्तिकता या नास्तिकता विद्यार्थियों को प्रकट न हो पाती, अतः 'आगे होने वाले विद्यार्थिगण भी ग्रन्थारंभ आदि कार्यारंभ के समय ऐसा ही मंगलाचरण अवश्य किया करें, इस इच्छा से ग्रन्थकर्ता ने मंगलाचरण को ग्रन्थ के आरंभ में लिपिबद्ध करके दिखाया है।

( १ ) मंगलाचरण और ग्रन्थ-समाप्ति के कार्य-कारणभाव का भंग करने के लिए नास्तिक यह अनुमान-प्रयोग कर सकता है—'मंगलाचरणम् अयुक्तं निष्फलत्वात्।'

उपर्युक्त अनुमान में 'निष्फलत्व' हेतु को यदि कोई स्वरूपासिद्ध [ पक्षे हेत्व-भावः **स्वरूपासिद्धिः**, अर्थात् पक्ष में हेतु का न रहना, '**स्वरूपासिद्धि**' दोष है, और साध्य का जहाँ सन्देह रहता है अर्थात् जहाँ साध्य ( वस्तु ) की सिद्धि ( अस्तित्व ) की जाती है उसे '**पक्ष**' कहते हैं ] कहें तो 'मंगलं निष्फलं, फलविशेषशून्यत्वात्' ऐसा अनुमान करेंगे, उससे 'निष्फलत्व' हेतु में दिये गये '**स्वरूपासिद्धि**' दोष का निवारण हो जायगा। और नास्तिक द्वारा किये गये उपर्युक्त अनुमान-प्रयोग से मंगल और समाप्ति के कार्यकारण भाव का भंग हो जायगा। इसी तात्पर्य से "ननु" इत्यादि ग्रन्थ से वादी ( नास्तिक ) ने शंका की है।

( २ ) 'मंगलं विघ्नध्वंसं प्रति तथा समाप्तिं प्रति कारणत्वाऽभाववत्, कार्याधि-करणवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, घटं प्रति वेमवत्' यह अनुमान व्यतिरेकव्यभि-चार का साधक है।

( ३ ) निर्विघ्नता या ग्रन्थ-समाप्ति के प्रति मंगल यदि कारण हो तो निर्विघ्नता या ग्रन्थसमाप्ति के लिए ग्रन्थारम्भ में मंगल करना उचित है, किन्तु निर्विघ्नता या ग्रन्थसमाप्ति में मंगल की कारणता सिद्ध नहीं हो पा रही है, क्योंकि कार्य-कारण का '**अन्वयसहचार ज्ञान**' [ ( कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वम् अन्वयसहचारः ) = कारण के

न, अविगीतशिष्टाचारविषयत्वेन मङ्गलस्य सफलत्वे सिद्धे तत्र च फल-जिज्ञासायां, सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलककल्पनाया अन्याय्यत्वाद्, उपस्थितत्वाच्च समाप्तिरेव फलं कल्प्यते ।

[1]इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयं तत्कल्प्यते[2] । यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यम् । प्रचुरस्यास्यैव बलवत्तरविघ्ननिराकरणकारणत्वम् । विघ्नध्वंसस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहुः प्राञ्चः ।

---

रहते कार्य की उत्पत्ति होना अन्वय सहचार है, जैसे—मृत्तिका—कुलाल आदि कारणों के रहने पर घट रूप कार्य की उत्पत्ति होती है । तथा **'व्यतिरेक-सहचार ज्ञान'** ( कारणाभावे कार्याभावो व्यतिरेकसहचारः )=कारण के न रहने पर कार्य की उत्पत्ति न होना, व्यतिरेकसहचार है । जैसे—मृत्तिका-कुलाल आदि कारणों के न रहने पर घट रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती ] ये दोनों कारणता के निश्चायक होते हैं, किन्तु ये दोनों यहाँ नहीं हैं । प्रत्युत **अन्वय व्यभिचार ज्ञान** [ (कारणसत्त्वे कार्याभावः अन्वयव्यभिचारः)=कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो पाना अन्वयव्यभिचार है तथा **व्यतिरेकव्यभिचार ज्ञान** (कारणाभावे कार्यसत्त्वं व्यतिरेकव्यभिचारः)=कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति होना व्यतिरेकव्यभिचार है । ] ये दोनों प्रस्तुत में विद्यमान हैं, जो कारणत्व के निश्चय करने में प्रतिबन्धक होते हैं । प्रस्तुत प्रसंग में बाणभट्ट आदि ने अपने काम्बरी ग्रन्थ में मंगलाचरण किया है किन्तु ग्रन्थसमाप्ति नहीं हो पाई । अतः यहाँ पर अन्वयव्यभिचार का ज्ञान हो रहा है, जो कार्यकारणभाव के साधक अन्वयसहचार-ज्ञान का प्रतिबन्धक है, इसी तरह नास्तिकग्रन्थ ( किरणावली आदि ) में मंगलाचरण के न होने पर भी ग्रन्थसमाप्तिरूप कार्य की उत्पत्ति हो गई है । अतः वहाँ पर व्यतिरेकव्यभिचार का ज्ञान हो रहा है, जो कार्य-कारणभाव के साधक व्यतिरेकसहचारज्ञान का प्रतिबन्धक है । इस कारण अर्थात् प्रतिबन्धकज्ञान होने के कारण मंगल और ग्रन्थसमाप्ति दोनों के कार्य-कारण भाव का निश्चय नहीं हो पा रहा है ।

( १ ) विनापि 'मंगलं' इत्यादि ग्रन्थ से पूर्वपक्षवादी ने मंगल तथा समाप्ति के कार्य-कारणभाव का व्यतिरेक-व्यभिचार ही दिखाया है, अन्वयव्यभिचार नहीं दिखाया, किन्तु सिद्धान्ती ने 'यत्र च सत्यपि मंगले' इत्यादि ग्रन्थ से अन्वयव्यभिचार का वारण किया है, अतः पूर्वपक्षीय अन्वयव्यभिचारस्थल में 'कादम्बरी' आदि आस्तिक ग्रन्थों को समझना चाहिये ।

( २ ) 'नास्तिकग्रन्थः स्वाश्रयपुरुषप्रयत्नजन्यत्वसम्बन्धेन मंगलवान्, स्वप्रतियोगिचरमवर्णघटितत्वसम्बन्धेन समाप्तिमत्वात्, भारतादिवत् ।' यहाँ प्रथम 'स्व' पदसे मंगल का ग्रहण और द्वितीय 'स्व' पद से समाप्ति का ग्रहण करना चाहिये । इस अनुमान से जन्मान्तरीय मंगल की कल्पना हो सकती है ।



नव्यास्तु—मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलं समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभादिकारण-[1]कलापात् ।

न चैवं स्वतः सिद्धविघ्नविरहवता कृतस्य मङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरिति वाच्यम् ।

इष्टापत्तेः । विघ्नशङ्कया तदाचरणात् । तथैव शिष्टाचारात् ।

**स्था०**—मंगलाचरण करना धर्मशास्त्र विरुद्ध[2] न होने से शिष्टलोग[3] करते चले आ रहे हैं । अतएव निश्चय किया जा सकता है कि मंगलाचरण के करने से कोई न कोई फल अवश्य ही होगा । यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में ग्रन्थसमाप्ति[4] ही फल

---

( १ ) विलक्षण बुद्धि का नाम प्रतिभा है । "बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा । प्रज्ञां नव-नवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ।" इसके अनुसार नवीन-नवीन उन्मेष पैदा होनेवाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं ।

( २ ) यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ इस गीतावचन के अनुसार शिष्टपुरुषों के आचार से तथा धर्मशास्त्र से भी लोगों की प्रवृत्ति हुआ करती है, यह बताया गया है ।

( ३ ) मंगल की सफलता अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध हो जाती है जैसे—'मंगलं सफलं अविगीतशिष्टाचारविषयत्वात् दर्शादिवत्' मंगल का कोई-न-कोई फल अवश्य ही होता है, अविगीत ( अनिन्दित ) शिष्टाचार का विषय होने से । जो वस्तु अविगीत शिष्टाचार का विषय रहती है, वह वस्तु सफल ही रहती है । जैसे दर्शादि कर्म अविगीत शिष्टाचार का विषय होने से स्वर्गादिफलवाला है । अनुमान प्रयोग में दिये गये हेतुगत पदों का अर्थ—'बलवदनिष्टाननुबन्धित्वम् अविगीतत्वं' । 'फल-साधनांशे भ्रान्तिरहितत्वं शिष्टत्वम् ।' आचारश्चात्र कृतिः ।' प्रबल अनिष्ट की अजनकता ही अविगीतत्व है । फल के प्रति तथा उसके साधन के प्रति भ्रान्ति का न रहना ही शिष्टत्व है । यद्यपि आचार का अर्थ 'क्रिया' है । तथापि वह सविषयक नहीं होती, इस कारण यहाँ पर आचार शब्द से **प्रयत्न रूप कृति** का ग्रहण किया गया है । शिष्ट पुरुषों के अविगीत आचार का विषय 'मंगल' है, इसलिये वह (मंगल) सफल है, यह सिद्ध होता है ।

( ४ ) मंगल का फल यहाँ पर पशुपुत्रादि नहीं है; किन्तु ग्रन्थ की समाप्ति ही फल है, इस अभिप्राय से यह परिशेषानुमान करते हैं—'मंगलं समाप्तिफलकं समाप्त्यन्याफलकत्वे सति सफलत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा दर्शादिः ।' यह अनुमान पूर्वोक्त व्यतिरेकव्यभिचार का वारक है । मंगल, समाप्तिरूपफल का ही जनक है, समाप्ति से अन्य फल का जनक नहीं है, तथापि उसे फल का जनक माना जाता है । अतः जो वस्तु समाप्तिरूपफल का जनक नहीं होती वह वस्तु, उस समाप्तिरूपफल से अन्य फल की जनक होती है और उसे सफल माना जाता है । जैसे दर्शादि पदार्थ । जैसे दर्शादिकर्म समाप्तिरूप फल से भिन्न, स्वर्गादि फलवाले हैं और उन्हें सफल कहा

हो सकता है, क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य किसी फल की सम्भावना नहीं की जा सकती। फल दो ही प्रकार के होते हैं—एक दृष्टफल और दूसरा अदृष्टफल। तब दृष्टफल ( समाप्ति ) के सम्भव रहते अदृष्टफल ( स्वर्ग आदि ) की कल्पना करना अनुचित है। तब 'प्रारब्धं मे कर्म निर्विघ्नं परिसमाप्यताम्' इस प्रकार की स्वाभाविक इच्छा रहने से 'समाप्तिरूप प्रसिद्ध फल' ही उपस्थित होता है, अतः मंगलाचरण का दृष्ट फल यहाँ समाप्ति[१] ही है ऐसा अनुमान किया जाता है।

नास्तिक के ग्रन्थ में मंगलरूप कारण के न रहने पर भी समाप्तिरूप कार्य जो दिखाई दे रहा है, वहाँ पूर्वजन्म में कृतमंगल से समाप्तिरूप फल दिखलाई पड़ रहा है—यह कल्पना की जाती है। अर्थात् पूर्वजन्म के मंगलाचरण के प्रभाव से विघ्नों का नाश होकर ग्रन्थ की समाप्ति हो गई है। कादम्बरी आदि ग्रन्थ में जो मंगल के होने पर भी समाप्ति नहीं दीखती, उसका यही कारण है कि वहाँ बलवान्

---

जाता है, इसलिये उन दर्शादिकर्मों का फल समाप्ति नहीं समझी जाती। मंगल तो वैसा है नहीं, वह समाप्तिभिन्न फल से युक्त हो तो उसे सफल नहीं समझा जायगा। उसे समाप्ति से भिन्नफल का अजनक होते हुए भी सफल माना जाता है। अतः मंगल का फल समाप्ति ही है, यह निश्चित होता है।

कुछ ग्रन्थकार मंगल से समाप्ति होने में श्रुति का प्रमाण भी देते हैं—'समाप्तिकामो मंगलमाचरेत्'—ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति की कामना वाला पुरुष ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण करे। यद्यपि यह श्रुति वर्तमान समय की किसी वेदशाखा में नहीं दीखती, तो भी वेद की अनेक शाखाएँ जो उच्छिन्न हो गई हैं, उनमें अवश्य होगी। मंगल की कर्तव्यता वेदबोधित होने में अनुमान इस प्रकार किया जायगा—'मंगलं वेदबोधितकर्तव्यताकम् अलौकिकधर्मशास्त्राऽनिषिद्धशिष्टाचारविषयत्वात् दर्शादिवत्।' वेद ने बोधित की है कर्तव्यता जिसकी, उसे वेदबोधितकर्तव्यताक कहते हैं। अलौकिक तथा धर्मशास्त्र से अनिषिद्ध शिष्टाचार का विषय होना' यह हेतु है। जो जो वस्तु शिष्टाचार का विषय होती है, वह-वह वस्तु वेद से बोधित-कर्तव्यतावाली भी होती है, जैसे—दर्शादिकर्म। ( विधिमन्तरा रागादिप्राप्त-भिन्नः, अलौकिकः। वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वं शिष्टत्वम् ) शास्त्र की आज्ञा के बिना केवल राग आदि से जो वस्तु प्राप्त होती है, वह लौकिक है, उससे भिन्न जो हो उसे अलौकिक कहते हैं। वेदों के प्रामाण्य को मानने वाले को शिष्ट कहते हैं।

( १ ) नास्तिकों के ग्रन्थों में समाप्तिरूप कार्य से पूर्व जन्म के मंगलरूप कारण का अनुमान होता है। जैसे—'अयं नास्तिकः कृतमङ्गलकः विघ्नध्वंसपूर्वकसमाप्तिमत्त्वात् चैत्रवत्।'—यह नास्तिक पूर्वजन्म में मङ्गल का कर्ता रह चुका है, क्योंकि विघ्नों के ध्वंसपूर्वक ग्रन्थ की समाप्ति वाला होने से, जो-जो पुरुष विघ्नों के ध्वंस-पूर्वक ग्रन्थ की समाप्ति वाला होता है, वह वह पुरुष पूर्व-मङ्गल का भी कर्ता है, जैसे—आस्तिक चैत्र।



विघ्न या विघ्नों की बहुलता ( समूह ) है। वे प्रबल विघ्न या उनके समूह, अल्प मंगल से नष्ट नहीं हो सके। क्योंकि विघ्नों के नाशार्थ प्रचुर ( अधिक ) मंगलों की आवश्यकता रहती है। एक आभाणक ( कहावत ) है—'यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः'—जैसा यक्ष हो तदनुरूप बलि होना चाहिये। कादम्बरी ग्रन्थ के समाप्त न हो पाने में कारण प्रचुर विघ्न थे। विघ्नों की प्रचुरता को वह स्वल्प मंगल नष्ट नहीं कर पाया, इसलिये मंगल करने पर भी समाप्ति नहीं हो पाई। अतः समाप्ति के प्रति विघ्न-विनाश ( विघ्न-ध्वंस ) को प्राचीन नैयायिकों ने द्वार (माध्यम) माना है।[१]

इस विषय में चिन्तामणिकार गंगेशोपाध्याय आदि नवीन नैयायिकों का मत[२] है कि मंगल का फल विघ्नध्वंस ही है, समाप्ति तो बुद्धिस्फुरण, प्रतिभा आदि कारणसामग्री से होती है।

---

( १ ) प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि जिस ग्रन्थ में मंगल किया है उस ग्रन्थ की समाप्ति ही मङ्गल का फल है, परन्तु वह मंगल कुछ लोगों के मत से ज्ञान रूप और कुछ लोगों के मत से उच्चारण रूप होने से शीघ्र ही विनाशवान् है और ग्रन्थ की समाप्ति तो बहुत दिन के बाद होगी। अतः शीघ्रविनाशशाली मंगल को कालान्तर में होनेवाली समाप्ति की कारणता (जनकता) किसी अवान्तर व्यापार के बिना साक्षात् सम्भव नहीं हो सकती। इसलिए मंगल और समाप्ति के मध्य ( बीच ) में उस मंगल से जन्य किसी व्यापार की कल्पना करनी चाहिए। वह व्यापार और कुछ न होकर ग्रन्थसमाप्ति के प्रतिबन्धक दुरितरूप विघ्नों का ध्वंस ही है। मंगलजन्य वह विघ्न-ध्वंस उस समाप्तिरूप कार्य के अव्यवहित पूर्णक्षण में रहता है, इस कारण वह मंगल उस विघ्नध्वंस द्वारा उस ग्रन्थ की समाप्ति का कारण है। जैसे यज्ञरूपक्रिया कालान्तरभावी स्वर्ग का स्वजन्य अपूर्व द्वारा कारण होती है।

( २ ) किन्तु चिन्तामणिकारादि नवीन नैयायिकों का मत है कि ग्रन्थ की समाप्ति मंगल का फल नहीं है, किन्तु ग्रन्थ समाप्ति के प्रतिबन्धक जो दुरितरूप विघ्न हैं, उन विघ्नों का ध्वंस मात्र ही उस मङ्गल का फल है, और ग्रन्थ की समाप्ति तो उस विघ्नाभावघटित अदृष्ट, बुद्धि स्फूर्ति आदि कारणसामग्री से होती है। मङ्गल तो उस समाप्ति के कारणरूप विघ्नध्वंस का कारण होने से उस समाप्ति के प्रति अन्यथासिद्ध है। जिस कार्य के प्रति जितनी सामग्री इच्छित होती है, उस कारण सामग्री से जो वस्तु भिन्न होती है, वह वस्तु उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होती है।

प्राचीन आचार्य मंगल को विघ्नध्वंस द्वारा समाप्ति का कारण मानते हैं, उनके मत में विघ्नध्वंस तथा समाप्ति ये दोनों कार्य होंगे, अतः गौरव दोष होगा। और केवल विघ्नध्वंस को ही मंगल का कार्य मानने में लाघव रूप गुण होगा। इस कारण मंगल का विघ्नध्वंस मात्र ही फल है, यही उचित प्रतीत होता है।

**शंका**—यदि मङ्गल का फल विघ्नध्वंस ही है तो जहाँ विघ्न ही न हो अर्थात् विघ्न का अभाव स्वतःसिद्ध ही हो, वहाँ मङ्गल करना निष्फल ही होगा।

**समाधान**—इस प्रकार से शंका करना उचित नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में किया गया मङ्गल आपाततः निष्फल प्रतीत होने पर भी उसका इतना ही फल समझना होगा कि विघ्न के अस्तित्व की आशंका दूर हो जाती है। अतः विघ्न के सन्देह से और शिष्टाचार से मंगल अवश्य करना चाहिए।

**न च तस्य निष्फलत्वे तद्बोधकवेदाप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्।**

**शंका**—यदि ऐसी जगह का मंगल निष्फल हो जायगा तो मंगलाचरण की प्रतिपादक कल्पित श्रुति (विघ्नध्वंसकामो मङ्गलमाचरेत्) भी अप्रमाण होने लगेगी।

**सति विघ्ने तन्नाशस्यैव वेदबोधितत्वात्। अत एव पापभ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम्।**

**समा०**—यदि विघ्न होगा तो मङ्गल भी विघ्न का नाश करेगा। उपर्युक्त श्रुति का यही तात्पर्य है। अतएव पाप होने के भ्रम से यदि प्रायश्चित किया जाय तो वहाँ पर पाप न होने से वह प्रायश्चित्त यद्यपि निष्फल है।

तथापि प्रायश्चित्त बोधक श्रुति ( वेद ) को अप्रमाण नहीं माना जाता। अतः पाप होगा तो प्रायश्चित्त से उस ( पाप ) का नाश अवश्य ही होगा, यही ( श्रुति का ) तात्पर्य है। ( ऐसे स्थलों पर यही समझना चाहिये कि विघ्नों के न रहने पर भी मङ्गलाचरण करना तथा पाप के न रहने पर भी प्रायश्चित्त का करना ये दोनों आगे शुभफल देनेवाले होंगे )।

**मंगलं च विघ्नध्वंसविशेषे कारणं विघ्नध्वंसविशेषे च विनायकस्तवपाठादिः।**

**क्वचिच्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं प्रतिबन्धकसंसर्गाभावस्यैव कार्यजनकत्वात्।**

**इत्थं च नास्तिकादीनां ग्रंथेषु जन्मान्तरीयमंगलजन्यदुरितध्वंसः, स्वतः सिद्धविघ्नात्यन्ताभावो वाऽस्तीति न व्यभिचार इत्याहुः।**

मंगल को विघ्नध्वंस के प्रति कारण बताया, [1]किन्तु वह ( मंगल ) समस्त विघ्नों के ध्वंस के प्रति कारण हो नहीं सकता। कुछ विघ्नध्वंसों के प्रति वह ( मंगल ) कारण होता है, और कुछ विघ्नध्वंसों के प्रति गणपति ( विनायक ) के स्तोत्रपाठ आदि को ही कारण बताया गया है, और कुछ स्थलों पर विघ्नात्यन्ताभाव को ही ग्रन्थ समाप्ति का कारण बताया गया है, अतः इन अनेक प्रकार के

( १ ) **शंका**—मंगल में विघ्नध्वंस की कारणता संभव नहीं होती, क्योंकि '**सर्वे-विघ्नाः शमं यान्ति गणेशस्तवपाठतः**'—गणेश ( विनायक ) के स्तोत्र का पाठ करने से सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं—इस वचन से गणेशस्तोत्र पाठ में विघ्नध्वंस की कारणता बताई गई है, तथा धर्मशास्त्रकथित प्रायश्चित्त से भी दुरित ( पाप ) रूप विघ्नों का ध्वंस होता है। इससे विघ्नध्वंस की कारणता प्रायश्चित्त में भी ज्ञात हो रही है। अतः दोनों जगह मंगल की कारणता संभव नहीं है।



कारणों का यही अनुगम करना उचित होगा कि समस्त (सभी) कार्यों के प्रतिबन्धक ( विघ्न ) का अभाव ही समाप्ति में कारण होता है। अतः यही कहना होगा कि नास्तिकों के ग्रन्थों में पूर्वजन्म का किया हुआ मंगल इस जन्म के विघ्न का नाशक होता है, अथवा स्वतःसिद्ध विघ्नात्यन्ताभाव ही समाप्ति के प्रति कारण हो जाता है। कादम्बरी आदि ग्रन्थों में किये गये मंगल, के द्वारा कुछ विघ्नों का ध्वंस हो पाया, क्योंकि मंगल स्वल्प और पूर्वजन्मकृत विघ्न अनल्प ( बहुतअधिक ) हैं। अथवा मंगल करने से पूर्व के विघ्न तो नष्ट हो गये, किन्तु पश्चात् पुनः नवीन विघ्न उत्पन्न हो गये, इसलिए ग्रन्थसमाप्ति नहीं हो पायी, यही कल्पना की जा सकती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि मंगल विघ्न-ध्वंस के प्रति कारण है। यह मानने से कार्य-कारणभावभंगरूपी व्यभिचारदोष नहीं हो पाता। यही नवीन नैयायिकों का मत है।

## इति मङ्गलवादः।

**समा०**—समस्त विघ्नध्वंसों में मंगल को कारणता नहीं है, किन्तु विजातीय ( किसी विशेष ) विघ्नध्वंस में मंगल कारण है और विजातीय ( किसी विशेष ) विघ्नध्वंस में गणेशस्तोत्रपाठ कारण है। तथा विजातीय (किसी विशेष) विघ्नध्वंस में प्रायश्चित्त कारण है। अतः केवल मंगल को ही विघ्नध्वंस का कारण कहना उचित नहीं है।

**शंका**—यदि विघ्नध्वंस मात्र ही मंगल का फल हो तो ग्रन्थ समाप्ति की कामना वाले पुरुष की मङ्गल में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, किन्तु प्रवृत्ति तो प्रत्यक्ष ही दीखती है। कहीं तो स्वतः ही विघ्नों के अत्यन्ताभाव से ग्रन्थसमाप्ति होती है। उस समाप्ति में विघ्नध्वंस को कारण नहीं कहा जा सकता।

**समा०**—सभी ग्रन्थकर्ता पुरुषों में उस विघ्नध्वंस को ही समाप्ति की कारणता नहीं है, अपितु किसी ग्रन्थकर्ता में उस विघ्नध्वंस को ही समाप्ति की कारणता है, और किसी ग्रन्थकर्ता पुरुष में विघ्नात्यन्ताभाव को ही समाप्ति की कारणता है, तथा किसी ग्रन्थकर्ता पुरुष में विघ्नों के प्रागभाव को ही समाप्ति की कारणता है, और विघ्नों का भेदरूप अन्योन्याभाव तो उन विघ्नों के विद्यमान होने पर भी पुरुषों में रहता है। अतः उन विघ्नों के अन्योन्याभाव को समाप्ति की कारणता कहीं भी संभव नहीं। यद्यपि उन विघ्नों के अत्यन्ताभावजन्य समाप्ति में, तथा उन विघ्नों के प्रागभावजन्य समाप्ति में उस विघ्नध्वंस को अकारणता है, तथापि स्वजन्य ( विघ्नध्वंसजन्य ) समाप्ति के प्रति कारणता होने से उस विघ्नध्वंस में उस समाप्ति की कारणता का अभाव सिद्ध नहीं होता। ग्रन्थ समाप्ति के प्रति जो विघ्नाभाव को कारणता है, वह विघ्नध्वंसत्व तथा विघ्नात्यन्ताभावत्व और विघ्नप्रागभावत्व रूप से कारणता नहीं है किन्तु विघ्नसंसर्गाभावत्व रूप से ही विघ्नाभाव को समाप्ति के प्रति कारणता है। वह विघ्नसंसर्गाभावत्व धर्म उन तीनों अभावों में रहता है।

अब उस कारणता के अवच्छेदक का अननुगम होने से वह संसर्गाभावत्वरूप एक ही धर्म उस कारणता का अवच्छेदक है।

**अथवा** सर्वत्र विघ्नों के अत्यन्ताभाव को ही उस समाप्ति के प्रति कारणता है। विघ्नों के ध्वंस तथा प्रागभाव के द्वारा मंगल को उस समाप्ति के प्रति कारणता नहीं है, क्योंकि जिस वस्तु का जहाँ ध्वंसाभाव या प्रागभाव होता है, उस वस्तु का वहाँ अत्यन्ताभाव भी रहता है। इस कारण उस विघ्नात्यन्ताभाव से ही मङ्गल-स्थल में समाप्ति होने पर उस ग्रन्थ की समाप्ति के प्रति वह मङ्गल तथा मङ्गल-जन्य विघ्नध्वंस तथा उन विघ्नों का प्रागभाव ये तीनों अन्यथा सिद्ध हैं।

मङ्गल का सामान्य लक्षण इस प्रकार किया जाता है—'विघ्नभिन्नत्वे सति विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाऽभावभिन्नत्वे सति प्रारीप्सितविघ्नध्वंसाऽसाधारणकारणं-मङ्गलम्'—विघ्नों से भिन्न तथा विघ्नवंस के प्रतिबन्धकाभाव से भिन्न होकर प्रारम्भ करने की इच्छा के विषयभूत कार्य के विघ्नध्वंस का जो असाधारण ( मुख्य ) कारण हो, वही मङ्गल है। यहाँ पर वह मङ्गल विघ्नों से भिन्न है, तथा विघ्नध्वंसरूप कार्य का जनक जो प्रतिबन्धकाभाव है, उससे भी भिन्न है, तथा प्रारम्भ करने की इच्छा का विषयभूत जो ग्रन्थ है उसके प्रतिबन्धक विघ्नों के ध्वंस का असाधारण कारण है। इस लक्षण में यदि **'विघ्नभिन्नत्वे सति'** न कहा जाय तो उन विघ्नों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वे विघ्न उस विघ्नध्वंस के जनक प्रतिबन्धकाभाव से भिन्न हैं, तथा प्रारीप्सित ग्रन्थ की समाप्ति के प्रतिबन्धक विघ्नों के ध्वंस में असाधारण कारण भी हैं। जैसे घट के ध्वंस में मुद्गरप्रहार असाधारण कारण होता है। वैसे ही घटरूपी प्रतियोगी भी उस स्व-ध्वंस में असाधारण कारण होता है। तथैव उन विघ्नों के ध्वंस में वह विघ्नरूपी प्रतियोगी भी असाधारण कारण है। अतः उन विघ्नों में होने वाली अतिव्याप्ति के निवारणार्थ उक्तलक्षण में **'विघ्नभिन्नत्वे सति'** यह प्रथम सत्यन्त विशेषण दिया गया है। उसी प्रकार उक्तलक्षण में 'विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभाव-भिन्नत्वे सति' न कहा जाय तो उस 'विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभाव में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि प्रतिबन्धक के विद्यमान होने पर किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इस कारण उस विघ्नध्वंस की उत्पत्ति में प्रतिबन्धकाभाव कारण है। अतः विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभाव में होने वाली अतिव्याप्ति के निवारणार्थ उक्त-लक्षण में 'विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभावभिन्नत्वे सति'—यह दूसरा सत्यन्तविशेषण दिया गया है। अब यदि उक्त लक्षण में 'प्रारीप्सित' पद न देते तो 'कारीरी' याग में उक्तलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह कारीरी याग उन विघ्नों से भिन्न है तथा विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभाव से भी भिन्न हैं तथा वृष्टि के प्रतिबन्धक जो विघ्न हैं उनके ध्वंस का असाधारण कारण भी है, किन्तु प्रारीप्सित ( प्रारम्भ करने की इच्छा का विषय ) यहाँ पर मङ्गल है, याग नहीं। अतः 'प्रारीप्सित' पद के देने पर कारीरी याग में होनेवाली अतिव्याप्ति का निवारण हुआ। अब



**संसारेति। संसार एव महीरुहो वृक्षस्तस्य बीजाय, निमित्तकारणायेत्यर्थः। एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति। तथाहि—यथा घटादिकार्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि।**

**न च तत्कर्तृत्वमस्मदादीनां सम्भवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेनेश्वरसिद्धिः।**

**न च शरीराजन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम्।**

**अप्रयोजकत्वात्। मम तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभाव एव अनुकूल-स्तर्कः। 'द्यावाभूमी जनयन्देव एको विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता' इत्यादय आगमा अप्यनुसन्धेयाः॥ १॥**

'संसारमहीरुहस्य[1] बीजाय'—यह विशेषण निमित्तकारणस्वरूप ईश्वर के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण की सूचना दे रहा है। जैसे घटात्मक कार्य कुलालात्मक कर्ता के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वैसे ही अङ्कुरादि से ब्रह्माण्डतक सम्पूर्ण जगद्रूप कार्य भी किसी कर्ता के होने पर ही उत्पन्न हो सकता है। उस अचिन्त्य समस्त जगत् की रचना करने में हम जैसे अल्पज्ञ मनुष्यों की तो सम्भावना नहीं की जा सकती। अतः जो इस जगत् का कर्ता हो, वही **ईश्वर** है।

कुछ लोग यहाँ पर 'सत्प्रतिपक्ष' नामक दोष ( विपरीतानुमान ) देते हैं। 'जो वस्तु शरीरी ( शरीर धारण करने वाले ) से उत्पन्न नहीं होती, वह वस्तु, कर्ता से भी उत्पन्न ( जन्य ) नहीं होती'—ऐसा नियम है। यह जगत् शरीरी से उत्पन्न नहीं हुआ है, अतः इस जगत् का कर्ता भी कोई नहीं हो सकता। इस प्रकार का विरुद्धानुमान देना उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त नियम के मानने में अनुकूल तर्क ( युक्ति ) नहीं है। इसलिए हमारी बुद्धि के अनुसार ( ईश्वर का अस्तित्व मानना—यही नैयायिकों का अपना मत है ) जिसका कर्ता न हो वह कार्य भी नहीं है, और न कभी उत्पन्न होगा। तथा जो कार्य है, उसका कर्ता भी है'—इस प्रकार का कार्य-कारण भावरूपी अनुकूल तर्क मिलता है। यही ( अनुकूल तर्क ) परमेश्वर के अस्तित्व में प्रमाण है। इस प्रकार अनुमानप्रमाण से उसका अस्तित्व सिद्ध होने पर परमेश्वर के शब्दप्रमाणरूपी वेदवाक्य से भी उसका अस्तित्व सिद्ध किया जाता है।

---

यदि उक्तलक्षण में 'असाधारण' पद न देते तो काल, अदृष्ट आदि साधारण कारणों में अतिव्याप्ति होती। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'असाधारण' पद दिया गया है। क्योंकि ( १ ) ईश्वर, ( २ ) ईश्वर का ज्ञान, ( ३ ) इच्छा, (४) प्रयत्न, ( ५ ) देश, ( ६ ) काल, ( ७ ) अदृष्ट, ( ८ ) प्रागभाव, ( ९ ) प्रतिबन्धकाभाव ये नौ कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण होते हैं।

इति मंगलवादः।

( १ ) 'संसारमहीरुहः'—इस विशेषण से परमेश्वर के अस्तित्व में 'अनुमान-प्रमाण' की सूचना दी गई है।

**शंका**—प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते। 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'—ये चार प्रमाण महर्षि गौतम ने बताये हैं, किन्तु परमात्मा के अस्तित्व में 'प्रत्यक्षप्रमाण' नहीं कह सकते, क्योंकि 'प्रत्यक्ष' दो प्रकार का है—लौकिक और अलौकिक। 'लौकिक प्रत्यक्ष' में छह सन्निकर्ष है—(१) घ्राणज, (२) रासन, (३) चाक्षुष, (४) स्पार्शन, (५) श्रौत्र, (६) मानस। गन्ध के अभाव से ईश्वर में घ्राणज, रस के न होने से रासन, चक्षुः-सन्निकर्ष के न होने से चाक्षुष, स्पर्श के न होने से स्पार्शन, शब्द के न होने से श्रौत्र, स्मरण के न होने से मानस—ये **सभी प्रत्यक्ष वहाँ नहीं हो सकते।** उसी तरह अलौकिक प्रत्यक्ष भी तीन प्रकार का है—(१) सामान्य लक्षण, (२) ज्ञानलक्षण, (३) योगजलक्षण। इन तीनों ज्ञानों के अभाव से ईश्वर का **अलौकिक प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता।**

उसी तरह **अनुमान** से भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि लिंग ( धूम आदि ) से लिंगी ( अग्नि आदि ) का ज्ञान ही अनुमान है। ईश्वर का कोई ऐसा लिंग ( चिह्न ) ही नहीं, जिससे उसका अनुमान हो सके। सादृश्य से उपमान प्रमाण होता है। परन्तु ईश्वर के सदृश भी कोई नहीं है। उसी तरह पद-ज्ञान के न होने से शाब्द प्रमाण से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

**समा०**—ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि अनुमान-प्रमाण से होती है। जैसे—'घटादिकार्यं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् पटवत्' यहाँ पर 'घटादिकार्यम्' यह पक्ष है, 'कर्तृजन्यत्व' यह साध्य है, 'कार्यत्वात्' यह हेतु है, 'पटवत्' यह दृष्टान्त है। उसी तरह 'क्षित्यङ्कुरादिकम्' 'कर्तृजन्यम्' 'कार्यत्वात्' 'घटवत्'—यहाँ पर 'क्षित्यङ्कुरादिकम्' पक्ष है, 'कर्तृजन्यत्व'=किसी कर्ता से जन्य होना—यह साध्य है, 'कार्यत्वात्=कार्य होने से—यह हेतु है, 'घटवत्'=घट के समान—यह दृष्टान्त है।

उपर्युक्त ईश्वरास्तित्व के साधक अनुमान में 'सत्प्रतिपक्ष' दोष देते हैं। 'सत्प्रतिपक्ष' नामक दोष का स्वरूप इस प्रकार है—'यस्य ( हेतोः ) साध्याभाव-साधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः' जहाँ एक हेतु, साध्य को सिद्ध करता है, वहाँ दूसरा हेतु यदि साध्य के अभाव को सिद्ध करे तो सत्प्रतिपक्ष दोष होता है। जैसे—'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्' इसके विपरीत 'शब्दः अनित्यः कार्यत्वात् घटवत्'। जिस हेतु का जो साध्य है उस साध्य के अभाव का साधक अर्थात् सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु विद्यमान रहे तो उस हेतु को सत्प्रतिपक्षित कहते हैं। **'शब्द नित्य है श्रावण होने से अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होने के कारण'**। इसके विपरीत **'शब्द अनित्य है कार्य होने से घट की तरह'** इस अनुमान में **''श्रावणत्व'** हेतु का साध्य **'नित्यत्व'** है, उस नित्यत्व का अभाव जो अनित्यत्व है, उस **अनित्यत्व** को सिद्ध करनेवाला दूसरे अनुमान में **'कार्यत्व'** हेतु विद्यमान है। अतः **'श्रावणत्व'** हेतु यहाँ **'सत्प्रतिपक्ष'** दोष से दूषित हो जाता है। उसी तरह प्रस्तुत प्रसंग में भी



**'क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं, कार्यत्वात् पटवत्'** इसके विपरीत **'क्षित्यंकुरादिकं, कर्त्रजन्यं, शरीराऽजन्यत्वात् आकाशवत्'**। ईश्वरवादी के अनुमान में **'कार्यत्व'** हेतु का साध्य **'कर्तृजन्यत्व'** है, उस 'कर्तृजन्यत्व' का अभाव जो **'कर्त्रजन्यत्व'** ( कर्तृ + अजन्यत्व) है, उस कर्त्रजन्यत्व को सिद्ध करनेवाला अनीश्वरवादी के अनुमान में 'शरीराऽजन्यत्व' हेतु विद्यमान है, इस कारण 'कार्यत्व' हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' दोष से दूषित हुआ है, यह अनीश्वरवादी का कहना है। किन्तु 'सत्प्रतिपक्ष' दोष का आरोप करनेवाले अनीश्वरवादी के पास कोई तर्क ( अनुकूल युक्ति ) नहीं है। अर्थात् वह यह नहीं कह पा रहा है कि **'यदि कर्त्रजन्यत्व न हो तो शरीराजन्यत्व भी नहीं होता'**। यह तब कह पाता कि जब **कर्त्रजन्यत्व** और **शरीराजन्यत्व** की कहीं व्याप्ति देखी होती। जैसे—धूम और **अग्नि** की व्याप्ति देखने से कहा जाता है कि **यदि अग्नि न हो तो धूम भी नहीं होता,** किन्तु **'कर्त्रजन्यत्व और शरीराऽजन्यत्व'** के कार्य-कारणभाव का व्याप्ति के द्वारा कभी किसी को ज्ञान ही नहीं हुआ है। लेकिन इसके विपरीत ईश्वरवादी के पास अनुकूल तर्क है। वह कह पा रहा है कि **'यदि कर्तृजन्य न हो तो कार्य भी नहीं हो पाता।'** अतः 'कर्तृजन्यत्व' सिद्ध करने में 'कार्यत्व' हेतु उचित ही है, क्योंकि जो कार्य होता है वह कर्ता से जन्य ( उत्पन्न ) होता है, यह हमने घट-पट आदि सभी कार्यों में देखा है। अनीश्वरवादी के मत में तो 'शरीराऽजन्यत्व' ( शरीरजन्यत्वाऽभाव ), यह हेतु, अभाव-रूप है, और कर्त्रजन्यत्व ( कर्तृ + अजन्यत्व अर्थात् कर्तृजन्यत्वाऽभाव ) रूप साध्य भी अभावरूप है। दो अत्यन्ताभावों में कभी भी कार्य-कारणभाव नहीं होता। इसलिए अनीश्वरवादी द्वारा सत्प्रतिपक्ष दोष का आरोपण करना उचित नहीं है।

**अप्रयोजकत्वात्**—व्यभिचारशङ्कोत्थाने अनुकूलतर्काऽभावादित्यर्थः। अनीश्वरवादी के अनुमानप्रयोग में यदि कोई व्यभिचारशंका—'शरीराऽजन्यत्व-मस्तु कर्त्रजन्यत्वं मास्तु'—करे, तो उस व्यभिचारशंका का निवारक अनुकूल तर्क वह नहीं दे पाता। **तर्क** का स्वरूप बहुधा **'कार्य-कारणभावभंगप्रसंग'** रूप हुआ करता है। अतः वह यदि **तर्क** देगा तो उसे यही देना ( कहना ) होगा कि **'यदि कर्त्रजन्यत्वं न स्यात् तर्हि शरीराऽजन्यत्वमपि न स्यात्'**। परन्तु ऐसा कहने पर भी अनीश्वरवादी के अनुमानप्रयोग पर की हुई व्यभिचारशंका का निवारण नहीं हो पाता, क्योंकि **'कर्त्रजन्यत्व'** का तथा **'शरीराऽजन्यत्व'** का **कार्य-कारणभाव** यदि कहीं पहिले प्रसिद्ध हो तो उसका **'एवं न स्यात् तर्हि एवं न स्यात्'** कहकर कार्य-कारणभावभंग का प्रसंग दिया जाय, किन्तु वह ( कार्यकारणभाव ) तो कहीं प्रसिद्ध है ही नहीं। इसलिये अनीश्वरवादी का पक्ष अप्रयोजक है। किन्तु **हम ईश्वरवादी के पक्ष में** व्यभिचारशंका का निवर्तक **'यदि कर्तृजन्यत्वं न स्यात् तर्हि कार्यत्वमेव न स्यात्'**—इस प्रकार कार्य-कारणभावभंगप्रसंगरूप अनुकूल तर्क मिल सकता है, क्योंकि कर्तृजन्यत्व का तथा कार्यत्व का परस्पर कार्यकारणभाव प्रसिद्ध

पदार्थान्विभजते[१]—

"द्रव्यं गुणः" इत्यादि कारिका से पदार्थों का विभाग बताते हैं।—

**द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।**
**समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ॥ २ ॥**

( **पदच्छेदः** ) द्रव्यं, गुणः, तथा, कर्म, सामान्यं, सविशेषकम्, समवायः, तथा, अभावः पदार्थाः सप्त, कीर्तिताः ॥

( **कठिनपदव्याख्या** ) **सविशेषकम्**—विशेष के सहित जो हो वह सविशेष, और सविशेष ही सविशेषक है। इस विग्रह से परमाणुओं के परस्पर भेदसाधकत्वरूप विशेष से विशिष्ट विशेष ही होगा। एवञ्च परमाणुओं के परस्पर भेदसिद्धि के लिये 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार किया गया है।

( **अनुवाद** ) ( १ ) द्रव्य, ( २ ) गुण, ( ३ ) कर्म, ( ४ ) सामान्य, ( ५ ) विशेष, ( ६ ) समवाय, और ( ७ ) अभाव—ये **सात पदार्थ** न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में बताये गये हैं।

**अत्र सप्तमस्याभावत्वकथनादेव षण्णां भावत्वं प्राप्तं तेन भावत्वेन पृथगुपन्यासो न कृतः। एते च पदार्था वैशेषिके प्रसिद्धा नैयायिकानामप्यविरुद्धाः।**

---

है, इस कारण हमारा ईश्वरसाधक अनुमान का 'हेतु' '**सत्प्रतिपक्ष**' दोष से दूषित नहीं है।

इति ईश्वरास्तित्ववादः।

—:०:—

( १ ) **पदार्थान् विभजते**—यहाँ द्वितीया का अर्थ विषयत्व है। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'भज' धातु का अर्थ—'स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यमिथोविरुद्धयावद्धर्मप्रकारकज्ञानानुकूलो व्यापारः' है। 'स्व' पद से 'वि' पूर्वक 'भज' धातु लेना, तत्समभिव्याहृत अर्थात् उसके समीप उच्चरित 'पदार्थ' पद है, उस पदार्थतावच्छेदक ( पदार्थत्व धर्म ) के व्याप्य मिथो विरुद्ध ( परस्पर विरुद्ध ) यावत् धर्म ( समस्त धर्म ) द्रव्यत्व गुणत्व आदि धर्म, तत्प्रकारकज्ञान अर्थात् द्रव्यं, गुणः, कर्म आदि—इत्याकारकज्ञान, तदनुकूलव्यापार 'द्रव्यगुणकर्म' इत्यादि शब्दप्रयोगरूप व्यापार—यह 'वि' पूर्वक 'भज' धातु का अर्थ है। 'ते' प्रत्यय में लट्, तिङ् ( आख्यात ), और एकवचन है, उनका अर्थ—'काल', 'कृति', और संख्या है। सबको मिलाकर यह अर्थ निष्पन्न हुआ कि 'पदार्थनिष्ठा जो विषयता उसका निरूपक जो पदार्थत्वव्याप्य द्रव्यत्वादिरूप अवान्तरधर्मप्रकारकज्ञान, उस ज्ञान के अनुकूल जो व्यापार तदनुकूल जो वर्तमानकालिक कृति, तद्वान् एकत्वसंख्याविशिष्ट ग्रन्थकार—श्रीमान् विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य है। तथाच—'पदार्थविशेष्यक पदार्थत्वावान्तरधर्मप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान्—एकत्वसंख्याविशिष्टोग्रन्थकारः श्रीमान् विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यः—इति **शाब्दबोधः**।



**प्रतिपादितं चैवमेव भाष्ये। अत एवोपमानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्तिसादृश्यादीनामतिरिक्तपदार्थत्वमाशङ्कितम्।**

पदार्थों के नाम बताकर उनका विभाग कहा जाता है—"**द्रव्यं गुण इति।**" द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव —ये सात[१] पदार्थ हैं। इनमें सातवाँ पदार्थ अभाव है, यह कहने से ज्ञात होता है कि बाकी के छह पदार्थ भावस्वरूप हैं। उन छह पदार्थों के लिए ये 'भाव' हैं, यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। ये सात पदार्थ वैशेषिक ( कणाद ) शास्त्र में प्रसिद्ध हैं, और गौतमानुयायी नैयायिकों को भी सम्मत हैं। कणादमुनिकृत सूत्रभाष में भी इनका प्रतिपादन अच्छी तरह किया है। अतएव ( मूलभूत सात ही पदार्थ होने के कारण) चिन्तामणिनामक ग्रन्थ के उपमान खण्ड में '**शक्ति**' तथा '**सादृश्य**' इन दो पदार्थों को उक्त सात पदार्थों से भिन्न होने की प्रभाकर मीसांसक के मत से शंका की है। परन्तु पदार्थ तो सात ही हैं।

**ननु कथमेत एव पदार्थाः शक्तिसादृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वात्? तथाहि—मण्यादिसमवहितेन वह्निना दाहो न जन्यते, तच्छून्येन तु जन्यते। तत्र मण्यादिना वह्नौ दाहानुकूला शक्तिर्नाश्यते, उत्तेजकेन मण्याद्यपसारणेन च जन्यत इति कल्प्यते।**

( **प्रभाकर मीमांसक की शंका** )—'**शक्ति**' और '**सादृश्य**' इन दो अधिक ( सात पदार्थों की अपेक्षा अतिरिक्त ) पदार्थों की संभावना रहते, '**पदार्थ सात हैं**' यह कहना अनुचित है। उक्त दो पदार्थों ( शक्ति और सादृश्य ) की अधिक संभावना का उपपादन करते हैं—"**तथाहि**" इति। अग्नि के समीप रहने पर दाह ( ऊष्मा ) होता है, परन्तु दाह के प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि को यदि अग्नि के समीप रख दिया जाय तो अग्नि से दाह नहीं हो पाता अर्थात् अग्नि की 'दाहकत्व' शक्ति नष्ट हो जाती है, और उस चन्द्रकान्तमणि को उसके ( अग्नि के ) समीप से हटा लिया जाय तो पुनः अग्नि से दाह ( ऊष्मा ) होने लगता है, अथवा चन्द्रकान्तमणि के रहने पर भी यदि उत्तेजक सूर्यकान्तमणि ( दाहप्रतिबन्धक के भी प्रतिबन्धक ) को वहाँ रख दिया जाय तो भी अग्नि से दाह होता है। तात्पर्य यह है कि उत्तेजक मणि के योग से अथवा दाहप्रतिबन्धकमणि के हटा लेने से दाह होता

---

( १ ) 'पदस्य अर्थः—पदार्थः' इति व्युत्पत्त्या 'अभिधेयत्वं' पदार्थसामान्यलक्षणम्। पद के अर्थ का नाम 'पदार्थ' है। विश्व में असंख्य पद हैं किन्तु 'अर्थ' तो इन सात के सिवाय अन्य कोई भी नहीं है। जितने भी अर्थ हैं, सब इन्हीं सात पदार्थों के अन्तर्गत हैं। ईश्वर के ज्ञान का जो विषय है, वही सात पदार्थों का सामान्य ( सम्मिलित ) लक्षण है। सृष्टि-निर्माण के समय ये ही सात पदार्थ ईश्वर के संकल्प के विषय होते हैं। द्रव्यादि सात पदार्थों के सिवाय हमारे ज्ञान का भी कोई विषय नहीं है।

है अर्थात्[1] उत्तेजक मणि के समीप रहने पर या प्रतिबन्धकमणि के हटा लेने पर अग्नि में दाहक शक्ति उत्पन्न होती है और प्रतिबन्धकमणि के रहने पर अग्नि की दाह शक्ति नष्ट होती है—यह कल्पना की जा सकती है। अतः 'शक्ति' एक अधिक[2] पदार्थ है, यह सिद्ध होता है।

एवं सादृश्यमप्यतिरिक्तः पदार्थः, तद्धि न षट्सु भावेष्वन्तर्भवति सामान्येऽपि सत्त्वात्, यथा गोत्वं नित्यं तथाऽश्वत्वमपीति सादृश्यप्रतीतेः, नाप्यभावे सत्त्वेन प्रतीयमानत्वादिति चेत् ?

न। मण्याद्यभावविशिष्टवह्न्यादेर्दाहादिकं प्रति स्वातन्त्र्येण मण्यभावादेरेव वा हेतुत्वं कल्प्यते।

इसी प्रकार 'सादृश्य' ( समानता, तुल्यता ) भी पूर्वोक्त सात पदार्थों की अपेक्षा अधिक पदार्थ है। उसे अतिरिक्त ( अधिक ) पदार्थ मानने में युक्ति यह है कि पूर्वोक्त छह भावपदार्थों ( द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय में से किसी में भी उसका अन्तर्भाव नहीं हो रहा है। अतः उक्त द्रव्यादि छह भावपदार्थों के अतिरिक्त 'सादृश्य' भी एक अधिक भावपदार्थ के रूप में सिद्ध हो रहा

---

( १ ) **उत्तेजक** का यह लक्षण है—**'प्रतिबन्धककोटिप्रविष्टाभावप्रतियोगित्वमुत्तेजकत्वम्'**—कार्य की प्रतिबन्धककोटि में प्रविष्ट जो अभाव हैं, उस अभाव का जो प्रतियोगीपना है, उसका नाम उत्तेजक है। जैसे उत्तेजकरूप सूर्यकान्तमणि अथवा मन्त्रादिकों का अभाव उस दाहरूप कार्य के प्रतिबन्धक कोटि में प्रविष्ट है, उस प्रतिबन्धककोटि में प्रविष्ट अभाव का प्रतियोगीपना उन उत्तेजकरूप मणि, मंत्रादिकों में है, यही उन मणिमंत्रादिकों में उत्तेजकपना है।

( २ ) **शंका**—वह **शक्ति** उक्त सात पदार्थों के अन्तर्गत है या भिन्न है ? यदि भिन्न है तो क्या प्रमाण है ?

**समा०—शक्ति** को सात पदार्थों से भिन्न सिद्ध करते हैं—

**शक्तिः सप्तपदार्थभिन्ना उक्तसप्तपदार्थेषु अनन्तर्भूतत्वात्** तथाहि—शक्तिः न तावत् द्रव्यात्मिका गुणादिवृत्तित्वात्। अतएव न गुणात्मिका, कर्मात्मिका वा गुणादिवृत्तित्वात्। नापि सामान्य-विशेष-समवायरूपा उत्पत्तिमत्त्वे सति विनाशित्वात्। नापि अभावरूपा सत्त्वेन प्रतीयमानत्वात्।—गुण, कर्मादिकों में पृथ्वी आदि द्रव्य नहीं रहते, और शक्ति तो उन गुण, कर्म आदिकों में भी रहती है, अतः वह शक्ति गुण या कर्मरूप नहीं है। सामान्य, विशेष, समवाय, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव इन पदार्थों का उत्पत्ति या विनाश नहीं होता, किन्तु शक्ति तो उत्पत्तिविनाशशालिनी है। तथैव शक्ति की उत्पत्ति होने से अनादिप्रागभावरूप भी नहीं है। यद्यपि सामयिकाभाव का उत्पत्ति-विनाश हुआ करता है तथापि शक्ति तो भावपदार्थ है, अतः '**शक्ति**' उक्त सात पदार्थों के अतिरिक्त एक अधिक भावपदार्थ के रूप में सिद्ध हो रही है।



है[1]। क्योंकि जैसे—'गोत्व' जाति नित्य है, वैसे 'अश्वत्व' जाति भी नित्य है—यह अनुभव सभी को होता है। सादृश्य ( नित्यत्व ), सामान्य ( अश्वत्व आदि जाति ) के ऊपर रहता है। इस कारण यह नियम सिद्ध होता है कि **'जो पदार्थ सामान्य में अथवा तदितर स्थल में रहे वह पूर्वोक्त छह पदार्थों में नहीं आ सकता।'** यह 'सादृश्य' तो सामान्य और तदितर में रहता है। अतः पूर्वोक्त छह पदार्थों के अन्तर्गत नहीं हो सकता। उसी तरह यह 'सादृश्य' 'अभाव पदार्थ' के भी अन्तर्गत 'अभाव पदार्थ' के भी अन्तर्गत नहीं हो सकता, क्योंकि 'अभाव' असत् स्वरूप है और दृश्यवस्तुरूप भी नहीं है, किन्तु 'सादृश्य' तो 'यह उसके सदृश है' इस सत्व्यवहार से प्रतीत होता है। अतः 'सादृश्य' को अभाव के अन्तर्गत नहीं कह सकते। तस्मात् 'शक्ति और सादृश्य' ये दो अधिक पदार्थ हैं, यह स्वीकार करना चाहिये।

किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्धकमणि के अभावसहित अग्नि अर्थात् चन्द्रकान्तमणिसंज्ञक प्रतिबन्धकशून्यकाल का अग्नि, दाह के प्रति कारण है। या मणि का अभाव अथवा केवल अग्नि ही दाह के प्रति कारण है—इस प्रकार के कार्य कारणभाव की यहाँ कल्पना करनी चाहिये[2]।

अनेनैव सामञ्जस्येऽनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसकल्पनाऽनौचित्यात्।

न चोत्तेजके सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कथं दाह इति वाच्यम्, उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात्।

सादृश्यमपि न पदार्थान्तरं किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यमिति॥२॥

॥ इति पदार्थोद्देशग्रन्थः॥

—:०:—

---

( १ ) 'सादृश्यं षट्पदार्थ—भिन्नः पदार्थः, षड्भावपदार्थान्तर्भूतत्वात्', अथवा 'सादृश्यम् अतिरिक्तः पदार्थः, सामान्येतरवृत्तित्वेसति सामान्यवृत्तित्वात्', 'सादृश्यं न अभावरूपं सत्त्वेन प्रतीयमानत्वात्' अथवा 'ध्वंस-प्रागभावभिन्नत्वेसति नञ्प्रतीतिबोधाजनकत्वात्'। 'सादृश्य' छः पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि उन पदार्थों में उसका अन्तर्भाव नहीं होता। अथवा 'सादृश्य' यह अतिरिक्त पदार्थ है, क्योंकि सामान्य ( जाति ) तथा तदितर में रहता है, और 'सादृश्य' अभावरूप भी नहीं है, क्योंकि भावरूप से प्रतीयमान होता है, तथा 'नहीं है' ऐसी प्रतीति भी नहीं कराता है।

( २ ) **तात्पर्य**—उत्तेजकरूप मणि-मन्त्रादिकों के अभाव से विशिष्ट जो मणि-मंत्रादि हैं, वे मणि-मंत्रादि उस दाहरूप कार्य के प्रतिबन्धक हैं। उन प्रतिबन्धक मणि-मंत्रादि का अभाव ही उस दाह के प्रति कारण है। ( वस्तु के पूर्वरूप की निवृत्तिपूर्वक अर्थात् वह्नि में रखे हुए घटादिकों के पूर्वश्यामरूप नष्ट होने पर जो रूपान्तर की उत्पत्ति है, अर्थात् जो रक्तरूप उत्पन्न होता है उसी को दाह कहते

यह स्वीकार करने से ही यदि सामञ्जस्य[१] ( निर्वाह ) हो सकता है तो अनन्त शक्ति, उनका ध्वंस तथा उनके प्रागभाव की कल्पना करते बैठना उचित नहीं है। अतः प्रभाकरमीमांसक की अधिक पदार्थ कल्पना अनुचित है।

**शंका**—प्रतिबन्धकमणि का अभाव दाह के प्रति कारण है, ऐसा माने तो कदाचित् उत्तेजकमणि ( सूर्यकान्त ) को अग्नि के निकट रखने पर तथा प्रतिबन्धकमणि ( चन्द्रकान्त ) के रहने पर भी दाह होता है। किन्तु आपके ( नैयायिक के ) कथनानुसार तो दाह नहीं होना चाहिये, क्योंकि प्रतिबन्धकणि तथा उत्तेजकमणि इन दोनों के होने पर प्रतिबन्धकमणि की अभाव रूप कारण सम्पत्ति तो वहाँ है ही नहीं ?

**समा०**—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि उत्तेजक शून्यकाल का मणि दाह के प्रति प्रतिबन्धक होता है। यहाँ उत्तेजक शून्यकाल के मणिरूप प्रतिबन्धकता का अभाव दाह के प्रति कारण है, इस प्रकार कार्य-कारणभाव की हम कल्पना

---

हैं ) वह दाहकारणीभूतविशिष्टाभाव—कहीं तो विशेषणमात्र के अभाव से होता है। और कहीं विशेष्यमात्र के अभाव से होता है और कहीं विशेषण-विशेष्य दोनों के अभाव से होता है। जहाँ वह्नि के समीप प्रतिबन्धक मणिमंत्रादिक विद्यमान हैं तथा उत्तेजक मणि-मंत्रादि भी विद्यमान हैं, वहाँ दाहरूप कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसी जगह उत्तेजकाभावरूप विशेषण का अभाव है, वही दाह का कारण है। और जहाँ वह्नि के समीप वे प्रतिबंधक मणिमंत्रादिक नहीं हैं, परन्तु उत्तेजक मणि-मंत्रादिक हैं, वहाँ भी दाहरूप कार्य उत्पन्न होता है, वहाँ विशेषण-विशेष्य उभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव ही उस दाह का कारण है। और जहाँ वह्नि के समीप प्रतिबन्धक तथा उत्तेजक मणिमंत्रादि दोनों विद्यमान नहीं हैं, वहाँ विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव ही दाह का कारण है, उसी से दाहरूपी कार्य उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि कोई भी कारण स्वतंत्ररूप से अर्थात् अकेला ही किसी कार्य को पैदा नहीं कर सकता। किन्तु सहकारी कारण से युक्त होकर ही उत्पन्न करता है। अतः मण्यभावविशिष्ट वह्नि ही दाह के प्रति कारण है, केवल वह्नि नहीं। अथवा मण्यभाव को भी स्वतंत्र कारण मान लिया जाय। मणिसमवधान स्थल में मणि के अभाव से विशिष्ट वह्नि नहीं है, अपितु मणि से विशिष्ट ही वह्नि है, अतः 'मण्यभावविशिष्टवह्नि' रूप कारण के न होने से दाहरूप कार्य नहीं होता। अथवा स्वतंत्ररूप से 'मण्यभाव' रूप कारण नहीं है, अपितु 'मणि' ही है, इसलिये दाह नहीं होता है।

( १ ) पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव की कल्पना करने से यह लाभ है कि जहाँ प्रतिबन्धक 'मणि' आदि अग्नि के समीप नहीं हैं, वहाँ पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव के रहने से 'दाह' रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। और जहाँ प्रतिबंधक मणि है वहाँ पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव के न होने से 'दाह' रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।



करते हैं, जिससे उपर्युक्त शंका का समाधान हो जाता है अर्थात् पूर्वोक्त प्रसंग[१] नहीं आता है। इसलिए 'शक्ति' यह अधिक पदार्थ नहीं है। उसी तरह 'सादृश्य' भी अधिक पदार्थ नहीं है। वह तो उपमेय में रहनेवाला एक धर्म है। जैसे—'मुख में चन्द्र का सादृश्य है' इस उदाहरण में मुखरूप उपमेय में रहनेवाला आह्लादकत्व जो धर्म है, वही 'सादृश्य' है। वह सादृश्यघटक धर्म कहीं जातिरूप होता है, जैसे—'घटसदृशः पटः' और कहीं उपाधिरूप होता है, जैसे[२]—'यथा' गोत्वं नित्यं तथा अश्वत्वमपि'। अतः 'सादृश्य' भी अधिक पदार्थ नहीं है यह सिद्ध हो गया ॥ २ ॥

॥ इति पदार्थोद्देशग्रन्थः ॥

---

( १ ) प्रतिबन्धक तथा उत्तेजक ( चन्द्रकान्त तथा सूर्यकान्त ) ये दो मणि जहाँ इकट्ठा रहती हैं, वहाँ प्रतिबन्धक की उपस्थिति (सम्पत्ति) होने से दाह नहीं होता। प्रतिबन्धक के अभाव ( कारण ) की उपस्थिति ( सम्पत्ति ) से ही दाह होता है। केवल चन्द्रकान्तमणि ही प्रतिबन्धक नहीं, किन्तु उत्तेजक सूर्यकान्तमणि के अभाव-विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि के अभाव को दाह के प्रति कारणता है अर्थात् जहाँ सूर्यकान्त तथा चन्द्रकान्त ये दोनों मणि न हों ऐसे अभाव को यहाँ कारणता मानी गई है।

( २ ) सादृश्य का यही लक्षण है कि 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यम्' जिस पदार्थ में जिस वस्तु का सादृश्य प्रतीत होता है, उस वस्तु में असाधारणरूप से रहनेवाले जो बहुत सारे धर्म हैं, उनसे युक्त होना ही उस पदार्थ में उस वस्तु का 'सादृश्य' है। जैसे—'चन्द्रसदृशं मुखम्' यहाँ पर मुख तो चन्द्रमा से भिन्न है तथा चन्द्रमा में असाधारणरूप से रहनेवाले जो आह्लादकत्व, वर्तुलत्व, तेजस्वित्व, शीतलत्व आदि अनेक ( बहुत ) धर्म हैं, उनमें से कितने ही धर्म उस 'मुख' में भी हैं—यही उस मुख में चन्द्र का सादृश्य है। यदि 'तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' इतना ही 'सादृश्य' का लक्षण करें तो, प्रतियोगितारूप से सादृश्य का निरूपक जो चन्द्रमा है, उसी में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'भूयोधर्मवत्त्व' चन्द्रमा में विद्यमान हैं ही। इस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'तद्भिन्नत्वे सति' कहना चाहिए। तब चन्द्रमा, चन्द्रमा से भिन्न नहीं है, इस कारण अतिव्याप्ति नहीं है। उक्त लक्षण में 'धर्म' शब्द से 'असाधारणधर्म' समझना चाहिए। अन्यथा 'प्रमेयत्व' आदि साधारण धर्म सब पदार्थों में रहते हैं, तब 'घट' भी 'चन्द्रमा' के सदृश हो जायेगा। किन्तु असाधारणधर्म में तात्पर्य होने से 'घट' में चन्द्रमा का सादृश्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रमेयत्व आदि तो साधारण धर्म हैं, असाधारण नहीं। कोई यत्-किञ्चित् ( एक ) धर्म न ले, इसलिये 'भूयः' पद दिया गया है। 'घट के सदृश पट है' यहाँ जातिरूप सादृश्य है। 'गोत्व के सदृश अश्वत्व है' यहाँ उपाधिरूप सादृश्य है। तात्पर्य यह है कि यह 'सादृश्य' द्रव्यादि पदार्थों के ही अन्तर्गत है। अतः द्रव्यादि सात ही पदार्थ हैं यह सिद्ध हो गया।

'क्षित्यप्' इत्यादि ग्रन्थ से ( ग्रन्थकार ) द्रव्यों का विभाग दिखाते हैं—

द्रव्याणि विभजते—

**क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः ।**
**द्रव्याणि,**

क्षित्यवित्यादि । क्षितिः पृथिवी, आपो जलानि, तेजो वह्निः, मरुद् वायुः, व्योम आकाशः, कालः समयः, दिग् आशा, देही आत्मा, मन एतानि नव द्रव्याणीत्यर्थः ।

क्षिति=पृथिवी, अप्=जल, तेजः=अग्नि, मरुत्=वायु, व्योम=आकाश, काल=समय, दिक्=दिशा, देहिनः=जीवात्मा और परमात्मा, मनः=अन्तःकरण, द्रव्याणि=मूलभूत वस्तु हैं । अथ[1]=अनन्तर ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नव द्रव्य हैं ।

ननु द्रव्यत्वजातौ किं मानम् ?

**शंका**—अमुक पदार्थ द्रव्य है, यह कैसे जाना जाय ?

न हि तत्र प्रत्यक्षम् प्रमाणं, घृतजतुप्रभृतिषु द्रव्यत्वाग्रहादिति चेत् ?

न, कार्यसमवायिकारणताऽवच्छेदकतया संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणताऽवच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धेरिति ।

**उत्तर**—यह वस्तु द्रव्य है, वह वस्तु द्रव्य है[2], ऐसी अनुगतप्रतीति होने पर जिस वस्तु में द्रव्यत्वरूपी जाति होगी, वही वस्तु द्रव्य समझी जाएगी । यह द्रव्यत्व जाति है—ऐसा मानने में प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो नहीं सकता, क्योंकि घृत, लाख आदि कितने ही विलक्षण पदार्थों में सर्वसाधारण लोगों को 'यह द्रव्य है' ऐसी प्रतीति नहीं होती । सर्वसाधारण लोग तो प्रायः रुपया, पैसा सोना, चाँदी आदि को ही द्रव्य समझते हैं । अतः यह 'द्रव्यत्व' प्रत्यक्ष प्रमाण से गम्य नहीं है । तथापि 'द्रव्यत्व' जाति का ज्ञान, अनुमानप्रमाण से होता है । उसी अनुमान प्रमाण[3] को बताते हैं—'किसी भी कार्य के प्रति अथवा संयोग के प्रति या विभाग के प्रति 'समवाय' सम्बन्ध से द्रव्य कारण होता है'—इस प्रकार कार्य-कारणभाव समझना चाहिये । अतः जो भेद का दर्शक धर्म है, वही 'द्रव्यत्व' नाम की जाति है ।

( १ ) 'अथ' शब्द का अग्रिम ग्रन्थ से सम्बन्ध है। यहाँ पर पदच्छेद के लिए लिखा गया है।

( २ ) 'घट', 'पट' आदि द्रव्य हैं, इस प्रकार की लोकसिद्ध अनुगत प्रतीति होती है । यह प्रतीति किसी अनुगत धर्म के बिना नहीं हो सकती । इस प्रतीति के लिये घट, पट आदि वस्तुओं में अनुगत ( सब वस्तुओं=द्रव्यों, पर रहनेवाला ) एक धर्म अवश्य मानना होगा, वही धर्म 'द्रव्यत्व' है । द्रव्यों में पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच तत्त्व भूतसंज्ञक हैं । इनमें गुण और क्रिया प्रत्यक्ष रहती है । सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये चार पदार्थ अप्रत्यक्ष अर्थात् कल्पित हैं । 'सामान्य' शब्द का अर्थ 'जाति' है ।

( ३ ) संस्कृत के नैयायिक पण्डित 'द्रव्यत्व' जाति की सिद्धि इस प्रकार करते हैं—"कार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया...... ......द्रव्यत्वजातिसिद्धेः" हम देखते हैं कि संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं, कोई कारण है तो कोई कार्य है । अर्थात् कोई पदार्थ किसी पदार्थ का कारण रहता है तो कोई किसी का कार्य रहता है । कार्य ( पदार्थ ) में कार्यता धर्म और कारण ( पदार्थ ) में कारणता धर्म रहता है । जैसे मनुष्य में मनुष्यता धर्म रहता है । प्रत्येक के दो-दो 'अवच्छेदक' हुआ करते हैं—एक 'सम्बन्ध' और दूसरा 'धर्म' । अभिप्राय यह है कि 'कार्यता' और 'कारणता' के भी दो अवच्छेदक हुए—एक 'सम्बन्ध' और दूसरा 'धर्म' । तब जिज्ञासा होती है कि कारणता का तथा कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध कौन है और अवच्छेदक धर्म कौन है ? 'कार्य' अपने 'कारण' में जिस सम्बन्ध से रहता है वह 'कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध' कहा जाता है, उसी प्रकार 'कार्य' पर रहने वाला धर्म 'कार्यतावच्छेदक धर्म' कहा जाता है । साथ ही साथ यह नियम ध्यान में रखना चाहिये—'यो यस्य अवच्छेदको भवति, स तदवच्छिन्नो भवति' जो जिसका अवच्छेदक होता है, वह उससे अवच्छिन्न होता है । पृथिवी आदि अवयवी द्रव्यरूप कार्य घट-पट आदि, अपने कारणरूप अवयवद्रव्य में 'समवाय सम्बन्ध' से उत्पन्न होकर रहते हैं । इस कारण अवयवी द्रव्यनिष्ठ-कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध 'समवायसम्बन्ध' है । अतः वह कार्यता 'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना' हो गई । उसी प्रकार पृथिवी आदि कार्यद्रव्य में 'कार्यत्वधर्म' रहता है, इसलिये वह कार्यत्वधर्म, पृथिव्यादिकार्यद्रव्यनिष्ठ कार्यता का अवच्छेदक हुआ । अतः वह कार्यता कार्यत्व से अवच्छिन्ना हुई । साथ ही साथ यहाँ यह नियम भी ध्यान में रखना होगा कि 'समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले कार्य के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से द्रव्य कारण होता है ।' क्योंकि समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले सभी कार्य, द्रव्य में ही रहते हैं । अतः द्रव्यनिष्ठ कारणता का अवच्छेदकसम्बन्ध तादात्म्य ही होगा, तब द्रव्यनिष्ठ कारणता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना होगी । उसी प्रकार कार्यता और कारणता का आपस में निरूप्य-निरूपकभाव हुआ करता है । कहीं कार्यता से निरूपित कारणता होती है तो कहीं कारणता से निरूपित कार्यता होती है । इतना समझ लेने के बाद द्रव्यत्वजाति का साधक अनुमान इस प्रकार कहना होगा कि "समवायसम्बन्धावच्छिन्ना कार्यत्वावच्छिन्ना या अवयविद्रव्यनिष्ठा कार्यता, तादृशकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा या समवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावत् ।" अनुमान प्रयोग में चार बातों की ओर ध्यान अवश्य रखना चाहिये—( १ ) पक्ष, ( २ ) साध्य, ( ३ ) हेतु, ( ४ ) दृष्टान्त । उपर्युक्त अनुमानप्रयोग में '**पक्ष**'—द्रव्यनिष्ठकारणता है, उसमें किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्व '**साध्य**'

है, कारणतात्व 'हेतु' है; और घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावत्—यह 'दृष्टान्त' है। प्रकृत में 'पक्ष' में जो द्रव्यनिष्ठकारणता है, उसी में किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नत्व' को सिद्ध करते हैं तो द्रव्यनिष्ठा कारणता उसी धर्म से अवच्छिन्ना होगी, जो उस कारणता का अवच्छेदक होगा। अर्थात् द्रव्यनिष्ठ कारणता का जो अवच्छेदक होगा, वह द्रव्यत्व ही होगा। तब द्रव्यनिष्ठा 'कारणता' द्रव्यत्वावच्छिन्ना होगी। एवञ्च द्रव्यनिष्ठा कारणता 'यद्धर्मावच्छिन्ना' हो, उसी धर्म को 'द्रव्यत्व' जाति कहते हैं। इस रीति से उपर्युक्त अनुमान से 'द्रव्यत्वजाति' की सिद्धि की जाती है। अर्थात् 'कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकतया' द्रव्यत्व जाति की सिद्धि की गई है।

किन्तु वह ठीक प्रतीत नहीं हो रही है, क्योंकि 'कार्यत्व' को ही कार्यता का अवच्छेदक बना दिया गया है। अर्थात् 'स्व' को ही 'स्वयं' का अवच्छेदक बना दिया है। यह अनुचित इसलिये है कि 'कार्यत्व' और 'कार्यता' दोनों एक ही वस्तु होने से 'आत्माश्रय' दोष हो जाता है। इस अरुचि को ध्यान में रखकर ही मूल में "संयोगस्य" कहा गया है। 'संयोगस्य' का अन्वय 'समवायिकारणतावच्छेदकता' के साथ होगा। अर्थात् संयोग का समवायिकारण हुआ—'द्रव्य', उसमें रहनेवाली समवायिकारणता का अवच्छेदक होगा 'द्रव्यत्व', उसीको 'द्रव्यत्व' जाति समझना चाहिये। यहाँ भी उसी प्रकार समझना होगा 'संयोग' गुणपदार्थ है, वह (संयोग) गुण होने से द्रव्य ( गुणी ) में समवाय-सम्बन्ध से रहेगा। एतावत—संयोगनिष्ठा कार्यता, समवायसम्बन्धावच्छिन्ना होगी। और संयोगनिष्ठकार्यता का अवच्छेदक संयोगत्व होगा। अतः संयोगनिष्ठा कार्यता संयोगत्वावच्छिन्ना होगी। एवञ्च द्रव्यत्वजातिसाधक अनुमानप्रयोग इस प्रकार किया जायगा—'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना अथच संयोगत्वावच्छिन्ना या संयोगनिष्ठा कार्यता, तन्निरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा समवायिकारणता ( पक्षः ) सा, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना ( द्रव्यत्वधर्मावच्छिन्ना ) ( साध्यम् ), कारणतात्वात् ( हेतुः ), घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावत् ( दृष्टान्तः )।' एवञ्च द्रव्यनिष्ठा समवायिकारणता द्रव्यत्वावच्छिन्ना ही होगी। इससे भी द्रव्यत्वजाति की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि द्रव्यनिष्ठा कारणता यद्धर्मावच्छिन्ना हो वही धर्म, द्रव्यत्व जाति कहलाती है। किन्तु यह अनुमानप्रयोग भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। उसका कारण यह है कि इस अनुमानप्रयोग में भी संयोगत्वावच्छिन्ना कार्यता अप्रसिद्ध है। क्योंकि संयोगनिष्ठा कार्यता संयोगत्वावच्छिन्ना तभी हो सकती है जब संयोगत्व, संयोगनिष्ठकार्यता का अवच्छेदक हो। लेकिन संयोगनिष्ठकार्यता का अवच्छेदक 'संयोगत्व' हो ही नहीं सकता। क्योंकि अवच्छेदक वही होता है, जो अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति धर्म हो। संयोगत्वधर्म जैसे अनित्य संयोग पर रहता है, वैसे ही वह ( संयोगत्व ) नित्यसंयोग ( विभुद्वयसंयोग, कालाकाशसंयोग ) में भी रहता है। अतः वह कार्यता के अतिरिक्तवृत्ति है। इस अरुचि को ध्यान में रखकर



मूलकार ने 'विभागस्य' कहा है। इसका अन्वय भी 'समवायिकारणतावच्छेदकता' के साथ समझना चाहिये। विभाग सभी अनित्य होते हैं। यहाँ भी उसी प्रकार समझना होगा—'विभाग' गुण पदार्थ है। वह ( विभाग ) गुण होने से द्रव्य ( गुणी ) में समवाय सम्बन्ध से रहेगा। एतावता विभागनिष्ठा कार्यता, समवायसम्बन्धावच्छिन्ना होगी। और विभागनिष्ठकार्यता का अच्छेदक विभागत्व होगा। अतः विभागनिष्ठा कार्यता विभागत्वावच्छिन्ना होगी। एवञ्च द्रव्यत्वजातिसाधक अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—समवायसम्बन्धावच्छिन्ना अथच विभागत्वावच्छिन्ना या विभागनिष्ठा कार्यता, तन्निरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा समवायिकारणता ( पक्षः ) सा, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, ( द्रव्यत्वधर्मावच्छिन्ना ) ( साध्यम् ), कारणतात्वात् ( हेतुः ), घटनिष्ठकार्यतानिरूपित कपालनिष्ठकारणतावत् ( दृष्टान्तः )। द्रव्यनिष्ठासमवायिकारणता द्रव्यत्वावच्छिन्ना ही होगी। इससे द्रव्यत्व जाति की सिद्धि निराबाध हो जाती है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य, समस्त कार्य का समवायिकारण है तो संयोग, विभाग और जन्य द्रव्य का भी वही (द्रव्यही) समवायिकारण है। अतः समवायिकारणतावच्छेदक 'द्रव्यत्व' होगा, वही द्रव्यत्वजाति है। इस प्रकार द्रव्यत्वजाति के साधक तीन अनुमान किये गये। उनमें से प्रथम अनुमान में कार्यत्वधर्म को कार्यतावच्छेदक मानने में आत्माश्रय दोष तथा उपस्थितिकृत गौरव होता है, इसलिये द्वितीय अनुमान किया गया। किन्तु उसमें भी नित्यसंयोगवादी के मत से संयोगत्वावच्छिन्ना कार्यता अप्रसिद्ध है। इसलिये तृतीय अनुमान किया। इसमें नित्यविभाग का आश्रय कोई द्रव्य नहीं है, इस कारण विभागत्वावच्छिन्ना कार्यता अप्रसिद्ध नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि 'द्रव्यवृत्तिर्या संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् तन्तुवृत्तिकारणतावत्'—पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहनेवाली जो संयोगगुणरूप कार्य की अथवा विभागगुणरूप कार्य की समवायिकारणता वह किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, कारणता होने से, क्योंकि जो-जो कारणता होती है, वह किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न ही होती है, निरवच्छिन्न कोई कारणता नहीं होती। जैसे तन्तुओं में रहनेवाली पट की समवायिकारणता तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है। वैसे ही यह द्रव्यनिष्ठ कारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न होगी। प्रकृत में पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में स्थित जो संयोग-विभागरूप कार्य की समवायिकारणता है, उस कारणता की द्रव्यत्व ( धर्मरूप ) जाति ही अवच्छेदक होती है। 'जो धर्म जिस धर्म के न्यून तथा अधिक देश में न रहे, किन्तु समान देश में रहे उसको 'अवच्छेदक' कहते हैं, ऐसा अवच्छेदक धर्म द्रव्यत्वजाति में ही घटित होता है। क्योंकि संयोग-विभागरूप कार्य की समवायिकारणता उन पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहती है और यह द्रव्यत्व जाति ( धर्म ) भी पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहती है। अतः द्रव्यत्व जाति ही इस कारणता का अवच्छेदक है। पृथिवीमात्र में पृथिवीत्व,

जल में जलत्व इत्यादि द्रव्यविभाजक जातियाँ न्यून देश में रहती हैं, और 'सत्ता' अधिक देश में रहती है। अतः वे 'पृथिवीत्व', 'जलत्व' आदि धर्म या 'सत्ता' कोई भी द्रव्यनिष्ठ कारणता की अवच्छेदक नहीं हो सकतीं, किन्तु 'द्रव्यत्व' धर्म ही उसका अवच्छेदक हो सकता है। उस 'द्रव्यत्व' धर्म को ही 'द्रव्यत्वजाति' कहते हैं।

**शंका**—समवायसम्बन्ध से गुणत्वजाति गुण में यद्यपि रहती है, तथापि 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से वह गुणत्वजाति द्रव्य में भी रहती है। यहाँ पर 'स्व' शब्द से गुणत्वजाति को लिया, उसके आश्रय रूपादिगुण होंगे, उनके आश्रय पृथिवी आदि नौ द्रव्य होंगे। तब 'गुणत्वजाति' को ही द्रव्यवृत्ति ( निष्ठ ) कारणता को अवच्छेदक क्यों न माना जाय, 'द्रव्यत्व' जाति को ही क्यों अवच्छेदक माना जा रहा है?

**समा०**—पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में साक्षात् ( परम्परा से नहीं ) सम्बन्ध से सम्बद्ध द्रव्यत्वजातिरूप धर्म का कोई भी बाधक नहीं है। अतः उस साक्षात्सम्बद्ध द्रव्यत्व धर्म को छोड़कर, वह अनुमितिज्ञान परम्परयासम्बद्ध गुणत्वजातिरूप धर्म को विषय नहीं करेगा, अपितु साक्षात्सम्बद्ध द्रव्यत्वजातिरूप धर्म को ही विषय करेगा।

**शंका**—जैसे आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व, अभावत्व—ये धर्म जातिरूप नहीं हैं, किन्तु उपाधिरूप हैं, वैसे ही द्रव्यत्व धर्म को जातिरूप न मानकर उपाधिरूप ही क्यों न मान लिया जाय?

**समा०**—कारणता, कार्यता, प्रतिबन्धकता, प्रतिबध्यता, तथा पद की शक्यता का अवच्छेदक धर्म, जातिरूप ही होता है, उपाधिरूप नहीं—यह नैयायिकों का सिद्धान्त है।

**शंका**—जैसे संयोग-विभाग ये दोनों द्रव्य में रहते हैं, वैसे ही रूपादि भी द्रव्य में रहते हैं, तब संयोग-विभाग ही से निरूपित द्रव्यवृत्ति ( निष्ठ ) समवायिकारणता को लेकर द्रव्यत्वजाति की सिद्धि क्यों की जा रही है, रूपादि गुणनिरूपित द्रव्यनिष्ठसमवायिकारणता को लेकर द्रव्यत्वजाति की सिद्धि क्यों नहीं की जा रही है?

**समा०**—जैसे शब्द, रस, रूप, स्पर्श, परत्व आदि गुण—एक, दो तीन, चार, पाँच आदि द्रव्यों में रहते हैं, परन्तु संयोग तथा विभाग ये दोनों तो सभी द्रव्यों में रहते हैं, इस कारण संयोग-विभाग निरूपित कारणता को ही लेकर द्रव्यत्व जाति की सिद्धि की है।

**शंका**—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व—ये तीन गुण भी सभी द्रव्यों में रहते हैं, तब एतन्निरूपित समवायिकारणता को लेकर द्रव्यत्व जाति की सिद्धि क्यों नहीं की जा रही है?



ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्? तद्धि प्रत्यक्षेण गृह्यते। तस्य च रूपवत्त्वात् कर्मवत्त्वाच्च द्रव्यत्वम्। तद्धि गन्धशून्यत्वान्न पृथिवी, नीलरूपवत्त्वाच्च न जलादिकम्। तत्प्रत्यक्षे चालोकनिरपेक्षं चक्षुः कारणमिति चेत्?

'तम' को दसवाँ द्रव्य माननेवाले मीमांसक की[1] शंका—यह **तम** ( तमस् ) ( अन्धकार ) नौ द्रव्यों से निराला **दसवाँ द्रव्य** प्रतीत हो रहा है, क्योंकि 'तम' प्रत्यक्ष दीखता है और **'गुणवत्त्वं क्रियावत्त्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यस्य लक्षणम्'**[2] यह 'द्रव्य' का लक्षण है। **'नीलं तमश्चलति'** कहने से **'तम'** में 'नीलरूप' गुण तथा 'चलनात्मक' क्रिया भी प्रतीत होती है, इस कारण 'तम' को **द्रव्य** कहा जा सकता है। परिगणित नौ द्रव्यों में से किसी में भी इस 'तमोद्रव्य' का अन्तर्भाव भी नहीं हो पा रहा है, इसलिए यह 'तमोद्रव्य' 'नौ द्रव्यों' से अतिरिक्त है उसीका उपपादन करते हैं—'तम' का **पृथिवी में** अन्र्भाव हो नहीं सकता, क्योंकि 'पृथिवी' में **गन्ध गुण** है, 'तम' में नहीं। 'तम' में 'नीलरूप' दिखाई देने से 'जल' आदि में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। 'आदि' पद से **तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन** को समझना चाहिए। इनमें से किसी में भी 'नीलरूप' नहीं है। 'तम' के प्रत्यक्ष करने में 'आलोक-निरपेक्ष ( प्रकाशरहित ) चक्षु' कारण होता है, यही 'तम' के प्रत्यक्ष में विशेषता है। एतावता यह 'तम' दसवाँ द्रव्य है।[3]

---

**समा०**—ये तीन गुण नित्य तथा अनित्य हैं। और 'नित्यानित्यवृत्तिधर्म तो कार्यता का अवच्छेदक नहीं होता' यह नियम है। संयोग विभाग ये दोनों धर्म तो अनित्य हैं इस कारण समवायिकारणता के अवच्छेदक होकर द्रव्यत्वजाति को सिद्ध करते हैं।

**शंका**—यदि संयोग से ही द्रव्यत्वजाति सिद्ध हो सकती है तो विभाग को पुनः क्यों ग्रहण किया?

**समा०**—कुछ ग्रन्थकार आकाशादि विभुओं के **संयोग** को नित्य कहते हैं, तब संयोग तो नित्यानित्यवृत्ति हो जायेगा, इसलिए **विभाग** को ही समवायिकारणता का अवच्छेदक मानकर द्रव्यत्वजाति की सिद्धि की गई है।

( १ ) 'तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति॥' इति मीमांसकानां मतम्।

( २ ) जो 'समवायसम्बन्ध' से **गुण** या **कर्म** का आश्रय हो और जो किसी का समवायिकारण हो उसी को **द्रव्य** कहते हैं।

( ३ ) अनुमान प्रमाण से भी 'तम' का द्रव्य होना सिद्ध किया जा सकता है—**अनुमानप्रयोग** इस प्रकार होगा—'तमः' द्रव्यं रूपवत्वात् क्रियावत्वाच्च पृथिवीवत्—' 'तम' द्रव्य है, रूपवाला तथा क्रियावाला होने से, जो-जो पदार्थ 'रूप तथा क्रियावाला' होता है, वह वह पदार्थ 'द्रव्य' ही होता है। जैसे 'पृथिवी' रूप तथा क्रियावाली है, इस कारण ही उसे 'द्रव्य' कहा जाता है। इस प्रकार **'तम'** भी रूप तथा 'क्रियावाला' होने से **द्रव्य** है।

अब **अनुमान** से उस 'तम' का **पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों** में अन्तर्भाव भी सिद्ध नहीं है, यह दिखाते हैं। **अनुमानप्रयोग** इस प्रकार होगा—'तमः न पृथिवी गन्धशून्यत्वात् जलवत्'—'तम' पृथिवी नहीं, गन्धरहित होने से जो जो द्रव्य गन्धरहित है, वह-वह **पृथिवी** नहीं है। जैसे जल, **गन्ध** से रहित होने के कारण 'पृथिवी' नहीं है। अब जलादि आठों द्रव्यों से 'तम' की भिन्नता बताते हैं—'तमो न जलादिकं' नीलरूपवत्वात् पृथिवीवत्'—वह 'तम' जल आदि अष्टद्रव्यरूप भी नहीं है, नील रूपवाला होने से, जो द्रव्य नील रूपवाले हैं, वे जलादि अष्टद्रव्यरूप नहीं होते हैं, जैसे—'पृथिवी' नील रूपवाली होने से जलादि अष्टद्रव्यरूप नहीं है, वैसे ही तम भी नील रूपवाला होने से जलादि अष्टद्रव्यरूप नहीं है। **अथवा** इस एक ही अनुमान से 'तम' को नौ द्रव्यों से भिन्न सिद्ध किया जा सकता है—'तमः, न पृथिव्यादि, स्पर्शरहितत्वेसति रूपवत्वात्, यन्नैवं, तन्नैवं, यथा पृथिव्यादि। 'तम' पृथिवी आदि नौ द्रव्यरूप नहीं है, स्पर्शरहित तथा रूपवाला होने से, जो पदार्थ पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से भिन्न नहीं रहता, वह पदार्थ स्पर्शरहित होता-हुआ रूपवाला भी नहीं होता। जैसे 'पृथिवी' आदि नौ द्रव्य, उन पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से ( स्व से ) भिन्न नहीं हैं, इसीकारण स्पर्श से रहित रहकर रूपवाले नहीं हैं, किन्तु स्पर्श के सहित रहते हुए रूपवाले हैं, और यह 'तम' स्पर्श से रहित होता हुआ रूपवाला है। अंतः उन पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से भिन्न ( भेदवाला ) है।

इसी आशय को संस्कृत में इस प्रकार से भी कहा जा सकता है—

'तमः अतिरिक्तद्रव्यं, प्रसिद्धनवद्रव्यवैधर्म्यात्'। तथाहि—तमः पृथिव्यनन्तर्भूतम्, समवायसम्बन्धावच्छिन्नगन्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाधिकरणत्वात्, सुवर्णवत्'। 'तमः जलानन्तर्भूतम्, शीतस्पर्शाभावात्, घटवत्।' 'तमः तेजोऽनन्तर्भूतम् उष्णस्पर्शाभावात् घटवत्।' 'तमः वाय्वनन्तर्भूतम् सदागतिमत्त्वाऽभावात् घटवत्।' तथा 'तमः वाय्वनन्तर्भूतम् स्पर्शाभावात् आकाशवत्।' 'तमः आकाशादि-प्रत्येकपञ्चाऽनन्तभूतं समवायेन रूपवत्त्वात् घटवत्।' **एवं** तमः न गुणाद्यन्तर्भूतम् गुणवत्त्वात् इति। तथापि तत्तद्धेतुना जलत्वाभावादेः प्रातिस्विकरूपेण साधनमनुचितम्, एकेनैव 'नीलरूपवत्त्वात्' इति हेतुना जलत्वादिमनस्त्वान्तान्यतमशून्यत्व-साधनसम्भवात्। यह ध्यान में रखकर ही ग्रन्थकार ने 'नीलरूपवत्त्वाच्च' कहा है, अर्थात् 'समवायेन नीलरूपाधिकरणत्वात्'। अब अनुमान इस प्रकार किया जायगा—'तमः जलतेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनोनन्तर्भूतं समवायेन नीलरूपाधिकरणत्वात्, नीलघटवत्।'

इस 'तम' का लक्षण इस प्रकार होगा—'स्पर्शरहितत्वेसति रूपवत् तमः' आकाशादि 'पाँच द्रव्य' स्पर्शरहित होने पर भी रूपवाले नहीं हैं, इस कारण उनमें 'तम' के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। पृथिवी आदि तीन द्रव्यों में



न, आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा, कर्मवत्ताप्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। तमसोऽतिरिक्तद्रव्यत्वेऽनन्तावयवादिकल्पनागौरवं च स्यात्। स्वर्णस्य यथा तेजस्यन्तर्भावस्तथा वक्ष्यते।

'उष्णस्पर्श' तथा भास्वर रूपवाला होने से अवश्य माननीय ( स्वीकर्तव्य ) जो **तेजःपदार्थ** है, उसके अभाव में ही यदि 'अन्धकार' ( तम ) का व्यवहार हो जाय तो नौ द्रव्यों की अपेक्षा 'तमो' नामक अधिक पृथक् द्रव्य की कल्पना करना उचित नहीं है। अर्थात् आवश्यक प्रौढ प्रकाशक जो तेज पदार्थ है उसी के सामान्याभावरूप तम ( अन्धकार ) को मानने से ही उपपत्ति ( निर्वाह ) यदि हो जाती है तो एक अतिरिक्त द्रव्य की कल्पना करते बैठना उचित नहीं है। अतः 'तेज का अभाव' ही **'तम'** है। इसलिए **'तम'** नाम का कोई **दसवाँ द्रव्य नहीं है।**

**शंका**—यदि 'तम' को **तेजोभावरूप** मानते हैं तो उसमें 'नीलं तमश्चलति' यह रूपवत्ता प्रतीति क्यों होती है? क्योंकि 'अभाव' तो नीरूप ( रूपहीन ) है।

**समा०**—आकाश के नीरूप ( रूपहीन ) होने पर भी 'नीलः आकाशः' यह प्रतीति जैसे भ्रम है, वैसे ही 'नीलं तमश्चलति' यह रूपवत्ता प्रतीति भी भ्रम है। उसी तरह **'चलति,** यह 'कर्मवत्ता' प्रतीति भी **भ्रम है।** जब कोई व्यक्ति 'दीपक' रूप प्रकाश लेकर चलता है, तो उस व्यक्ति की 'अपसरण क्रिया', दीपक आदि में आकर 'अंधकार' में भासित होने लगती है, जिससे 'तम चल रहा है' ऐसा कहने लगते हैं। अतः तम में चलनक्रिया की प्रतीति आलोक ( तेज, प्रकाश ) की अपसारणक्रियारूप उपाधि से प्रयुक्त होने के कारण **भ्रमरूप** ही है। अर्थात् 'तम' में 'चलनक्रिया' का ज्ञान **भ्रमरूप** ही है, क्योंकि आलोक के होने पर 'तम'

---

'रूप' तो है परन्तु 'स्पर्शरहितत्व' नहीं है, अतः उनमें भी उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। यह 'तम' नौ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य है—यह वृद्धों ने भी कहा है—

'तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्।
प्रसिद्धधर्मवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति॥' (न्याय लीलावती)

'तमः द्रव्यं समवायेन कर्मवत्त्वात्'। 'तमः द्रव्यं समवायेन नीलरूपवत्त्वात्'। 'तमः द्रव्यं समवायेन परत्ववत्त्वात्'। 'तमः द्रव्यं समवायेन अपरत्ववत्त्वात्।' 'तमः द्रव्यं समवायेन विभागवत्त्वात्।' 'तमः द्रव्यं समवायेन संयोगवत्त्वात्। 'तमः अतिरिक्तद्रव्यं प्रसिद्धनवद्रव्यवैधर्म्यात्।'

'तम' चलनरूपक्रिया तथा नीलरूप और परत्व-अपरत्व गुणवाला होने से द्रव्यरूप है। और प्रसिद्ध पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के वैधर्म्यवाला होने से उन नौ द्रव्यों से भिन्न है। अतः यह 'तम' नाम का दशम द्रव्य सिद्ध हो रहा है।

भागता है। इस युक्ति से यह सिद्ध होता है कि 'तम' कोई अतिरिक्त पदार्थ न होकर आलोकाभाव ( तेजोऽभाव ) रूप ही है। इस पर भी 'तम' को अतिरिक्त द्रव्य मानने का यदि कोई दुराग्रह करता है तो उसे 'तम' के 'अनन्त अवयव' तथा 'उनके नाश' की भी कल्पना करनी होगी। अर्थात् 'तम' को 'सावयव द्रव्य' मानना होगा, तब कल्पना-प्रयुक्त **गौरव** होगा। अतः इस प्रकार के अनन्तावयवादि कल्पना करने के कारण उपस्थित होनेवाले गौरव को मानने की अपेक्षा **'तेजोऽभाव'** को ही 'तम' कहने में लाघव होगा। हम नैयायिकों के यहाँ 'अभाव' को सप्तम पदार्थ माना जाता है। अतः 'तम' का उसी अभाव पदार्थ में अन्तर्भाव मानना चाहिए। **'तम'** अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। एतावता 'द्रव्य' **नौ** ही हैं यह सिद्ध हुआ[१]। **'सुवर्ण'** का भी तेज में ही अन्तर्भाव होता है, यह चर्चा हम तेजोनिरूपण के प्रसंग में करेंगे।

---

( १ ) 'तम' को अतिरिक्त द्रव्य मानने की जो आशंका **मीमांसकों ने** की है, वह उचित नहीं है। क्योंकि **'महत्त्व-विशिष्ट तथा उद्भूतरूपवाले द्रव्य'** का चाक्षुष-प्रत्यक्ष, 'आलोक-सहकृत-चक्षुरिन्द्रिय' से ही होता है। 'घट-पट आदि द्रव्यों' का प्रत्यक्ष जैसा 'आलोक' ( प्रकाश ) में होता है, वैसा 'अन्धकार' में नहीं। इससे ज्ञात होता है कि **'तम'** संज्ञक कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु वह 'तेज का अभाव' है।

**शंका**—'प्रकाश' में ही चक्षु से 'द्रव्य' का प्रत्यक्ष हो'—यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है, क्योंकि रात्रि में प्रकाशाभाव होने पर ( प्रकाश के न रहने पर ) भी उल्लूपक्षी, बिल्ली, चूहा, राक्षस आदि को दीखता ही है।

**समा०**—रात्रि में 'प्रकाश' का अत्यन्त ( बिलकुल ) अभाव नहीं रहता, अपितु किंचित् आलोक ( प्रकाश ) रहता ही है। उस थोड़े ( किंचित् ) प्रकाश से ही उल्लू आदि का 'चक्षुरिन्द्रिय' 'द्रव्य' का प्रत्यक्ष कर लेता है। अर्थात् 'चक्षुरिन्द्रिय' प्रत्यक्ष का कारण होता है।

**शंका**—जैसे उल्लू, राक्षस, आदि को अँधेरी रात में दीखता है, वैसे ही मनुष्यादिकों को क्यों नहीं दीखता ?

**समा०**—विलक्षण अदृष्टविशेष से उल्लू आदि का चक्षु, अल्प स्वल्प प्रकाश में ही देख लेता है, किन्तु मनुष्यों का चक्षु, उत्कृष्ट प्रकाश से ही अदृष्ट के कारण देख पाता है। अथवा चाक्षुषप्रत्यक्ष का 'अस्मदीय' यह विशेषण दें तो कोई भी दोष नहीं होगा।

( **मीमांसकों की शंका** )—तेजःसामान्य के अभाव का नाम 'तम' है या तेजोविशेष के अभाव का नाम 'तम' है ? अब **नैयायिक** यदि प्रथम पक्ष का स्वीकार करते हैं तो अत्यन्त 'गाढ़ अन्धकार' में उस 'तम' की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। यदि 'तेजोविशेष के अभाव' का नाम 'तम' कहो तो सूर्य के प्रकाशरूप आलोक के विद्यमान होने पर भी 'तम' की प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि यहाँ पर यत्किञ्चित् अग्निचन्द्रादि के तेजोविशेष का अभाव तो है ही।



गुणान्विभजते अथ गुणा इति।

क्रमप्राप्त गुणों का विभाग करते हैं।

**—अथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ॥ ३ ॥**
**स्पर्शः सङ्ख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम्।**
**संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम् ॥ ४ ॥**
**बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम्।**
**द्रवत्वं स्नेहसंस्करावदृष्टं शब्द एव च ॥ ५ ॥**

(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमिति=परिमाण, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) बुद्धि, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) इच्छा, (१६) द्वेष, (१७) यत्न=प्रयत्न, (१८) गुरुत्व, (१९) द्रवत्व, (२०) स्नेह, (२१) संस्कार, (२२) धर्म,

---

**समाधान**—यह जो कहा गया है कि—'तेज के अभाव' का नाम 'तम' है, उसका तात्पर्य यह है—'प्रकृष्टमहत्त्वोद्भूतानभिभूतरूपवत्तेजःसामान्याभावस्तमः' जो तेज प्रकृष्टमहत्त्वपरिमाण तथा उद्भूत अनभिभूत रूपवाले हैं, ऐसे समस्त तेजों का जो अभाव है, वही 'तम' है। ऐसे तेज—सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि, मणि आदि हैं। उपर्युक्त लक्षण में यदि 'प्रकृष्ट' पद न देते तो 'त्र्यणुकतेज' के विद्यमान होनेपर भी 'तम' की प्रतीति नहीं होती। यदि 'रूप' का विशेषण 'उद्भूत' पद न दें तो 'चक्षुरिन्द्रियरूप तेज' के विद्यमान होनेपर इस तम की प्रतीति नहीं होती। यदि रूप का विशेषण 'अनभिभूत' पद न दें तो सुवर्णरूप तेज के होनेपर 'तम' की प्रतीति न होती। यदि 'सामान्य' पद न दें तो जहाँ एक सूर्यरूप तेज है, वहाँ चन्द्र अग्नि आदि तेजों का अभाव भी है, अतः वहाँ भी तम की प्रतीति नहीं होनी चाहिये थी। अतः लक्षण ठीक प्रतीत हो रहा है। 'तम' में जो नीलरूप दीखता है, वह 'पृथिवी' का समझना चाहिये। जैसे—'पित्त' होनेपर 'शंख' पीला प्रतीत होता है। उसी प्रकार जो चलनात्मक क्रिया 'तम' में प्रतीत होती है, वह भी 'तम' की नहीं, किन्तु दीपकादितेज के किरणों का प्रतिरोध करनेवाला शरीरादि पार्थिव द्रव्य है, उसकी क्रिया ही 'तम' में प्रतीत होती है।

**मीमांसकों की शंका**—जैसे तुम **नैयायिकों** ने अन्वयव्यतिरेक से 'तम' को 'तेज' का अभाव माना है, वैसे ही हम **मीमांसक** उस 'तेज' को ही 'तम' का अभाव सिद्ध करते हैं।

**समाधान**—'अभाव' में स्पर्श तथा रूपादि नहीं रहते, किन्तु 'द्रव्य' में ही रहते हैं। यदि 'तेज' तम का अभाव होता तो अग्नि के अंगारे को हाथ पर रखने से हाथ नहीं जलता, अर्थात् स्पर्श करने पर दाहादि नहीं होते। अतः 'तेज' को **द्रव्य** और 'तम' को **अभावरूप** ही मानना उचित है।

(२३) अधर्म[1], (२४) शब्द । ये चौबीस गुण[2] हैं। 'एव' 'च' ये दो पद कारिका में केवल पादपूर्ति के लिये ही हैं।

**एते गुणाश्चतुर्विंशतिसंख्याकाः कणादेन कण्ठतश्च शब्देन च दर्शिताः। तत्र गुणत्वजातिसिद्धिरग्रे वक्ष्यते ॥ ३-५ ॥**

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार—ये चौबीस गुण हैं। इनमें सत्रह (१७) गुण कणाद मुनि ने अपने सूत्र[3] में स्पष्टतया लिखे हैं, शेष सात गुण उसी सूत्र के 'च' कार से सूचित होते हैं। इस प्रकार ये चौबीस गुण इस शास्त्र में कहे गये हैं। इन गुणों में 'गुणत्व' जाति की सिद्धि आगे गुणनिरूपण के अवसर पर करेंगे।

**कर्माणि विभजते उत्क्षेपणमिति ।**

अब क्रमप्राप्त कर्म का विभाग करते हैं।

**उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा ।**
**प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च ॥ ६ ॥**

**कठिन पदों की व्याख्या**—(१) **उत्क्षेपणम्**—"ऊर्ध्वदेशसंयोगानुकूला क्रिया" ऊपर के देश से संयोग करानेवाला कर्म अर्थात् ऊपर को फेंकना, (२) **अपक्षेपणम्**—"अधःसंयोगानुकूला क्रिया" अर्थात् नीचे को फेंकना, (३) **आकुञ्चनम्**—"प्रसारितस्य संक्षिप्तसम्पादनानुकूला क्रिया" अर्थात् सिकोड़ना, (४) **प्रसारणम्**—अर्थात् 'विस्तारकरणम्' फैला देना, (५) **गमनम्**—'उत्तरदेशसंयोगानुकूलो व्यापारः' जो क्रिया उत्तर देश के साथ संयोग ( मिलाप ) कराती है, उसको गमन कहते हैं। अर्थात् गमन करने के समय पूर्व देश के साथ संयोग का 'ध्वंस' होना तथा उत्तर देश के साथ संयोग का होना, अर्थात् जो व्यापार ऐसा संयोग पैदा करावे उसी का नाम गमन है। **कर्माणि**—ये पाँच प्रकार के कर्म हैं। कर्म का स्थूल लक्षण तो यह है कि '**क्रियते इति कर्म**' अर्थात् जो किया जाय वही कर्म है। शास्त्रीय शब्दों में लक्षण इस प्रकार होगा—जो पदार्थ 'संयोग' तथा 'विभाग' का असमवायिकारण हो और जिसका 'असमवायी वेग' हो वही **कर्म** है।

उत्क्षेपण, अपक्षेपण आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पाँच ही कर्म हैं।

**कर्मत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा। एवमुत्क्षेपणत्वादिकमपि ॥ ६ ॥**

---

( १ ) धर्म का अभाव अधर्म नहीं है, किन्तु यह अधर्म, गुणविशेष भाव पदार्थ है।

( २ ) 'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षो गुणः' इति। जो द्रव्य में रहता है और स्वयं अगुणवान् है, उसी प्रकार जो संयोग तथा विभाग का कारण नहीं है, वही गुण है।

( ३ ) "रूपरसगन्धस्पर्शाः, संख्याः, परिमाणानि, पृथक्त्वं, संयोगविभागौ, परत्वाऽपरत्वे, बुद्धयः, सुखदुःखे, इच्छाद्वेषौ, प्रयत्नाश्च गुणाः।"—वै० सू० १।१।६



'कर्म' में 'कर्मत्व' जाति तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। जैसे मनुष्य उठता है, गमन करता है इस प्रकार अनुगत प्रत्यय ( ज्ञान ) होने से 'कर्मत्व जाति' को प्रत्यक्ष सिद्ध कहा गया। इसी प्रकार उत्क्षेपणत्वादि जाति को भी प्रत्यक्ष सिद्ध समझना चाहिये ॥ ६ ॥

**भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च ।**
**तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ ७ ॥**

( १ ) **भ्रमणम्**-इधर-उधर घूमना, ( २ ) **रेचनम्**-निकलना, ( ३ ) **स्यन्दनम्**-बहना, ( ४ ) **उद्ध्र्वज्वलनम्**—ऊपर की ओर अग्नि का जलना अर्थात् लपट, ( ५ ) **तिर्यग्गमनम्**—टेढ़ा चलना **गमनादेव लभ्यते**—गमन शब्द के अन्तर्गत ही इन 'भ्रमणादिकों' को जानना चाहिए। अर्थात् ये एक तरह के **गमन ही** हैं।

**नन्वत्र भ्रमणादिकमपि पञ्चकर्माधिकतया कुतो नोक्तम् ?**

भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, उद्ध्र्वज्वलन, और तिर्यग्गमन ये पाँच, कर्म, पूर्वोक्त पाँच कर्मों से अधिक प्रतीत होते हैं, तब दस प्रकार के कर्म हैं, ऐसा क्यों नहीं कहा ? इस शंका के समाधानार्थ कहते हैं।

**अत आह—भ्रमणमित्यादि ॥ ७ ॥**

भ्रमणादिक[1] पाँच कर्म निराले नहीं हैं, इनका गमन में ही[2] अन्तर्भाव हो जाता है। अतः पाँच ही कर्म हैं ॥ ७ ॥

**सामान्यं निरूपयति, सामान्यमिति ।**

अब क्रमप्राप्त सामान्य का निरूपण करते हैं।

**सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ।**

कठिन पदव्याख्या—( १ ) **सामान्यम्**—जातिः, ( २ ) **परं चापरम्**—'पर' एवं 'अपर' ये दो भेद 'जाति' के हैं। 'पर' शब्द का अर्थ यहाँ उत्कृष्ट है। 'अपर' की अपेक्षा से 'पर' बहुत पदार्थों में रहता है, यही 'पर' की उत्कृष्टता है। अपर' शब्द का अर्थ निकृष्ट है। 'पर' की अपेक्षा 'अपर' कम पदार्थ में रहता है। यही 'अपर' के निकृष्ट होने का कारण है।

---

( १ ) ये पाँच कर्म घोड़ों की गति से जाने जाते हैं।

( २ ) शंका—भ्रमणादिकों का जैसे गमन में अन्तर्भाव माना जाता है, वैसे ही उत्क्षेपणादि चारों का भी 'गमन' में अन्तर्भाव क्यों नहीं माना जाता ?

समा०—यद्यपि उक्त रीति से उत्क्षेपणादिकों का भी गमन में अन्तर्भाव हो सकता है तथापि कणादमुनि ने उत्क्षेपणादि पाँच ही प्रकार का कर्म बताया है। अतः उनकी शैली का त्याग करना उचित नहीं है। उत्पत्ति विनाशशाली होने से सभी कर्म अनित्य होते हैं। जिस-जिस मूर्तद्रव्य में जो-जो कर्म उत्पन्न होता है, उस-उस कर्म का वह-वह 'मूर्त द्रव्य' समवायिकारण होता है। वह कर्म, चक्षु तथा त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

तात्पर्य यह है कि 'जाति' पदार्थ दो प्रकार का होता है, 'पर' और 'अपर'। द्रव्य, गुण और कर्म पर रहनेवाली ( तीनों में समवेत ) सत्ताजाति को 'परा' कहते हैं। जो 'जाति' 'परा' नहीं है, उसे 'अपरा' कहते हैं। द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, प्रभृति जाति, 'परा' होती है। इसी प्रकार 'द्रव्य' के अन्तर्गत जो पृथ्वी, जल आदि नौ द्रव्य हैं, तथा 'गुणों' के अन्तर्गत जो रूप, रस आदि चौबीस गुण हैं, उनमें से प्रत्येक पर रहनेवाले जैसे पृथ्वीत्व, जलत्व आदि, उसी तरह रूपत्व, रसत्व आदि अपरा जाति समझी जाती हैं। एवं च 'परा' और 'अपरा' ये दो जातियाँ हैं।

**तल्लक्षणं तु नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्। अनेकसमवेतत्वं संयोगादीनामप्यस्त्यत उक्तं नित्यत्वे सतीति। नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगनपरिमाणादीनामप्यस्त्यत उक्तमनेकेति। नित्यत्वे सत्यनेकवृत्तित्वमत्यन्ताभावेऽप्यस्त्यतो वृत्तित्वसामान्यं विहाय समवेतत्वमित्युक्तम्।**

नित्य (नाश रहित) होकर अनेक पदार्थों में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाले धर्म को 'सामान्य' ( जाति ) कहते हैं। अब लक्षण के पदों का प्रयोजन बताते हैं—'नित्य' पद यदि न दें तो 'संयोग', 'विभाग' आदि गुण अनेक पदार्थों में 'समवाय-सम्बन्ध' से रहते हैं। अतः वे भी 'सामान्य' ( जाति ) हो जायेंगे। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'सामान्य' ( जाति ) के लक्षण में 'नित्य' पद दिया गया है। उसके देने से 'संयोगादि' अनित्य होने के कारण वे 'सामान्य' ( जाति ) नहीं कहे जा सकेंगे। अब 'अनेक' पद लक्षण में न दें तो गगन का जो 'महत्परिमाण' है, वह नित्य है, और वह 'समवाय सम्बन्ध' से गगन में रहता है। अतः गगन-परिमाण' में 'सामान्य' ( जाति ) के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'अनेक' पद दिया गया है। गगन तो एक ही पदार्थ है, अनेक नहीं। उसमें रहनेवाले 'महत्परिमाण' अनेक पदार्थों में नहीं रहता। अतः लक्षण में 'अनेक' पद के देने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब लक्षण में 'समवाय' पद यदि न दें तो 'अत्यन्ताभाव' नित्य है और वह अनेक पदार्थों में भी रहता है। अतः 'अत्यन्ताभाव' में 'सामान्य' ( जाति ) के लक्षण[1]

( १ ) इतर भेद के अनुमापक धर्म को '**लक्षण**' कहते हैं। अर्थात् जो धर्म अन्य वस्तुओं से भेद करावे, उस भेद करानेवाले धर्म को '**लक्षण**' कहते हैं। जैसे—'करचरणादिमत्वं'—'**मनुष्यत्वम्**' यह मनुष्य का लक्षण है। क्योंकि 'करचरणादिमत्त्व' धर्म मनुष्य को अन्य जीव तथा वस्तुओं से भिन्न कराता है। इसलिये 'करचरणादिमत्त्व' मनुष्य का लक्षण है। उसी प्रकार 'गलकम्बलादिमत्त्वं' गो का लक्षण है। जिसके गले में कम्बल ( कम्बलाकार लम्बमानचर्म ) होता है, उसी को 'गो' कहते हैं। गोमात्र के गले में कम्बल होता है, गो से भिन्न अन्य प्राणि के गले में वह नहीं होता। 'गलकम्बलादिमत्त्व' धर्म के द्वारा गो प्राणि अश्वप्रभृति अन्य प्राणियों से भिन्न होता है। अतएव 'गलकम्बलादिमत्त्व' 'गो' का लक्षण समझा जाता है।



की **अतिव्याप्ति**[1] हो जायगी। इसलिये 'समवाय' पद 'सामान्य' के लक्षण में दिया गया है। 'अत्यन्ताभाव' समवायसम्बन्ध से कहीं नहीं रहता। 'अत्यन्ताभाव' तो 'दैशिकविशेषणता' नामक **स्वरूपसम्बन्ध** से रहता है। अतः 'सामान्य ( जाति ) के लक्षण में कोई दोष नहीं है।

( १ ) **अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव, अन्योऽन्याश्रय** प्रभृति कुछ दोष हैं। लक्षण बनाते समय उक्त दोषों से बचने के लिये उनपर दृष्टि अवश्य रखनी चाहिये। क्योंकि लक्षण वही ठीक होता है, जिसमें किसी प्रकार का दोष न हो। लक्षण सदा निर्दुष्ट होना चाहिये। **अतिव्याप्ति**—अतिव्याप्ति का, प्रकृति-प्रत्यय व्युत्पादित अर्थ—'अत्यन्तव्यापन' है। उसी को लक्षण के माध्यम से बताते हैं—'अलक्ष्ये लक्षणगमनम्'—**अतिव्याप्तिः**। अलक्ष्य में लक्षण का चला जाना ही अतिव्याप्ति है। अर्थात् जो जिसका लक्ष्य नहीं, वहाँ यदि लक्षण चला जाय, तो अतिव्याप्ति नाम का दोष होता है। जैसे—'चेतनावत्त्वम्'....**मनुष्यत्वम्**। मनुष्य के इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। क्योंकि जैसी मनुष्य में चेतना है, वैसी ही मनुष्यभिन्न 'गो' आदि प्राणियों में भी चेतना ( चेतनावत्त्व ) धर्म है। इसलिये 'चेतनावान् मनुष्यः' यह लक्षण, लक्ष्यभूत मनुष्य में तथा मनुष्यभिन्न अलक्ष्य 'गो' आदि में भी जाता है। अतः उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। इसलिये यह लक्षण ठीक नहीं है।

**अव्याप्ति**—'**अव्याप्ति**' का यौगिक ( प्रकृति-प्रत्यय व्युत्पादित ) अर्थ यही है कि 'अव्यापन' अर्थात् व्यापन ( व्याप्ति ) का अभाव, उसी को लक्षण के माध्यम से बताते हैं—'लक्ष्यैकदेशवृत्तित्वम्'—**अव्याप्तिः**। यदि लक्षण, लक्ष्य के एकदेश में ही व्याप्त रहे, सम्पूर्ण लक्ष्य में व्याप्त न हो सके तो '**अव्याप्ति**' नामक दोष होता है। जैसे—'कपिलत्वं गोत्वम्' यह 'गो' का लक्षण यदि किया जाय तो अव्याप्ति-दोष होगा, क्योंकि 'कपिलत्व' धर्म कपिला गौ में तो मिलेगा। किन्तु अन्य सफेद, काली, लाल आदि रंगवाली गौओं में 'कपिलत्वं' धर्म नहीं मिलेगा। अतः उक्त लक्षण लक्ष्यमात्र ( गोमात्र ) में न पहुँचपाने के कारण अव्याप्तिदोष से दूषित हुआ। इसलिए यह लक्षण ठीक नहीं है।

**असम्भव**—'**असम्भव**' शब्द का यौगिक अर्थ—'संभावना का अभाव' है। इसी अर्थ को लक्ष्य के माध्यम से बताते हैं—'लक्ष्ये लक्षणाऽगमनम्'—**असम्भवः**। लक्ष्य में लक्षण का घटित न हो पाना ही '**असम्भव**' है। जैसे—'एकशफवत्त्वं' 'गोत्वम्' यह लक्षण यदि गाय का किया जाय तो 'एकशफवत्त्वं' धर्म किसी भी गाय में उपलब्ध नहीं होगा। अतः लक्ष्यभूत गो में लक्षण के घटित न होने से यह **असम्भव** दोष होता है। इसलिये यह लक्षण ठीक नहीं है।

**अन्योन्याश्रय**—जो अन्योन्य (परस्पर) का आश्रय करे, उसे **अन्योन्याश्रय** कहते हैं। उसी को इतरेतराश्रय, या पस्पराश्रय भी कहते हैं। इसी भाव को लक्षण के माध्यम से बताते हैं—'स्वग्रहसापेक्ष-ग्रहसापेक्षग्राहकत्वम्, अन्योन्याश्रयत्वम्'—स्वग्रहः ( स्वज्ञानम् ) तस्य सापेक्षः ( अपेक्षाकारी ) यो ग्रहः ( ज्ञानम् ) तस्य

एकव्यक्तिमात्रवृत्तिस्तु न जातिः । तथा चोक्तम्—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः' ॥

एकव्यक्तिवादाकाशत्वं न जातिः । तुल्यव्यक्तित्वात् घटत्वं कलशत्वं न जातिद्वयम् । संकीर्णत्वात् भूतत्वं मूर्तत्वं च न जातिः । अनवस्थाभयात् सामान्यत्वं न जातिः । विशेषस्य व्यावृत्तस्वभावस्य रूपहानिः स्यात् अतो विशेषत्वं न जातिः । समवायसम्बन्धाभावात् समवायत्वमभावत्वं च न जातिः ॥

अब 'जाति' किसमें नहीं रहती, यह बताते हैं। श्रीउदयनाचार्य ने अपने किरणावलिग्रन्थ में जाति के बाधक गिनवाये हैं। जैसे—( १ ) व्यक्ति का भेद न होना अर्थात् व्यक्ति का एक होना, ( २ ) तुल्यता ( पर्याय ), ( ३ ) संकर ( मिश्रण ), ( ४ ) स्थिति न होना, ( ५ ) रूप का नाश, ( ६ ) असम्बन्ध अर्थात् समवाय न रहना ये छह[1], जाति के बाधक हैं। अब प्रत्येक के उदाहरण बताते हैं—( १ ) व्यक्ति

---

सापेक्षः ( अपेक्षाकारी ) ग्रहो यस्य, तस्य भावः। अर्थात् स्वज्ञान के प्रति जो ज्ञान अपेक्षा करे, उसीं ज्ञान के प्रति पुनः यदि स्वज्ञान अपेक्षा करे तो वहाँ पर **अन्योन्याश्रय** नाम का दोष समझा जाता है। जैसे—'महिषभिन्नत्वं गोत्वम् एवं गोभिन्नत्वं महिषत्वम्' यहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष है। क्योंकि गो-ज्ञान करने के समय महिष-ज्ञान आवश्यक एवं महिषज्ञान करने के समय पुनः गो ज्ञान आवश्यक होता है। उसी प्रकार 'जो पिता से जन्य ( पैदा ) हो वह पुत्र एवं जो पुत्र का जनक हो वह पिता'—यहाँ पर भी अन्योन्याश्रय दोष है, क्योंकि पितृज्ञान का सापेक्ष पुत्रज्ञान है और पुत्रज्ञान का सापेक्ष पितृज्ञान है।

**आत्माश्रय**—जो अपना ही आश्रय करे उसे आत्माश्रय कहते हैं। 'स्वापेक्षापादकप्रसङ्गत्वम्'—**आत्माश्रयत्वम्**। अर्थात् जो स्व अपेक्षा का आपादक ( जनक ) हो उसको **आत्माश्रय** कहते हैं। जैसे—'ज्वरघटित उपसर्गयुक्त रोग का नाम ज्वर है' यह ज्वर का लक्षण यदि किया जाय तो आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि यहाँ पर ज्वरज्ञानसापेक्ष ज्वरज्ञान है। अतः इस लक्षण में **आत्माश्रय दोष** अर्थात् अपना ज्ञान कराने के हेतु अपना ही आश्रय करता है। किसी भी वस्तु का लक्षण करते समय दोषों पर दृष्टि अवश्य देनी चाहिये, अन्यथा लक्षण दुष्ट होता है।

( १ ) मुक्तावलि में कहा था कि 'एकमात्रव्यक्तिवृत्तिस्तु न जातिः' अर्थात् एक-एक व्यक्ति में रहनेवाले आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व आदि धर्मों में 'जाति' शब्द का व्यवहार नहीं हुआ करता। इसी बात को उदयनाचार्य जैसे प्राचीन आचार्यों ने अपने किरणावलीग्रन्थ में 'व्यक्तेरभेदः' इत्यादि छह जातिबाधकों की गणना कर बताया है। जैसे ( १ ) व्यक्ति का अभेद, ( २ ) तुल्यत्व, ( ३ ) संकर, ( ४ ) अनवस्था,



( ५ ) रूपहानि, ( ६ ) असम्बन्ध, ये छह दोष जाति के बाधक होते हैं। आकाश, काल, दिक् इन तीनों में रहनेवाले आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व धर्म को 'जाति' शब्द से नहीं कह सकते। क्योंकि इन धर्मों को 'जाति' शब्द से कहने में ( १ ) 'व्यक्ति का अभेद' दोष बाधक होता है। 'स्वाश्रयनिष्ठ-स्वाश्रय प्रतियोगिक भेदाभावः व्यक्त्यभेदः' यहाँ दोनों 'स्व' शब्दों से आकाशत्व आदि का ग्रहण है। आकाश, काल, दिक् ये तीनों एक-एक व्यक्ति हैं, नाना ( अनेक ) नहीं। यदि आकाशादि में दूसरे आकाशादि का भेद सिद्ध होता। उन आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व धर्म में स्व-आश्रयनिष्ठ स्व-आश्रय-प्रतियोगिक-भेद का अभाव है। इसी को व्यक्ति का अभेद कहते हैं।

अनेक घटों में जैसे 'अयं घटः, अयं घटः,' यह अनुगत ( एकाकार ) प्रतीति होती है, वैसे ही उन्हीं घटों में 'अयं कलशः, अयं कलशः' ऐसी प्रतीति भी होती है, क्योंकि 'घट', 'कलश' दोनों पर्याय शब्द हैं अर्थात् एक ही अर्थ के बोधक हैं। अतः उन घटों में दोनों धर्म सिद्ध होते हैं। परन्तु 'घटत्व' धर्म ही 'जाति' शब्द से कहा जाता है, और 'कलशत्व' धर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता। क्योंकि 'कलशत्व' धर्म के जाति कहलाने में ( २ ) 'तुल्यत्व' दोष बाधक है। 'स्वभिन्नजातिसमनियतत्वं तुल्यत्वम्'—यहाँ 'स्व' शब्द से कलशत्व का ग्रहण करना चाहिए। कलशत्व से भिन्न जो 'घटत्व' जाति है, उस घटत्व जाति का समनियतपना उस 'कलशत्व' धर्म में है। अतः यह 'तुल्यत्व' दोष कलशत्व के जाति कहलाने में बाधक है। घटत्व, कलशत्व ये दो पृथक् जातियाँ नहीं हैं, बल्कि 'घटत्व' ही एक जाति है। कलशत्व की अपेक्षा 'घटत्व' धर्म जाति मानने में वर्णशरीरकृत लाघव होता है, क्योंकि 'घट' ये दो ही अक्षर ( वर्ण ) हैं, और कलशत्व को जाति मानने में शरीरकृतगौरव होता है, क्योंकि 'क-ल-श' ये तीन अक्षर हैं। अतः 'घटत्व' धर्म ही जाति शब्द से व्यवहार करने योग्य है।

'भूतत्व' और मूर्तत्व आदि धर्म को जाति मानने में ( ३ ) संकर दोष बाधक है। 'संकर' का लक्षण 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः संकरः'—परस्पर के अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरणवाले धर्मों का जो एक अधिकरण में रहना है, उसीको 'संकर' कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँचों द्रव्यों में 'भूतत्व' है, और पृथिवी, जल, तेज वायु, मन इन पाँचों में 'मूर्तत्व' है। 'मन' में 'भूतत्व' धर्म का अत्यन्ताभाव है। अतः 'मूर्तत्व धर्म 'भूतत्व' धर्म के अत्यन्ताभाव के साथ समान ( एक ) अधिकरणवाला है। तथा आकाश में 'मूर्तत्व' धर्म का अत्यन्ताभाव है। अतः 'भूतत्व' धर्म 'मूर्तत्व' धर्म के अत्यन्ताभाव के साथ समान ( एक ) अधिकरणवाला है। इस प्रकार परस्पर अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरणवाले जो 'भूतत्व' तथा 'मूर्तत्व' दोनों धर्म हैं, वे दोनों धर्म पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चारों में रहते हैं—यही 'संकर' दोष है। अतः भूतत्व-मूर्तत्व दोनों धर्म, 'जातिरूप' नहीं हैं, किन्तु ये 'उपाधि' कहलाते हैं।

सामान्य में 'सामान्यत्व' जाति नहीं हुआ करती। घट और घटत्व में अर्थात् व्यक्ति और जाति दोनों में एक वैजात्य ( पर ) की कल्पना करते हैं, उसे ही 'सामान्यत्व' कहते हैं। इसी प्रकार 'सामान्य' तथा 'सामान्यत्व' इन दोनों में सामान्यत्वत्व की कल्पना कर जाति बनावेंगे तो अनेक जातियों की कल्पना करनी होगी, तब **अनवस्था** दोष आवेगा। अर्थात् कहीं भी विश्राम नहीं होगा। यदि सामान्य पर दूसरा सामान्य माना जाय तो उस पर भी एक तीसरा, उस पर भी चौथा इस प्रकार उत्तरोत्तर अविश्रान्तधारा चलती रहेगी। इसलिये सामान्य पर सामान्यान्तर नहीं माना जाता। अर्थात् सामान्यत्व धर्म को जाति कहने में (४) 'अनवस्था दोष' बाधक है। तात्पर्य यह है—यह गाय है, यह गाय है इस प्रकार का अनुगत-व्यवहार, किसी अनुगत धर्म के बिना हो नहीं सकता। अतः 'गोत्व' जातिरूप धर्म को माना गया है। उसी तरह—गोत्व, पुरुषत्व, पशुत्व आदि जातियों में 'यह जाति है, यह जाति है' इस 'अनुगतव्यवहार' के लिये सभी जातियों पर एक जातिरूप 'अनुगतधर्म' मान लेना चाहिये। उसके भी जातिरूप होने से पुनः उसमें भी 'यह जाति है', 'यह जाति है' इस प्रकार का व्यवहार चलेगा, उसकी उपपत्ति के लिये एक 'अन्य जातिरूप' धर्म मानना होगा। उसके भी 'जातिरूप' होने से पुनः उसमें भी 'यह जाति है', 'यह जाति है' इस प्रकार का व्यवहार चलेगा, तब उसकी उपपत्ति के लिये एक 'अन्य जातिरूप धर्म' मानना होगा। इस तरह मानते चलने पर अनवस्था होगी। अतः कहना होगा कि केवल अनुगतप्रतीति होने मात्र से 'अनुगतधर्म' की कल्पना नहीं की जाती, बल्कि किसी बाधक के न रहने पर ही वैसी कल्पना की जाती है। इसीलिये कहा जाता है—'बाधकाभावविशिष्टानुगतप्रतीतिविशेष्यत्वस्यैवजातिसाधकत्वम्।'

हेतु के अधिकरण में साध्य का अभाव होना ( न रहना ) ही व्यभिचार है। उसी कारण 'विशेषत्व' को जाति नहीं कहा जाता। 'अयं विशेषः विशेषान्तरात् भिन्नः विशेषत्वात्'—यहाँ पर विशेषान्तर में 'भेदरूपी साध्य' का अभाव है, किन्तु 'विशेषत्वरूप हेतु' है। अतः यहाँ व्यभिचार है। 'सामान्यशून्यत्वे सति सामान्य-भिन्नत्वे सति समवेतत्वं—विशेषस्य लक्षणम्'। यदि 'विशेष' पदार्थ में विशेषत्व-धर्म को जाति माना जाय तो 'सामान्याश्रयस्य सामान्यमुखेनैव व्यावर्तकत्वम्'— इस नियम के अनुसार उस 'विशेषत्वधर्म' के द्वारा ही वह 'विशेषपदार्थ' व्यावर्तक बन पायगा। किन्तु 'विशेषपदार्थ' तो सामान्य ( विशेषत्वधर्म ) के द्वारा व्यावर्तक ( भेदसाधक ) नहीं होता, बल्कि वह तो अपने स्वरूप से ही भेदसाधक (व्यावर्तक) होता है। अतः विशेष पदार्थ के स्वरूपनाश तथा लक्षणनाश के भय से अर्थात् ( ५ ) रूपहानि के भय से विशेषत्वधर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता। विशेषत्वधर्म तो उपाधिरूप है।

समवाय में समवायत्वधर्म को तथा अभाव में अभावत्वधर्म को भी 'जाति'



**के अभेद** का उदाहरण—**आकाश एक है,** उसके ऊपर रहनेवाले 'आकाशत्वधर्म' को 'जाति' शब्द से नहीं कहा जाता, क्योंकि अनेक व्यक्तियों पर रहने वाले

शब्द से नहीं कहा जाता, क्योंकि ( ६ ) असम्बन्ध दोष ( जातिबाधक ) वहाँ उपस्थित है। 'असम्बन्ध' का स्वरूप इस प्रकार है—'प्रतियोगिताऽनुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाऽभावः असम्बन्धः'—प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता इन दोनों में से किसी एक सम्बन्ध से जो 'समवाय का अभाव' रहता है, उसे 'असम्बन्ध' कहते हैं। पृथ्वी आदि द्रव्यों में गुण तथा कर्म 'समवाय सम्बन्ध' से रहते हैं। उस गुण, कर्म के समवायसम्बन्ध के वे गुण, कर्म 'प्रतियोगी' हैं, और पृथ्वी आदि द्रव्य 'अनुयोगी' हैं। अतः वह गुण, कर्म का 'समवाय', 'प्रतियोगितासम्बन्ध' से गुण, कर्म में रहता है, और 'अनुयोगिता सम्बन्ध' से पृथिवी आदि द्रव्यों में रहता है। इस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों पदार्थों में जातिरूपसामान्य समवायसम्बन्ध' से रहता है। उस सामान्य के 'समवाय' का वह सामान्य 'प्रतियोगी' होता है, और द्रव्य, गुण, कर्म 'अनुयोगी' होते हैं। इसी प्रकार 'तन्तु आदि अवयवों' में 'समवाय-सम्बन्ध' से रहनेवाले जो 'पटादि अवयवी' हैं, उन 'पटादि अवयवियों' का समवाय भी 'प्रतियोगिता सम्बन्ध' से उन पटादिकों में रहता है, और 'अनुयोगिता सम्बन्ध' से तन्तु आदि अवयवों में रहता है। सामान्य और विशेष इन दो पदार्थों में कोई भी पदार्थ 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहता। अतः इनमें समवाय ही—'प्रतियोगिता सम्बन्ध' से रहता है। परमाणु, आकाशादि नित्यद्रव्य, किसी भी पदार्थ में 'समवाय सम्बन्ध' से नहीं रहते। अतः इनमें 'समवाय स्वयं अनुयोगिता सम्बन्ध' से रहता है। 'समवाय' तथा 'अभाव' ये दोनों किसी भी पदार्थ में 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहते। तथा 'समवाय' और 'अभाव' में कोई दूसरे पदार्थ भी 'समवाय-सम्बन्ध' से नहीं रहते। इसलिये ये दोनों 'समवाय' के प्रतियोगी तथा अनुयोगी नहीं हैं। इस रीति से 'समवाय' तथा 'अभाव' में 'प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता सम्बन्ध' से जो समवाय का अभाव है, उसीको ( ६ ) 'असम्बन्ध' कहते हैं। एवञ्च आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व, भूतत्व, शरीरत्व, इन्द्रियत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व, अभावत्व, आदि धर्मों को 'जाति' शब्द से न कहकर 'उपाधि' शब्द से कहा जाता है। यद्यपि द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व तथा पृथिवीत्व, जलत्व आदि को और रूपत्व, रसत्व आदि जातियों को भी 'विभाजक उपाधि' शब्द से बताया जाता है। तथापि यहाँ उपाधि शब्द जाति से भिन्न ही है। यह उपाधि सखण्डो-पाधि तथा अखण्डोपाधि भेद से दो प्रकार का होता है। 'बहुपदार्थघटितो धर्मः सखण्डोपाधिः'—जो धर्म अनेक पदार्थों से घटित रहे उसे '**सखण्डोपाधि**' कहते हैं। जैसे—'शब्द'-गुण का जो समवायिकारण हो उसे आकाश कहते हैं। अतः 'आकाश-त्व' धर्म 'शब्द समवायि-कारणत्व' इन अनेक पदार्थों से घटित हुआ, इसलिये उपर्युक्त 'आकाशत्व' आदि धर्म 'सखण्डोपाधि' कहे जाते हैं। '**अखण्डोपाधि**' उस धर्म को कहते हैं, जिस धर्म का किसी प्रकार निर्वचन न किया जा सके। जैसे—

धर्म को ही 'जाति' शब्द से कहा जाता है। ( २ ) **तुल्यता** ( पर्याय ) का उदाहरण—घट और कलश ये दोनों पर्याय शब्द हैं। घटत्व और कलशत्व इन दोनों धर्मों को 'जाति' शब्द से नहीं कहा जायगा। किन्तु दोनों पर एक 'घटत्व' जाति ही मानी जाती है।

**शंका**—जैसे 'घट' तथा 'कलश' इन दोनों में 'घटत्व' धर्म को जाति माना जाता है, उसी प्रकार 'घटत्व' के स्थान में 'कलशत्व' धर्म को ही जाति क्यों नहीं माना जाता?

**समा०**—'घटत्व' धर्म को जाति मानने में शरीरकृत लाघव है, अर्थात् 'घट' शब्द में दो अक्षर ( वर्ण ) हैं और 'कलश' शब्द में तीन अक्षर ( वर्ण ) हैं। इसलिये दोनों ( घट और कलश ) में 'घटत्व' धर्म को ही जाति माना जाता है। ( ३ ) **संकर का उदाहरण**—भूतत्व और मूर्तत्व ये दोनों जातियाँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि जाति का बाधक 'संकर दोष' यहाँ उपस्थित है। ( ४ ) **अनवस्थित** ( स्थिति न होना ) का उदाहरण—सामान्य ( घटत्व, द्रव्यत्व आदि ) जैसे 'जाति' है, वैसे 'सामान्यत्व' जाति नहीं। उसे भी यदि जाति माना जाय तो 'सामान्यत्व-त्व' और समान्यत्व त्व-त्व आदि भी जातियाँ होने लगेंगी तब 'अनवस्था' नाम का दोष हो जायगा। इस दोष के होने पर यहाँ तक 'जाति' है, ऐसा नियम नहीं रहेगा। इसलिये—'सामान्यत्व' धर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता। ( ५ ) **रूपनाश**—यह स्वरूपनाश तथा लक्षणनाश भेद से दो प्रकार का होता है। स्वरूपनाश का उदाहरण—'विशेष' पर रहनेवाले 'विशेषत्व' धर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता। विशेषत्व को यदि जाति माना जाय तो 'जाति, अन्यजाति के भेद की दर्शक होती है, अर्थात् दूसरी जाति से भेद के दिखाने का हेतु होती है'—इस नियम के अनुसार परस्पर विशेषों में विशेषत्व भी भेद की दर्शकता का हेतु हो जायगा। अतः केवल व्यभिचार दोष ही नहीं होगा, किन्तु विशेष का जो विशेषान्तर से भेद का दर्शक स्वरूप है ( स्वतोभेददर्शकत्व ) उसका भी नाश हो जायगा। इसलिये विशेषत्व धर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता।

ऊपर बता चुके हैं कि 'रूपनाश' दो प्रकार से होता है, एक 'स्वरूपनाश' और दूसरा 'लक्षणनाश'। 'स्वरूपनाश' बता दिया। अब 'लक्षणनाश' को बताते हैं—विशेष के लक्षण में विशेष को—'सामान्यशून्य' ऐसा विशेषण दिया गया है, वहाँ यदि 'विशेषत्व' जाति हो जाय तो 'विशेष' सामान्यशून्य नहीं होगा। तो विशेषण में 'सामान्यशून्यत्वे सति' इस लक्षण का नाश हो जायगा, इसलिये 'विशेषत्व' को जाति नहीं मान सकते। ( ६ ) **असम्बन्ध** का उदाहरण—'समवायत्व' और 'अभावत्व' ये दोनों जातिरूप धर्म नहीं हैं। क्योंकि 'जाति' तो 'व्यक्ति' में समवाय

प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व आदि धर्म। जातिरूप 'सामान्य' पदार्थ का ग्रहण छह इन्द्रियों से होता है।



सम्बन्ध से रहती है। समवायत्व और अभावत्व ये 'समवाय' तथा 'अभाव' में स्वरूपसम्बन्ध से रहते हैं। वे समवाय सम्बन्ध से कभी नहीं रहते। इसलिये 'समवायत्व' और 'अभावत्व' को जातिरूप नहीं माना जाता।

**द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥ ८ ॥**
**परभिन्ना च या जातिः सैवापरतयोच्यते ।**
**द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ ९ ॥**

( १ ) **द्रव्यादित्रिकवृत्तिः**—द्रव्य आदि त्रिक अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म इन्हीं तीन पदार्थों में ( पर ) सत्ता की वृत्ति होती है ( सत्ता रहती है )। ( २ ) **सत्ता**—'**सत्**'—वर्तमान जिसका धर्म हो उसको '**सत्ता**' कहते हैं। अर्थात् 'द्रव्यं सत्,' 'गुणः सत्', 'कर्म सत्' इस प्रकार की जो अनुगत प्रतीति होती है, वही 'सत्ता' की साधक है। 'यह सत् है', 'यह सत् है' इत्याकारक शब्दप्रयोग जिसके अधीन हैं, वही '**सत्ता**' है। ( ३ ) **परतया** उच्यते—'**परा**' नाम से कही जाती है। ( ४ ) **जातिः**—कितने ही व्यक्तियों का एक समूह में लानेवाला नैयायिकों का अनुमोदित 'धर्मविशेष' है। जैसे—गोत्व, मनुष्यत्व आदि। ( ५ ) **अपरतया उच्यते**—'अपर' नाम से कही जाती है। ( ६ ) **द्रव्यत्वादिकजातिः**—'आदि' पद से यहाँ 'गुणत्व', 'कर्मत्व' आदि का परिग्रह किया गया है। ( ७ ) **पर-अपरतया उच्यते**—'पर' तथा 'अपर' दोनों नामों से कहा जाता है। भाव यह है कि द्रव्यत्वादि-जाति पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व आदि नौ जातियों की अपेक्षा **परा** है, क्योंकि 'द्रव्यत्व' तो नौ द्रव्यों में रहता है, किन्तु 'पृथ्वीत्व' केवल पृथ्वी में ही रहेगा। परन्तु वही द्रव्यत्व 'सत्ता' की अपेक्षा **अपर** है, क्योंकि 'सत्ता' तो द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में रही और 'द्रव्यत्व' केवल नौ द्रव्यों में ही रहा।

परत्वमधिकदेशवृत्तित्वम्। अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्वम्। सकलजात्यपेक्षयाऽधिकदेशवृत्तित्वात् सत्तायाः परत्वं तदपेक्षया चान्यासां जातीनामपरत्वम्॥ ८–९ ॥

पहिले सामान्य ( जाति ) का लक्षण बता चुके। अब उसके भेद बता रहे हैं—सामान्य ( जाति ) **पर** तथा **अपर** भेद से दो प्रकार का है। अधिक जगह रहने से सत्ता ( सामान्य जाति ) '**पर**' कहलाती है। और न्यून ( कम ) जगह रहने से 'द्रव्यत्व' 'गुणत्व' आदि जातियाँ '**अपर**' कहलाती हैं। जैसे 'सत्ता' संज्ञक सामान्य द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों ही जगह रहता है। यह सब सामान्यों ( जातियों ) की अपेक्षा '**पर**' है, और द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व ये '**सत्ता**' की अपेक्षा कम जगह में रहते हैं, अर्थात् 'द्रव्यत्व' केवल **द्रव्य पर** ही रहता है, 'गुणत्व' केवल **गुण पर** ही, 'कर्मत्व' केवल **कर्म पर** ही रहता है। अतः द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व ये सत्ता की अपेक्षा **अपर** हैं। उसी तरह पृथ्वीत्व, जलत्व आदि द्रव्यत्व की अपेक्षा कम जगह में रहता है। अतः 'द्रव्यत्व' की अपेक्षा यद्यपि वह **अपर** हुआ तथापि 'द्रव्यत्व'

सत्ता की अपेक्षा **अपर** है किन्तु पृथ्वीत्व की अपेक्षा **पर** है। अतः द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व ये **तीनों पर** भी हैं और **अपर** भी हैं ॥ ८-९ ॥

**व्यापकत्वात्पराऽपि स्याद्व्याप्यत्वादपराऽपि च ।**

( १ ) **व्यापकत्व**--अधिक देश में रहनेवाला धर्म। ( २ ) **व्याप्यत्व**—अल्प-देश में रहनेवाला धर्म। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस उदाहरण में 'वह्नि' व्यापक है और 'धूम' व्याप्य है। क्योंकि अयोगोलकादि में भी वह्नि रहता है, किन्तु धूम नहीं। अतः, जहाँ धूम नहीं भी है, वहाँ भी वह्नि है, इसलिये वह्नि अधिक देश में रहा। अतः वह्नि व्यापक है। उसी तरह अधिक देश में रहने के कारण व्यापक होने से 'जाति' परा है, और अल्पदेश में रहने के कारण व्याप्य होने से 'जाति' अपरा भी है।

**पृथिवीत्वाद्यपेक्षया** **व्यापकत्वादधिकदेशवृत्तित्वाद् द्रव्यत्वादेः परत्वं, सत्ताऽपेक्षया व्याप्यत्वाद् अल्पदेशवृत्तित्वाच्च द्रव्यत्वस्यापरत्वम्। तथा च धर्मद्वयसमावेशादुभयमविरुद्धम् ।**

सत्ता ( सामान्य ) पर है, क्योंकि वह समवाय-सम्बन्ध से द्रव्य, गुण, कर्म इन अनेक पदार्थों में रहने के कारण[१] व्यापक है, और पृथ्वी की अपेक्षा द्रव्यत्व पर है। सत्ता की अपेक्षा अल्पदेशवृत्ति होने से व्याप्य होने के कारण द्रव्यत्व अपर है, तथा द्रव्यत्व की अपेक्षा अल्पदेशवृत्ति होने से पृथ्वीत्व अपर है। इस रीति से एक में दो धर्मों का रहना दोषावह नहीं है। क्योंकि एक में भी आपेक्षिक दो धर्मों के रह सकने से—परत्व तथा अपरत्व इन दो धर्मों के रहने में कोई विरोध नहीं है। जैसे एक ही स्त्री में पति की दृष्टि से कान्तात्व, पुत्र की दृष्टि से मातृत्व, पिता की दृष्टि से पुत्रीत्व रहता है।

---

( १ ) जो जातियाँ एक ही अधिकरण में परस्पर इकट्ठी रहती हैं उन्हीं में **'व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध'** हुआ करता है। जैसे—घट द्रव्य में 'द्रव्यत्वजाति' रहती है और 'पृथ्वीत्व जाति' रहती है तथा 'घटत्व जाति' रहती है और सत्ता ( जाति ) भी रहती है। अतः सत्ता ( जाति ), द्रव्यत्व ( जाति ), पृथिवीत्व ( जाति ), घटत्व ( जाति ) इन चारों जातियों का परस्पर **व्याप्य-व्यापकभाव** होता है। अर्थात् 'सत्ताजाति' की 'द्रव्यजाति' व्याप्य है, 'द्रव्यत्वजाति' की 'पृथिवीत्वजाति' व्याप्य है, 'पृथिवीत्व जाति' की 'घटत्वजाति' व्याप्य है।

जो जातियाँ एक अधिकरण में नहीं रहती उनमें 'व्याप्य-व्यापकभाव' नहीं होता। जैसे—'द्रव्यत्वजाति' द्रव्य में, 'गुणत्वजाति' गुण में, 'कर्मत्वजाति' कर्म में रहती है, इस कारण इन जातियों का परस्पर 'व्याप्य-व्यापकभाव' नहीं है। पहले कह चुके हैं कि 'द्रव्यं सत्, गुणः सत्, कर्म सत्' इस प्रकार 'सत्' की अनुगत प्रतीति होती है, इसी कारण इन तीनों में अनुगत होने वाले सत्त्व ( सत्ता ) धर्म को 'सत्ताजाति' के नाम से कहा जाता है। इसी प्रकार पृथिवी आदि में भी समझना चाहिये।



विशेषं निरूपयति---अन्त्य इति।

अब क्रमप्राप्त **'विशेष'** पदार्थ का निरूपण किया जा रहा है।

**अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः ॥ १० ॥**

( १ ) अन्त्यः---कल्पना के अन्त में जो वर्तमान रहे उसे अन्त्य कहते हैं। अर्थात् जो पदार्थ चरम व्यावर्तक के रूप में हो उसी का नाम **'विशेष'** है। ( २ ) नित्यद्रव्यवृत्तिः— नित्यद्रव्य--परमाणु, आकाश आदि में जिसकी वृत्ति ( स्थिति ) है। ( ३ ) विशेषः—विशेषसंज्ञक पदार्थ है।

पर सामान्यादिगत चरम-व्यावर्तक धर्म को **विशेष** कहते हैं। **अभिप्राय** यह है कि सावयव पदार्थों में परस्पर भेद की कल्पना हम अवयवभेद से कर सकते हैं, किन्तु निरवयव परमाणु आदि में भेद करनेवाला तो 'विशेष' ही है। क्योंकि वह ( विशेष ) तो स्वयं ही व्यावृत्त ( भिन्न ) है इसलिये उसकी व्यावृत्ति के लिये विशेषान्तर ( अन्य व्यावर्तक ) की अपेक्षा नहीं होती।

**अन्तेऽवसाने वर्तत इत्यन्त्यः, यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। घटादीनां द्व्यणुकपर्यन्तानां तत्तदवयवभेदात्परस्परं भेदः, परमाणूनां परस्परभेदको विशेष एव, स तु स्वत एव व्यावृत्तः, तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्तीति भावः ॥ १० ॥**

**'विशेष'**[१]—एकव्यक्ति पर ( परमाणु आदि नित्यद्रव्यों पर ) रहकर उस

---

( १ ) निःसामान्यत्वे सति एकमात्र समवेतत्वम्' यह **'यह विशेष का लक्षण है।** जो पदार्थ जातिरूपसामान्य से रहित हो तथा एक व्यक्तिमात्र में समवेत हो उसे **विशेष** कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों के जितने परमाणु हैं उन सबमें वह 'विशेष' रहता है तथा आकाश, काल, दिशा में और सब आत्माओं में तथैव सबके मनों में 'विशेष' **समवाय सम्बन्ध** से रहता है। 'रूपादि गुण' तथा 'कर्म आदि' भी एक-एक द्रव्यव्यक्ति में रहते हैं, अतः 'एकमात्र समवेत' के साथ 'निःसामान्यत्वे सति' यह सत्यन्त विशेषण भी दिया गया है। तब 'रूपादि गुण' तथा 'कर्मादि' एकद्रव्यमात्रवृत्ति होने पर भी जातिशून्य ( निःसामान्य ) नहीं है। यदि 'निःसामान्यत्वे सति समवेतत्वम्' इतना ही लक्षण करें तो 'सामान्य' में **अति-व्याप्ति** होगी। क्योंकि 'सामान्य' सामान्य से शून्य भी है तथा द्रव्यादित्रिक समवेत भी है। अतः 'एकमात्र' पद दिया गया है। 'सामान्य' एक व्यक्ति में समवेत नहीं है। इसी प्रकार 'स्वतोव्यावर्तकत्वं विशेषत्वम्' यह भी विशेष का लक्षण कहा जाता है। यह 'विशेष' जिस परमाणु आदि नित्यद्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है, उस परमाणु आदि को दूसरे परमाणु आदि से भिन्न अपने स्वरूप के द्वारा ही करता है। जैसे—'अयं परमाणुः एतत्परमाणोर्भिन्नः एतद्विशेषात्' —यह 'पार्थिव परमाणु' दूसरे 'पार्थिव परमाणु' से भिन्न है, विशेषवाला होने से। अब यह विशेष जैसे 'स्वाश्रयभूत नित्यद्रव्य' का दूसरे 'नित्यद्रव्य' से स्वतः ही व्यावर्तक

व्यक्ति की दूसरी व्यक्ति से भिन्नता का प्रदर्शक जो धर्म ( अनिर्वचनीय एक पदार्थ ) हो – उसे 'विशेष' कहते हैं। इस 'विशेष' के स्वीकार करने की आवश्यकता यह है कि जैसे–बड़ी व्यक्ति से ( घटव्यक्ति से ) छोटी व्यक्ति तक ( द्व्यणुक व्यक्ति ) तक जितनी द्रव्य–व्यक्तियाँ हैं उनमें प्रत्येक का भेद–( दूसरों से भिन्नता ) है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तियों के अवयव निराले हैं। प्रत्येक व्यक्तियों के भेद के दर्शक उनके अपने अवयव होते हैं। परन्तु परमाणु व्यक्तियाँ निरवयव ( अवयवरहित ) हैं। उन व्यक्तियों में परस्पर भेद ( भिन्नता ) दिखाने के लिये ऐसी कोई भी वस्तु, इन परमाणुओं पर नहीं है, जिससे उन परमाणुओं का परस्पर भेद हो। अतः उन परमाणुओं में भेद बतानेवाला **'विशेष' ही होगा**। उन परमाणुओं में रहनेवाले पृथक्-पृथक् जो विशेष हैं उनका भेदक कोई और नहीं है, बल्कि वे विशेष स्वतः ही व्यावृत्त ( भिन्न ) हैं। विशेष को अलग करने के लिये विशेषान्तर ( विशेषत्व ) धर्म ( जाति ) मानने की आवश्यकता नहीं है।

होता है, वैसे ही 'स्वाश्रयभूतद्रव्य' से अपना भी व्यावर्तक होता है। जैसे—'विशेषः द्रव्यादिभिन्नः विशेषात्' यह 'विशेष', द्रव्य से भिन्न है, विशेष होने से। अथवा 'एतद्विशेषः तद्विशेषाद् भिद्यते एतद्विशेषात्'—यह विशेष दूसरे विशेष से भिन्न है, एतद्विशेष होने से। कदाचित् प्रथम विशेष को दूसरे की, दूसरे को तीसरे की अपेक्षा होगी तो 'स्वतोव्यावर्तकत्व' नहीं रहेगा, और अनवस्थादोष उपस्थित होगा। असंख्यात उत्पत्ति, विनाश से रहित, अतीन्द्रिय विशेषों की सिद्धि अनुमान से होती है। वह अनुमान इस प्रकार है—'परमाणुभेदः किञ्चिल्लिङ्गज्ञाप्यः भेदत्वात् कपालभेदज्ञाप्यघटभेदवत्'—सजातीय परमाणुओं का भेद किसी लिङ्ग से ज्ञाप्य होने योग्य है, भेदरूप होने से, जो-जो भेद होते हैं वे वे किसी लिङ्ग से ज्ञाप्य ही होते हैं, जैसे दो घटों का भेद उन दो घटों के समवायिकरण कपालों के ही भेद से ज्ञाप्य होता है, वैसे ही उन परमाणुओं का भेद भी भेदरूप होने से किसी लिङ्ग से अवश्य ज्ञाप्य होगा। अतः वह 'विशेष' ही उनका भेदक है। अथवा एक दूसरे अनुमान से भी विशेष की सिद्धि की जाती है—'आकाशनिष्ठा या समवायिकरणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, दण्डनिष्ठकारणतावत्'—आकाश में रहनेवाली जो शब्दगुण की कारणता है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न होने योग्य है, कारणता होने से जो-जो कारणता होती है, वह किसी धर्म अवच्छिन्न ही होती है, जैसे दण्ड में रहनेवाली घट की कारणता दण्डत्वधर्म से अवच्छिन्न होती है। वैसे ही आकाशनिष्ठकारणता भी किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न होगी। यहाँ आकाशवृत्ति कारणता का वह आकाशवृत्ति 'विशेष' ही अवच्छेदक है। कुछ तो यह कहते हैं कि ईश्वर तथा आकाशस्थित नित्यज्ञान तथा शब्द-गुण ही उन नित्य द्रव्यों को उन्हें भिन्न कर देगा। अतः ईश्वर या आकाश में 'विशेष' को मानना व्यर्थ है। और नवीन नैयायिक भी कहते हैं कि 'विशेष' पदार्थ को मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्राचीनों ने 'विशेष' की स्वतः व्यावर्तकता मानी है, तो परमाणु स्वतः ही व्यावर्तक हो जायेंगे। इस 'विशेष' पदार्थ को तो कणाद-मुनि ने ही माना है, गौतम-मुनि ने नहीं। इसीलिए कणाद के दर्शन को 'वैशेषिक' दर्शन कहते हैं।



समवायं दर्शयति—घटादीनामिति।

अब छठे पदार्थ 'समवाय' को दिखाते हैं।

**घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।**
**तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ ११ ॥**

( १ ) घटादीनाम्—घट-प्रभृति अवयवी वस्तु का। ( २ ) कपालादौ—कपाल-प्रभृति अवयवों में। घटों के बनने की पूर्वावस्था में स्थित द्विधा विभक्तखण्डों को कपाल कहते हैं। ( ३ ) द्रव्येषु—पूर्वोक्त क्षिति आदि नौ द्रव्यों में। ( ४ ) गुण कर्मणोः—पूर्वोक्त गुण और कर्म का। ( ५ ) तेषु—घट आदि में। ( ६ ) जातेः—जाति का। ( ७ ) 'च'—समुच्चयबोधक हैं। 'च' कार से ही नित्य द्रव्य में 'विशेष' का जो सम्बन्ध है, वह समवाय है। अर्थात् 'कपालादि अवयव' में 'घटादि अवयवी' का जो सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते हैं, तथा द्रव्य में गुण और कर्म का जो सम्बन्ध है, उसे समवाय करते हैं। उसी तरह घट आदि में जाति का सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते हैं।

अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः। समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्वम्। तत्र प्रमाणं तु 'गुण-क्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वाद् दण्डीपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्' इत्यनुमानम्। एतेन संयोगादिबाधात् समवायसिद्धिः।

नित्यसम्बन्ध को समवाय कहते हैं। जैसे—अवयव ( कपाल आदि ) और अवयवी ( घटादिद्रव्य ), जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी ( द्रव्य ), क्रिया ( कर्म ) और क्रियावान् ( द्रव्य ), विशेष और नित्यद्रव्य ( परमाणु आदि ) इनका परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते हैं। इस समवाय के अस्तित्व में अनुमान किया जाता है अर्थात् अनुमान से समवाय का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है।[1]

( १ ) **शंका**—यद्यपि लाघव से एक समवाय के सिद्ध होने से प्राचीन नैयायिकों के मत में दोष नहीं आता, तथापि समवाय को अनेक माननेवाले नवीन नैयायिकों के मत में उक्त अनुमान से समवाय की सिद्धि नहीं हो पाती। समवाय को अनेक मानने से उनके स्वरूप भी अनेक मानने होंगे।

**समा०**—नवीन नैयायिकों के मत के अनुसार तन्तुरूप अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले पट कार्य के प्रति, तादात्म्यसम्बन्ध से तन्तुओं को कारणता होती है। अतः पट में रहनेवाली कार्यता का अवच्छेदकसम्बन्ध समवाय है।

**शंका**—समवाय की जगह स्वरूपसम्बन्ध को मानकर भी कार्य-कारणभाव की कल्पना हो सकती है।

यह देखा जाता है कि 'विशिष्टज्ञान से विशेषणयुक्त विशेष्य का बोध होता है। जैसे—'दण्डवान् पुरुषः' यह ज्ञान, विशिष्ट ज्ञान है। अतः वह विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध ( विशेषणरूप दण्ड का विशेष्यरूप पुरुष के साथ संयोग ) विषयक है। इससे यह नियम सिद्ध होता है कि जो विशिष्टज्ञान होता है, वह विशेषणविशेष्य-सम्बन्धविषयक होता है। उसी तरह 'गुणवान् अथवा क्रियावान् घटः' यह ज्ञान भी विशिष्ट ज्ञान है, अतः वह भी विशेषण-विशेष्यसम्बन्धविषयक है—यह अनुमान होता है। यहाँ पर वह सम्बन्ध ( विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध ) समवाय के सिवा दूसरा और कोई संयोगादि सम्भव हो नहीं सकता। 'दण्डी पुरुषः' यहाँ पर जैसे विशिष्टज्ञान, विशेषण-विशेष्य के संयोग सम्बन्ध को विषय बनाता है, उसी तरह 'अवयववान् अवयवी, गुणवान् गुणी, क्रियावद् द्रव्यम्, जातिमती व्यक्तिः, विशेषवद् नित्यद्रव्यम्'—आदि विशिष्टज्ञानों का विशेष भी विशेषण-विशेष्य दोनों का सम्बन्ध ही होगा। वह सम्बन्ध 'समवाय' के सिवा कोई हो ही नहीं सकता। क्योंकि अवयव, जाति, गुण, क्रिया, विशेष आदि का अपने-अपने द्रव्य के साथ 'संयोग' सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि संयोग सम्बन्ध तो द्रव्य-द्रव्य का ही होता है—'द्रव्य-द्रव्ययोरेव संयोगः' यह नियम है। इस रीति से 'समवाय' की सिद्धि हो जाती है।

**न च स्वरूपसम्बन्धेन सिद्धसाधनमर्थान्तरं वा।**

मीमांसकों की शंका का निरसन—'अयुतसिद्ध पदार्थों का स्वरूपसम्बन्ध' कहने वाले मीमांसक के मत में उक्त अनुमान से 'सिद्धसाधन' हुआ। किन्तु समवाय-साधन के उद्देश्य से प्रवृत्त हुए नैयायिक का अभिप्राय यह है कि इस समवाय के स्थानापन्न 'स्वरूप' ( विशेष्य-विशेषण के स्वरूप ) संज्ञक सम्बन्ध को मानकर दोनों को एक नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप तो अनेक होते हैं।

**अनन्तस्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पने गौरवाल्लाघवादेकसमवायसिद्धिः।**

क्योंकि अनेक स्वरूपों की कल्पना करने से बड़ा गौरव होगा, अतः 'समवाय'-संज्ञक सम्बन्ध एक ही है, यह स्वीकार करना ही चाहिये।

**न च समवायस्यैकत्वे वायौ रूपवत्ताबुद्धिप्रसङ्गः।**

---

**समा०**—किन्तु इस कल्पना से 'जिसमें समवाय से कार्य की उत्पत्ति होती है, वह समवायिकारण है'—यह व्यवस्था नहीं रह पायेगी।

**शंका०**—जिसमें सम्बद्ध होकर कार्य उत्पन्न हो वह समवायि-कारण है'—ऐसा कहने से भी निर्वाह हो सकता है।

**समा०**—ऐसा कहने से कपालों में सम्बद्ध जो घट का ध्वंस उसके प्रति भी कपालों को समवायिकारणता माननी होगी, किन्तु यह उचित नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भाव-कार्य में रहनेवाला जो कार्यतारूप धर्म उसका अवच्छेदक-सम्बन्ध 'समवाय' है। एवं नव्यमत में भी समवाय की सिद्धि हो सकती है।



**शंका**—'समवाय' एक ही है, यह स्वीकार करना उचित नहीं। अन्यथा जैसे 'वायु स्पर्शवान् है' ऐसी प्रतीति सभी को होती है, उसी प्रकार 'वायु रूपवान् है' यह प्रतीति भी सबको होने लगेगी, क्योंकि 'समवाय' तो एक ही है। जो 'वायु' में स्पर्श का समवाय है, वही 'घट' में रूप का समवाय है, दोनों एक ही हो गये। अतः 'वायु में स्पर्श के समवाय' की तरह 'रूप का समवाय' भी उसमें ( वायु में ) प्रसक्त हो जायगा, इसलिये 'समवाय' को एक नहीं मानना चाहिये।

तत्र रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपाऽभावात्।

**उत्तर**—यद्यपि 'रूप का समवाय' **वायु** में प्रसक्त ( प्राप्त ) है, तथापि 'वायु' में 'प्रतियोगित्व'—सम्बन्ध से **रूप का अभाव** होने से ( रूप के न रहने के कारण ) उक्त प्रतीति की आपत्ति ( वायु में रूपवत्ता की प्रतीति ) नहीं की जा सकती, क्योंकि हम ( नैयायिक ) तो 'विशेषण-विशेष्यविशिष्ट ज्ञान' को स्वीकार करते हैं। यहाँ 'विशेषण—( वायु में रूप ) ज्ञान' का अभाव है।

**न चैवमभावस्य वैशिष्ट्यं सम्बन्धान्तरं सिद्ध्येदिति वाच्यम्।**

**शंका**—'समवाय' आदि जैसे स्वतन्त्र सम्बन्ध है, वैसे ही 'भूप्रदेश में भूतल-पर ) घट नहीं है' ऐसी प्रतीति होने पर भूतल में घटाभाव का 'वैशिष्ट्य'-संज्ञक स्वतन्त्र सम्बन्ध क्यों नहीं स्वीकार करते?

**( इति न च वाच्यम्। ) तस्य नित्यत्वे भूतले घटानयनानन्तरमपि घटाभाव-बुद्धिप्रसङ्गाद्, घटाभावस्य तत्र सत्त्वात्, तस्य च नित्यत्वात्। अन्यथा देशान्तरे-ऽपि तत्प्रतीतिर्न स्याद् वैशिष्ट्यस्य च तत्र सत्त्वात्।**

**समा०**—उपर्युक्त शंका करनेवाले से हम ऐसा प्रश्न करते हैं कि वह तुम्हारा 'वैशिष्ट्य' नित्य है या अनित्य है? यदि नित्य ( सर्वदा रहे और नाश-रहित हो ) है तो नैयायिकों की मान्यता के अनुसार घट का अत्यन्ताभाव नित्य है, तब घट का 'अत्यन्ताभाव' तथा 'वैशिष्ट्य' ये दोनों **नित्य** हो गये। ऐसा होने पर दोष यह होगा कि 'भूतल प्रदेश में' घट के आ जाने पर भी 'यहाँ घट नहीं है' ऐसी प्रतीति होने लगेगी, किन्तु किसी को भी होती नहीं है। इस आपत्ति के निवारणार्थ यदि घट के 'अत्यन्ताभाव' को **अनित्य** कहें तो 'घटशून्य प्रदेश' में भी 'घट नहीं है' ऐसी प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि 'वैशिष्ट्य' तो वहाँ है ही। किन्तु घटशून्य प्रदेश में 'घट नहीं है' यही प्रतीति सबको होती है।

**मम तु मते घटे पाकरक्ततादशायां श्यामरूपस्य नष्टत्वान्न तद्वत्ताबुद्धिः। वैशिष्ट्यस्यानित्यत्वे त्वनन्तवैशिष्ट्यकल्पने तवैव गौरवम्। इत्थं च तत्तत्कालीन तत्तद्भूतलादिकं तत्तदभावानां सम्बन्धः॥ ११॥**

**शंका**—समवाय को एक माननेवाले सिद्धान्ती के मत में भी अग्निसंयोग से रक्त ( लाल ) हुए 'घट' में पूर्वस्थित 'श्यामरूप' का **समवाय** तो है ही, किन्तु वहाँ ( रक्त हुए घट में ) श्यामरूपवत्ता बुद्धि होनी चाहिये, किन्तु नहीं होती।

अर्थात् 'श्यामरूपवत्ता बुद्धि' क्यों नहीं होती ? 'वैशिष्टच' को न मानकर यदि 'घटाभाव' का भूतलादि में 'स्वरूप' सम्बन्ध भी मानें तो पूर्ववत् 'घटवाले भूतल' में भी 'घटाभाव' की बुद्धि होनी चाहिए थी । किन्तु घटवाले भूतल में 'घटाभाव' बुद्धि किसी को नहीं होती । तो बताइये कि 'घटवद् भूतलम्' में 'घटाभाववद् भूतलम्' बुद्धि क्यों नहीं होती ?

**उत्तर देते हैं कि**—हमारे[1] मत में तो ( 'समवाय' को एक माननेवाले सिद्धान्ती के मत में तो ) 'श्यामरूप का समवाय' तथा 'रक्तरूप का समवाय' ये दोनों एक ही हैं, तथापि जहाँ 'घट' में अग्नि के संयोग से 'श्यामरूप' का नाश हो गया है



और 'रक्तरूप' उत्पन्न हो गया है, वहाँ 'घट' में श्यामरूप है, ऐसी प्रतीति होने की आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि वहाँ ( श्यामरूप और रक्तरूप का समवाय एक होने से ) श्यामरूप का समवाय तो है, परन्तु विशेषण वह ( श्यामरूप ) नहीं है । अतः पूर्वोक्त 'वैशिष्टच नित्य' है, यह मानना उचित नहीं । अब वह 'वैशिष्टच अनित्य' है, ऐसा मानना भी उचित नहीं । यदि उसे 'अनित्य' माना जायगा तो भूप्रदेश में 'घट' के आने पर भी पूर्वस्थित घटाभाव के वैशिष्टच का नाश होने लगेगा, और यदि वहाँ से 'घट' को हटा लें तो अत्यन्ताभाव का 'वैशिष्टच' उत्पन्न होने लगेगा। इस कारण 'वैशिष्टच' की अनेक उत्पत्तियाँ तथा अनन्त नाश की कल्पना करने के कारण तुम्हारे पक्ष में ( अभाव का वैशिष्टच एक पृथक् वस्तु है यह माननेवाले के मत में ) गौरव होगा । अतः 'वैशिष्टच' को पृथक् न मानकर तत्तत् प्रदेश में 'घट नहीं है' इस प्रकार की प्रतीति जो होती है, उसका एकमात्र कारण यही है कि जिस-जिस वस्तु का अभाव जिस-जिस काल में जिस-जिस भूतल प्रदेश में है अर्थात् तत्तत्कालीन जो तत्तद् भूतल, वही अभाव का सम्बन्ध है और हवी 'स्वरूप सम्बन्ध' है । 'अभाव' का **स्वरूप सम्बन्ध ही** 'नैयायिकों' को मान्य है ।

---

( १ ) ( नित्यसम्बन्धः समवायः । ) जो पदार्थ नित्य होकर सम्बन्धरूप होता है, वही समवाय है । 'सम्बन्धः समवायः' इतना लक्षण करने से 'संयोग' आदि में **अतिव्याप्ति** होती है, तथा 'नित्यः समवायः' इतना ही कहने पर 'आकाश' आदि में अतिव्याप्ति होती है, अतः उपर्युक्त लक्षण ही उचित है । यह 'समवाय' किसी भी इन्द्रियजन्य-प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं होता । इसका ज्ञान अनुमान से ही होता है। जैसे—'समवायः अतीन्द्रियः आत्मान्यत्वे सति असमवेतभावत्वात् आकाशादिवत्'—यह 'समवाय' अतीन्द्रिय है, क्योंकि आत्मा से अन्य होकर असमवेतभाव रूप है। जो-जो पदार्थ आत्मा से 'अन्य' तथा 'असमवेत' और 'भाव होता है, वह-वह **अतीन्द्रिय** होता है, जैसे—'आकाश' आत्मा से 'भिन्न' है तथा किसी भी पदार्थ में 'समवाय सम्बन्ध' से न रहने के कारण **असमवेत** भी है तथा **भावरूप** भी है । अतः **'आकाश' 'अतीन्द्रिय'** है। उसी प्रकार 'समवाय' भी आत्मा से 'अन्य' तथा 'असमवेत' **और** 'भावरूप' है। पृथिवी में अनेक प्रकार की वस्तुएँ हैं । समस्त वस्तुएँ साक्षात् अथवा परम्परया किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित होती हैं । **'समवाय' 'संयोग'**—प्रभृति बहुविध सम्बन्ध हैं । सम्बन्धों के मध्य में **'समवाय-सम्बन्ध'** अत्यन्त अन्तरंग है । क्योंकि 'अयुतसिद्ध ( जो कभी पृथक् न हो ) पदार्थों के सम्बन्ध' का नाम **समवाय** है अर्थात् पृथक्भूत होकर जिसकी उपलब्धि और उत्पत्ति न हो ऐसे दो पदार्थों का जो सम्बन्ध है। उसे **'समवाय'** कहते हैं। जैसे 'कपालों' के साथ 'घट' का **समवाय सम्बन्ध** है। 'घट', 'कपाल' से 'पृथक् भाव' में उत्पन्न या ज्ञान का विषय नहीं है। उसी प्रकार 'आकाश' के साथ 'शब्द' का 'पृथ्वी' के साथ 'गन्ध' का, 'जल' के साथ 'आस्वाद' का, 'अग्नि' के साथ 'रूप' का एवं 'मनुष्य' के साथ 'मनुष्यत्व' का **'समवाय'** सम्बन्ध होता है । 'शब्द' का 'वायु' के साथ 'संयोग' सम्बन्ध रहता है, क्योंकि 'शब्द', 'वायु' का गुण नहीं, तथा 'वायु' और 'शब्द' **अयुतसिद्धपदार्थ** भी नहीं । अतः इनका ( शब्द वायु का ) 'समवायसम्बन्ध' नहीं हो सकता । इसी प्रकार 'गन्ध-पुष्प का' **'समवाय सम्बन्ध'** है । 'समवाय सम्बन्ध' नित्य विद्यमान, तथा समवेत होकर 'गुण', 'जाति' तथा 'स्वाश्रय' का परित्याग नहीं करता । 'शब्द', **आकाश** का परित्याग कर अन्यत्र नहीं जाता । 'मनुष्यत्व', **मनुष्य** का परित्याग कर 'गो' आदि का आश्रय नहीं करता । 'सम्बन्ध' का स्वीकार किये बिना काम नहीं चलता । बिना 'सम्बन्ध' के किसी के साथ मेल नहीं हो सकता । यदि 'द्रव्य' के साथ 'गुण' का सम्बन्ध न हो तो 'द्रव्य' को **गुणवान्** नहीं कह सकते । हमारे घर के साथ हमारा 'स्वामित्वसम्बन्ध' न हो तो उसको अपना घर नहीं कह सकते । हम जब तक घर में हैं तब तक हमारा सम्बन्ध अवश्य है । उसी प्रकार हमारा 'गुण' जब तक हमसे समवेत है तब तक उसके साथ 'समवाय' सम्बन्ध ही स्वीकार करना चाहिये ।

### कालिक-सम्बन्ध

**'काल'** के द्वारा जिस वस्तु का सम्बन्ध माना जाता है उसी को **'कालिक-सम्बन्ध'** कहते हैं । जैसे —दस वर्ष बीते कि हम बम्बई में थे, जिस समय हम बम्बई में थे, 'हमारा' तथा 'बम्बई' का उसी समय **'कालिक सम्बन्ध'** था ।

### परम्परा-सम्बन्ध

एक पदार्थ के द्वारा जो सम्बन्ध कल्पित किया जाय उसे **'परम्परा सम्बन्ध'** कहते हैं । जैसे—'कालिकसम्बन्ध' काल के द्वारा होता है, उसी प्रकार इसे भी समझना चाहिये । 'कालिकसम्बन्ध', 'परम्परासम्बन्ध' का **अपवादक** होता है । एक प्रसंग में जो अगले-अगले सम्बन्ध हैं, उसी को 'परम्परासम्बन्ध' कहते हैं । हमारा तुम्हारा साक्षात् कोई सम्बन्ध न होने पर भी 'परम्परासम्बन्ध' है । तुम जिस देश में रहते हो हम भी उसी देश में रहते हैं, अतएव **'एकदेशवासित्व'** सम्बन्ध हमारा तुमसे है । उसी प्रकार 'एक कुलोत्पन्नत्व' सम्बन्ध 'रघु' तथा 'राम' का है ।

अभावं विभजते— अभावस्त्विति ।

अब अवसर प्राप्त अभाव का विभाग करते हैं ।

**अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः ।**
**प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥ १२ ॥**
**एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ।**

**अभावः**—जो भाव से ( सत् प्रतीति से ) भिन्न हो, उसे 'अभाव' कहते हैं। **संसर्गाभावः**—संसर्गका अर्थ 'सम्बन्ध'[1] है । आधेय के साथ जो आधार का सम्बन्ध है, वही 'संसर्गाभाव' है । **'प्रागभावः'**—कार्योत्पत्ति के प्राक् ( पहले ) जो अभाव हो उसे प्रागभाव कहते हैं । अर्थात् जो वस्तु आगे होगी और होने से पहले उसका जो अभाव हो, उसी को 'प्रागभाव' कहते हैं । **'ध्वंसाभाव'**—ध्वंसरूप जो अभाव है, वही ध्वंसाभाव है । जैसे—'घटो ध्वस्तः'—यहाँ पर दण्ड से घट के टूटने पर जो अभाव है वही ध्वंसाभाव है । **'अत्यन्ताभाव'**—जिसकी उत्पत्ति तथा नाश न हो उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं । **'अन्योन्याभाव'** इसका अर्थ 'भेद' है । जैसे—यह 'घट' पट नहीं है । अभाव दो प्रकार का है । एक संसर्गाभाव और दूसरा अन्योन्याभाव । इन दोनों में से संसर्गाभाव तीन प्रकार का है—प्रागभाव प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव ।

---

१. यद्यपि 'संसर्ग' का अर्थ सम्बन्धमात्र है, तथापि प्रकृत में 'संसर्ग' शब्द से 'वृत्तिनियामक सम्बन्ध' का ही ग्रहण किया गया है । 'वृत्ति' शब्द का अर्थ-आधेयता है । 'येन सम्बन्धेन आधेयपदार्थः स्वाधारे वर्तते, सः सम्बन्धो वृत्तिनियामक' इत्युच्यते । वह वृत्तिनियामक-सम्बन्ध संयोग, समवाय, स्वरूप, कालिक, दैशिक, विशेषणतादि भेद से अनेक प्रकार का है । इनके अतिरिक्त जो सम्बन्ध हैं वे 'वृत्त्यनियामक' हैं । वे वृत्त्यनियामक सम्बन्ध—गगनादिसंयोग अंगुलिद्वयसंयोग, विषयत्व-विषयित्व, अनुयोगित्व-प्रतियोगित्व, निरूपकत्व-निरूप्यत्व, तादात्म्यादि भेद से अनन्त हैं ।

कार्य कारण का तादात्म्य माननेवालों के मत में 'तादात्म्य' भी वृत्तिनियामक है । एवञ्च संसर्गावच्छिन्न ( वृत्तिनियामकसम्बन्धावच्छिन्न ) प्रतियोगिताकोऽभावः, संसर्गाभावः । यस्य अभावः स तस्य प्रतियोगी, प्रतियोगिनो भावः प्रतियोगिता, प्रतियोगिशब्दात् भावे तल् । प्रतियोगिता के अवच्छेदक दो हुआ करते हैं—एक 'धर्म' और दूसरा 'सम्बन्ध' । धर्म और सम्बन्ध से 'प्रतियोगिता' अवच्छिन्न ( विशेषित ) होती है इस कारण वह ( प्रतियोगिता ) उनसे अवच्छिन्न कहलाती है । प्रतियोगिता का जो समनियत धर्म हो वह प्रतियोगितावच्छेदक होता है । और प्रतियोगी अपने अधिकरण में जिस सम्बन्ध से रहता है, वह सम्बन्ध' प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध कहलाता है । प्रतियोगी जिस धर्म से विशेषित ( अवच्छिन्न अर्थात् इतरों से व्यावृत्त ) किया जाता है, वह धर्म, प्रतियोगितावच्छेदक धर्म कहलाता है ।



अभावत्वं द्रव्यादिषट्कान्योन्याभाववत्त्वम्[1] । संसर्गेति । संसर्गाभावान्योन्याभावभेदादित्यर्थः । अन्योन्याभावस्यैकविधत्वात्तद्विभागाभावात्संसर्गाभावं विभजते—प्रागभाव इति । संसर्गाभावत्वम् अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम् । अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वम् । विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम् । जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम् । नित्यसंसर्गाभावत्वम् अत्यन्ताभावत्वम् ।

किसी पदार्थ का लक्षण के द्वारा स्वरूप जाने बिना उसका विभाग करना उचित नहीं । इसलिए प्रथमतः 'अभाव' का लक्षण कहते हैं । पूर्वोक्त द्रव्य आदि छह पदार्थों के अतिरिक्त जो पदार्थ है, वही 'अभाव' पदार्थ है । अर्थात् 'भावभिन्नत्वम् अभावत्वम्'—भावपदार्थों से भिन्न पदार्थ को ही 'अभाव' कहते हैं । 'संसर्गाभाव' और 'अन्योन्याभाव' ( भेद ) ये ही दो प्रकार के अभाव हैं । इन दो प्रकारों में से 'अन्योन्याभाव' तो एक ही प्रकार का है, उसका कोई अवान्तर भेद नहीं है ।

अब 'संसर्गाभाव' का विभाग करते हैं । प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव—यह तीन प्रकार का 'संसर्गाभाव' है । संसर्गाभाव का यह लक्षण है कि 'अन्योन्याभाव से भिन्न जो अभाव, उसी को संसर्गाभाव कहते हैं ।' जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य-सम्बन्ध से अवच्छिन्न हो, अर्थात् तादात्म्य का ( उन-उन वस्तुओं के स्वरूपों का ) जो अभाव है, वही 'अन्योन्याभाव' है । पूर्वोक्त संसर्गाभावों में से प्रागभाव आदि का लक्षण इस प्रकार समझना चाहिये—'विनाशी ( नाशवान् ) जो अभाव है, वह प्रागभाव है ।' 'जन्य ( उत्पत्तिमान् ) जो अभाव है, वह—प्रध्वंसाभाव है ।' 'नित्य जो संसर्गाभाव है उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं ।' अर्थात् अधिकरण में वस्तु के सम्बन्ध का जो अभाव सदा रहता है, वही अत्यन्ताभाव है ।

यत्र तु भूतलादौ घटादिकमपसारितं पुनरानीतं च तत्र घटकालस्य सम्बन्धाघटकतयाऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः । तत्रोत्पादविनाशशाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित् ।

अत्र ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभाव इति प्राचीनमतम् । श्यामघटे रक्तो नास्तीति रक्तघटे श्यामो नास्तीति धीश्च प्रागभावं ध्वंसं चावगाहते न तु तदत्यन्ताभावं तयोर्विरोधात् ।

नव्यास्तु तत्र विरोधे मानाभावाद् ध्वंसादिकालावच्छेदेनाप्यत्यन्ताभावो वर्त्तत इति प्राहुः ।

---

( १ ) अभाव का यह लक्षण अन्योन्याभाव घटित है, और वक्ष्यमाण अन्योन्याभाव का लक्षण भी सामान्य रूप से अभाव घटित है अतः उक्त लक्षण 'अन्योन्याश्रय' दोष से दूषित हुआ, इसलिए 'समवायसामानाधिकरण्यान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसत्ताभावत्वम्—अभावत्वम्' अर्थात् उक्त विशेषण विशिष्ट सत्ताभावरूप ही अभाव का निर्वचन करना चाहिये ।

यदि अत्यन्ताभाव नित्य है ( जो घट की विद्यमान अवस्था में भी रहता है ) तो घट के रहने पर भी 'घट नहीं है' इस प्रकार की आपत्ति होनी चाहिये, किन्तु उसका निवारण इस प्रकार करते हैं—जिस समय 'घट नहीं है' यह प्रतीति होती है, उस समय के 'घटाभाव' के सम्बन्ध की वहाँ ( घटसद्भाव के स्थान में ) कल्पना कर लेंगे। और घट की सत्ता के समय जो सम्बन्ध है उसकी यहाँ कल्पना नहीं करेंगे। तथा जहाँ-जहाँ वह सम्बन्ध सम्भव होगा वहाँ-वहाँ उन-उन अभावों की प्रतीति हो जायगी। और जहाँ-जहाँ सम्भव नहीं है, वहाँ-वहाँ प्रतीति नहीं होगी। एवञ्च जिस भूप्रदेश में जो पूर्व घट था, तदनन्तर वहाँ से उसी घट को उठा लिया और पुनः उसी घट को वहीं पर लाकर रख दिया, ऐसी स्थिति में ( घट की स्थिति के समय ) घटाभाव का पूर्व सम्बन्ध नष्ट हो गया है। अतः ऐसे स्थल में 'घट नहीं है' इस प्रतीति के होने की आपत्ति भी नहीं हो सकती। 'घट उँठा लिया और पुनः वहीं लाकर रख दिया' ऐसे स्थल में कुछ विद्वानों का यह मत है कि—उस स्थल में अत्यन्ताभावरूप—अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि जब घट उठा लिया तब तो अभाव उत्पन्न हो गया और जब वहाँ पर घट ले आये तब वह नष्ट हो गया, ऐसा 'सामयिक'[1] संज्ञक चौथा अभाव ( प्रागभाव आदि से भिन्न ) है। प्राचीन नैयायिकों का मत यह है कि—किसी वस्तु, के प्रागभाव तथा ध्वंस ये दो अभाव, समवायिकारण के रहने पर तथा इन दो अभावों में से किसी एक अभाव के होने पर वहाँ अत्यन्ताभाव नहीं रहेगा, क्योंकि ध्वंस और प्रागभाव का अत्यन्ताभाव से विरोध है। जैसे – पाक से ( अग्निसंयोग से ) घट में प्रथम क्षण में रक्तरूप उत्पन्न होता है और द्वितीय तथा तृतीय क्षण में उस रूप का नाश होकर श्यामरूप उत्पन्न होता है, तदनन्तर पाक से श्यामरूप का नाश होने पर पुनः दूसरा रक्तरूप उत्पन्न होता है, ऐसी स्थिति होने पर उस घट में श्यामरूप की स्थिति के समय 'रक्तरूप नहीं है' ऐसी जो प्रतीति होती है, उस प्रतीति का विषय पूर्व रक्तरूप का ध्वंस तथा भावि रक्तरूप का प्रागभाव होता है। वह रक्तरूप के अत्यन्ताभाव का विषय नहीं होता, यह प्राचीन नैयायिकों का मत है।

नवीन नैयायिकों का मत यह है कि—ध्वंस तथा प्रागभाव के होने पर भी अत्यन्ताभाव की प्रतीति होने में कुछ दोष नहीं। इन दोनों का अत्यन्ताभाव से विरोध मानने में कुछ प्रमाण नहीं मिलता। अतः ध्वंस तथा प्रागभाव के अधिकरण में भी उस समय अत्यन्ताभाव रह सकता है—यह नवीन नैयायिकों का मत है।

नन्वस्त्वभावानामधिकरणात्मकत्वं लाघवात्।

'अभाव' को न माननेवाले प्रभाकरमीमांसक की शंका—'अभाव' यह अधिकरण से भिन्न नहीं, क्योंकि जिस भूप्रदेश में 'घट नही है' ऐसी जो प्रतीति होती है, वह 'भूप्रदेश' ही 'अभावस्वरूप' है। अतः 'अभाव' यह भाव की अपेक्षा भिन्न वस्तु नहीं। और ऐसा मानने में लाघव भी है।

( १ ) समयविशेष में होनेवाले अभाव का नाम 'सामयिकाभाव' है।



इति चेन्न। अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनाऽपेक्षयाऽतिरिक्तकल्पनाया एव लघीयस्त्वात्। एवं च आधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते। एवं च तत्तच्छब्दगन्धरसाद्यभावानां प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते। अन्यथा तत्तदधिकरणानां तत्तदिन्द्रियाणामग्राह्यत्वादप्रत्यक्षत्वं स्यात्। एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमभावस्येति प्रत्युक्तमप्रत्यक्षत्वापत्तेः॥ १२॥

नैयायिक उत्तर देता है—घटाभाव, अधिकरण ( भूप्रदेशादि ) स्वरूप है ऐसा मानने में वे अधिकरण अनेक हैं, तो ये भी ( अभाव भी ) अनेक हो जायेंगे, यह मानना होगा। ऐसा मानने की अपेक्षा अभाव को अधिकरण से भिन्न ( अतिरिक्त ) मानने में ही लाघव है। क्योंकि 'घटाभाववद् भूतलम्' कहने पर घटाभाव को जैसे भूतलस्वरूप माना, वैसे ही 'घटाभाववान् पटः', 'घटाभाववान् मठः' आदि स्थलों में भी पट, मठ आदि जो अनन्त अधिकरण हैं, तत्स्वरूप अभाव को भी अनन्त मानना होगा। किन्तु इस प्रकार मानने में महान् गौरव होगा। इस लिये अभाव को अधिकरण की अपेक्षा अतिरिक्त ( भिन्न ) पदार्थ मानना ही उचित है। दूसरा कारण यह भी है कि 'घटाभाव' को 'सामान्य-धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावरूप' माना जाता है। अर्थात् 'घटत्व' रूप जो सामान्य धर्म, तादृशसामान्यधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावस्वरूप 'घटाभाव' हुआ करता है। और 'सामान्य-धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव' तो एक होता है तथा नित्य होता है। तब 'घटाभाव' को अधिकरणस्वरूप मानने पर 'घटात्यन्ताभाव को अनन्त और अनित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि 'अधिकरण' अनित्य तथा अनन्त होते हैं। दूसरी बात यह है कि 'अभाव' को अधिकरणस्वरूप न मानने पर 'घटाभाववद्भूतलम्' यहाँ पर आधाराधेयभाव भी ठीक बन जाता है। क्योंकि 'घटाभाव' आधेय है और 'भूतल' उसका आधार है। यदि अभाव को अधिकरण से भिन्न ( अतिरिक्त ) नहीं मानेंगे तो 'आधाराधेयभाव' नहीं बन सकेगा। अर्थात् अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने पर 'घटाभावो भूतलम्' यह प्रतीति होगी। इस प्रतीति में कौन आधार है और कौन आधेय है यह नहीं बताया जा सकेगा। इसी प्रकार आधार आधेय को एक ही मान लेने पर और भी एक दोष प्राप्त होगा—'शब्द में गन्ध तथा रस नहीं' इस प्रतीति में गन्ध के और रस के अभाव का प्रत्यक्ष ( शब्द में गन्ध नहीं है अथवा रस नहीं है ऐसा प्रत्यक्ष ) घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय से हुआ करता है, किन्तु अब वह नहीं होगा। किन्तु अभाव को अधिकरणस्वरूप न मानने पर तत्तत् शब्द, गन्ध, रस के अभाव का प्रत्यक्ष भी ठीक बन जाता है। क्योंकि यह नियम है कि 'यो गुणो येनेन्द्रियेण गृह्यते तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते'—जिस इन्द्रिय से जिस गुण का प्रत्यक्ष होता है, उस गुण में रहनेवाली जाति का तथा उस गुण के अभाव का प्रत्यक्ष भी उसी इन्द्रिय से होता है। जैसे—शब्द, गन्ध, रस का प्रत्यक्ष क्रमशः श्रोत्रेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय से होता है। ऐसा परिस्थिति में भी यदि अभाव को अधिकरणस्वरूप कहा जाय तो अधिकरण का प्रत्यक्ष, इन इन्द्रियों से नहीं होगा।

जैसे—'शब्दाभाववद् भूतलम्' कहने पर शब्दाभाव का भूतल में प्रत्यक्ष करें तो शब्दाभाव भूतलस्वरूप होने से भूतल का प्रत्यक्ष श्रोत्रेन्द्रिय से नहीं किया जा सकता, क्योंकि श्रोत्र, 'द्रव्य' को ग्रहण नहीं करता अपितु 'गुण' को ग्रहण करता है। इस कारण शब्दाभाव का प्रत्यक्ष भी श्रोत्र से नहीं होगा। उसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय भी गुणग्राहक इन्द्रिय हैं। अतः इनसे भी गन्धाभाव, रसाभाव का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकेगा।

इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं—अन्यथा तत्तदधिकरणानां तत्तदिन्द्रियग्राह्यत्वात् प्रत्यक्षत्वं न स्यात्' अन्यथा अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने पर शब्दाभावस्वरूप भूतलद्रव्य श्रोत्रेन्द्रिय से अग्राह्य होने के कारण शब्दाभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

प्रभाकर-मीमांसक का एक यह भी सिद्धान्त है कि जिस अधिकरण में 'अभाव' तादृश ज्ञानरूप है, उसी प्रकार जिसमें अभाव का ज्ञान होता है वह अभाव तादृश कालरूप भी है। इससे (आगे बताये जानेवाले अप्रत्यक्षत्वापत्तिरूप दोष से) अभाव की ज्ञानरूपता तथा कालरूपता का सिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है। क्योंकि काल का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता, अतः अभाव को यदि कालस्वरूप माने तो अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, उसी प्रकार ज्ञान का भी बाह्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता अतः अभाव को ज्ञानस्वरूप मानने पर अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। इस कारण अप्रत्यक्षत्वापत्तिरूप दोष से 'अभाव' को ज्ञानरूप या कालरूप नहीं कह सकते। इस लिए यह 'अभाव'[१] पदार्थ पूर्वोक्त छह भावपदार्थों की अपेक्षा अतिरिक्त है, यह स्पष्ट होता है।

इति बालप्रिया-सहितायां मुक्तावल्यां पदार्थसामान्यनिरूपणं नाम प्रथमा मुक्ता।

—*—

(१) 'अभाव' पदार्थ—संसर्गाभाव एवं अन्योन्याभाव भेद से दो प्रकार का है। प्राचीन नैयायिकों के मत में संसर्गाभाव (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, सामयिकाभाव) चार प्रकार का है। नवीन नैयायिक 'सामयिकाभाव' को नहीं मानते। 'भाव' से विपरीत 'अभाव' होता है। प्रतियोगी (वस्तु) की सत्ता के पूर्व या पश्चात् जब उसका अभाव रहता है, तब वही (वस्तु) उस (अभाव) का प्रतियोगी होता है। जैसे—घटाभाव का प्रतियोगी 'घट' है। 'प्रागभाव' का लक्षण इस प्रकार है—'अजन्यत्वे सति विनाशित्वम्' अथवा 'अजन्यत्वे सति प्रतियोगि-नाश्यभावत्वम्'—प्रागभावत्वम्। अर्थात् जिस 'अभाव' का जन्म तो न हो तथापि विनाशशील हो वही 'प्रागभाव' है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु आगे होगी और होने से पहले जिसका अभाव हो, उसी 'अभाव' को 'प्रागभाव' कहते हैं। 'घट' बनने से पहले उसका (घट का) प्रागभाव है। उसी प्रकार अभी 'कल्किअवतार' का प्रागभाव है, क्योंकि कल्कि-अवतार अभी नहीं



हुआ है, जब वह (कल्कि अवतार) हो जायगा तब कल्कि-अवतार का 'अभाव' नष्ट हो जायगा। वैसे ही जब तक पुत्र उत्पन्न न होगा, तब तक उसका (पुत्र का) प्रागभाव ही कहा जायगा। पुत्र के उत्पन्न होने पर वह (अभाव) नष्ट हो जायगा। तथापि दूसरे पुत्र का प्रागभाव तो द्वितीयपुत्र की उत्पत्ति से पहले रहेगा ही 'घटो ध्वस्तः' इस प्रतीति में जिस 'अभाव' का बोध होता है, उस 'अभाव' को ध्वंसाभाव या 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं। ध्वंसरूप जो अभाव है उसे ध्वंसाभाव कहते हैं। उसका लक्षण इस प्रकार है—'जन्यत्वे सति अविनाशित्वं ध्वंसाभावत्वम्' अर्थात् जिस अभाव का जन्म तो है, किन्तु विनाश नहीं है, उसी को 'ध्वंसाभाव' कहते हैं। दण्ड आदि किसी साधन से घट के टूटने पर जो घट का अभाव है, उसे 'ध्वंसाभाव' कहते हैं। यह अभाव दण्ड आदि साधनों से पैदा होता है। और इस 'अभाव' (ध्वंसाभाव) का पुनः अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि वह (ध्वंसाभाव) अविनाशी और जन्य (उत्पत्तिमान्) है। अविनाशी (नित्य) रहनेवाले इस अभाव को 'ध्वंस' नाम से पुकारा जाता है। अत्यन्ताभाव का लक्षण इस प्रकार है—'अजन्यत्वे सति अविनाशित्वम्'। अर्थात् जिस 'अभाव' का जन्म तथा विनाश न हों उसी को 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि 'त्रैकालिक-संसर्गाभाव' को अत्यन्ताभाव कहते हैं, यानी जो अभाव पहले था और वर्तमान में तथा भविष्यत् में भी रहेगा। जैसे—किसी वन्ध्या को पुत्र न हुआ, न होगा, और न अब है, ऐसे स्थल में 'तस्याः पुत्रो नास्ति' इस प्रकार के अभाव को—'अत्यन्ताभाव' कहते हैं। 'अन्योन्याभाव' का लक्षण इस प्रकार है—'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्'—अन्योन्याभावत्वम्। 'तादात्म्य' एक सम्बन्ध-विशेष है। अपने में जो अपना सम्बन्ध है उसी को 'तादात्म्य-सम्बन्ध' कहते हैं। जैसे—घट में घट 'तादात्म्य-सम्बन्ध' से रहता है। उसी प्रकार पट आदि में पट आदि 'तादात्म्यसम्बन्ध' से रहता है। ऊपर बता चुके हैं कि जिस वस्तु का अभाव होता है वह वस्तु, उस अभाव की प्रतियोगी होती है। 'भेदरूप अभाव' का नाम 'अन्योन्याभाव' है। जिस अभाव की प्रतियोगिता 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न घट' में भेदरूप है, वह अभाव, 'घट' में नहीं रह सकता, क्योंकि घट में 'घट' तादात्म्यसम्बन्ध से रहता है। अतः तादात्म्यसम्बन्ध से घट में 'घट' का अभाव नहीं रह सकता। क्योंकि 'भाव' और 'अभाव' ये दोनों एक अधिकरण में नहीं रह सकते। घट से अन्य (भिन्न) पट आदि जितने पदार्थ हैं, उनमें 'घट' का भेदरूप-अभाव रहता है। जिस सम्बन्ध से जो पदार्थ जिस जगह (जहाँ पर) नहीं होता, उसी सम्बन्ध से उसी पदार्थ का अभाव उसी जगह रहता है। 'तज्जन्यप्रतियोगिता' में 'तत्सम्बन्धावच्छिन्न' स्वीकार करना भी उचित है। संयोगेन घटो नास्ति' यह कहने पर 'घट' में जो प्रतियोगिता है, वह 'संयोगसम्बन्धावच्छिन्ना है'। उसी प्रकार 'समवायेन घटो नास्ति' कहने पर वही प्रतियोगिता 'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना' कहलायेगी। किन्तु 'तद्रूपघटो न घटः' यहाँ उक्त

इदानीं सप्तपदार्थानां साधर्म्यं वैधर्म्यं च वक्तुं प्रक्रमते—सप्तानामिति ।

अब द्रव्यादि सात पदार्थों का साधर्म्य अर्थात् अनुगत ( समान ) धर्म तथा वैधर्म्य अर्थात् विरुद्ध धर्म बताते हैं—'सप्तानाम्' इति ।

**सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ॥ १३ ॥**

सप्तानाम्=द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव इन सातों का । साधर्म्यम्=जिसका समान ( तुल्य ) धर्म हो, उसको सधर्मा कहते हैं, सधर्मा का जो भाव उसे साधर्म्य कहते हैं, अर्थात् साधारण धर्म । ज्ञेयत्वादिकम्=ज्ञेय=ज्ञान का विषय, उसका जो धर्म उसे 'ज्ञेयत्व' कहते हैं । 'आदि' शब्द से प्रमेयत्व, अभिधेयत्व आदि को समझना चाहिये । प्रमेयत्व=प्रमाविषयता ( प्रमा का विषय ) अभिधेयत्व=अभिधाविषयता ( अभिधा का विषय ) । द्रव्यादि सात पदार्थों का साधर्म्य ( समानधर्म ) ज्ञेयत्व आदि हैं । अर्थात् द्रव्यादि सात पदार्थ हमारे ज्ञेय ( ज्ञान के विषय अर्थात् जानने योग्य ) हैं । अतः ज्ञेयत्व ( ज्ञेयता ) ही द्रव्यादि सप्त पदार्थों का साधर्म्य ( समानधर्म ) है । उसी प्रकार वैधर्म्य का अर्थ होगा विरुद्धधर्म । समस्त पदार्थ, ज्ञान के विषय होने से उनमें ज्ञानविषयता रहती है । इसी प्रकार अभिधेयत्व, प्रमेयत्व आदि भी द्रव्यादि सप्तपदार्थों के समान धर्म हैं ॥ १३ ॥

समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः तेषां भावः साधर्म्यं, समानो धर्म इति फलितार्थः । एवं विरुद्धो धर्मो येषां ते विधर्माणः, तेषां भावो वैधर्म्यं, विरुद्धो धर्म इति फलितार्थः । ज्ञेयत्वं ज्ञानविषयता सा च सर्वत्रैवास्ति, ईश्वरादिज्ञानविषयतायाः केवलान्वयित्वात् । एवमभिधेयत्वप्रमेयत्वादिकं बोध्यम् ॥ १३ ॥

॥ इति सप्तपदार्थसाधर्म्यकथनम् ॥

---

नियम नहीं घट सकता, क्योंकि भेद की प्रतियोगिता 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना' है । वह प्रतियोगिता कभी भी अन्यसम्बन्धावच्छिन्ना नहीं होगी । एवं भेदरूप अभाव से भिन्न अन्य किसी भी अभाव की 'प्रतियोगिता' तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना नहीं हो सकती । यदि भेद की प्रतियोगिता, तादात्म्यसम्बन्ध से भिन्न किसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न हो जाय तो 'घट में घट का भेद रह जायगा', किन्तु भिन्न-सम्बन्ध से 'घट में घट' नहीं रहता, अपितु उसका अभाव अन्य सम्बन्ध से रह सकता है । घट तो 'तादात्म्यसम्बन्ध' से घट में ही रहता है, घट से भिन्न पट में नहीं रहता । अतएव घट में जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता है, उसका अभाव घट में नहीं रहेगा, किन्तु पट आदि में रहेगा । जिस स्थान में जो भेदरूप अभाव है, वही 'अन्योन्याभाव' है । 'अन्योन्य' शब्द का अर्थ 'परस्पर' है । परस्पर अभाव का नाम 'अन्योन्याभाव' है ।



जो पदार्थ परस्पर एक धर्म वाले हैं, उनमें रहने वाले धर्म का नाम 'समान धर्म' है । उसी प्रकार जो पदार्थ परस्पर विरुद्ध धर्मवाले हैं उनमें रहनेवाले धर्म का नाम 'विरुद्ध धर्म' है । 'ज्ञेयत्व' शब्द से यहाँ ज्ञान की विषयता समझनी चाहिये । वह ज्ञान की विषयता सर्वत्र विद्यमान है, क्योंकि ईश्वर और योगी की 'ज्ञानीय-विषयता' को केवलान्वयी माना गया है । [ विषय में रहने वाले ज्ञानादि से निरूपित धर्म-विशेष को विषयता कहते हैं । तथा यावत् ( समस्त ) पदार्थों में रहने वाले धर्म को 'केवलान्वयी' कहते हैं ] एवं अभिधा को 'संकेत' कहते हैं । उस 'संकेतविषयता' का नाम 'अभिधेयत्व' है । एवं प्रमा का अर्थ पदार्थज्ञान है । और उसकी विषयता का नाम 'प्रमेयत्व' है । यहाँ 'आदि' शब्द से 'अस्तित्व' अर्थात् 'कालसम्बन्धित्व'[1] आदि धर्मों का ग्रहण करना चाहिये । तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय और अभाव ये सातों पदार्थ, ज्ञेय ( ईश्वरीय-ज्ञान के विषय ) हैं, तथा ये अभिधेय ( किसी एक शब्द के वाच्य यानी अर्थ ) हैं । और ये प्रमेय ( ईश्वरीय ज्ञान के यथार्थ विषय ) हैं । रीति से इन पूर्वोक्त सात पदार्थों का ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व यही साधर्म्य[2] है ॥ १३ ॥

॥ इति सप्तपदार्थसाधर्म्यकथनम् ॥

---

( १ ) यहाँ पर 'अस्तित्व' से स्वरूपवत्त्व समझना चाहिए । जिस वस्तु का जो स्वरूप है वही उसका अस्तित्व है'—इस प्राचीनों के व्याख्यान को ध्यान में रखकर ही श्री विश्वनाथ ने सातों पदार्थों का साधर्म्य संगृहीत किया है । 'काल' में कालसम्बन्धित्व' का सम्भव न हो सकने से 'कालसम्बन्धित्वमस्तित्वम्' यह नवीनों का व्याख्यान उचित प्रतीत नहीं हो रहा है ।

( २ ) समानधर्म का नाम साधर्म्य है, तथा विरुद्ध-धर्म का नाम वैधर्म्य है । द्रव्यादि सात पदार्थों के ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व, अस्तित्व आदि साधर्म्य ( समान धर्म ) हैं । ज्ञान की विषयता का नाम ज्ञेयत्व है । प्रमा की विषयता का नाम प्रमेयत्व है । 'इस शब्द से सुनने वाले को इस अर्थ का बोध हो' इस प्रकार ईश्वर की इच्छारूप जो संकेत ( शक्ति ) है, उस संकेत ( शक्ति ) का ही नाम 'अभिधा' है । किन्तु मीमांसक 'अभिधा को' संकेतग्राह्य मानकर उसे एक अधिक पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं । उस अभिधा की विषयता का नाम 'अभिधेयत्व' है । काल के सम्बन्ध का नाम 'अस्तित्व' है । ये ज्ञेयत्वादि धर्म द्रव्यादि सप्तपदार्थों में रहते हैं । यद्यपि जीवात्मा के 'ज्ञान' की तथा 'प्रमा' की विषयता समस्त पदार्थों में संभव नहीं तथापि ईश्वर के ज्ञान की तथा प्रमा की विषयता तो संभव है ही, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' यह श्रुति भी ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करती है । 'साधर्म्य' 'वैधर्म्य' शब्दों में 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' सूत्र से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है । इस भावप्रत्यय के द्वारा 'स्वप्रकृत्यर्थविशेषणीभूतजात्यादि' रूप अर्थ बताया गया है । 'भाव' पदार्थ क्या है ? प्रकृतिजन्यबोधेप्रकारो भावः—

**द्रव्यादयः पञ्च भावा अनेके समवायिनः ।**

भावाः=भाव पदार्थ । भाव तथा अभाव भेद से पदार्थ दो प्रकार के हैं । द्रव्य गुण कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये ही छह भाव पदार्थ हैं । इनके अतिरिक्त जो पदार्थ है वह 'अभाव' पदार्थ हैं । 'अनेके'=एक से भिन्न संख्याविशिष्ट 'अनेक' होते हैं । समवायिनः'='समवाय' सम्बन्ध से युक्त । द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये पाँच पदार्थ अनेक, तथा समवायी ( समवाय-सम्बन्ध से युक्त ) हैं । अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष इन पाँच पदार्थों का साधर्म्य 'भावत्व' के सहित 'अनेकत्व' और समवायित्व है । द्रव्यादि छह पदार्थों का 'भावत्व' साधर्म्य तो स्पष्ट है, इसलिए उसे न बताकर द्रव्यादि पाँचों का साधर्म्य बताया गया है ।

**द्रव्यादय इति । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां साधर्म्यमनेकत्वं समवायित्वं च । यद्यप्यनेकत्वमभावेऽप्यस्ति तथाप्यनेकत्वे सति भावत्वं पञ्चानां साधर्म्यम् । तथा चानेकभाववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः । तेन प्रत्येकं घटादावाकाशादौ च नाव्याप्तिः । समवायित्वं च समवायसम्बन्धेन सम्बन्धित्वं न तु समवायवत्त्वं,सामान्यादावभावात् । तथा च समवेतवृत्तिपदार्थ-विभाजकोपाधिमत्त्वमिति फलितोऽर्थः । तेन नित्यद्रव्येषु नाव्याप्तिः ।**

॥ इति पञ्चपदार्थसाधर्म्यकथनम् ॥

'समवाय' अनेक नहीं है, किन्तु एक है । 'अभाव' पदार्थ अनेक तो हैं परन्तु वह 'भाव' नहीं है । अतः समवाय तथा अभाव का साधर्म्य 'अनेकत्व' तथा 'भावत्व' के न होने से अन्य पाँच पदार्थों के साथ नहीं हो सकता । केवल द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य और विशेष ये अनेक तथा भाव भी हैं । इसी कारण इन सबका साधर्म्य भी 'अनेकत्व', 'भावत्व' और 'समवायित्व' है । इसी प्रकार 'समवाय' और अभाव किसी भी अधिकरण में समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहते । अतएव समवाय तथा अभाव का साधर्म्य 'समवायित्व' नहीं हो सकता । द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये सामवाय-सम्बन्ध से रहते हैं । इसलिए इनका 'समवायित्व' साधारण-धर्म है।

---

प्रकृति से होने वाले बोध में जो प्रकार हो, वही भाव पदार्थ है । समान-धर्म वालों में जो समान धर्म है, वही 'प्रकार' है । ज्ञान से 'विषयता' निरूपित होती हैं । 'विषय' निरूप्य होता है और 'ज्ञान' निरूपक होता है । 'विषयो निरूप्यः ज्ञानं च निरूपकम्' यह नियम है । ज्ञान और विषय का सम्बन्ध 'निरूप्य-निरूपक-भाव-सम्बन्ध' होता है । 'अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम् ।' सर्वज्ञ परमेश्वर के नित्यज्ञान के विषय तो सम्पूर्ण पदार्थ हैं । अतः 'सम्पूर्ण-पदार्थनिष्ठा ईश्वरज्ञानीय-विषयता' केवलान्वयी है, क्योंकि ईश्वरज्ञानीय-विषयता का कहीं भी अत्यन्ताभाव नहीं है ।



तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष इन पाँचों[1] का साधर्म्य ( समान धर्म ) भावत्व, अनेकत्व, समवायित्व होता है । प्रत्येक घटादि तथा आकाशादि के ऊपर यह साधर्म्य इस प्रकार है—जो वस्तु अनेक होकर भाव स्वरूप होती है, उस पर रहने वाला जो पदार्थविभाजक ( पदार्थों के विभाग करने में उपयोगी ) धर्म है, वही साधर्म्य है । यह धर्म तो द्रव्यत्व, गुणत्व आदि पाँचों में रहता ही है । उपर्युक्त प्रघट्टक का सरल अर्थ यह है कि 'सप्तम पदार्थ अभाव है' इतने कथनमात्र से ही छह पदार्थों का 'भावत्व' साधर्म्य है, यह स्पष्ट हो जाता है, फिर भी पुनरुक्ति के भय से उसकी उपेक्षा करते हुए ग्रन्थकार पाँचों का साधर्म्य बता रहे हैं—'द्रव्यगुणकर्म०' इत्यादि । कारिका में 'द्रव्यादयः पञ्च' यह उद्देश्य है और 'भावा अनेके' यह विधेय है । इसीलिये मुक्तावलीकार ने 'पञ्चानां' कहा, पञ्चभावानाम्' नहीं कहा । जिसको लक्ष्य करके विधेय की प्रवृत्ति

---

( १ ) शंका—पहिले तो सात पदार्थों का साधर्म्य कहा, बाद में पाँच का कहा, किन्तु छह पदार्थों का नहीं कहा, यह न्यूनता रह गई ।

समा०—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छह पदार्थों का 'भावत्व' ही साधर्म्य है । उसमें कुछ चमत्कृत बात के न देखने से ग्रन्थकार ने इस साधर्म्य को नहीं बताया । अतः कोई न्यूनता नहीं है । परन्तु यहाँ इतना अ समझने योग्य है कि 'समवायैकार्थ समवायान्यतरसम्बन्धेन सत्तावत्त्वं भावत्व क इन छह पदार्थों में 'भावत्व' है । 'समवाय' तथा 'एकार्थसमवाय' इनमें से है । सम्बन्ध से जो 'सत्ताजातिमत्व' अर्थात् 'सत्ताजाति' से युक्त होना रहती द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में 'सत्ताजाति' समवाय वाय सम्बन्ध है, और सामान्य, विशेष, समवाय इन तीनों में तो 'सत्' रूप से से 'सत्ताजाति' रहती है । क्योंकि छह पदार्थों सत्, विशेषः सन्, होती है । जैसे—द्रव्यं सत्, गुणः सन्, कर्म सत् स द्रव्य, गुण, कर्मरूप समवायः सन् इस प्रकार से प्रतीति होती है, उसी द्रव्यादिरूप एक एक अर्थ में वह 'सत्ताजाति' समवाय-सम्ब न्बन्ध से रहते हैं, इसी का नाम अर्थ में वे सामान्यादि तीनों पदार्थ भी दार्थों का 'भावत्व' साधर्म्य है, और 'एकार्थ-समवाय-सम्बन्ध' है । अतः आदि भेद से नौ प्रकार का है । 'गुण 'अभावत्व' वैधर्म्य है । 'द्रव्य-पद प्रकार का है । 'कर्म पदार्थ' उत्क्षेपणादिभेद पदार्थ' रूपरसादि पदार्थ भेद र्थ' पर, अपर भेद से दो प्रकार का है । 'विशेष से पाँच प्रकार का है । 'स त्ति होने से असंख्य है । इस रीति से उक्त पाँच पदार्थ' भी प्रत्येक ा ) है अतः वह इन पाँचों पदार्थों में 'अनेकत्वविशिष्ट-पदार्थों में अनेकत्व र्थ है । और समवाय तथा अभाव में वह नहीं है—अर्थात् भावत्वरूपधर्म' द्ध धर्म ) है ।

उसका वैध

होती है, उसे उद्देश्य या अनुवाद्य कहते हैं। उद्देश्य में प्रकाररूप से ( विशेषणरूप से ) प्रतीत होने वाले विलक्षणविषयतावान् पदार्थ को विधेय कहते हैं। एवञ्च 'अनेकत्वे सति भावत्वम्' यह विधेय है। केवल 'भावत्वम्' कहें तो 'समवाय' में अतिव्यप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'अनेकत्वे सति' यह सत्यन्त विशेषण दिया है। केवल 'अनेकत्वे सति' कहने पर 'अभाव' में अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'भावत्वम्' कहना पड़ा।

शंका — अनेक घटों के रहने पर भी प्रत्येक घट में अर्थात् एक-एक घट में 'एकत्व' ही रहता है, 'अनेकत्व' नहीं और 'आकाश' में भी 'एकत्व' ही रहता है, 'अनेकत्व' नहीं, क्योंकि वह ( आकाश ) एकव्यक्तिरूप है किन्तु 'भावत्व' तो दोनों में ( एक-एक घट में और आकाश में भी ) है। अतः 'अनेकत्वे सति भावत्वम्' इस साधर्म्य की आकाश में तथा एक-एक घटादि पदार्थ में 'अव्याप्ति' हो रही है।

समा० — उसी अव्याप्ति का निवारण करने के लिये ग्रन्थकार ने स्वयं 'अनेकभाववृत्तिपदार्थ०' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा साधर्म्य को परिष्कृत किया। अनेक जो भाव अर्थात् घटपटादिव्यक्तियाँ उन पर वर्तमान जो पदार्थविभाजकोपाधि अर्थात् 'पदार्थत्व का साक्षात् व्याप्यधर्म जो द्रव्यत्व आदि, उनसे युक्त' ऐसा कहने पर उपर्युक्त अव्याप्ति दोष नहीं होगा। अर्थात् पदार्थत्वधर्म का साक्षात् व्याप्यधर्म द्रव्यत्व, प्रत्येक घट में और आकाश में रहता ही है, अतः कोई अव्याप्ति दोष [illegible]ीं है 'समवायिनः' इति। समवायः एषामस्तीति समवायिनः। यहाँ पर मत्व-[illegible]नि प्रत्यय है। सामान्य और विशेष में कोई भी धर्म समवायसम्बन्ध से नहीं बा[illegible]तः 'समवायित्व' की अव्याप्ति होगी, इस भ्रम के निवारणार्थ—'समपद से '[illegible]भिप्रेत अर्थ बताते हैं—'समवायित्वञ्च०' इति। यहाँ पर 'समवायि-अव्याप्तिदो[illegible]योगित्व' ही अभिप्रेत है। इस विवक्षित अर्थ के करने पर रहते हैं। एव[illegible]ना, क्योंकि सामान्य और विशेष स्वयं समवाय—सम्बन्ध से दूसरा समवायप्रति[illegible]त्व' के दो अर्थ होते हैं 'एक' समवायानुयोगित्व—और होता है, किन्तु दूसरे अ[illegible] पहले अर्थ की विवक्षा करने पर अव्याप्ति दोष के प्रथम अर्थ की दृष्टि से [illegible]क्षा करने पर वह दोष नहीं होता। 'समवायित्व' अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि [illegible]रूप परमाणुओं में और आकाश आदि में रहते। इस अव्याप्ति को दूर करने[illegible], आकाश ) समवाय-सम्बन्ध से कहीं नहीं स्वरूप बता रहे हैं—'समवेतवृत्ति०' [illegible] साधर्म्य ( समवायित्व ) का परिष्कृत इसका अर्थ यह हुआ कि समवेत ( स[illegible]वेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम्' रूपादिकों में वृत्ति ( रहना ) है जिसकी, ऐस[illegible]न्ध से वर्तमान ) घटादि और पदार्थ का विभाजकोपाधि अर्थात् पदार्थत्व का [illegible]र्थविभाजकोपाधि धर्म यानी रूप धर्म, उस धर्मरूप उपाधि से युक्त ही समवायि[illegible]प्य द्रव्यत्व, गुणत्वादि- अव्याप्ति दोष नहीं होगा। इस प्रकार जातिघटित [illegible]पी विवक्षा करनेपर [illegible]रने से भूतलादि-



चतुष्टय के परमाणुओं में और आकाशादि पाँचों में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि उनमें विवक्षित द्रव्यत्वादि-धर्म अपने अपने सम्बन्ध के अनुसार रहते हैं। द्रव्यादि चारों का साधर्म्य 'समवेतसमवेतत्व' ( समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्व ) है। अपने कारणस्वरूप कपालादि में समवेत ( समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान ) हुए घट-पटादि में समवेत जो पदार्थविभाजकोपाधि धर्म ( पदार्थत्व का साक्षात् व्याप्य-धर्म द्रव्यत्व, गुणत्व आदि तद्वत्व = तद्युक्त होना है। ) और—द्रव्यादि पाँचों का साधर्म्य समवायित्व और अनेकत्व है। ऐसा अर्थ करने पर नित्यद्रव्यों में अव्याप्ति नहीं होगी।

**सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या[1] . गुणादिर्निर्गुणक्रियः ॥ १४ ॥**

आद्य के तीन ( द्रव्य, गुण, कर्म ) पदार्थों का 'सत्तावत्त्व' समान धर्म है। और गुणादि षट् ( गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ) का निर्गुणत्व, निष्क्रियत्व समान धर्म हैं।

सत्तावन्त इति। द्रव्यगुणकर्मणां सत्तावत्त्वमित्यर्थः।

॥ इति आद्यापदार्थत्रयसाधर्म्यकथनम् ॥

गुणादिरिति। यद्यपि गुणक्रियाशून्यत्वमाद्यक्षणे घटादावतिव्याप्तं, क्रियाशून्यत्वं च गगनादावतिव्याप्तं, तथापि गुणवदवृत्तिधर्मवत्त्वं कर्मवदवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं च तदर्थः। नहि घटत्वादिकं द्रव्यत्वादिकं वा गुणवदवृत्ति कर्मवदवृत्ति वा, किन्तु गुणत्वादिकं तथा, आकाशत्वादिकं तु न पदार्थविभाजकोपाधिः ॥ १४ ॥

॥ इति गुणादिषट्पदार्थसाधर्म्यकथनम् ॥

द्रव्य, गुण, कर्म ये तीन पदार्थ सत्तावान् हैं, इसी कारण इन तीन पदार्थों का सत्तावत्त्व ही साधर्म्य है। द्रव्य से भिन्न गुणादि षट् पदार्थों का 'निर्गुणत्व, तथा 'निष्क्रियत्व' साधर्म्य है। 'गुण के अत्यन्ताभावत्व' को निर्गुणत्व कहते हैं तथा 'क्रिया के अत्यन्ताभावत्व' को निष्क्रियत्व कहते हैं। इन गुणादि षट् पदार्थों में किसी प्रकार का कोई 'गुण तथा क्रिया' समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहती। द्रव्य में तो गुण तथा कर्म समवाय सम्बन्ध से रहता ही है। इस कारण निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व 'द्रव्य' के वैधर्म्य हैं। यद्यपि उत्पत्तिक्षण[2] में 'घटादि द्रव्य' भी निर्गुण तथा निष्क्रिय होते हैं, और आकाश, काल, दिक्, आत्मा ये चारों 'विभुद्रव्य' भी क्रियारहित

( १ ) आदौ भवा आद्याः, अत्र "दिगादिभ्यो यत्" ( ४।३।५५ ) इति भावार्थे 'यत्'। द्रव्यगुणकर्माणि सत्तावन्ति। सत्तावत्त्वञ्च समवायसम्बन्धेन बोध्यम्।

( २ ) 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' यह नैयायिकों का एक नियम है। आकाशे, कालादौ च विभुपदार्थे क्रियैव न जायते। एवञ्च गुणादीनामुच्यमानं साधर्म्यं द्रव्ये अतिव्याप्तम्, इत्याशंका जायते। तामाशंकां परिहर्तुं जातिघटितवाक्यं विवक्षया प्रदर्शितम्—'गुणवद्वृत्ति' इति।

रहते हैं, अतः अतिव्याप्ति होनी चाहिए। तथापि 'निर्गुणत्व' शब्द का अर्थ 'गुणवाले—पदार्थ में नहीं रहनेवाला धर्मत्व' है, तथा 'निष्क्रियत्व' शब्द का अर्थ 'कर्मवाले पदार्थ में नहीं रहनेवाला और पदार्थविभाजक उपाधिमत्त्वधर्म' है। घटादि-द्रव्यों में रहनेवाले घटत्व, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि धर्म, गुणवाले तथा कर्म-वाले में आवृत्ति नहीं हैं। गुणादिषट्पदार्थों में तो क्रमशः गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व और अभावत्व ये छह धर्म, गुणवाले तथा कर्मवाले पदार्थ में अवृत्ति कहे जाते हैं, तथा पदार्थविभाजक उपाधि भी हैं। इस कारण उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न घटादि में तथा आकाशादि विभु द्रव्यों में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। यद्यपि आकाशादि विभु द्रव्य, कर्मवाले में अवृत्ति हैं, तथापि वे ( द्रव्य ) पदार्थविभाजक उपाधिरूप नहीं हैं। इस कारण आकाशादि में निष्क्रियत्व साधर्म्य की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

( क्षेपकपाठः )

यद्वा गुणवद्वृत्तित्वे सति कर्मवद्वृत्तित्वे सति वा सत्ताव्याप्यजातिशून्य-भावत्वं विवक्षितम्। गुणकर्मणोरव्याप्तिवारणाय गुणवद्वृत्तिकर्मवद्वृत्तीति-वा। पुनस्तत्रैवाव्याप्तिवारणाय सत्ताव्याप्येति। व्याप्तिश्च भेदगर्भा निवे-शितेत्यतो न दोषः। द्रव्यगुणान्यतरत्वमादाय तत्रैवाव्याप्तिवारणाय जातीति। अभावेऽतिव्याप्तिवारणाय भावत्वमिति। गुणवद्वृत्तिः सत्ताव्याप्यजातिर्द्रव्यत्वं तच्छून्यत्वं पञ्चानामस्त्येव ॥ १४ ॥

अथवा गुणवाले में रहनेवाली तथा कर्मवाले में रहनेवाली जो सत्ता की व्याप्य 'द्रव्यत्व' जाति है, उससे शून्य 'भावत्व' ही गुणादि ( गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ) पाँचों का साधर्म्य है। यहाँ गुण में तथा कर्म में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये 'गुणवद्वृत्ति' तथा 'कर्मवद्वृत्ति' कहा गया है। केवल 'सत्ता' के ग्रहण करने से पुनः गुण, कर्म में रहनेवाली अव्याप्ति के वारण के लिए 'सत्ता-व्याप्यजाति' कहा गया है। यहाँ व्याप्य-व्यापकभाव की व्याप्ति भेदगर्भिता विवक्षित है। अन्यथा समानाधिकरणरूप व्याप्ति को स्वीकार करें तो 'स्व' में 'स्व-व्याप्यत्व' के भी होने से 'सत्ता' की व्याप्य जाति 'सत्ता' भी होगी, उस 'सत्ता' से शून्य ( रहित ) गुण, कर्मादि नहीं हैं। अतः उनमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। उस अव्याप्ति के निवारणार्थ भेदगर्भित व्याप्ति का निर्देश किया गया है। भेदगर्भितव्याप्ति का आकार इस प्रकार होगा—'स्वसमानाधिकरणत्वे सति स्व-समानाधिकरणभेदप्रतियोगित्वम्'। यहाँ पर दोनों 'स्व' पदों से व्यापकसत्ता का ग्रहण है। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों पर रहने के कारण 'सत्ता' व्यापक है और 'द्रव्यत्व' केवल 'द्रव्य' ही पर रहने के कारण उसकी ( सत्ता की ) दृष्टि से व्याप्य है। अतः 'द्रव्यत्व' रूप व्याप्यसत्ता का द्रव्य पर भी रहनेवाली व्यापकसत्ता के साथ सामानाधिकरण्य भी है, और गुण पर रहने वाली व्यापकसत्ता के अधिकरण



रूप गुण में रहनेवाला जो 'गुणे द्रव्यत्वं न' गुण पर द्रव्यत्व नहीं इत्याकारक जो भेद, उस भेद का प्रतियोगित्व द्रव्यत्व में होगा, गुण, कर्म में नहीं। तो द्रव्यत्व-रूप व्याप्त-सत्ता से शून्य गुण, कर्मादि हो गये। अतः गुण-कर्म आदि में अव्याप्ति नहीं होगी। सब का तात्पर्य यह हुआ कि भेदगर्भितव्याप्ति को मानने से गुण-कर्म में अव्याप्ति नहीं हो पाती। किन्तु सत्ता का व्याप्य द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अन्य तरत्वरूप अखण्डोपाधिधर्म भी है, उससे शून्य गुणादि नहीं है। इस कारण लक्षण की अव्याप्ति तो बनी ही रहेगी, तो उनके निवारणार्थ 'जाति' पद दिया गया है। 'अभाव' में अतिव्याप्ति को हटाने के लिये 'भावत्व' पद दिया गया है। गुणवाले ( द्रव्य ) में रहनेवाली सत्ता की व्याप्य जाति 'द्रव्यत्व' है, उससे शून्यत्व अर्थात् 'द्रव्यत्व-रहितत्व साधर्म्य' गुणादि पाँचों में है ॥ १४ ॥

**सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः ।**

सामान्येति। सामान्यानधिकरणत्वं सामान्यादीनामित्यर्थः।

॥ इति सामान्यादिपदार्थचतुष्टयसाधर्म्यकथनम् ॥

सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सभी सामान्य ( जाति ) से हीन हैं, अर्थात् इन पर 'समवाय' सम्बन्ध से सामान्य ( जाति ) नहीं रहता[1]। अर्थात् सामान्यादि सब पदार्थों का 'सामान्यशून्यत्व' समान-धर्म ( साधर्म्य ) है।

शंका—सामान्य ( जाति ) आदि पर भी 'एकार्थसमवायसम्बन्ध'[2] से सामान्य

( १ ) द्रव्य, गुण, कर्म ये तीन पदार्थ, साधारण प्रतीति के विषय हैं, किन्तु सामान्य विशेष, समवाय और अभाव ये चार पदार्थ, साधारण प्रतीति के गोचर नहीं। इस कारण ये चार पदार्थ कल्पित हैं। क्योंकि द्रव्य, गुण तथा कर्म इन क्लृप्त पदार्थों के ये स्वरूप हैं। जिसकी कल्पना नहीं की जाति उसको 'क्लृप्त' कहते हैं, और जिसकी कल्पना करते हैं, उसको 'कल्पित' पदार्थ कहते हैं। क्लृप्त पदार्थों में 'जाति' स्वीकार की जाति है। कल्पित पदार्थ में 'जाति' स्वीकार करने के समय पूर्वोक्त के अभेदादि अनेक दोष आते हैं जो 'जाति' के प्रतिबन्धक होते हैं।

( २ ) एकस्मिन् अर्थे समवायेन सत्त्वमेकार्थसमवायः। जैसे—'एकं रूपम्' इस प्रतीति में गुणस्वरूप 'रूप' में 'गुणे गुणानङ्गीकारात्' नियम के अनुसार उसके निर्गुण रहने पर भी एकत्वसंख्यारूप गुण का भान होता है। यद्यपि रूप में एकत्व-संख्या समवायसम्बन्ध से नहीं रहती, तथापि एकार्थसमवायसम्बन्ध से तो रहती ही है। अर्थात् जिस घट आदि में 'रूप' समवायसम्बन्ध से रहता है, उसी घट आदि में 'एकत्व' संख्या भी समवायसम्बन्ध से रहती है। इस कारण 'रूप' और 'एकत्व' का एकार्थसमवायसम्बन्ध हुआ। तथापि इस सम्बन्ध को 'रूप' में एकत्व-निरूपित अधिकरणता का नियामक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जैसे घट में रूप के साथ रूपत्व 'स्वसमवायसमवेतत्व' सम्बन्ध से रहता है, वैसे यह नहीं है।

( जाति ) रहता ही है, तब उन्हें ( सामान्य आदि को ) सामान्य से हीन क्यों कहा जा रहा है, अर्थात् सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव पर जातिरूप धर्म नहीं है यह कैसे स्वीकार किया जाय ?

**समा०**—यद्यपि 'एकार्थसमवाय-सम्बन्ध से सामान्यादि पदार्थों पर जाति ( सामान्य ) रूप धर्म रहता है जिससे सामान्यादि पदार्थों को भी सामान्यवान् ( जातिमान् ) कहा जा सकता है, तथापि उनमें सामान्यनिरूपिता अधिकरणता नहीं है। क्योंकि 'एकार्थसमवायसम्बन्ध' अधिकरणता का नियामक सम्बन्ध नहीं है। इसी अभिप्राय से सामान्यपरिहीनत्व का परिष्कृत स्वरूप 'सामान्यानधिकरणत्व' बताया है।

॥ इति सामान्यादिपदार्थचतुष्टयसाधर्म्यकथनम् ॥

## पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम् ॥ १५ ॥

अणुपरिमाण तथा परम महत्परिमाण से भिन्नों का अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभाव—इन पदार्थों में 'कारणत्व' साधर्म्य है।

**परिमाण्डल्येति पारिमाण्डल्यमणुपरिमाणं, कारणत्वं तद्भिन्नानां साधर्म्यमित्यर्थः। अणुपरिमाणं तु न कस्यापि कारणम्। तद्धि स्वाश्रयारब्ध-द्रव्यपरिमाणारम्भकं भवेत्। तच्च न सम्भवति, परिमाणस्य स्वसमानजातीय-स्वोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमान्महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुतरत्व-प्रसङ्गात्। एवं परममहत्परिमाणमतीन्द्रियसामान्यं विशेषाश्च बोध्याः।**

'पारिमाण्डल्य' का अर्थ अणुपरिमाण है[1]। पारिमाडल्य ( अणुपरिमाण ) से भिन्न पदार्थों का 'कारणतारूप' समानधर्म है। 'पारिमाण्डल्य' शब्द द्व्यणुकपरिमाण का भी उपलक्षक है। जैसे परमाणुपरिमाण किसी भाव कार्य के प्रति कारण नहीं होता, वैसे ही द्व्यणुकपरिमाण, मन का परिमाण तथा आकाश, काल दिशा का परम महत्परिमाण और इन्द्रियों से अगोचर-परमाणु आदि और जाति तथा विशेष ये सब किसी कार्य के प्रति कारण नहीं होते। पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि पदार्थों के बिना बाकी सब पदार्थ किसी न किसी कार्य के प्रति कारण होते ही हैं[2]। तात्पर्य यह है कि सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव इन चारों का 'सामान्यपरिहीनत्व' ( सामान्य-शून्यत्व ) साधर्म्य है, तथा परिमाण्डल्य ( अणुपरिमाण ) एवं द्व्यणुक-परिमाण और मन का परिमाण इन सबसे भिन्न परिमाणवाले पदार्थों का 'कारणत्व' साधर्म्य है।

**शंका०**—किसी कार्य के प्रति 'अणुपरिमाण' को कारण क्यों नहीं माना जाता ?

**समा०**—'अणुपरिमाण' को यदि कारण माना जाय तो स्वाश्रय से आरब्ध ( उत्पन्न ) हुए द्रव्य के परिमाण का उसे आरंभक कहना होगा यहाँ 'स्व' पद से परमाणु के अणुपरिमाण का ग्रहण करना है। तब 'स्वाश्रय' का अर्थ होगा—'स्व' = परमाणु के अणुपरिमाण का आश्रय = परमाणु, उससे आरब्ध = उत्पन्न जो 'द्व्यणुक द्रव्य', उसके परिमाण का आरंभक ( उत्पादक ) अणुपरिमाण को ही कहना होगा, परन्तु वह संभव नहीं होगा, क्योंकि परिमाण का यह स्वभाव है है कि वह अपने 'सजातीय उत्कृष्ट परिमाण का जनक होता है।[1] उत्कृष्टता 'तरप्' 'तमप्' प्रत्ययप्रयुक्त होती है। जैसे—कपाल के महत्परिमाण से आरब्ध हुए घट का परिमाण महत्तर होता है। वैसे ही परमाणु के अणुपरिमाण से उत्पन्न द्व्यणुक का परिमाण 'अणुतर' होगा। और द्व्यणुक के अणुतर परिमाण से उत्पन्न जो त्र्यणुक[2] का परिमाण होगा, वह 'अणुतम' हो जायगा, तब 'त्र्यणुक' का प्रत्यक्ष न होगा, उससे होनेवाले 'घट' का भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। उसी प्रकार परममहत्परिमाण, अतीन्द्रियसामान्य[3] और विशेष[4] ये भी किसी कार्य के प्रति कारण नहीं होते।

---

( १ ) परमाणु तथा द्व्यणुक के परिमाण का नाम 'अणुपरिमाण' है।

( २ ) अणुपरिमाण आदि पदार्थों के बिना बाकी सब पदार्थ किसी न किसी कार्य के प्रति कारण होते ही हैं। इस कारण अणुपरिमाण आदि पदार्थों के बिना बाकी के सब पदार्थों का 'कारणत्व' साधर्म्य है। पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि कारण नहीं होते इसमें युक्ति यह है कि अवयवों का परिमाण अवयवी के परिमाण के कारण होता है। जैसे तन्तु—( अवयव ) के परिमाण से पट ( अवयवी ) का परिमाण उत्पन्न होता है, अतः तन्तु का परिमाण पट के परिमाण के प्रति कारण होता है। और अवयवी का परिमाण ( पट का परिमाण ) अवयव ( तन्तु ) के परिमाण की अपेक्षा उत्कृष्ट ( स्वरूपादि से श्रेष्ठ ) रहता है, यह अनुभवसिद्ध है। यदि परमाणुपरिमाण द्व्यणुक के परिमाण के प्रति तथा द्व्यणुक का परिमाण त्र्यणुक के परिमाण के प्रति कारण हो जायगा तो जैसे तन्तुपरिमाण की अपेक्षा पट का परिमाण उत्कृष्ट ( बड़ा ) है, वैसे ही उस परमाणुपरिमाण की अपेक्षा द्व्यणुकपरिमाण तथा द्व्यणुकपरिमाण की अपेक्षा त्र्यणुकपरिमाण उत्कृष्ट ( अणुतर ) होने लगेगा। उसी प्रकार आकाश, काल, दिक् का महत्-परिमाण भी किसी वस्तु के परिमाण के प्रति कारण नहीं माना जाता। यदि कारण मान लें तो उस आकाश आदि से अधिक विभु ( व्यापक किंवा बड़ी ) ऐसी कोई वस्तु नहीं है, किन्तु अब ऐसी वस्तु होने लगेगी। परन्तु परमाणु से अणु ( सूक्ष्म ) वस्तु तथा आकाशादि से बड़ी कोई भी वस्तु सम्भव नहीं हो सकती। इस कारण पूर्वोक्त परिमाण किसी कार्य के प्रति कारण नहीं है। किन्तु परमाणुगत द्वित्वसंख्या ही द्व्यणुक का कारण है।

( १ ) 'परिमाणं स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणं जनयती'ति नैयायिकसिद्धान्तः।

( २ ) 'त्रिभिर्द्व्यणुकैरेकं त्र्यणुकमारभ्यते इति' न्यायसिद्धान्तः।

( ३ ) परमाण्वादिनिष्ठं परमाणुत्वादिकमतीन्द्रियसामान्यम्।

( ४ ) स्वतोव्यावृत्तो विशेषपदार्थः।

कार्य के प्रति कारण नहीं होते हैं यह समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि परिमाण्डल्य के समान इनका भी 'अकारणत्व' साधर्म्य है। यह कथन योगिप्रत्यक्ष में विषय को कारण न मानकर ही किया गया है। किन्तु वादी इस रहस्य को न समझकर शंका कर रहा है।

**शंका०**—योगियों को अपने योगबल से परमाणु का तथा आकाश, काल आदि का प्रत्यक्ष होता है तो परमाणु के अणुपरिमाण का तथा आकाश आदि के परम महत्परिमाण का भी प्रत्यक्ष अवश्य होता होगा। 'विषय के प्रत्यक्ष के प्रति 'विषय' कारण होता है।' इस नियम के अनुसार अणुपरिमाण विषयक प्रत्यक्ष एवं परम-महत्परिमाण-विषयक प्रत्यक्ष के प्रति उस प्रत्यक्ष का विषय जो 'अणुपरिमाण' और 'परम-महत्परिमाण'—उनको 'प्रत्यक्ष' के प्रति विषयविधया कारणता बन जायगी। तब कैसे समझा जाय कि 'अणुपरिमाण' और परम-'महत्परिमाण' किसी भी कार्य के प्रति कारण नहीं हैं।[1] अन्यथा जैसे परमाणु-परिमाण किसी का कारण नहीं वैसे ही काल-दिङ्निष्ठ परममहत्परिमाण, परमाण्वादि पर रहनेवाली परमाणुत्वादि अतीन्द्रियजाति और स्वतोव्यावृत्तात्मक विशेष-पदार्थ ये भी किसी के कारण नहीं होंगे। अतः अणुपरिमाण और परममहत्परिमाण में प्रत्यक्ष के प्रति विषयविधया कारणता हो सकती है।

**इदमपि योगिप्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वम्। ज्ञायमानं सामान्यं न प्रत्यासत्तिः। ज्ञायमानं लिङ्गं नानुमितिकरणमित्यभिप्रायेणोक्तम्। आत्ममानसप्रत्यक्षे आत्मपरममहत्त्वस्य कारणत्वात् परममहत्परिमाणं कालादेर्बोध्यम्।**

**तस्यापि न कारणत्वमित्याचार्याणामाशय इत्यन्ये। तन्न, ज्ञानातिरिक्तं प्रत्येवाकारणताया आचार्यैरुक्तत्वात्॥ १९॥**

॥ इति पारिमाण्डल्यभिन्नपदार्थसाधर्म्यकथनम्॥

( १ ) **शंका**—'विषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन विषयस्य कारणत्वम्' इस नियम के अनुसार योगजसन्निकर्ष से योगिप्रत्यक्ष में विषय को कारण माननेवाले के मत में—योगजसन्निकर्ष से पारिमाण्डल्य के प्रत्यक्ष में पारिमाण्डल्य, परममहत्त्व के प्रत्यक्ष में परममहत्त्व, अतीन्द्रियपरमाणुत्व-गुरुत्वादि जाति के प्रत्यक्ष में परमाणुत्व, गुरुत्व, विशेषपदार्थ के प्रत्यक्ष में **विशेष** को विषयविधया कारणत्व होता है। 'अणुपरिमाण आदि कारण नहीं होते' यह मानना उचित नहीं है, क्योंकि सर्वत्र प्रत्यक्ष के प्रति प्रत्यक्ष का विषय ही कारण होता है। जैसे—घट-प्रत्यक्ष के प्रति 'घट' ही कारण होता है। वैसे ही योगिजनों के योगाभ्यास के बल से अतीन्द्रिय वस्तु भी ( परमाणु आदि उसका परिमाण ) प्रत्यक्ष का कारण होती है। तत्तत् प्रत्यक्ष के प्रति तत्तत् प्रत्यक्ष का तत्तत् विषय ( परमाणु आदि ) तथा उसका परिमाण कारण होता है। अतः पारिमाण्डल्य आदि में अकारणत्व कहना उचित नहीं है।



**समा०**—पारिमाण्डल्य ( अणुपरिमाण आदि ) से भिन्न पदार्थों को कार्य के प्रति कारणता जो बताई गई है, वह नवीन नैयायिकों के अभिप्राय से ही बताई है। नवीन नैयायिक योगी के प्रत्यक्षज्ञान में विषय को कारण नहीं मानते। जैसे 'प्रभा' सूर्योदय के होने में पूर्वलिङ्ग ( पूर्वचिह्न ) है, उसी तरह प्रसंख्यान का पूर्वलिङ्ग 'प्रातिभज्ञान' है। अपनी प्रतिभा से उत्पन्न अनौपदेशिक ज्ञान को 'प्रातिभज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान के द्वारा योगी सब कुछ करतलामलकवत् जानता है। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने भी "प्रातिभाद्वा सर्वम्" ( यो० सू० ३।३३ ) सूत्र से यही बताया है कि योगी अपनी समाधिभावना के प्रकर्ष से अतीत, अनागत, दूरस्थ सभी वस्तुओं को प्रत्यक्ष करने में समर्थ रहता है। योगजधर्मप्रत्यासत्ति के द्वारा होने वाले योगियों के इस अतीतादि पदार्थ-विषयक साक्षात्कार ( प्रत्यक्ष ) में जैसे विषय के अस्तित्व ( सत्ता ) की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही परमाणु-परिणाम आदि वर्तमान विषयों के साक्षात्कार ( प्रत्यक्ष ) में भी विषय की सत्ता ( अस्तित्व ) का होना आवश्यक नहीं है, अर्थात् योगियों का प्रत्यक्ष विषयसत्तानिरपेक्ष हुआ करता है। अतः इस प्रकार के योगि-प्रत्यक्ष में परमाणुपरिमाण को, विषयविधया कारणता नहीं है, अर्थात् परमाणुपरिमाण उसके प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता।

**शंका**—योगियों के प्रत्यक्ष ज्ञान में परिमाणुपरिमाण भले ही विषयविधया कारण न हो, किन्तु सामान्यलक्षणा[1] से होनेवाले ज्ञान में और अनुमिति में परमाणुपरिमाण को कारणता रहती ही है, इस कारण पुनरपि 'पारिमाण्डल्यभिन्नानाम्' यह कथन असंगत ही रहा।

**समा०**—उक्त आशंका के समाधानार्थ 'ज्ञायमानं सामान्यम्' इत्यादि ग्रन्थ दिया जा रहा है।[2] वर्तमानकाल का जो ज्ञान, उस ज्ञान का विषयभूत जो सामान्य,

( १ ) 'सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति' के बल पर ( गोमात्र को गोत्वस्वरूप जान लेना इस प्रकार जाति के बल पर ) जातिमान् सर्वगोविषयक अलौकिक प्रत्यक्ष ( नहीं देखी हुई भी गौओं का प्रत्यक्ष ) जैसे होता है, वैसे ही इन्द्रियों से अगोचर ( अविषय ) परमाणु आदि का उनकी जाति के सहित ज्ञान योगिजनों को अपने योगाभ्यास के बल से होकर उस जाति के योग से तत्तत् जातिमान् परमाणु आदि का प्रत्यक्ष होता है। इस कारण प्रत्यक्ष के प्रति अतीन्द्रिय-जाति भी कारण होती है।

( २ ) 'सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से प्रत्यक्ष होता है', यह कहना तो ठीक है, परन्तु उसका तात्पर्य यह है कि सामान्य ( जाति ) का ज्ञान ही उस प्रत्यक्ष के प्रति कारण है, 'सामान्य' ( जाति ) कारण नहीं है। तात्पर्य यह है कि केवल लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति ही ( पाँच प्रकार के सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष के प्रति ) 'विषय' कारण होता है। परन्तु योगी के प्रत्यक्ष के प्रति ( अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति ) विषय को कारण कहना स्वीकार नहीं है। यदि स्वीकार करें तो योगि-

उसे 'ज्ञायमानसामान्य' कहते हैं। उसी प्रकार वर्तमानकालिकज्ञान का विषयभूत जो लिङ्ग ( हेतु ) उसे 'ज्ञायमानलिङ्ग' कहते हैं। नवीन नैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि 'विशेष' पदार्थ पृथिव्यादिपरमाणुओं का भेदक नहीं है, अपितु 'विशेष' का ज्ञान उन परमाणुओं का भेदक है। उसी प्रकार 'ज्ञायमानसामान्य' प्रत्यासत्ति ( अलौकिकसन्निकर्ष ) नहीं है, किन्तु सामान्यज्ञानमात्र[1] सामान्य-

---

के योगाभ्यास से भूत, भविष्यत् सब पदार्थ, विषय के सहित उन्हें प्रत्यक्ष होते हैं सो बात नहीं, क्योंकि उस प्रत्यक्ष के समय उस प्रत्यक्ष के प्रति उसे कारण कहें तो जो भूत, भविष्यत् पदार्थरूप विषय, जिनका होना वर्तमान में सम्भव ही नहीं है, उनके न रहने पर भी उन्हें कारण नहीं कहा जा सकता। अतः योगी के प्रत्यक्ष के प्रति विषय कारण नहीं है। इसी अभिप्राय से उक्त चारों में अकारणत्व बताया गया है। अतः पारिमाडल्य आदि में अकारणत्व प्रतिपादक ग्रन्थ अनुचित नहीं है।

प्राचीनों के मत में ज्ञात हुआ ( जाना हुआ ) हेतु अनुमिति के प्रति कारण होता है। ( नवीनों के मत में हेतु का ज्ञान कारण होता है )। प्राचीनों के अनुसार उदाहरण—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में ( पर्वतस्वरूपी पक्ष में धूमस्वरूपी हेतु से अग्निस्वरूपी साध्य साधा जाता है ) धूम उस अनुमिति के प्रति कारण है। उसी प्रकार यदि हम 'अणुपरिमाण' को हेतु बनाकर प्राचीन मत को प्रमाण कहें तो अणुपरिमाण, अनुमिति के प्रति कारण हो जायगा। इसलिए पूर्वोक्त 'अणुपरिमाण आदि कारण नहीं होते' यह मानना उचित नहीं है।

( १ ) ज्ञायमानसामान्य को अलौकिक प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष के रूप में कारण ( प्रयोजक ) माननेवाले के अनुसार परमाणुत्वेन सकलपरमाणुविषयक मानस-प्रत्यक्ष में अतीन्द्रियपरमाणु जाति ( सामान्य ) को भी परमाणुत्वसामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति ( सन्निकर्ष ) द्वारा कारण माना जाता है। 'सामान्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'समानानां भावः सामान्यम्' के अनुसार 'सामान्य' शब्द से पारिमाण्डल्य ( अणुपरिमाण ) का भी ग्रहण होता है। अतः 'परमाणुः अणुपरिमाणवान्' यह ज्ञान होने के पश्चात् 'सर्वे परमाणवः अणुपरिमाणवन्तः' इत्याकारक अलौकिक परमाणु-परिमाणविषयक प्रत्यक्ष 'सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति' से हो जाता है, क्योंकि अलौकिकसम्बन्ध से परमाणु-परिमाण कारण होता है। इसी प्रकार 'सर्वगतः आत्मा परममहत्वपरिमाणवान्' यह प्रत्यक्ष होने के पश्चात् 'सर्वे सर्वगताः कालादयः परममहत्परिमाणवन्तः' यह अलौकिक मानसप्रत्यक्ष 'सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति' से होता है। क्योंकि वहाँ अलौकिकसम्बन्धरूपेण परममहत्परिमाण को कारणता है। इसी प्रकार 'नित्यद्रव्यं विशेषवत्' यह ज्ञान होने के बाद 'सर्वाणि नित्यद्रव्याणि विशेषवन्ति' यह अलौकिक विशेषविषयक प्रत्यक्ष, 'सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति' से होता है। क्योंकि अलौकिकसम्बन्ध से वहाँ 'विशेष' पदार्थ कारण के रूप में रहता है।



लक्षणाप्रत्यासत्ति है। उसी प्रकार ज्ञायमान-लिङ्ग, अनुमिति का कारण नहीं, किन्तु लिङ्गज्ञानमात्र ही अनुमिति का कारण ( हेतु ) है।[1]

प्राचीन नैयायिक, परमाणुपरिमाण को भी योगिप्रत्यक्ष में विषयविधया कारण मानते हैं तदनुसार 'परमाणुः अणुपरिमाणवान्' इत्याकारकज्ञान होने के अनन्तर 'सर्वे परमाणवः अणुपरिमाणवन्तः' इत्याकारक परमाणुपरिमाण-विषयक अलौकिक प्रत्यक्ष, सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से होता है। इस अलौकिक-सम्बन्ध से परमाणुपरिमाण भी प्रत्यक्ष का कारण बन जाता है। दूसरी बात यह है कि 'परमाणुः द्रव्यम् अणुपरिमाणात्' इस अनुमति में अणुपरिमाण की कारणता स्पष्ट ही है। अतः मूलकार ने अणुपरिमाण की कारणता का जो निषेध किया है वह नवीनों की दृष्टि से ही किया है।

"आत्ममानस" इति। 'सुखी अहम्, दुःखी अहम्, ज्ञानवानहम्, इच्छावानहम्' इत्याकारक आत्मविषयक मानसप्रत्यक्ष में आत्मा के परमहत्परिमाण की भी कारणता स्पष्ट प्रतीत होती है, क्योंकि 'द्रव्यीयलौकिकप्रत्यक्षं प्रति समवायेन महत्त्वं कारणम्'—किसी द्रव्य के लौकिक प्रत्यक्ष में 'महत्त्व' को समवायसम्बन्ध से कारणता मानी जाती है। इस नियम के अनुसार आत्मनिष्ठ परममहत्परिमाण को छोड़कर आकाशादिनिष्ठ परममहत्परिमाण को कारण नहीं माना जाता। अर्थात् कारणताशून्य परममहत्परिमाण आकाशादिकों का ही समझना चाहिए। कतिपय नैयायिक उदयनाचार्य के आशय को अपनी बुद्धि के अनुसार लगाकर आत्मा के महत्परिमाण को भी कारण नहीं मानते। किन्तु यह उनका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान के अतिरिक्त कार्यों के प्रति आत्ममहत् परिमाण की कारणता के निषेध में ही उदयनाचार्य का आशय है अर्थात् आत्मवृत्ति परममहत्परिमाण, ज्ञान के प्रति कारण होता है, ज्ञान-भिन्न ( ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कार्यों ) के प्रति कारण नहीं होता।[2]

---

( १ ) 'ज्ञायमान हेतु ( ज्ञायमान लिंग ) अनुमिति के प्रति कारण नहीं होता, अपितु उस 'हेतु का ज्ञान' ( लिंग ज्ञान ) ही अनुमिति के प्रति कारण होता है। इसलिए पूर्वोक्त परमाणु आदि जो कहे हैं, वे किसी भी कार्य के प्रति कारण नहीं होते। इनके अतिरिक्त सभी पदार्थ कारण होते हैं यह स्पष्ट हो जाता है। एवं च पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि के बिना बाकी सभी पदार्थों का 'कारणत्व' ही साधर्म्य है।

( २ ) यद्यपि महत्-परिमाणों में आत्मा का महत्परिमाणमात्र ( 'ज्ञानवाहनम्, इच्छावाहनम्' ) इस आत्मविषयक मानस प्रत्यक्ष के प्रति कारण होता ही है, क्योंकि 'द्रव्यीयलौकिकप्रत्यक्षम्प्रति समवायेन महत्त्वं कारणम्' यह नियम है। इसलिये आत्मा के परम-महत्परिमाण को छोड़कर आकाशादि निष्ठ परम-महत्परिमाण में किसी के प्रति कारणता नहीं होनी चाहिये। तथापि इस विषय में कुछ विद्वान् नैयायिक—श्रीमदुदयनाचार्य के ग्रन्थ 'कारणत्वं च ज्ञातृधर्मेतर-

**अन्यथासिद्धशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता ।**
**कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्य परिकीर्तितम् ॥१६॥**
**समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् ।**
**एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम् ॥१७॥**
**यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनक तत् ।**
**तत्रासन्नं जनक द्वितीयमायां परं तृतीयं स्यात् ॥१८॥**

अन्यथासिद्धिशून्यस्य = अन्य प्रकार से जिसकी सिद्धि नहीं होती। नियता=अवश्यंभाविनी। पूर्ववर्तिता=कार्य के पूर्व जो हो उसे पूर्ववर्ती कहते

---

कार्यपेक्षया' का ऐसा अभिप्राय निकालते हैं कि ज्ञान को छोड़कर ( ज्ञानातिरिक्त ) अन्य किसी कार्य के प्रति पूर्वोक्त अणुपरिमाण आदि कारण नहीं होते'। तथा 'आत्मा का परममहत्परिमाण भी किसी कार्य के प्रति कारण नहीं है' किन्तु वे इस ग्रन्थ को नहीं समझ पाते। उस ग्रन्थ को इस प्रकार समझना चाहिये— 'ज्ञान के प्रति ( मानस प्रत्यक्ष के प्रति ) आत्मा का परिमाणमात्र कारण होता है' ऐसा आचार्य का अभिप्राय है। पूर्वोक्त 'कारणत्वं ज्ञातृधर्मेतरकार्यापेक्षं' इस ग्रन्थ का अर्थ अन्य आचार्यों के मत में अणुपरिमाण आदि सभी, ज्ञान के प्रति कारण होते हैं, किन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि आत्मा का परममहत्परिमाणमात्र ज्ञान के प्रति कारण होता है, ज्ञान के अतिरिक्त में कारण नहीं होता यह आचार्य का आशय है।

( २ ) 'अन्यथासिद्धिशून्यस्य' यहाँ 'षष्ठी' विभक्ति का अर्थ 'निष्ठत्व' है। इसलिए 'कारणत्व' के लक्षण को इस प्रकार कहना होगा—'अन्यथासिद्धिशून्य—निष्ठा या अवश्यंभाविनी पूर्ववर्तिता अर्थात् कार्योत्पत्त्यव्यवहिते पूर्वस्मिन् क्षणे कार्याधिकारणवृत्तिता, तदेव कारणत्वम्'। कर्योत्पत्ति से अव्यवहित पूर्ववर्तिता तो कदाचित् आनेवाले रासभ ( गधा ) में भी हो सकती है, तो उसे भी घटोत्पत्ति में कारण कहना होगा। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ कारिका में 'नियता' कहा गया है। किन्तु यह नियत पूर्ववर्तिता 'दण्डत्व' में भी रहती है। दण्ड की तरह 'दण्डत्व' भी नियमेन घटादिकार्योत्पत्ति के पूर्ववर्ती रहता है। अतः 'दण्डत्व' में 'कारण' के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ कारिका में 'अन्यथासिद्धिशून्यस्य' कहा गया है। एवं च 'कारणत्व' का परिष्कृत लक्षण यह हुआ—'अनन्यथासिद्धिनियतपूर्ववर्तित्वं कारणत्वम्'। इस लक्षण के अनुसार 'दण्ड' घट के प्रति कारण है। न्याय की भाषा में इसी लक्षण को इस प्रकार कह सकते हैं—'अनन्यथासिद्धकार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वं कारणत्वम्'।



हैं और उसके धर्म को 'पूर्ववर्तिता' कहते हैं। कार्य के पूर्व केवल 'कारण' वर्तमान रहता है, अतः 'पूर्ववर्तिता' का अर्थ हुआ 'कारणता'। समवेतम्=समवायसम्बन्ध से वर्तमान। ( जैसे—'अयवयी' का 'अवयवों में स्थित जो सम्बन्ध वह 'समवाय' सम्बन्ध है, ) तत्र=समवायिकारण में आसन्नम्=सम्बद्ध ( समवायसम्बन्ध से स्थित )। द्वितीयम्=असमवायिकारण। जनकम्=कारण। आभ्यां परम्=इन दो को छोड़ अर्थात् समवायिकारण तथा असमवायिकारण से अन्य। तृतीयम्=निमित्तकारण।

जो अन्यथासिद्धि से शून्य हो अर्थात् जिससे होनेवाला कार्य किसी अन्य प्रकार से न हो सके। और कार्योत्पत्ति के पूर्व जो नियम से रहनेवाला हो, उसे 'कारण' कहते हैं। वह कारण तीन प्रकार का है॥ १६॥

प्रथम का नाम 'समवायिकारण' है, द्वितीय का नाम 'असमवायिकारण' है, और तृतीय का नाम न्यायशास्त्र के विद्वानों ने 'निमित्तकारण' बताया है॥१७॥

जिसमें समवायसम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो उसे 'समवायिकारण' कहते हैं।[1] उस समवायिकारण में समवेत होकर जो कार्य को पैदा करनेवाला हो, उसे असमवायिकारण कहते हैं।[2] इन दोनों कारणों से भिन्न जो कारण है, उसे

---

( १ ) यस्मिन् समवेतम्=यत्समवेतम्। अर्थात् यस्मिन् समवेतम्=समवायसम्बन्धेन वर्तमानं सत् कार्यमुत्पद्यते, तत्समवायिजनकं=समवायिकारणं ज्ञातव्यम्।

एवं च—'समवायसम्बन्धेन कार्यवत्त्वं समवायिकारणत्वम्। जैसे—तन्तुओं में समवायसम्बन्ध से ही पट की उत्पत्ति होती है, इसलिए तन्तु 'पट के समवायिकारण' कहे जाते हैं।

( २ ) समवायि-कारण में आसन्न=सन्निहित जो कारण उसे 'असमवायिकारण' कहते हैं। असमवायिकारण दो प्रकार का है। पहला, घट पटादि कार्य के साथ एक तन्तुरूप अर्थ में समवायसन्बन्ध से रहता हुआ जो कारण बने, वह पहले प्रकार का असमवायिकारण है। जैसे—घटादिरूप कार्य समवायसम्बन्ध से 'दो कपालों' में रहता है और उसी में 'कपालद्वयसंयोग' भी समवाय से रहता है, क्योंकि 'गुण-गुणिनोः समवायः' यह नियम है। अतः जन्यद्रव्य के प्रति अवयवसंयोग को असमवायिकारण कहा गया है। दूसरे प्रकार का असमवायिकारण—जो कारण अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक अर्थ में समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध होकर कारण होता है, उसे भी असमवायिकारण कहते हैं। जैसे 'पटरूप' के प्रति तन्तुरूप 'असमवायिकारण' होता है। 'तन्तुरूप' का कार्य 'पटरूप' है, उसका 'समवायिकारण' पट है, वह समवाय-सम्बन्ध से 'तन्तुओं' में रहता है और वहीं पर 'तन्तुरूप' भी समवायसम्बन्ध से रहता है, इसलिये पटरूप के प्रति तन्तुरूप को ससमवायिकारण कहा जाता है।

निमित्तकारण कहते हैं[१] ॥ १८ ॥

ननु कारणत्वं किम् ? अत आह—अन्यथासिद्धीति ।

तस्य कारणत्वस्य ॥१६-१७ ॥

इति प्रासङ्गिककारणत्वनिरूपणम् ।

—०—

तत्रेति । समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीयमसमवायिकारण-मित्यर्थः ।[२]

अत्र यद्यपि तुरीतन्तुसंयोगानां पटासमवायिकारणत्वं स्यात् । एवं वेगादीनामभिघाताद्यसमवायिकारणत्वं स्यात् । एवं नानादिकमपीच्छाद्यसमवायिकारणं स्यात् । तथापि पटासमवायिकारणलक्षणे तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वं देयम् । तुरीतन्तु-संयोगस्तु तुरीपटसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणं भवत्येव । एवं वेगादि कमपि वेग-स्पन्दाद्यसमवायिकारणं भवत्येवेति तत्तत्कार्यासमवायिकारणलक्षणे यत्तद्भिन्नत्वं देयम् । आत्मविशेषगुणानां तु कुत्राप्यसमवायिकारणत्वं नास्ति तेन तद्भिन्नत्वं सामान्यलक्षणे देयमेव ।

---

( १ ) जो जिस कार्य की उत्पत्ति से पहिले नियम से रहता हो, और अन्यथा सिद्ध नहीं हो, ( जो आवश्यक हो ) वह उस कार्य के प्रति कारण होता है । यह कारण, समवायिकारण, असमवायिकारण तथा निमित्तकारण के भेद से तीन प्रकार का है । कार्यमात्र के ये ही तीन कारण होते हैं । जैसे—'घट' एक कार्य है, उसका निमित्तिकारण 'दण्ड' 'कुलाल' प्रभृति है, 'कपाल' 'कपालिका' ये समवायिकारण हैं, और 'कपाल कपालिका का संयोग' असमवायि-कारण है । कहीं कहीं समवायिकारण के नाश होने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है । जैसे—'कपालद्वय' के नाश से 'घट' का नाश होता है । कहीं कहीं 'असमवायिकारण' के भी नाश । होने पर कार्य नष्ट हो जाता है । जैसे—परमाणु-द्वयसंयोग के नाश से द्वयणुक का नाश । परन्तु निमित्तकारण के नाश होने से कभी भी कार्य का नाश नहीं होता । साधारण तथा असाधारण भेद से पुनः 'कारण' दो प्रकार है । 'कपाल' और 'कपालिका' का संयोग तथा कुलालादि ये 'घट' के असाधारण कारण है । और ईश्वर का ज्ञान, इच्छा, यत्न, काल, प्राग-भाव, अदृष्ट, ये कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण हैं । उन तीनों में से समवायि-कारण का लक्षण इस प्रकार बताया गया है जिस द्रव्य में जो कार्य समवाय-सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, वह द्रव्य, उस कार्य के प्रति समवायिकारण होता है ।

( २ ) असमवायिकारण का लक्षण— आत्मा के विशेष संज्ञक गुण के बिना बाकी जो कोई गुण किंवा कर्म, जिस कार्य के साथ अथवा जिस कार्य के समवायिकारण के साथ किसी एक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहकर जो कार्य उत्पन्न करे, वह गुण किंवा कर्म, उस कार्य के प्रति असमवायिकारण होता है ।



पञ्चदशवीं ( १५ वीं ) कारिका में 'कारणत्वमुदाहृतम्' कहा गया था । अतः 'कारणत्व' ( कारणता ) पदार्थ क्या है ? यह जिज्ञासा होती है, उसके समाधानार्थ ग्रन्थकार स्वयं 'अन्यथासिद्धि' इत्यादि ग्रन्थ से 'असवायिकारण' के लक्षण पर आक्षेप कर रहे हैं—यद्यपि यहाँ 'असमवायिकारण के लक्षणानुसार 'तुरीतन्तु संयोग' को पट का असमवायिकारण होना चाहिये । क्योंकि तुरी 'तन्तु' संयोग, पट के समवायिकारणभूत तन्तुओं में रहता है, और पट का कारण भी है ।[१]

**शंका**—वेग, अभिघाताख्य संयोग का असमवायिकारण हो जायेगा । क्योंकि 'वेग' अभिघाताख्य संयोग के समवायिकारण में समवायसम्बन्ध से रहता है और अभिघात का कारण भी है । जिस द्रव्य में वेग उत्पन्न होगा, वह वेग उसी द्रव्य में अभिघाताख्य संयोग को उत्पन्न करेगा । और स्पर्श, नोदनाख्य संयोग का असमवायिकारण हो जायगा । तथा ज्ञान, 'इच्छा' का और 'इच्छा' प्रवृत्ति की भी असमवायिकारण हो जायगी क्योंकि ज्ञान, इच्छा के समवायिकारणस्वरूप 'आत्मा' में समवायसम्बन्ध से रहता है और इच्छा का कारण भी है, क्योंकि ज्ञान होने पर ही इच्छा होती है । यहाँ 'आदि' पद 'प्रयत्न' का भी संग्राहक है । किन्तु यह ध्यान में रखना होगा कि 'आत्मा' के विशेषगुण किसी के भी असमवायिकारण नहीं होते । अतः उपर्युक्त असमवायिकारण के लक्षण की उपर्युक्त तत्तत् स्थलों में अति-व्याप्ति होने लगेगी । अर्थात् पट के असमवायिकारण-लक्षण की तुरी तन्तु संयोग में अतिव्याप्ति और अभिघात के असमवायिकारणलक्षण की वेग में अतिव्याप्ति होगी ।

**समाधान**—तत्तत् कार्यों के असमवायिकारण-लक्षणों में 'तत्तद्भिन्नत्व' विशेषण देना चाहिये । लक्षण का आकार इस प्रकार होगा—'तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वे सति पट समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वे सति ( तन्तुसमवेतत्वे सति ) पटकार्यजन-कत्वं ( पटकारणत्वं ) पटासमवायिकारणत्वम् ।' 'चक्रकपालसंयोगभिन्नत्वे सति घटसमवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वे सति ( कपालसमवेतत्वे सति ) घटकार्यजनकत्वं ( घटकारणत्वं ) घटासमवायिकारणत्वम् ।' इसी प्रकार 'यन्त्रकाष्ठसंयोगभिन्नत्वे सति काष्ठखण्डसमवेतत्वे सति यत् काष्ठपुत्तलिका—कारणं' तत् काष्ठपुत्तलिकाया

---

( १ ) 'तुरीतन्तुसंयोग' भी अनुयोगित्वरूप से तन्तुसमवेत है, और 'पट' रूप कार्य का जनक भी है अतः उक्त लक्षण का लक्ष्य होने से 'तुरीतन्तुसंयोग' भी 'पट' के प्रति असमवायिकारण हो सकता है ।

**शंका**—'तुरीतन्तुसंयोग' को भी 'पट' के असमवायिकारण के लक्षण का लक्ष्य ही मान लें तो क्या दोष है ?

**समा०**—नैयायिकों ने असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश माना है । यदि 'तुरीतन्तुसंयोग' भी 'पट' का असमवायिकारण होगा, उस के नाश से भी पट का नाश होने लगेगा किन्तु ऐसा होता नहीं, इस कारण 'तद्भिन्नत्व' का निवेश करना चाहिये ।

असमवायिकारणम् ।' अभिप्राय यह है—तन्तुओं में समवेत और तुरीतन्तु-संयोग से अन्य होकर 'पट' का कारण होना ही पट का असमवायिकारण है। तुरी-तन्तुसंयोग तो तुरीपटसंयोग के प्रति असमवायिकारण है ही, एवं वेगादि संस्कार भी स्पन्दादि के प्रति असमवायिकारण हैं। तुरी-तन्तुसंयोग के बिना जो गुण किंवा क्रिया पटरूपी कार्य के साथ रहकर और समवाय-सम्बन्ध से तन्तुस्वरूपी द्रव्य में रहती हुई पटस्वरूपी कार्य को उत्पन्न करती है तब वह गुण किंवा क्रिया 'पट' के प्रति असमवायिकारण होती है। प्रथम जाना जाता है, अनन्तर इच्छा होती है, तदन्तर यत्न होता है, यह क्रम है। इस प्रतीति में ज्ञान, इच्छा के प्रति असमवायिकारण है और इच्छा, यत्न के प्रति असमवायिकारण है, परन्तु यह बात हो नहीं पाती, क्योंकि 'आत्मा के विशेष गुण ज्ञान, इच्छा आदि, किसी के प्रति असमवायिकारण होते ही नहीं। ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है, किन्तु असमवायिकारण का सामान्य-लक्षण आत्मा के ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुणों में प्रसक्त हो रहा है। इस अति-प्रसक्ति के निवारणार्थ असमवायिकारण के इस सामान्य लक्षण में तद्-तद् विशेष गुणों का निषेध किया गया है। अर्थात् 'आत्मविशेषगुणभिन्नत्वे सति' ऐसा निवेश करते हुए लक्षण बनाना चाहिये। एवं च 'ज्ञानादिभिन्नत्वं' यह विशेषण, असमवायिकारण के सामान्य लक्षण में अवश्य देना ही चाहिये। असमवायिकारण के सामान्य लक्षण का आकार यह होगा—'आत्मविशेषगुण-भिन्नत्वे सति समवायिकारण प्रत्यासन्नं कारणम्—असमवायिकारणम्।' 'आत्म विशेषगुणभिन्नत्व का निवेश करने से इच्छा आदि के प्रति ज्ञानादि को तथा अनुमिति के प्रति परामर्श को असमवायिकारणता नहीं हो पाती। प्रत्येक कार्य के असमवायिकारण में निमित्त कारण तथा समवायिकारण का जो परस्पर संयोग है, उससे भिन्नत्व का निवेश करना चाहिये। एवं आत्मा के ज्ञानरूप विशेष गुण के प्रति आत्ममनःसंयोग को असमवायिकारणता तो अवश्य ही माननी होगी। और वही आत्ममनःसंयोग, यदि अन्य विशेष गुणों का भी असमवायिकारण बन सके तो 'आत्मविशेषगुणों' को परस्पर एक दूसरे के प्रति तथा किसी गुणान्तर के प्रति असमवायिकारण मानना व्यर्थ है।

**अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नं द्विविधं कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या च। आद्यं यथा—घटादिकं प्रति कपालसंयोगादिकमसमवायिकारणम्। तत्र कार्येण घटेन सह कारणस्य कपालसंयोगस्यैकस्मिन्कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। द्वितीयं यथा—घटरूपं प्रति कपालरूपमसमवायिकारणम्। तत्र स्वगतरूपादिकं प्रति समवायिकारणं घटः तेन सह कपालरूपस्यैकस्मिन्कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। तथा च क्वचित्समवायसम्बन्धेन क्वचित्स्वसमवायिसमवायसन्बन्धेनेति फलितोऽर्थः।**



**इत्थं च कार्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्त्या समवायिकारणे प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षणं पर्यवसन्नम्।**

असमवायिकारण उसे कहते हैं जो कारण 'समवायिकारण' में रहे। वह असमवायिकारण, समवायिकारण में दो प्रकार से रहता है। प्रथम प्रकार यह है 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या' कार्य के साथ एक अर्थ (अधिकरण) में रहना। जैसे—'घट' रूपकार्य के साथ 'कपालद्वय संयोग' रूप कारण, एक अर्थ (कपाल) में रहता है। अर्थात् घटरूपकार्य भी अपने समवायिकारणरूप 'कपाल' में रहता है। और उसी कपालरूप एक अधिकरण में 'कपालद्वयसंयोग भी एकार्थसमवेतत्वसम्बन्ध से रहता है। इस कारण 'कपालसंयोग' घटकार्य के प्रति—'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' द्वारा 'असमवायिकारण' हो जाता है। दूसरा प्रकार यह है—'कपालरूप', घटरूप के प्रति असमवायिकारण होता है यहाँ पर अपने रूप के प्रति समवायिकारण 'घट' है। उस 'घट' के साथ कपालात्मक एक अधिकरण में रूप का परम्परया 'एकार्थसमवेतत्व' सम्बन्ध है ही उसी प्रकार पटरूप के प्रति 'तन्तुरूप' की भी असमवायिकारणता समझनी चाहिये। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'प्रत्यासन्न' शब्द का अर्थ है कार्य के साथ असमवायिकारण का सामानाधिकरण्य। वह सामानाधिकरण्य दो प्रकार से होता है एक तो 'कार्यैकार्थरूप' और दूसरा 'कारणैकार्थरूप'। अतः 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या' का अर्थ हुआ 'कार्य के साथ एकाधिकरणसम्बन्ध से'। 'कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या' का अर्थ हुआ 'कारण के साथ एकाधिकरणसम्बन्ध से'। 'घट' के प्रति 'कपालद्वय' संयोग' असमवायिकारण है, उस असमवायिकारण (कपालद्वयसंयोग) में रहने वाली कारणता का नियामक सम्बन्ध होगा 'समवाय', क्योंकि 'संयोग' गुण है और 'कपाल' द्रव्य (गुणी) है। गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध होता है—यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। उसी तरह 'घटरूप' के प्रति 'कपालरूप' असमवायिकारण है। उसमें (असमवायिकारण बने हुए कपालरूप में) रहने वाली कारणता का नियामकसम्बन्ध होगा 'स्वसमवायिसमवाय'। यहाँ 'स्व' शब्द से 'कपालरूप' को लेना चाहिये। उसका (कपालरूप का) समवायि होगा कपाल, उस कपाल में समवाय 'घट' का भी है क्योंकि 'अवयवावयविनोः सम्बन्धः समवायः' यह नैयायिकों का नियम है। अर्थात् कपालात्मक समवायि-कारक में 'घट' समवेत है (समवायसम्बन्ध से रहता है)। एवं च 'स्वसमवायि-समवेतत्व' सम्बन्ध से कपालरूप को 'घट' में मानकर उसे 'घटरूप' के प्रति असमवायिकारण कहा जाता है। नैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि 'कार्य-कारणभाव' समानाधिकरणवाले पदार्थों का ही होता है। अर्थात् व्यधिकरणवाले (भिन्न-भिन्न अधिकरण में रहने वाले) पदार्थों का कार्यकारणभाव नहीं हुआ करता। जैसे—घट और कपालद्वयसंयोग इन दोनों का कपालात्मक एक अधिकरण में साक्षात् समवाय सम्बन्ध से सामानाधिकरण्य है। उसी तरह कपालरूप और

घटरूप इन दोनों का भी कपालात्मक एक अधिकरण में सामानाधिकरण्य है। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में अन्तर इतना ही है कि एक का सामानाधिकरण्य 'साक्षात्' है, दूसरे का 'परम्परया' है। 'घट' में 'घटरूप' साक्षात् 'समवाय' सम्बन्ध से रहता है, किन्तु 'कपालरूप', 'घट' में परम्परया 'स्वसमवायिसमवेतत्व' सम्बन्ध से रहता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो 'कपालरूप' कपाल में और 'घटरूप' घट में रहने से दोनों ( कपालरूप और घटरूप ) व्यधिकरण हैं, इस कारण दोनों का कार्यकारणभाव नहीं हो सकेगा।

इतना समझाने के बाद ग्रन्थकार स्वयं असमवायिकारण का निष्कृष्ट लक्षण 'इत्थञ्च' ग्रन्थ से बता रहे हैं। 'कार्य के साथ अथवा कारण के साथ समवायि-कारणरूप एक अर्थ में अन्यतर ( दोनों में से किसी एक ) प्रत्यासत्ति ( सम्बन्ध ) से रहनेवाला जो ज्ञानादिभिन्न कारण, उसे असमवायिकारण कहते हैं।' यहाँ पर 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति'=समवायसम्बन्ध और 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति'=स्वसमवायि-समवेतत्व सम्बन्ध को समझना चाहिये।

**आभ्यां समवायिकारणासमवायिकारणाभ्यां परं भिन्नं कारणं तृतीयं निमित्तकारणमित्यर्थः ॥ १८ ॥**

इति निमित्तकारणत्वनिरूपणम्।

—०—

अब 'निमित्तकारण के लक्षण को बताते हैं—'आभ्यामिति।' समवायिकारण तथा असमवायिकारण इन दोनों से भिन्न जो कारण, वह 'निमित्तकारण' नाम का तृतीय कारण है। जैसे—घट के प्रति दण्ड आदि, और पट के प्रति तुरी, वेमा आदि निमित्तकारण हैं। सूत्रवेष्टित नली को 'तुरी', और बुनने के दण्ड को 'वेमा' कहते हैं ॥ १८ ॥

इति निमित्तकारणत्वनिरूपणम्।

—०—

**येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य।**
**अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् ॥ १९ ॥**
**जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।**
**अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः ॥ २० ॥**
**एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्।**
**घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥ २१ ॥**
**तृतीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनकोऽपरः।**
**पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥ २२ ॥**



**इदानीमन्यथासिद्धत्वमेव कियतां पदार्थानामत आह—येनेति। यत्कार्यं प्रति कारणस्य पूर्ववृत्तिता येन रूपेण गृह्यते कार्यं प्रति तद्रूपमन्यथासिद्ध-मित्यर्थः। यथा घटं प्रति दण्डत्वमिति।**

इति प्रथमान्यथाऽसिद्धनिरूपणम्।

—०—

'कारण' के लक्षण में 'अन्यथासिद्धिशून्यत्व' कहा गया था। अतः जिज्ञासा होती है कि वह अन्यथासिद्धत्व' क्या है? और वह कितने प्रकार का है? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ 'इदानीम्' इत्यादिग्रन्थ को उपस्थित किया जा रहा है। अन्यथासिद्धि पाँच प्रकार की है, उनमें से यह १—पहली अन्यथासिद्धि है 'येन सह पूर्वभावः'। जिस कार्य के प्रति कोई वस्तु जिस स्वरूप से ( धर्म से ) कारण होती है, उस कार्य के प्रति उसका स्वरूप ( धर्म ) अन्यथासिद्ध है। 'येन सह पूर्वभावः' कहकर अन्यथासिद्धि के स्वरूपलक्षणोंको बताया गया है। 'घट' स्वरूप कार्य के प्रति दण्डत्व, दण्डरूप, आकाश कुलालपिता और रासभ ये पाँच अन्यथासिद्ध समझ जाते हैं। जिस कार्य के प्रति जो वस्तु जिस स्वरूप ( धर्म ) से कारण होती है, उस कार्य के प्रति उसका स्वरूप ( धर्म ) अन्यथासिद्ध समझा जाता है। भले ही वह वस्तु उस कार्य के प्रति पूर्ववर्ती हो। पूर्ववर्ती होने मात्र से ही वह उस कार्य के प्रति कारण नहीं हो सकती। जैसे—'घट' के प्रति 'दण्डत्व'। यहाँ पर 'घट' के प्रति 'दण्ड' को 'दण्डत्वेन' रूप से कारणता है, इसलिये 'घट' के प्रति 'दण्ड' तो कारण है, किन्तु 'दण्डत्व' अन्यथा सिद्ध है। क्योंकि 'घट' के प्रति 'दण्डत्व' का कोई उपयोग नहीं है। अर्थात् 'दण्ड' दण्डत्व रूप धर्म से 'घट' के प्रति कारण होता है। इस कारण 'घट' के प्रति 'दण्डत्व' अन्यथासिद्ध है। निष्कर्ष यह है कि जिस रूप से वह कारण बना है, उसका वह 'रूप' अन्यथा सिद्ध है। घट कार्य के प्रति 'दण्ड' किस रूप से कारण है? तो बताना होगा कि वह न तो 'पार्थिव' रूप से, या न किसी अन्य रूप से कारण है, अपितु 'दण्डत्व' रूप से ही वह ( दण्ड ) कारण है। अतएव 'दण्डत्व' को अन्यथा-सिद्ध स्वीकार कर लिया गया है। दूसरी बात यह है कि 'दण्डत्व' को कारण मानना निष्प्रयोजन भी है। इसी बात को न्याय की भाषा में इस तरह कहा जायगा—घटम्प्रति दण्डः कारणम्, कारणता दण्डनिष्ठा, तदवच्छेदको धर्मः दण्डत्वम्, अतः तत् ( दण्डत्वम् ) अन्यथासिद्धम्—एवञ्च 'कारणतावच्छेदकधर्मत्वं प्रथमम् अन्यथासिद्धमिति भावः।

अब द्वितीय अन्यथासिद्ध को बताते हैं—'कारणमादाय वा यस्य'।

**द्वितीयमन्यथासिद्धमाह—कारणमिति। यस्य स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकौ न स्तः किं तु कारणमादायैवान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तदन्यथासिद्धम्। यथा दण्डरूपम्।**

इति द्वितीयमन्यथाऽसिद्धनिरूपणम्।

—०—

जिसका ग्रहण, कारण के ग्रहणपूर्वक हो, वह भी अन्यथा सिद्ध होता है। अर्थात् किसी कार्य के प्रति जिस वस्तु का अन्वय तथा व्यतिरेक स्वतन्त्ररूप से नहीं बन सकता, अपितु कारण को लेकर ही जिसके अन्वय-व्यतिरेक का निश्चय जिस कार्य के प्रति किया जाय, उस कार्य के प्रति वह वस्तु अन्यथासिद्ध है। जैसे—'घट' के प्रति 'दण्डरूप'। 'घट' के प्रति दण्डरूप का अन्वय—व्यतिरेक अपने कारण 'दण्ड' को लेकर ही बन पाता है, इसलिए 'दण्डरूप' भी 'घट' के प्रति 'दण्डत्व' की तरह अन्यथासिद्ध ही है। क्योंकि दण्ड का रूप 'दण्ड' से पृथक् नहीं किया जा सकता। 'अन्वय' का अर्थ है–'स्वाधिकरणे कार्यसत्त्वम्।' कार्य का अपने अधिकरण में होना। व्यतिरेक का अर्थ है—'स्वाभावाधिकरणे कार्यासत्त्वम्।' अपने अभाव के अधिकरण में कार्य का न होना। इसी अभिप्राय को संस्कृत में इस प्रकार कहा जायगा–'दण्डरूपं घटम्प्रति अन्यथासिद्धम्। दण्डरूपस्य घटम्प्रति न स्वतन्त्रतया पूर्वभावः, किन्तु स्वकारणस्य ( दण्डरूपस्य समवायिकारणं दण्डः ) दण्डस्य पूर्वभावं गृहीत्वैव दण्डरूपस्यापि घटम्प्रति पूर्वभावो गृह्यते, अतः दण्डरूपं घटोत्पत्तेः पूर्वक्षणे सदपि अन्यथासिद्धमेवेति भावः।

अब तृतीय अन्यथासिद्ध को बताते हैं—'अन्यम्प्रतिपूर्वभावे'।

**तृतीयमाह—अन्यं प्रतीति। अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्। यथा घटकादिकं प्रत्याकाशस्य। तस्य हि घटादिकं प्रति कारणत्वमाकाशत्वेनैव स्यात्। आकाशत्वं हि शब्दसमवायिकारणत्वम्। एवं च तस्य शब्दं प्रति जनकत्वं गृहीत्वैव घटादिकं प्रति जनकत्वं ग्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम्।**

**ननु शब्दाश्रयत्वेन तस्य कारणत्वे काऽन्यथासिद्धिरिति चेत्? पञ्चमीति गृहाण। नन्वाकाशस्य शब्दं प्रति जनकत्वे किमवच्छेदकमिति चेत्? कवत्त्वादिकं विशेषपदार्थो वेति॥ १९॥**

इति तृतीयकन्यथासिद्धनिरूपणम्।

—०—

किसी अन्य कार्य के प्रति जिसके कारणत्व ( पूर्ववृत्तित्व ) का ग्रहण करने के अनन्तर ही जिस कार्य के प्रति उसके कारणत्व का ग्रहण किया जाता है, वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे—घट के प्रति आकाश। 'आकाश' नित्य और व्यापक है। अतः वह कार्य मात्र के प्रति नियत पूर्ववर्ती है। एवं च 'घट' के प्रति भी नियतपूर्ववर्तित्वस्वरूप कारणत्व आकाश में सिद्ध ही है। परन्तु घट के प्रति 'अकाश' को आकाशत्वेनरूपेण कारण मानना होगा। तब 'आकाशत्व' क्या वस्तु है? यह पूछने पर कहना होगा कि 'शब्दसमवायिकारणत्व'। एवं च 'शब्दसमवायिकारणत्व' कहने मात्र से ही 'शब्द' का कारण 'आकाश' है, यह सिद्ध हो जाता है।



इस रीति से 'आकाश' में शब्द के प्रति कारणता ( जनकत्व-ता ) का निश्चय करके ही घटादिकार्य के प्रति उसमें कारणता ( जनकता) का निश्चय कर पाते हैं। ऐसी स्थिति में 'शब्द' के प्रति ही 'आकाश' को कारण माना जाता है और घटादि के प्रति उसे अन्यथासिद्ध ही कहा जाता है।

**शंका**—आकाश को शब्दसमवायिकारण के रूप में घट के प्रति पूर्ववृत्ति कहने पर 'शब्द' के प्रति आकाश की कारणता गृहीत हो जाती है और घट के प्रति आकाश को अन्यथासिद्ध समझा जाता है, किन्तु 'आकाश' को यदि 'शब्दाश्रय' कहा जाय तब तो 'आकाश' को 'शब्द' का कारण नहीं कह सकते, क्योंकि आकाश तो 'शब्द' का आश्रय प्रतीत होता है, न कि कारण। यदि हम 'आकाश' को 'शब्दाश्रयत्वेन' रूपेण 'घट' के प्रति कारण कहें तो पाँच अन्यथासिद्धों में से वह ( आकाश ) किस श्रेणी का अन्यथासिद्ध कहलायेगा?

**समा०**—वह ( आकाश ) तीसरे अन्यथासिद्ध के लक्षण में न आकर पञ्चम अन्यथासिद्ध होगा। इस पञ्चम अन्यथासिद्ध को आगे बताया जायगा। अभिप्राय यह है कि 'आकाशः शब्दसमवायिकारणम्' इस लक्षण को त्याग कर 'आकाशः शब्दाश्रयः' यह लक्षण करें तब भी वह ( आकाश ) 'घट' के प्रति अन्यथासिद्ध ही रहेगा। क्योंकि अवश्य नियत पूर्ववर्ती कारण से ही कार्योत्पत्ति यदि हो जाती है तो उसके अतिरिक्त सभी कुछ कार्योत्पत्ति के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाता है।

**शंका**—'घट' के प्रति 'आकाश' भले ही कारण न हो, किन्तु 'शब्द' के प्रति तो वह ( आकाश ) कारण है ही। तब आकाश में रहनेवाली 'कारणता' का 'अवच्छेदक' धर्म कौन होगा? कारणता का अवच्छेदक धर्म तो अवश्य ही मानना होगा क्योंकि 'निरवच्छिन्नायाः कारणताया असम्भवात्'—'कारणता' कभी भी अवच्छेदक धर्म से रहित नहीं होती।

**समा०**—'निरवच्छिन्नकारणताया असंभवात्' इस नियम के अनुरोध से आकाशीयसमवायिकारणता ( आकाश में रहने वाली शब्द की समवायिकारणता ) का अवच्छेदक धर्म[१] 'कवत्त्व' 'खवत्त्व' 'गवत्त्व' आदि समझना चाहिये। अर्थात् कारणतावच्छेदक धर्म हुआ 'कवत्त्व' 'खवत्त्व' आदि।

यहाँ ज्ञातव्य विषय यह है कि 'शब्द' की कारणता आकाश में रहती है, उस कारणता का अवच्छेदक ( भेददर्शक = भेदक ) कोई धर्म तो मानना ही होगा। वह कौन सा धर्म होगा? यह जिज्ञासा होने पर, वह धर्म 'आकाशत्व' है, यह कहें तो 'आकाशत्व'—शब्द की कारणतास्वरूप ही होगा। तब शब्दकारणतास्वरूप 'आकाशत्व' और तद्भेदक ( कारणता का भेदक ) 'आकाशत्व' ये दोनों एक ही

---

( १ ) कः=ककारः विद्यते समवायेन अस्मिन् इति 'कवत्' तद्भावः कवत्त्वम्'। इसी तरह 'खवत्त्व' 'गवत्त्व' आदि को भी समझना चाहिये।

होंगे,[1] ऐसी स्थिति में दोनों का भेद नहीं समझा जा सकेगा। एवंच 'दुर्ज्ञेयत्व' रूप दोष का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः उस कारणता के भेद को प्रदर्शित करने वाले 'क' 'ख' इत्यादि अक्षरों को माना गया है। एवंच शब्दसमवायिकारणतावच्छेदक 'कवत्त्व' होगा,[2] 'आकाशत्व' नहीं। 'क' यह जो वर्णात्मक शब्द है, तद्वान् 'आकाश' ही होगा अर्थात् 'क' वान् 'आकाश' हुआ, और आकाश ही शब्दमात्र का समवायि कारण है, तब कारणतावच्छेदक 'कवत्त्व' होगा, क्योंकि कारण में रहने वाला धर्म ही कारणतावच्छेदक होता है।

शंका—आपने जैसे 'कवत्त्व' को शब्दकारणता का अवच्छेदक माना, वैसे ही विनिगमनाविरहात् 'खवत्त्व' 'गवत्त्व' आदि को भी 'कारणतावच्छेदक' माना जा सकता है। क्योंकि 'क'—वान् की तरह 'ख' वान् अर्थात् 'ख' शब्दवान् भी आकाश है। वैसे ही 'ग' वान् ( गशब्दवान् ) भी आकाश है तब 'कवत्त्व' 'खवत्त्व' ये सभी कारणतावच्छेदक धर्म हो सकते हैं।

समा०—ककार, खकार आदि वर्ण तो अनेक तथा अनित्य हैं, उनको अवच्छेदक मानने में गौरव होगा। अतः अनेक वर्णों को कारणतावच्छेदक मानने की अपेक्षा एक विशेष पदार्थ को ही आकाशनिष्ठ शब्दजनकता ( कारणता ) का अवच्छेदक मान लेना उचित होगा। तात्पर्य यह है कि 'कवत्त्व' आदि को अवच्छेदक मानने में गौरव होगा। अर्थात् नाना वर्णों में कारणतावच्छेदकता को मानने पर शरीरकृत गौरव होगा और विनिगमना विरह भी है। इस अस्वारस्य के कारण ग्रन्थकार ने कहा—'विशेषपदार्थो वा' इति। 'विशेष' संज्ञक पदार्थ ही शब्दनिरूपित आकाशनिष्ठकारणता का अवच्छेदक ( इतरव्यावर्तक ) है, यह मानलेने पर कोई किसी प्रकार का दोष नहीं है।

**चतुर्थमन्यथासिद्धमाह—जनकं प्रतीति। यत्कार्यंजनकं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्। यथा कुलालपितुर्घटं प्रति। तस्य हि कुलालपितृत्वेन घटं प्रति जनकत्वे एवान्यसिद्धिः-कुलालत्वेन जनकत्वेत्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनकत्वात्।**

इति चतुर्थान्यथासिद्धनिरूपणम्।

—:०:—

अब चतुर्थ अन्यथासिद्ध को प्रदर्शित करते हैं—'जनकम्प्रतिपूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।' जो वस्तु जिस कार्य के उत्पादक के प्रति कारण है उसे जानकर

( १ ) शब्दस्य समवायिकारणमाकाशः, कारणता आकाशनिष्ठा, कारणतावच्छेदकमाकाशत्वम्, आकाशत्वञ्च शब्दसमवायिकारणतैव। तथाच—स्वावच्छेदकं स्वमेव प्राप्तम्, तच्च अनुपपन्नम्, अवच्छेद्यावच्छेदकभावस्य भेदनियतत्वात्।

( २ ) शब्दसमवायिकारणता 'कवति', शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकं 'कवत्त्वम्' न तु आकाशत्वं, येन शब्दसमवायिकारणतैव अवच्छेदिका स्यात्।



बाद में वह वस्तु उस कार्य के प्रति कारण है ऐसा समझने से उस कार्य के प्रति वह वस्तु अन्यथासिद्ध समझी जाती है। इसी को न्याय की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—'स्वजन्यतानिरूपितजनकतानिरूपितजनकतावत्त्वं' चतुर्थमन्यथासिद्धमिति। जैसे—घट कार्य के प्रति कुलालपिता। घटकार्य के प्रति कुलाल ही कारण है, अतः उसका ( कुलाल का ) पिता घट के प्रति अन्यथासिद्ध समझा जाता है। कुलाल का पिता अपने पुत्र कुलाल की उत्पत्ति का कारण है, यह जानने के अनन्तर कुलाल के पिता को कुलालपितृत्वेन रूपेण घट के प्रति यदि कारण मानें तो वह कुलालपितृत्वेन रूपेण घट के प्रति अन्यथासिद्ध ही है। तात्पर्य यह है कि कुलाल का पिता समझकर घट के प्रति यदि उसे ( पिता को ) कारण माना जाय अर्थात् जब कि यह ( पिता ) घट के कारण ( कुलाल ) का भी—कारण है तो उसे 'घट' का कारण अवश्य ही मानना चाहिये, किन्तु उसे घट का कारण नहीं माना जाता अपितु उसे अन्यथासिद्ध ही माना जाता है। और वही कुलालपिता यदि कुलालत्वेनरूपेण ( कुलालस्वरूप से ) घट के प्रति कारण माना जाय अर्थात् यह कुलाल है ऐसा समझकर यदि उसे ( पिता को ) घट के प्रति कारण कहा जाय तो कोई आपत्ति नहीं है, वह तो अभीष्ट ही है, क्योंकि सभी कुलाल घट के प्रति कारण होते ही हैं। यदि किसी कुलाल ने आजतक किसी घट का निर्माण ही नहीं किया हो, फिर भी उसमें घट निर्माण की स्वरूप-योग्यतारूप कारणता रहती ही है। निष्कर्ष यह है कि बाप और बेटा ये दोनों ही कुम्हार ( कुलाल ) हैं ऐसा मानकर यदि बाप में कारणता कही जाय तो कोई दोष नहीं है।

**पञ्चममन्यथासिद्धमाह—अतिरिक्तमिति। अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तद्भिन्नमन्यथासिद्धमित्यर्थः। अत एव प्रत्यक्षे महत्त्वं कारणम्। अनेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्। तत्र हि महत्त्वमवश्यक्लृप्तं तेनानेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्।**

**न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, महत्त्वत्वजातेः कारणतावच्छेकत्वे लाघवात्॥ २०-२१॥**

अब पञ्चम अन्यथासिद्ध को बताते हैं—'अतिरिक्तमथापि यद् भवेद् नियतावश्यकपूर्वभाविनः' ॥ २०॥ नियम से कार्य के पूर्व रहनेवाले के अतिरिक्त जो हो उसे पञ्चम अन्यथासिद्ध कहते हैं। घटोत्पत्ति में दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल, मृत्तिका आदि अवश्य तथा निश्चित हैं और नियम से घट के पूर्व रहनेवाले हैं, इनसे ही घटादिकार्य का होना यदि संभव है, तो इनके अतिरिक्त जो भी हों वे सब घटादिकार्य के प्रति अन्यथासिद्ध समझे जाते हैं। अभिप्राय यह है कि कार्योत्पत्ति में नियतपूर्ववर्ती होने के साथ साथ जिसका स्वीकार किया जाना आवश्यक रहता है, उसे तो उस कार्य का कारण कहते हैं और तदतिरिक्त जो हो उसे उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध कहते हैं। अतएव प्रत्यक्ष में 'महत्त्व' ( महत्परिमाण ) को कारण

बताया गया है और 'अनेकद्रव्यवत्त्व' ( अनेक अवयवभूतद्रव्यों से निर्मित होना ) को अन्यथासिद्ध कहा है। क्योंकि वहाँ ( प्रत्यक्षात्मक कार्य में ) महत्त्व ( महत्-परिमाण ) को तो अवश्य ही मानना पड़ता है उसके बिना माने काम नहीं चलता इसलिये प्रत्यक्षात्मक कार्य के प्रति वही ( महत्त्व ) कारण कहा जाता है और 'अनेकद्रव्यवत्त्व' का होना वैसा आवश्यक न होने से उसे अन्यथासिद्ध माना गया है। किसी कार्य की उत्पत्ति में कम से कम वस्तु का पर्याप्त होना ही 'आवश्यक, पदार्थ है। अर्थात् जिसमें कल्पना का लाघव हो उसी को आवश्यक कहते हैं और वही 'कारण' होता है। इसके अतिरिक्त सभी अन्यथासिद्ध रहते हैं। सभी वस्तुओं के प्रत्यक्ष में उन वस्तुओं का 'महत्त्व' कारण होता है। महत्त्व ( महत्परिमाण ) के बिना किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। इसीलिये तो 'अणु' तथा 'द्वचणुक' का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, क्योंकि अणु तथा 'द्वचणुक' में महत्परिमाण नहीं है। एवंच प्रत्यक्ष के होने में 'महत्त्व' का होना नितान्त आवश्यक है।

शंका—प्रत्यक्ष के होने में 'महत्त्व' जैसे नियतपूर्ववर्ती है वैसे ही 'अनेकद्रव्यवत्त्व'[1] धर्म भी नियत पूर्ववर्ती है, क्योंकि प्रत्यक्ष होनेवाले सभी द्रव्य, सावयव हुआ करते हैं यानी अनेकद्रव्यों से बनते हैं। अतः अनेक द्रव्यवत्त्व को भी प्रत्यक्ष का कारण क्यों न कहा जाय ?

समा०—पहले बता चुके हैं कि किसी भी द्रव्य के प्रत्यक्ष होने में 'महत्त्व' का रहना आवश्यक होता है, जब उसी से काम चल जाता है, तब एक और को मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः अनेक द्रव्यवत्त्व को अन्यथासिद्ध माना गया है।

शंका—जबकि दोनों ( महत्त्व और अनेक द्रव्यवत्त्व )—प्रत्यक्षात्मक कार्य के नियतपूर्ववर्ती हैं तो हम विपरीत ही क्यों न मान लें ? अर्थात् अनेक द्रव्यवत्त्व के ही कारण मान लें और 'महत्त्व' को अन्यथासिद्ध कह लें ? तो क्या हानि है ? ऐसी शंका करने पर सिद्धान्ती के पास अपने पक्ष के समर्थन में क्या विनिगमक है ?

समा०—यदि हम प्रत्यक्ष के होने में महत्परिमाण ( महत्त्व ) को कारण कहें, तो महत्त्व ( महत्परिमाण ) गुण है, उसमें 'महत्त्वत्व' जाति रहेगी, और वही कारणतावच्छेदक' हो जायगी। यदि 'अनेकद्रव्यवत्त्व' को प्रत्यक्ष का कारण कहेंगे तो कारणतावच्छेदक 'अनेकद्रव्यवत्त्वत्व' होगा। किन्तु वह कोई 'जाति' नहीं है बल्कि अनेक पदार्थों से बनी हुई 'उपाधि' है। उपाधि की अपेक्षा जाति को अवच्छेदक मानने में लाघव माना जाता है। क्योंकि 'जाति' तो एक बाह्य पदार्थ है और 'उपाधि' अनेक वस्तुओं से बनती है। पहले कह चुके हैं कि आवश्यक वही होता है, जिसकी कल्पना में लाघव हो। अतः महत्त्व ही आवश्यक होने से कारण

( १ ) अनेक द्रव्यों से बना होना, अनेक द्रव्यों में समवेत होना।



कहा जा सकता है और उससे भिन्न 'अनेकद्रव्यवत्त्व'[1] अन्यथा सिद्ध होगा। यही उपर्युक्त विनिगमक सिद्धान्ती के पास है। 'नियतावश्यक पूर्वभाविनः' यहाँ कर्मधारय समास है—नियतश्चासौ आवश्यकः पूर्वभावी च तस्य। अन्यथासिद्ध का यही सामान्यलक्षण हुआ कि 'नियतावश्यक—पूर्वभाविभिन्नं यत् स ( पञ्चमः ) अन्यथासिद्धः।' एवञ्च—'अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्' यह कारण का सामान्य लक्षण है। 'कारण' और 'अन्यथासिद्ध' को समझने के साथ ही साथ एक बात और भी समझने की है कि 'लाघव' के तीन प्रकार होते है—(१) शरीरकृत, (२) उपस्थितिकृत, (३) सम्बन्धकृत। प्रत्यक्ष के प्रति अनेकद्रव्यवत्त्व की अपेक्षा 'महत्त्व' को कारण मानने में 'शरीरकृत' लाघव है। गन्ध के प्रति 'रूपप्रागभाव' की अपेक्षा 'गन्धप्रागभाव' को कारण मानने में 'उपस्थितिकृतलाघव' है; क्योंकि रूप की अपेक्षा प्रतियोगिरूप गन्ध की शीघ्र उपस्थिति होती है। घट के प्रति 'दण्डत्व' या 'दण्डरूप' की अपेक्षा 'दण्ड' को कारण मानने में 'सम्बन्धकृतलाघव' होता है, क्योंकि दण्ड का संयोग सम्बन्ध साक्षात् होने के कारण प्रथम उपस्थित होता है, और दण्डत्वादिकों का 'स्वसमवायिदण्डसंयोगसम्बन्ध' तो परम्परया गुरुभूत होने से विलम्ब से उपस्थित होता है।

अन्यथासिद्धों के क्रमशः उदाहरणों को मूलकार ने 'एते पञ्चान्यथासिद्धाः' इत्यादि ग्रन्थ से बताया है।

**रासभादिरिति। यद्यपि यत्किञ्चिद्घटव्यक्तिं प्रति रासभस्य नियतपूर्ववर्त्तित्वमस्ति, तथापि घटजातीयं प्रति सिद्धकारणभावैर्दण्डादिभिरेव तद्व्यक्तेरपि सम्भवे रासभोऽन्यथासिद्ध इति भावः।**

**एतेष्विति। एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु मध्ये पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यकः, तेनैव परेषां चरितार्थत्वात्। तथाहि—दण्डादिभिरवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिभिरेव कार्यसम्भवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम्।**

**न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरम्परायाः सम्बन्धत्वकल्पने गौरवात्। एवमन्येषामप्यनेनैव चरितार्थत्वं सम्भवतीति बोध्यम् ॥ २१-२२ ॥**

इति पञ्चविधान्यथासिद्धनिरूपणम्।

---

ये पूर्वोक्त पाँच अन्यथासिद्ध हैं, अर्थात् कारण न होकर सिद्ध हैं। इन पाँच अन्यथासिद्धों में से 'दण्डत्व' प्रथम अन्यथासिद्ध है। घटोत्पत्तिरूप कार्य में 'दण्डरूप' आदि द्वितीय अन्यथासिद्ध है। उसी प्रकार घटादि-कार्य के प्रति 'व्योम' ( आकाश )

( १ ) अनेकद्रव्यत्व' भी पाठान्तर उपलब्ध होता है। अतः इस पाठ के पक्ष में 'अनेक द्रव्य हों जिसमें' यह बहुव्रीहि करने से वही अर्थ होगा जो अनेक द्रव्यवत्त्व का होता है।

तृतीय अन्यथासिद्ध है। उसी तरह घटादि-कार्य में 'कुलालपिता' चतुर्थ अन्यथा-सिद्ध है। और घटादि-कार्य के प्रति 'रासभ' ( गधा ) प्रभृति पञ्चम अन्यथासिद्ध है। कहीं किसी घट के बनाने के समय किसी गधे पर मिट्टी लादकर ले भी आये या उस समय कोई गधा अचानक उपस्थित हो भी जाय तथापि समस्त घटों के प्रति तो उसका उपस्थित हो जाना सम्भव नहीं, इस कारण घट के प्रति दण्डादिक ही कारण हैं और गर्दभ ( रासभ ) अन्यथासिद्ध है अर्थात् निष्प्रयोजन है।

पूर्वोक्त पाँच प्रकार के 'अन्यथासिद्धों' में 'पञ्चम अन्यथासिद्ध' आवश्यक है। इस पञ्चम अन्यथासिद्ध का जो लक्षण है वह शेष चारों अन्यथासिद्धों में भी घट सकता है।

शंका०—पञ्चम अन्यथासिद्ध के लक्षण में चारों अन्यथासिद्धों के लक्षण यदि अन्तर्भूत हो जाते हैं तो चारों के लक्षणों को बताने की क्या आवश्यकता थी ?

समा०—चार अन्यथासिद्धों के लक्षणों को बताने की आवश्यकता यह थी कि पढ़नेवाले बालकों ( विद्यार्थियों ) की बुद्धि विशद हो जाय।

अब पाँचवें अन्यथासिद्ध के लक्षण में ही चारों अन्यथासिद्धों के उदाहरण इस प्रकार हैं—अवश्यक्लृप्त नियतपूर्ववर्ती दण्ड-चक्र-चीवर आदि से ही 'घट' हो सकता है तो उसके प्रति ( घट के प्रति ) दण्डत्व, दण्डरूप अन्यथासिद्ध हैं।

शंका०—यदि कोई इसके विपरीत अर्थात् 'दण्डत्व' कारण है और 'दण्ड' अन्यथासिद्ध है, कहने लग जाय तो सिद्धान्ती के पास निर्णायक युक्ति ( विनिगमक ) क्या होगी ?

समा०—इस प्रकार शंका करना उचित न होगा, क्योंकि 'दण्डत्व' को कारण यदि कहेंगे तो 'दण्ड' के द्वारा परम्परा सम्बन्ध की ( कारणतावच्छेदकसंबन्ध की ) कल्पना करने में गौरव होगा। अर्थात् 'दण्डत्व' घट के प्रति साक्षात् कारण तो हो नहीं सकता, बल्कि वह ( दण्डत्व ) दण्ड के द्वारा ही कारण बन सकेगा। 'दण्ड' तो घट के प्रति 'स्वजन्यभ्रमण' ( स्वजन्यभ्रमिवत्तासम्बन्ध ) के द्वारा अर्थात् दण्ड से उत्पन्न हुए चक्कर के द्वारा कारण होता है, सभी ने देखा ही होगा कि कुलाल दण्डे से चाके को घुमाकर ही घट बनाता है। इसलिए 'दण्ड' 'स्वजन्यभ्रमि' द्वारा घटका कारण होता है। किन्तु 'दण्डत्व' 'स्वाश्रयजन्यभ्रमण' ( स्वाश्रयजन्यभ्रमिवत्ता-सम्बन्ध ) के द्वारा घट का कारण कहा जा सकेगा, साक्षात् नहीं। 'स्व' शब्द से 'दण्डत्व' उसका आश्रय 'दण्ड' उससे उत्पन्न हुए भ्रमण ( स्वाश्रयजन्यभ्रमिवत्ता-सम्बन्ध ) के द्वारा वह ( दण्डत्व ) कारण कहलायगा। एवं च 'दण्डत्व' की कारणता 'दण्ड' के द्वारा होती है। ऐसी स्थिति में 'दण्डत्व' के इस कारणता-वच्छेदक-सम्बन्ध में स्वाश्रयतया जबकि 'दण्ड' प्रविष्ट है ही तो लाघवात् 'दण्ड' को ही कारण क्यों न माना जाय, क्योंकि दण्ड के कारणतावच्छेदकसम्बन्ध में 'दण्डत्व' का प्रवेश नहीं है, यही लाघव है। इसी पद्धति से शेष अन्यथासिद्धों को भी इस पञ्चम से ही चरितार्थ समझना चाहिए।



यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि सामान्यतया कारण दो प्रकार का होता है—एक साधारण और दूसरा असाधारण। कार्यमात्र के प्रति जो कारण है उसे साधारण कारण कहते हैं। ये साधारण कारण आठ हैं—ईश्वर, उसका ज्ञान, इच्छा, कृति, प्रागभाव, काल, दिक्, अदृष्ट ( धर्माधर्म )। कुछ लोग 'प्रतिबन्धक-सामान्याभाव' को भी नवम साधारण कारण कहते हैं।

किसी कार्य विशेष के प्रति जो कारण हो उसे असाधारण कारण कहते हैं। जैसे—पट के प्रति तन्तु, घट के प्रति कपालादि। इसी प्रसंग में एक विशेषता और भी ध्यान रखने योग्य है। एक कारणता समुदाय में विश्रान्त रहती है जैसे—घट के प्रति दण्डादिनिष्ठा कारणता, इसी को 'दण्डचक्रादिन्यायेन कारणता' कहते हैं। दण्डादिकों में से किसी एक कारण के भी न होने पर घटोत्पत्ति नहीं हो सकती। और दूसरी कारणता वह है, जो प्रत्येक में विश्रान्त, है। जैसे—वह्नि के प्रति तृणारणिमणिसंयोगनिष्ठा कारणता। इसी को तृणारणिमणिन्यायेन कारणता कहते हैं। तृणादि कहते हैं। तृणादि कारणों में से किसी एक कारण के रहने पर भी वह्नि की उत्पत्ति हो सकती है॥ २२॥

इति पञ्चमान्यथासिद्धनिरूपणम्।

---

**समवायिकारणवत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।**
**गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्॥ २३॥**

'समवायिकारणत्व' अर्थात् समवायिकारण होना, यह केवल द्रव्य का साधर्म्य है। निष्कर्ष यह हुआ कि समवायिकारण केवल द्रव्य ही होगा, द्रव्य के अतिरिक्त कोई भी समवायिकारण नहीं हो सकता। और 'असमवायिकारणत्व' अर्थात् असमवायिकारण होना गुण-कर्म का साधर्म्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि असमवायिकारण गुण, कर्म ही होते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का समवायिकारण 'द्रव्य' ही होता है। वह ( द्रव्य ) कभी भी असमवायिकारण नहीं होता और सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव तो किसी प्रकार के भी कारण नहीं होते। असमवायिकारण केवल गुण-कर्म ही होते हैं। जैसे—घट का असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' तथा पटरूप का असमवायिकारण 'तन्तुरूप' होता है। ये दोनों ( संयोग और रूप ) असमवायिकारण 'गुण' हैं। इसी तरह कर्म ( क्रिया ) संयोग-विभाग का असमवायिकारण होता है। कोई पक्षी उड़कर वृक्ष पर बैठता है, तब 'पक्षी' वृक्ष पर बैठता है, तब 'पक्षी' वृक्ष संयोगरूपी कार्य का असमवायिकारण पक्षी उड्डयन क्रिया है, क्योंकि उस संयोग का समवायिकारण वृक्ष और पक्षी दोनों हैं। उनमें से एक समवायिकारण ( पक्षी ) में क्रिया ( उड्डयन ) समवेत है, इस रीति से पक्षी में संयोगरूपकार्य और उसका असमवायिकारण ( कर्म )

दोनों वर्तमान ( प्रत्यासन्न ) है। एवंच असमवायिकारणका लक्षण ( समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणम् असमवायिकारणम् ) कर्म ( क्रिया ) में संगत होता है।

समवायीति स्पष्टम्।

गुणकर्मेति। असमवायिकारणत्वं गुणकर्मभिन्नानां वैधर्म्यं न तु गुणकर्मणोः साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम्। अथवा असमवायिकारणवृत्तिसत्ताभिन्न जातिमत्त्वं तदर्थः तेन ज्ञानादीनामसमवायिकारणत्वविरहेऽपि न क्षतिः॥ २३॥

इति समवाय्यसमवायिकारणत्वरूपसाधर्म्यद्वयकथनम्।

शंका—आत्मा के ज्ञानादि विशेषगुण कहीं भी असमवायी नहीं होते हैं, इसलिये असमवायिकारण के सामान्य लक्षण में 'ज्ञानादिभिन्नत्व' विशेषण देकर अव्याप्ति का निवारण किया जा चुका है। इस कारण उपर्युक्त असमवायिकारणत्व साधर्म्य की ज्ञानादि में अव्याप्ति हो रही है।

समा०—उपर्युक्त आशङ्का का दो प्रकार से समाधान किया जा सकता है। एक समाधान तो यह है—ऊपर जो कहा गया था कि 'असमवायिकारणत्व-गुण-कर्म का साधर्म्य है' अर्थात् गुण-कर्म हमेशा असमवायिकारण ही होते हैं, उसका तात्पर्य यह है कि 'असमवायिकारणत्व' गुण-कर्मों से जो भिन्न ( अतिरिक्त ) हैं, उनका वैधर्म्य है। अर्थात् गुण-कर्म से भिन्न पदार्थ असमवायिकारण कदापि नहीं होते। साधर्म्य बताने में तात्पर्य नहीं है। अतः ज्ञानादि में अव्याप्ति होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

शंका - साधर्म्य के प्रसंग में वैधर्म्य को बताना कहाँ तक संगत है?

समा० असमवायिकारण में रहनेवाली जो सत्ताभिन्न जाति, तादृशजातिमत्त्व ही असमवायिकारणत्व है। जैसे—तन्तुसंयोग, पट के प्रति असमवायिकारण है। उस तन्तुसंयोग में रहनेवाली सत्ताभिन्नजाति गुणत्व' जाति, तद्वत्ता समस्त गुणों में है अर्थात् ज्ञानादि में भी है, क्योंकि ज्ञानादि भी गुणत्वजातिमान् हैं। अतः ज्ञानादि में असमवायिकारणता न होने पर ज्ञानादि में असमवायिकारणत्व साधर्म्य की अव्याप्ति नहीं है। अपितु उनमें भी ( ज्ञानादि में भी ) ऊपर कहा हुआ साधर्म्य उपलब्ध होता है॥ २३॥

## अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते।

नित्य द्रव्यों ( पृथिव्यादि चार के परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये छह नित्य द्रव्य हैं ) से भिन्न पदार्थो ( अनित्यद्रव्य और गुणादिकों ) का साधर्म्य 'आश्रितत्व' ( किसी दूसरे में रहना ) है।[1]

---

( १ ) क्योंकि ये नित्यद्रव्य किसी अन्य पदार्थ में नही रहते। ( शंका ) ये नित्यद्रव्य अन्य पदार्थ में क्यों नहीं रहते?

समा० यह नियम है कि 'द्रव्य अपने अवयवों में रहा करता है' इस नियम के अनुसार इसे भी अपने अवयव में ही रहना चाहिये लेकिन परमाणु, आकाश आदि नित्यद्रव्यों के अवयव नहीं हुआ करते, यह भूलना नहीं होगा। इसलिए ये नित्यद्रव्य किसी दूसरे द्रव्य ( पदार्थ ) में नहीं रहते कहा गया था। किन्तु नित्यद्रव्यों को छोड़कर शेष सभी पदार्थ किसी अन्य आश्रय में रहते हैं। जितने भी अनित्य द्रव्य हैं, वे अपने अवयवों से बने हैं। अतः वे अपने अवयवरूप द्रव्यों में रहते हैं। गुण, कर्म दोनों द्रव्यों में रहते हैं, जाति ( सामान्य ) व्यक्ति में रहती है, विशेष, नित्यद्रव्य में और समवाय, द्रव्यादि में रहता है।



शंका०—कालिक विशेषणता ( कालिक संबंध ) से नित्यद्रव्य भी काल आदि में रहते हैं। अतः नित्य पदार्थों का भी आश्रितत्व साधर्म्य होगा। किन्तु इनमें 'आश्रितत्व' साधर्म्य नहीं माना गया है अतः अव्याप्ति होगी।

समा०—यहाँ पर आश्रितत्व का अर्थ 'समवाय, संयोग सम्बन्ध से रहना' किया जाता है। क्योंकि ये दो सम्बन्ध ही मुख्यतया वृत्तिनियामकसम्बन्ध[1] कहे जाते हैं। इन्हीं दो सम्बन्धों का बाह्य वस्तु रूप से अस्तित्व माना गया है। काल और दिक् में सभी पदार्थ जो रहते हैं, वे इन दोनों में से किसी सम्बन्ध से नहीं रहते, अपितु 'दैशिक विशेषणता' सम्बन्ध से रहते हैं, जो मुख्य सम्बन्ध नहीं है।

नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्वं साधर्म्यमित्यर्थः। आश्रितत्वं तु समवायादिसम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम्, विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृत्तेः।

कालिकसम्बन्धान्यसम्बन्धेनावृत्तित्वमिति परमार्थः तेन समवायेनावृत्तावपि न क्षतिः।

इति नित्यद्रव्यातिरिक्तसाधर्म्यकथनम्।

परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन नित्य द्रव्यों के बिना बाकी सब पदार्थ किसी आश्रय पर रहकर ही योग्य होते हैं। इस कारण नित्यद्रव्यों के बिना बाकी बचे सब पदार्थों का आश्रितत्व ( किसी पदार्थ में रहना ) साधर्म्य है। यहाँ पर आश्रितत्व का अर्थ समवायादि सम्बन्ध से रहना है। इसका तात्पर्य यह है कि 'कालिक-विशेषणता'[2] संज्ञक सम्बन्ध के विना बाकी किसी न किसी सम्बन्ध से रहना। ऐसा अर्थ यदि न करें तो नित्य द्रव्य भी कालिकविशेषणता सम्बन्ध से काल में रहते हैं ( उस द्रव्य पर आश्रित होते हैं ) तब अतिव्याप्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। जब आश्रितत्व का अर्थ 'समवाय-सम्बन्ध से रहना' करते हैं तब 'समवाय' तथा 'अभाव' ये दोनों, नित्य द्रव्यों से भिन्न पदार्थ हैं उनमें आश्रितत्व न रहने से अतिव्याप्ति का प्रसंग प्राप्त न हो सकेगा। निष्कर्ष यह निकला कि ऐसा स्वीकार करने से अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोनों दोष नहीं होते।

---

(१) वृत्तिनियामकः=वृत्तेः आधेयताया नियामकः अवच्छेदकः गमकः इति यावत्।

(२) 'कालिकविशेषणता' यह काल के साथ पदार्थों का एक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से सब पदार्थ काल में रहते हैं।

**क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता ॥ २४ ॥**

इति नवद्रव्यसाधर्म्यकथनम् ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन नौ द्रव्यों का साधर्म्य द्रव्यत्व और गुणवत्व है ।

इदानीं द्रव्यस्यैव विशिष्य साधर्म्यं वक्तुमारभते—क्षित्यादीनामिति । स्पष्टम् ॥ २४ ॥

इति द्रव्यमात्रसाधर्म्यकथनम् ।

कारिका में जो 'तु' शब्द है, वह द्रव्यभिन्न साधर्म्य प्रकरण का भेदक है । अब विशेषरूप से द्रव्य का ही साधर्म्य बता रहे हैं । क्षित्यादि नौ द्रव्यों का साधर्म्य द्रव्यत्व और गुणाश्रयत्व है ॥ २४ ॥

इति नवद्रव्यसाधर्म्यकथनम् ।

**क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च ।**
**परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥ २५ ॥**

मूर्तत्व=अपकृष्टपरिमाणवत्व अर्थात् परिच्छिन्नपरिमाणवत्व यानी जिस पदार्थ के परिमाण की सीमा ( मर्यादा ) होती है । उसे 'मूर्तत्व' कहते हैं । परत्व ( परत्ववत्त्व ), अपरत्व ( अपरत्ववत्त्व ), मूर्तत्व ( मूर्तत्ववत्त्व ) क्रियावत्त्व और वेगवत्त्व ये पाँच क्षिति ( पृथ्वी ) जल, तेजस् ( अग्नि ), पवन, ( वायु ) और मन इन पाँच द्रव्यों के साधर्म्य हैं । प्रत्येक द्रव्य में ये ( परत्व, अपरत्व, मूर्तत्व, क्रियावत्त्व और वेगवत्त्व ) पाँच धर्म रहते हैं ।

क्षितिरिति । पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववत्त्वं मूर्तत्वं क्रियावत्त्वं वेगवत्त्वं च साधर्म्यम् । नच यत्र घटादौ परत्वमपरत्वं वा नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं, परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । मूर्तत्वमपकृष्टपरिमाणवत्त्वम् तच्च तेषामेव, गगनादिपरिमाणस्य कुतोऽप्यपकृष्टत्वाभावात् । पूर्ववत् कर्मवत्त्वं कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं च बोध्यम् ॥ २५ ॥

इति क्षित्यादिचतुष्टयमनः साधर्म्यकथनम् ।

शंका—परत्व, अपरत्व ये दिक्कृत् ( देशसम्बन्धी ) और कालकृत ( कालसम्बन्धी ) दो प्रकार के होते हैं । दोनों ही प्रकार के ये गुण किसी वस्तु में हर समय नहीं रहते । बल्कि कभी-कभी दो पदार्थों में 'यह इससे सन्निकृष्ट है, अथवा 'यह इससे अल्पतरकाल से सम्बद्ध है या बहुतरकाल से सम्बद्ध है इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि से कुछ समय के लिए ( परत्व-अपरत्व ) उत्पन्न होते हैं और नष्ट



होते हैं । अर्थात् दिक्कृत परत्वापरत्व में 'इदमस्मात् सन्निकृष्टम्' यह अपेक्षाबुद्धि कारण है और कालकृत परत्वापरत्व में 'अयमस्मात् कनिष्ठः, 'अयमस्माज्ज्येष्ठः' यह अपेक्षाबुद्धि कारण है । किन्तु जिस उत्पन्न विनष्ट या आद्यक्षणावच्छिन्न घटादि पदार्थ में परत्वापरत्व उत्पन्न ही नहीं हुए वहाँ उक्त साधर्म्य की अव्याप्ति होगी ।

समा०—परत्ववत्त्व=परत्वाश्रयत्व और अपरत्ववत्त्व=अपरत्वाश्रयत्व का अर्थ यह है—'परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व'=परत्व–अपरत्वादि गुणों के साथ-साथ रहनेवाली द्रव्यत्व की व्याप्यजातिवाला होना । द्रव्यत्व ( इस व्यापकजाति ) की व्याप्य जातियाँ जो परत्व, अपरत्व गुण के साथ साथ पाई जाती हैं, केवल पाँच ही हैं—पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व और मनस्त्व । तात्पर्य यह है कि परत्व, अपरत्व के अधिकरणस्वरूप जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु मन इनमें रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति—पृथ्वीत्व जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व और मनस्त्व ये पाँच जातियाँ हैं, तादृशजातिमत्त्व इन पाँच ही में रहेगा । अतः उत्पन्न विनष्ट या आद्यक्षणावच्छिन्न घटादि में अव्याप्ति नहीं होगी ।

शंका—उपर्युक्त पाँचों के अतिरिक्त द्रव्यत्व की व्याप्य जाति 'आत्मत्व' भी है, तादृशजातिमत्त्व 'आत्मा' में रहेगा अतः साधर्म्य की अतिव्याप्ति उसमें होगी ।

समा०—आत्मा में द्रव्यत्वव्याप्यजाति 'आत्मत्व रहने पर भी, वह ( आत्मत्वजाति ) परत्व—अपरत्व गुण के साथ साथ कभी भी नहीं रहती, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं हो सकती । और जिन घट, पटादिकों में 'परत्वापरत्व' जाति उत्पन्न न भी हुई हो, वहाँ द्रव्यत्वव्याप्यपृथ्वीत्व जाति उपलब्ध होती है, इसलिये कोई दोष नहीं है । अपकृष्ट परिमाणवत्त्व ( छोटा परिमाण ) को मूर्तत्व कहते हैं । यह मूर्तत्व अर्थात् सीमित—परिच्छिन्न परिमाण केवल उन्हीं ( पृथ्वी, जल, तेज, वायु, मन ) का है, आकाश (गगन), काल, दिक् आत्मा का परिमाण, किसी से भी अपकृष्ट नहीं है, क्योंकि गगन आदि की अपेक्षया किसीका भी उत्कृष्ट परिमाण प्रसिद्ध नहीं है ।

शंका—जब द्वयणुकादि की उत्पत्ति होती है, उस उत्पत्तिक्षण के समय उसमें ( द्वयणुकादि में ) परिमाण उत्पन्न नहीं होता क्योंकि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति' यह नियम है, अतः उसमें अव्याप्ति होगी ।

समा०—इस अव्याप्ति के वारणार्थ 'अविभुपरिमाणवद्वृत्ति द्रव्यत्वन्यूनवृत्तिजातिमत्त्व' की विवक्षा करनी चाहिये ।

शंका—जिस पाषाण आदि में क्रिया नहीं है, वहाँ कर्मत्व की भी अव्याप्ति होगी ।

समा०—उस अव्याप्ति के वारणार्थ 'पूर्ववत्' कहा गया है अर्थात् 'परत्वादिसमानाधिकरण' इत्यादि लक्षण की तरह कर्मवत्त्व का भी अर्थ 'कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' अर्थात् कर्म के अधिकरण में रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति, तादृशजातिमत्त्व—यह अर्थ करना चाहिए । न्याय की भाषा में लापनिका

इस प्रकार होगी--कर्म=घटादिनिष्ठा क्रिया, तत्समानाधिकरणा या द्रव्यत्वव्याप्या जातिः पृथ्वीत्वरूपा, जलत्वरूपा, तेजत्वरूपा, वायुत्वरूपा च, समवायेन तद्वत्त्वस्य क्रियाशून्ये पाषाणादावपि सत्त्वात् लक्षणसमन्वयः।

वेगवत्त्व का भी अर्थ 'वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' अर्थ करना चाहिये। अन्यथा वेगवत्त्व की भी वेगशून्य पाषाणादि में अव्याप्ति होगी। वेगवान् चक्र-आदि में वर्तमान जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति पृथ्वीत्वादिरूपा तद्वत्त्व। ऐसा अर्थ करने से क्रिया तथा वेगशून्य घटादि में भी साधर्म्य चला जाता है। यद्यपि उनमें क्रिया तथा वेग नहीं है, तथापि क्रिया और वेग के अधिकरण में रहनेवाली द्रव्यत्व-व्याप्यजाति पृथ्वीत्व आदि तो विद्यमान है ही, अतः साधर्म्य लक्षण की उनमें अव्याप्ति नहीं होती ॥ २५ ॥

इति पञ्चद्रव्यासाधर्म्यकथनम्।

**कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत्।**

इति कालाकाशात्मदिशां साधर्म्यकथनम्।

**क्षित्यादि पञ्च भूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि ॥ २६ ॥**

काल, ख ( आकाश ), आत्मा, और दिक् इन चार पदार्थों का साधर्म्य सर्वगतत्व और परममहत्त्व है। और क्षिति ( पृथ्वी ), अप् ( जल ), तेजस् ( अग्नि ), वायु और आकाश ये ही पाँच भूत पदार्थ हैं, अतः इनका भूतत्व साधर्म्य है।

**कालेति। कालाकाशात्मदिशां सर्वगतत्वं—सर्वमूर्तसंयोगित्वं परममहत्त्वं च साधर्म्यम्। परममहत्त्वं जातिविशेषः; अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वं वा।**

इति कालखात्मदिशां साधर्म्यकथनम्।

**क्षित्यादीति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वं साधर्म्यम्। तच्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् अत्र ग्राह्यत्वं लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वं बोध्यम्। तेन ज्ञातो घट इत्यादिप्रत्यक्षे ज्ञानस्याप्युपनीतभानविषयत्वात्तद्वत्यात्मनि नातिव्याप्तिः। न वा प्रत्यक्षाविषयरूपादिमति परमाण्वादावव्याप्तिः, तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात्। महत्त्वलक्षणकरणान्तरासन्निधानाच्च न प्रत्यक्षम्। अथवा आत्मावृत्तिविशेषगुणवत्त्वं तत्त्वम्।**

इति क्षित्यप्तेजोवाय्वाकाशसाधर्म्यकथनम्।

**चत्वारीति। पृथिव्यप्तेजोवायूनां स्पर्शवत्त्वम् ॥ २६ ॥**

काल, आकाश, आत्मा, दिक् इन चार द्रव्यों का साधर्म्य सर्वगतत्व अर्थात् सम्पूर्ण मूर्त या परिच्छिन्न परिमाणयुक्तपदार्थों के साथ संयोगसम्बन्ध से युक्त होना, और परममहत्त्व ( परममहत्परिमाणवत्त्व ) यह साधर्म्य है। सर्वगतत्व और परममहत्त्व दोनों का अर्थ स्थूलदृष्टि से सर्वव्यापक ही प्रतीत होता है। किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखनेपर दोनों में कुछ अन्तर प्रतीत होता है। 'सर्वगतत्व' का अर्थ होगा जो सब जगह प्राप्त हुआ हो अर्थात् जिसका प्रत्येक सीमित परिमाण वाले ( मूर्त ) द्रव्य के साथ संयोग हुआ हो। आकाशादि का प्रत्येक सीमितपरिमाणवाले द्रव्य के साथ संयोग है ही। अब रहा परममहत्त्व ( परममहत्परिमाणवत्त्व ), उसका निरूपण दो प्रकार से किया जा सकता है। या तो 'परममहत्वत्व' को एक जातिविशेष मान लिया जाय, और वह जातिविशेष जिसमें रहता हो उसे परममहत्परिमाण समझा जाय। यदि 'परममहत्त्वत्व' को जातिविशेष न माने तो परममहत्परिमाण को इस प्रकार बताना होगा कि ऐसा परिमाण, जो मूर्तद्रव्य में न रहता हो अर्थात् जो किसी परिच्छेद या सीमा का आश्रय न होता हो। 'क्षित्यादि पञ्चभूतानि' की व्याख्या करते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इनका साधर्म्य 'भूतत्व' है यानी ये पाँचों भूत हैं। 'आकाश' को छोड़कर शेष पृथ्वी, जल, तेज, वायु चार पदार्थों का स्पर्श हो पाता है। भूतत्व ( भूत ) का अर्थ 'बाह्येन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करनेयोग्य विशेषगुण से युक्त रहना'। यहाँ पर ग्राह्यत्व ( ग्रहण करने योग्य ) का अर्थ लौकिक प्रत्यक्ष की स्वरूपयोग्यता' समझनी चाहिये। अर्थात् लौकिकसन्निकर्षमात्र प्रयोज्य जो बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयता, उसी को स्वरूपयोग्यता कहते हैं। अर्थात् तादृशविषयतावच्छेदकधर्मवत्व ही ग्राह्यत्व पदार्थ है। एवंच भूतत्व का लक्षण यह निष्पन्न हुआ कि 'लौकिकसन्निकर्षमात्र-प्रयोज्या या बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षीयविषयता, तादृशविषयतावच्छेदक-धर्मवद्विशेष-गुणनिरूपित-समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणतावत्वम्।' जैसे--चक्षुः संयुक्तसमवायमात्रप्रयोज्या या चक्षुर्जन्यप्रत्यक्षविषयता घटसमवेतरूपनिष्ठा, तदवच्छेदकरूपत्वधर्मवद्विशेषगुणः रूपं, समवायेन तदधिकरणो घटो भूतपदार्थः। साधारणतया 'ज्ञानविषयत्व' ही ग्राह्यत्व समझा जाता है। तथापि यहाँ 'ज्ञान' शब्द से लौकिक प्रत्यक्षात्मकज्ञान समझना चाहिये। और विषयता' शब्द से स्वरूपयोग्यत्वरूप विषयता को समझना चाहिये, यह निष्कर्ष है।

शंका—'ग्राह्यत्व' में 'ज्ञान' पद से लौकिक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान क्यों समझना चाहिये? तथा 'विषयता' पद से स्वरूपयोग्यत्वरूपविषयता को क्यों समझना चाहिये? केवल 'बहिरिन्द्रियजन्य जो ज्ञान तादृशज्ञानविषयतावद्विशेषगुणवत्त्व' इतना ही 'भूतत्व' का अर्थ क्यों न समझा जाय?

समा०--'ग्राह्यत्व' के परिष्कार में 'ज्ञान' पद से अलौकिकप्रत्यक्षात्मक ज्ञान को यदि न लें तो 'भूतत्व' साधर्म्य की 'आत्मा' में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि 'ज्ञातो घटः' इस प्रत्यक्षज्ञान में 'ज्ञान' प्रकार ( विशेषण ) रूप से भासित हो रहा है, अतः प्रकारीभूत जो ज्ञान, ( उसका ) 'चक्षुः संयुक्त जो मन, (उससे) संयुक्त हुआ जो आत्मा ( उसमें ) समवेत ( समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली ) स्मृति, तद्विषयत्वरूप अर्थात् चक्षु संयुक्त मनः संयुक्त आत्मसमवेत स्मृति विषयत्वरूप ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष 'घट' का प्रत्यक्ष होता है। अतः बाह्येन्द्रिय ( चक्षु ) से

होनेवाला जो ज्ञान 'ज्ञातो घटः' इत्याकारक ज्ञान, उसका विषय होनेवाला विशेषगुण जो 'ज्ञान' तद्वत्ता 'आत्मा' में हो सकती है, इस कारण भूतत्व साधर्म्य की 'आत्मा में अतिव्याप्ति हो जायेगी। किन्तु जब हम 'ज्ञान' पद से लौकिक-प्रत्यक्षात्मकज्ञान का ग्रहण करते हैं तो 'ज्ञातो घटः' यहाँ पर 'ज्ञान' का ज्ञान-लक्षणासन्निकर्ष से लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष तो अलौकिक सन्निकर्ष है, उस कारण यहाँ पर 'ज्ञान' का अलौकिक प्रत्यक्ष ही होता है। 'ज्ञातोघटः' यह ज्ञानविषयकज्ञान है इस कारण उसे 'अनुव्यवसाय' ज्ञान कहते हैं। और ज्ञानलक्षणासन्निकर्षजन्य जो ज्ञान है, उसे 'उपनीतभान' कहते हैं। ज्ञातो घटः' इस ज्ञान में ज्ञानविशिष्ट 'घट' विशेष्य है और व्यवसायात्मक प्रथमज्ञान, विषय होने के कारण ( उसके ) विशेषण के रूप में भासित होता है। वहाँ 'घट' के साथ 'चक्षुः संयोग' लौकिक सन्निकर्ष है, और ज्ञानांश में ज्ञानलक्षणा अलौकिक सन्निकर्ष है,। इस कारण ज्ञान में लौकिकविषयता न होने से अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह कि 'ज्ञातो घटः' इस प्रत्यक्षात्मक अनुव्यवसायज्ञान में 'अयं घटः' यह प्रकारीभूत ( विशेषणीभूत ) बना ज्ञान है, वह उपनीतभान ( ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष ) का विषय है। अर्थात् उपनीत हुआ ज्ञानलक्षणा सन्निकर्षाश्रय घट, उसका जो भान अनुव्यवसायात्मकज्ञान, उसका विषय है यानी अलौकिक सन्निकर्षप्रयोज्य जो प्रत्यक्षविषयता, तदाश्रयगुणता होने के कारण तादृशज्ञानगुणवाले आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं हो पायगी। अर्थात् ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष का योग होने से आत्मा में भूतत्व सिद्ध नहीं होता।

इसी प्रकार 'विषयता' पद का अर्थ 'स्वरूपयोग्यत्वरूपविषयता' न किया जाय तो परमाणु भी भूतों में है, उनमें भूतत्वलक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि परमाणुओं के रूप आदि जो विशेषसंज्ञकगुण हैं, वे प्रत्यक्षके विषय न होने से परमाणुओं की 'भूत' संज्ञा नहीं हो सकेगी अर्थात् भूतत्व का लक्षण परमाणुओं में घटित न हो सकने से उनमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। उस अव्याप्ति के वारणार्थ 'विषयता' पद से 'स्वरूपयोग्यत्वविषयता' समझनी होगी। ऐसा समझने से परमाणुओं के रूप, जो प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, किन्तु परमाणु तथा उसके रूपादि में लौकिक प्रत्यक्ष की स्वरूपयोग्यता तो है ही, अर्थात् परमाणु में चाक्षुष—प्रत्यक्ष होने के अन्यान्य कारणों के उपस्थित रहने पर भी केवल महत्त्व के न रहने के कारण परमाणु तथा उनके रूपादि का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, क्योंकि चाक्षुष-प्रत्यक्ष के प्रति 'महत्त्वावच्छिन्न-उद्भूतरूपावच्छिन्न-अलौकिकसंयोगावच्छिन्नचक्षुः संयोग कारण होता है। अतः परमाणु में महत्त्व होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता तथापि चाक्षुष प्रत्यक्ष की स्वरूपयोग्यता तो परमाणु में तथा उसके रूपादि में है ही, तब 'बहिरिन्द्रियजन्य लौकिकप्रत्यक्षनिरूपित स्वरूपयोग्यतावद्विशेषगुण' तो पर-माणु के रूपादि भी हैं, तादृशविशेषगुणवत्त्व परमाणु आदि में भी है, इस कारण परमाणु आदि में अव्याप्ति नहीं है। 'तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वात्' इस ग्रन्थ का यही अभिप्राय है।



अथवा 'आत्माऽवृत्ति विशेषगुणवत्त्व' ही 'भूतत्त्व' का लक्षण किया जाय, क्योंकि आगे चलकर ग्रन्थकार स्वयं कह रहे हैं कि 'आत्मानो भूतवर्गश्च विशेषगुणयोगिनः आत्मा और भूतवर्ग ( पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ) विशेषगुण ( गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ) वाले हैं। तब आत्मा में न रहनेवाले ( अवृत्ति ) गन्धादि पाँच जो विशेषगुण ( पृथ्वी-आदि पाँच भूतों के विशेष गुण ) तादृश विशेषगुणवत्त्व उन्हीं परमाणु सहित पाँच द्रव्यों में ही रहेगा, अतः उन पाँचों के परमाणुओं में अव्याप्ति नहीं है। तथापि आत्मा में अवृत्ति जो परत्व अपरत्व है, उसको लेकर 'मन' में उस भूतत्व लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ उन गुणों में 'विशेष' यह विशेषण जोड़ा गया है। तब परत्व-अपरत्वादि गुण, विशेषसंज्ञक नहीं है, अपितु सामान्यगुण हैं, अतः मन में अतिव्याप्ति नहीं है। 'चत्वारि स्पर्शवन्ति हि'—पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चारों का 'स्पर्शवत्व' साधर्म्य है। अर्थात् पृथ्वी आदि चार भूत स्पर्शवाले हैं। इन चारों में ही स्पर्शगुण उपलब्ध होता है, अन्यत्र नहीं, अर्थात् आकाशादि पाँच द्रव्य में स्पर्श नहीं रहता ॥ २६ ॥

**द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यादथाकाशशरीरिणाम् ।**
**अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते ॥ २७ ॥**

पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों का 'द्रव्यारंभकत्व' ( नवीनद्रव्य को उत्पन्न करना ) साधर्म्य है। अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार द्रव्य किसी एक द्रव्य के उत्पादक हैं। अवयव, अवयवी के उत्पादक होते हैं। अतः चार द्रव्यों का 'द्रव्यारंभकत्व' साधर्म्य माना गया है। अभिप्राय यह है कि क्षिति ( पृथ्वी ), अप् ( जल ), तेजस् और वायु ये द्रव्य के समवायिकारण हैं। आकाश किसी द्रव्य का समवायिकारण नहीं अपितु निमित्तकारण है। इसलिये द्रव्यसमवायिकारणता, क्षिति—आदि चार भूतों का साधर्म्य है। आकाश और आत्मा का विशेषगुण अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक है अर्थात् आकाश और आत्मा का साधर्म्य अव्याप्यवृत्ति क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' है।

द्रव्यारम्भ इति। पृथिव्यप्तेजोवायुषु चतुर्षु द्रव्यारम्भकत्वं साधर्म्यम्। न च द्रव्यानारम्भके घटादावव्याप्तिः, द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व-स्य विवक्षितत्वात्।

इति क्षित्यप्तेजोवायूनां साधर्म्यकथनम्।

आकाशशरीरिणामिति। आकाशात्मनामव्याप्यवृत्तिक्षणिकविशेषगुणवत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः। आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः, स चाव्याप्यवृत्तिर्यदा किञ्चदव-च्छेदेन शब्द उत्पद्यते तदाऽन्यावच्छेदेन तदभावस्यापि सत्त्वात्। क्षणिकत्वं च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्। योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्य-त्वात्प्रथमशब्दस्य द्वितीयशब्देन नाशः। एवं ज्ञानादीनामपि। ज्ञानादिकं यदा-

ऽऽत्मनि विभौ शरीराद्यवच्छेदेनोत्पद्यते तदा घटाद्यवच्छेदेन तदभावोऽस्त्येव। एवं ज्ञानादिकमपि क्षणद्वयावस्थायि। इत्थं चाव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्वं क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं चार्थः। पृथिव्यादौ रूपादि विशेषगुणोऽस्तीत्यतोऽव्याप्यवृत्तीत्युक्तम्। पृथिव्यादावव्याप्यवृत्तिः संयोगादिरस्तीत्यतो विशेषगुणेत्युक्तम्।

न च रूपादीनामपि कदाचित्तृतीयक्षणे नाशसम्भवात्क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं क्षित्यादावतिव्याप्तमिति वाच्यम् चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वस्य तदर्थत्वात्। अपेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयं तिष्ठति, क्षणचतुष्टयं तु न किमपि जन्यज्ञानादिकं तिष्ठति।

रूपत्वादिकं तु क्षणचतुष्टयस्थायिन्यपि रूपादौ वर्तत इति तद्व्युदासः। ईश्वरज्ञानस्य चतुःक्षणवृत्तित्वाज्ज्ञानत्वस्य तद्वृत्तित्वाज्जन्येत्युक्तम्। यद्याकाशजीवात्मनोः साधर्म्यं तदा जन्येति न देयम्। द्वेषत्वादिकमादाय लक्षणसमन्वयात् परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वाच्चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमाद् द्वित्वादीनामपि तथात्वात्तद्वारणाय विशेषेति। त्रिक्षणवृत्तित्वं वा वाच्यम्। द्वेषत्वादिकमादायात्मनि लक्षणसमन्वयः॥ २७॥

शंका—घट आदि जो कितने ही पूर्ण अवयवी हैं, उनसे कोई अन्य अवयवी द्रव्य उत्पन्न नहीं होते, तो अब घट आदि में द्रव्यारम्भकत्वरूप धर्म नहीं रहा अर्थात् घट से घट उत्पन्न नहीं होता है। अतः घट में द्रव्यारंभकत्वरूप साधर्म्य के न होने से अव्याप्ति होगी।

समा०—'द्रव्यारम्भकत्व' का जातिघटित अर्थ करने पर अव्याप्ति नहीं होगी। द्रव्यारम्भकत्व का यह प्रयोजन है कि किसी एक अवयवरूपी द्रव्य में रहकर तथा द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा अल्प स्थान में रहने वाली जो जाति ( पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजत्व, और वायुत्व ) ऐसी विवक्षा की जा सके। यही जाति इन्हीं चार द्रव्यों में रहकर घट में जो अव्याप्ति आती थी, अब नहीं हो सकती। अर्थात् द्रव्य के समवायिकारण में रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति ( पृथ्वीत्वजाति, जलत्वजाति आदि चार जातियाँ हैं ) तादृशजातिमत्त्व पृथ्वी, जल आदि सभी में हैं, तथा घटादि में भी हैं, इस कारण घटादि में अव्याप्ति नहीं होती। शेष पाँच पदार्थों में से आकाश काल, दिक् ये द्रव्य एक एक होने से उनमें जाति नहीं रहती और आत्मत्व, तथा मनस्त्व जाति आत्मा और मनस् में रहेंगी जो कदापि समवायिकारण नहीं होते। इस प्रकार साधर्म्य के लक्षण को परिष्कृत कर दिया गया है। अन्त्यावयवी घट आदि यद्यपि किसी दूसरे नवीन घट को पैदा नहीं करता, तथापि उसमें पृथ्वीत्वजाति तो रहती ही है जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति है और द्रव्य के समवायिकारण द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि में रहती है, अतः कोई अव्याप्ति दोष नहीं है।

शंका—द्रव्य समवायिकारण वृत्ति जाति में 'द्रव्यत्वव्याप्य' यह विशेषण क्यों दिया गया है?



समा०—यह विशेषण यदि नहीं देंगे तो द्रव्यसमवायिकारणवृत्ति द्रव्यत्वजाति को तथा सत्ताजाति को लेकर आकाशादि द्रव्यों में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निरसनार्थ 'द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिजाति' में 'द्रव्यत्वव्याप्य' यह विशेषण दिया गया है। द्रव्यत्वजाति तथा सत्ताजाति, द्रव्यत्वजाति की व्याप्य जातियाँ नहीं हैं।

अथाकाशशरीरिणामिति। आकाश तथा शरीरी ( आत्मा ) का अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्व तथा क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' साधर्म्य है। अर्थात् दोनों में रहने वाले विशेषगुण अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक होते हैं। आकाश का विशेषगुणशब्द है, वह 'अव्याप्यवृत्ति' है। अव्याप्यन्वृत्ति ( एकदेशवृत्ति ) शब्द का यह अर्थ है कि जो पदार्थ किसी जगह अपने अभाव के साथ रहे, उसी को अव्याप्यवृत्ति कहते हैं। जैसे—शब्द तथा ज्ञान आदि ये पदार्थ अव्याप्यवृत्ति होकर रहते हैं। क्योंकि शब्द, आकाश का विशेषगुण है। जिस समय आकाश में जो शब्द किसी एक प्रदेश में रहता है, उसी समय ( आकाश में ) उस प्रदेश के अतिरिक्त अन्य प्रदेश में उस शब्द का अभाव भी रहता है, इस कारण वह शब्द अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है। जैसे आकाश तो सर्वत्र व्यापक है अर्थात् सभी जगह फैला हुआ है, ऐसी स्थिति में नगाड़े ( भेरी ) का जो प्रदेश है वह भी आकाश से अवच्छिन्न ( युक्त ) है। इस कारण जिस समय किञ्चिदवच्छदेन ( भेरीप्रदेशावच्छदेन ) अर्थात् भेरीप्रदेशावच्छिन्न आकाश में शब्द उत्पन्न होता है उसी समय आकाश में अन्यावच्छदेन ( घट-पटाद्यवच्छदेन ) अर्थात् शब्दशून्य घटात्मकप्रदेश से अवच्छिन्न आकाश में शब्दाभाव भी रहता है। निष्कर्ष यह हुआ कि आकाश के व्यापक रहने से वह सभी प्रदेशों से सम्बद्ध है। अतः जिस भेरी प्रदेश में शब्द हो रहा है तद्देशावच्छदेन आकाश शब्दवान् और घट-पटादि के प्रदेश में शब्द नहीं हो रहा है। तद्देशावच्छेदेन आकाश शब्दाभाववान् भी है, इस कारण यह कह सकते हैं कि एक ही आकाशरूप अधिकरण में शब्द भी है और शब्दाभाव भी है। जहाँ एक ही अधिकरण में प्रतियोगी और उसका अभाव दोनों रहते हैं, उसे अव्याप्यवृत्ति कहते हैं। जैसे एक ही वृक्ष पर कपिसंयोग और उसका अभाव दोनों रहते हैं। अतः कपिसंयोग को अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है। ऊपर बता चुके हैं कि आकाश और आत्मा में रहनेवाले विशेषगुण, अव्याप्यवृत्ति और क्षणिक होते हैं यानी अव्ययवृत्ति विशेषगुण वाला होना क्षणिक विशेषगुण वाला होना ही दोनों का साधर्म्य है।

आकाश के विशेषगुणस्वरूप शब्द की अव्याप्यवृत्तिता को बता चुके। अब उसके क्षणिकत्व को देखें। 'शब्द' क्षणिक भी है। क्षणिक उसे कहते हैं, जिसका तृतीय क्षण में ध्वंस ( नाश ) हो। अर्थात् उस ध्वंस के प्रतियोगी को क्षणिक कहते हैं। नैयायिकों का क्षणिकत्व, बौद्धों के क्षणिकत्व से भिन्न है। बौद्धों के मत में क्षणिक उसे कहते हैं जिसका स्वोत्पत्ति के दूसरे क्षण में ही ध्वंस हो। किन्तु नैयायिक तथा वैशेषिक किसी भी पदार्थ का द्वितीयक्षण में ध्वंस ( नाश ) नहीं मानते।

इनके मत में प्रथम क्षण में उत्पत्ति और द्वितीय क्षण में स्थिति तथा तृतीय क्षण में ध्वंस होता है। ये स्थिति का भी एक क्षण मानते हैं; किन्तु बौद्धों ने उत्पत्ति क्षण के अतिरिक्त स्थिति का कोई क्षण नहीं माना है। अतः नैयायिकों के मत में 'तृतीय-क्षणवृत्ति ध्वंसप्रतियोगित्व' होना 'क्षणिक' पदार्थ है। अर्थात् जिसका तृतीय क्षण में नाश हो वह क्षणिक है। अतः भेरीप्रदेश में उत्पन्न हुआ जो शब्द है वही हमारे कान तक नहीं पहुँचता, बल्कि वह शब्द अगले दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है और उस अगले शब्द से प्रथम शब्द का ध्वंस हो जाता है। एवं च प्रत्येक शब्द प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है; द्वितीय क्षण में अगले दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है और उस अगले उत्पन्न हुए द्वितीय शब्द से प्रथम का तृतीय क्षण में नाश हो जाता है। यानी प्रथम क्षण उत्पत्ति का क्षण है, द्वितीय क्षण उसकी स्थिति का है और तृतीय क्षण उसके नष्ट होने का है। एवंच आकाश का विशेषगुण जो शब्द है वह अव्याप्यवृत्ति भी है और क्षणिक भी है। इसी प्रकार ज्ञानादि विशेषगुणों को भी समझना चाहिये। अर्थात् आत्मा के नौ विशेषगुण हैं उनमें ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख और प्रयत्न ये छह विशेषगुण अव्याप्यवृत्ति भी हैं तथा क्षणिक भी हैं, और धर्म, अधर्म, भावनाख्यसंस्कार ये तीन गुण केवल अव्याप्यवृत्ति ही हैं, क्षणिक नहीं। 'आत्मा' सर्वव्यापक है तथापि उसका विशेषगुण ज्ञान, आत्मा के उसी प्रदेश में उत्पन्न होता है, जो प्रदेश शरीर से अवच्छिन्न हो, यानी आत्मा के उसी प्रदेश में उस ( आत्मा ) का अपना शरीर वर्तमान है। घट-पटादि के प्रदेश में भी आत्मा है, किन्तु वहाँ उसका अपना शरीर न होने से ( वहाँ ) ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस रीति से आत्मा के विशेषगुण ज्ञान आदि आत्मा के एक देश में रहनेवाले होने से वे गुण अव्याप्यवृत्ति हैं। ज्ञान आदि आत्मा के विशेषगुण केवल दो क्षण रहकर तृतीय क्षण में उनका नाश हो जाता है, अतः वे क्षणिक भी हैं। जहाँ कहीं किसी घट-पटादि वस्तु का ज्ञान लगातार कुछ समय तक होता हुआ प्रतीत होता है, वहाँ भी यही समझना चाहिये कि वह एक ही ज्ञान नहीं है, अपितु उसी ज्ञान से उसी प्रकार का दूसरा ज्ञान, पुनः उससे तीसरा ज्ञान, पुनः उससे चौथा ज्ञान उसी तरह अगला अगला ज्ञान उत्पन्न होता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानादि भी "तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी' होने से क्षणिक हैं। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि अव्याप्यवृत्ति विशेषगुण का होना और क्षणिक विशेषगुण का होना आकाश और आत्मा का साधर्म्य है।

**शंका**—'अव्याप्यवृत्तिविषशेषगुणवत्त्व' इस साधर्म्य में 'अव्याप्यवृत्ति' यदि न कहें, केवल 'विशेषगुणवत्त्व' इतना ही कहें तो क्या आपत्ति है ?

**समा०**—'विशेषगुणवत्त्व' इतना ही यदि कहें तो पृथ्वी आदि में भी उसके अपने रूपादि विशेष गुण रहते ही हैं तो 'विशेषगुणवत्त्व' पृथ्वी आदि में भी रहने से उनमें ( पृथ्वी आदि में ) भी साधर्म्य की अतिव्याप्ति होगी, उस अतिव्याप्ति के 'निरसनार्थ अव्याप्यवृत्ति' कहा गया है। पृथ्वी आदि के रूपादि विशेषगुण अव्याप्य



वृत्ति नहीं हैं बल्कि 'व्याप्यवृत्ति' हैं। अर्थात् वे रूपादि विशेषगुण, पृथ्वी आदि को पूर्णतया व्याप्त करके रहते हैं। अतः अव्याप्यवृत्ति कहने से पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति नहीं हो पाएगी।

**शंका**—'अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्व' इस साधर्म्य लक्षण में "विशेष' पद क्यों दिया ? केवल 'अव्याप्यवृत्तिगुणवत्त्व' इतना ही कहें तो क्या हानि है ?

**समा०**—केवल 'अव्याप्यवृत्तिगुणवत्त्व' कहें और उसमें 'विशेष' पद न जोड़े तो 'संयोगादिगुण' जो पृथ्वी आदि में रहते हैं, वे भी अव्याप्यवृत्ति हैं। अतः संयोगादिगुणवाली पृथ्वी आदि में इस साधर्म्य लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसी अतिव्याप्ति के निरसनार्थ लक्षण में 'विशेष' पद जोड़ा गया है। तब संयोगादि तो विशेषगुण नहीं हैं, वे सामान्यगुण हैं। भले ही वे अव्याप्यवृत्ति हों। अतः संयोगादि मे विशेषगुणवत्त्व न होने से पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

**शंका**—मुक्तावलीकार ने 'क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' यह साधर्म्य बताकर आगे उसका परिष्कार किया कि 'चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इसकी ( इस परिष्कार की ) आवश्यकता क्यों हुई ?

**समा०**—पहले यह बता चुके हैं कि 'तृतीय क्षण' में जिसका नाश होता है उसे क्षणिक कहते हैं। किन्तु कभी-कभी रूप आदि का भी किसी विशेष निमित्त ( कारण ) से तृतीयक्षण में नाश होना सम्भव है। जैसे—प्रथमक्षण में घट पर दण्ड-प्रहार हुआ द्वितीयक्षण में घटनाश हुआ, तृतीयक्षण में उसके रूप का नाश हुआ, क्योंकि घट-रूपनाश, घटनाश के अधीन है। तब तृतीयक्षणवृत्त जो ध्वंस अर्थात् रूपध्वंस ( नाश ) तत्प्रतियोगि 'क्षणिकत्व' रूप ( घटरूप ) में रहने से 'रूप भी क्षणिकविशेषगुण हो गया, तादृशरूपवत्ता पृथ्वी आदि द्रव्यों में है ही। इस कारण 'क्षणिक विशेषगुणत्व' साधर्म्य की पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निरसनार्थ उपर्युक्त परिष्कार करने की आवश्यकता हुई।

'चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद् विशेषगुणवत्त्व' यह अर्थ 'क्षणिकत्व' का करने पर अव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि चारक्षण रहनेवाला जन्य पदार्थ 'रूप' आदि भी हैं, उसमें 'रूपत्व' आदि जाति विद्यमान ( वृत्ति ) है ही, और अवृत्तिजाति अर्थात् चतुःक्षणवृत्ति रूपादिजन्यपदार्थ में न रहनेवाली जाति 'ज्ञानत्व, शब्दत्व' आदि जाति ही होगी, तादृशजातिमान् ( वैसी जाति का ) विशेषगुण ज्ञान, शब्द आदि होंगे। तद्वता आत्मा में, आकाश में ही होगी, पृथिवी में तो होगी नहीं, इस कारण पृथिवी आदि में अतिव्याप्ति नहीं पायेगी। कोई भी जन्यज्ञान चारक्षण नहीं रहता। अपेक्षाबुद्धि ( अयमेकः अयमेकः इमौ द्वौ इत्याकारिका ) तीन क्षण ही रहती है। रूपत्वजाति तो तीन, चार या उससे भी अधिक क्षण रहनेवाले रूप में भी रहती है। अतः कदाचित् तृतीयक्षण में रूप आदि का नाश होने पर भी कोई दोष नहीं अर्थात् रूपत्वादि जाति को लेकर पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति हो सकेगी।

शंका—'चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इस—क्षणिकत्व के परिष्कृतलक्षण में 'जन्य' पद क्यों दिया है? केवल इतना ही कहते कि 'चतुः क्षणवृत्ति, जो हो उसमें अवृत्ति जो जाति तादृश जातिमद्विशेषगुणवत्त्व' तो क्या आपत्ति होगी?

समा०—चतुःक्षणवृत्ति ( चार क्षण रहनेवाला ) ईश्वरज्ञान भी है, क्योंकि वह नित्य है, उस पर 'ज्ञानत्व' जाति रहती है ( वृत्ति है )। यदि ज्ञानत्वजाति, चतुःक्षणवृत्ति ईश्वरज्ञान में अवृत्ति होती तो तादृशजातिमान् विशेषगुण 'ज्ञान' होता, और तब ज्ञानवत्ता ( ज्ञानवाला ) आत्मा में होने से आत्मा में लक्षणसमन्वय हो जाता, परन्तु हो नहीं पा रहा है, इस कारण आत्मा में अव्याप्ति हो जायगी, यह आपत्ति है। और दूसरी आपत्ति ( दोष ) यह भी होगी कि चतुःक्षणवृत्ति ईश्वरज्ञान में अवृत्तिजाति 'रूपवत्त्व' जाति को भी ले सकते हैं, तब पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति होगी। उसके निरसनार्थ उक्त लक्षण में 'जन्य' पद का निवेश किया है। तब चतुःक्षणवृत्ति जो जन्य होंगे, वे रूपादि ही होंगे, उन रूपादिकों में अवृत्ति जाति, ज्ञानत्वादि होगी, उस जाति को लेकर तादृशजातिमान् ज्ञानादि ही होंगे, उस प्रकार के ज्ञानादिविशेषगुणवाला आत्मा होने से लक्षणसमन्वय हो जायगा। एवं च आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं, तथा पृथ्वी आदि में अतिव्याप्ति भी नहीं होगी। यदि 'आत्मन्' शब्द से जीवात्मा की ही विवक्षा करके जीवात्मा और आकाश का ही 'क्षणिकविशेषगुणवत्त्व' यह साधर्म्य कहें तो क्षणिकत्व' के इस परिष्कृत चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्ति' अर्थ में 'जन्य' पद को जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। केवल 'चतुःक्षणवृत्त्यवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इतना ही कहना पर्याप्त होगा। तब जीवात्मा में भी लक्षणसमन्वय' हो जायगा। जैसे—चतुःक्षणवृत्ति 'रूप आदि' को लेंगे तब 'द्वेषत्वजाति' उनमें ( रूप आदि में ) अवृत्ति है ही, क्योंकि 'रूप में 'रूपत्व' जाति रहेगी, द्वेषत्वजाति नहीं, और यदि ईश्वर के विशेषगुणों को भी चतुःक्षणवृत्ति' के रूप में लें, तब भी द्वेष को तो ले ही नहीं सकेंगे; क्योंकि ईश्वर में द्वेष नहीं रहता। इस कारण ज्ञान या ईश्वर की इच्छा आदि को ही लेना पड़ेगा। उनमें ( ईश्वरीय ज्ञान या इच्छा में ) अवृत्तिजाति 'द्वेषत्वजाति' होगी, तादृशजातिमान् विशेषगुण 'द्वेष' होगा। तादृश 'द्वेषवत्ता' जीवात्मा में ही आवेगी। इसलिए 'चतुःक्षणवृत्ति' इत्यादि जो 'क्षणिकत्व' का लक्षण है, उसका जीवात्मा में समन्वय हो जायगा। एवंच 'क्षणिकत्व' के दो लक्षण सम्पन्न हो गये—एक 'जन्य' पद से घटित ( सहित ) और दूसरा 'जन्य' पद से अघटित ( रहित )। तात्पर्य यह है कि जब आकाश और जीवात्मा का 'क्षणिकत्व' साधर्म्य बताना हो तब 'क्षणिकत्व' का अर्थ 'चतुःक्षणवृत्त्यवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' ( यह जन्यपदाऽघटित अर्थ ) करना चाहिये। और जब 'आत्मा' पद से जीवात्मा-परमात्मा दोनों का संग्रह करना हो तब 'चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इस





प्रकार 'जन्य पदघटित परिष्कृत अर्थ को कहना चाहिये अर्थात् 'क्षणिकत्व' का अर्थ जन्यपदघटित करना चाहिए।

शंका—उपर्युक्त दो प्रकार के ( जन्यपदघटित तथा जन्यपदाऽघटित ) लक्षणों में 'विशेष' पद क्यों जड़ा गया है?

समा०—'जन्य' पदघटित लक्षण में 'विशेष' पद को यदि न जोड़ें तो 'चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमद्गुणवत्त्व' यह 'क्षणिकत्व' का अर्थ होगा। तब इस लक्षण की काल आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी। जैसे—चतुःक्षणवृत्तिजन्य 'रूपादि' ही होंगे, 'परममहत्त्व' तो होगा नहीं, क्योंकि वह नित्य जातिमान् गुण परम-महत्त्व होगा, तद्वत्त्व 'कालादि' में रहेगा। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने बताया कि 'परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वात्' यानी 'परममहत्त्व' चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमद्गुण है। तद्वत्त्व 'काल आदि में रहने से अतिव्याप्ति होगी। 'विशेष' पद के जोड़ने पर 'तादृशजातिमान्' जो गुण अपेक्षित होगा, वह विशेषगुण ही अपेक्षित होगा। तब 'परममहत्त्व' तो विशेषगुण नहीं है। इसलिए काल आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शंका—जन्यपदाऽघटित लक्षण में 'विशेष' पद यदि नहीं देंगे तो 'घट आदि' में अतिव्याप्ति होगी। जैसे—चतुःक्षणवृत्ति करके 'द्वित्व' संख्या को तो ले नहीं सकेंगे, क्योंकि द्वित्वोत्पत्ति से चतुर्थक्षण में द्वित्व संख्या का विनाश होता है। ग्रन्थकारने भी कहा है कि 'चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमात्'—द्वित्वोत्पत्ति से चतुर्थक्षण में द्वित्व संख्या का नाश हो जाता है। अतः 'चतुक्षणवृत्ति' जैसे रूपादि हैं, वैसे ही 'परममहत्त्व' परिमाण भी है। उस पर वृत्ति 'परममहत्त्व' जाति ही होगी, अवृत्तिजाति 'द्वित्वत्व' जाति होगी, तादृशजातिमान् 'गुणद्वित्वसंख्या' होगी, तद्वत्ता 'घटादि' में रहने से घटादि में अतिव्याप्ति हो जायेगी।

समा०—उक्त अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'विशेष' पद का जोड़ना आवश्यक है। 'विशेष' पद के जोड़ने पर अर्थ इस प्रकार होगा कि तादृशजातिमान् जो विशेषगुण, तब 'द्वित्वसंख्या' तो विशेषगुण नहीं है, वह तो सामान्य गुण है। इस कारण घटादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

अथवा—'चतुःक्षणवृत्तिजन्याऽवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वम्' यहाँ पर चतुःक्षणवृत्ति' के स्थान पर अर्थात् 'चतुःक्षणवृत्ति' न कहकर 'त्रिक्षणवृत्ति' कहें तो 'जन्य' पद देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। एवंच 'क्षणिक' ( त्व ) का 'त्रिक्षणवृत्त्यवृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्व' इतना ही अर्थ होगा। तब 'द्वेष' तो दो क्षण ही रहता है अर्थात् द्विक्षणावस्थायी होता है। अतः त्रिक्षणावृत्ति करके 'रूपादि' को लेना पड़ेगा, उनमें अवृत्ति जाति 'द्वेषत्वजाति' होगी, तद्दशजातिमान् विशेषगुण 'द्वेष' होगा, तद्वत्ता 'जीवात्मा' में होगी। क्योंकि 'द्वेषत्व' जाति, तीन क्षण रहने वाले किसी पदार्थ में नहीं रहती। 'द्वेष' ऐसा क्षणिक विशेषगुण है, जो 'जीवात्मा' में रहता है। तब 'द्वेषत्वजाति' को लेकर जीवात्मा में साधर्म्यलक्षण का समन्वय हो जायगा॥ २७॥

**रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः ।**
**गुरुणी द्वे रसवती द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः ॥ २८ ॥**

प्रथमत्रिक अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेज। 'रूपं च द्रवत्वं च प्रत्यक्षं च' यह द्वन्द्वसमास है। तब 'तैर्युज्यन्ते' इस अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय किया गया है। 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियम के अनुसार 'योगि' पद का प्रत्येक के साथ अन्वय ( सम्बन्ध ) करना चाहिये। तब अर्थ होगा कि रूपयोगित्व' द्रव्ययोगित्त्व, प्रत्यक्षयोगित्व यह साधर्म्य पृथ्वी, जल ( अप् ) तेज ( तेजस् ) इन तीनों का है। पृथ्वी, अप् ( जल ) ये दो द्रव्य, 'गुरुणी' अर्थात् गुरुत्ववान् और रसवान् हैं। यानी उक्त दो द्रव्यों ( पृथ्वी, जल ) का गुरुत्ववान् और रसवत्त्व––साधर्म्य है। अर्थात् ये दोनों द्रव्य समवाय संबंध से गुरुत्ववान् और रसवान् हैं और पृथ्वी, तेज दोनों द्रव्यों का समवायसम्बन्ध से नैमित्तिक द्रवत्ववत्त्व साधर्म्य है।

रूपद्रवत्वेति । पृथिव्यप्तेजसां रूपवत्त्वं, द्रवत्ववत्त्वं प्रत्यक्षविषयत्वं च साधर्म्यमित्यर्थः। न च चक्षुरादीनां भर्जनकपालस्थवह्नेरूष्मणश्च रूपवत्त्वे किं मानमिति वाच्यम्, तत्रापि तेजस्त्वेन रूपानुमानात्। एवं वाय्वानीतपृथिवीजल-तेजोभागानामपि पृथिवीत्वादिना रूपानुमानं बोध्यम्।

न च घटादौ द्रुतसुवर्णादिभिन्ने तेजसि च द्रवत्ववत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यम्, द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। घृतजतुभृतिषु पृथिवीषु, जलेषु, द्रुतसुवर्णादौ तेजसि च द्रवत्वसत्त्वात्तत्र च पृथिवीत्वादिसत्त्वात्तदादाय सर्वत्र लक्षणसमन्वयः।

न च प्रत्यक्षविषयत्वं परमाण्वादावव्याप्तमतिव्याप्तं च रूपादाविति वाच्यम्, चाक्षुषलौकिकप्रत्यक्षविषवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय चाक्षुषेति।

पृथिवी, जल तेज ( अग्नि ) इन पहले तीन द्रव्यों का साधर्म्य, रूपवत्त्व ( रूपवाला=रूपयुक्त ) द्रवत्ववत्त्व ( द्रवत्ववाला=द्रवत्वयुक्त ) और प्रत्यक्ष-विषयत्व ( प्रत्यक्ष का विषय होना ) है। ये तीनों द्रव्य प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में से केवल पृथ्वी, जल, तेज ये तीन द्रव्य ही रूपवाले ( रूप युक्त ) हैं, शेष वायु से लेकर आत्मा तक सभी द्रव्य रूपरहित हैं। और द्रवत्व ( तरलता ) भी इन्हीं तीन द्रव्यों में पाया जाता है। जितने भी तरल ( द्रव ) पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब पृथ्वी, जल, तेज में से ही अन्यतम ( कोई एक ) द्रव्य होंगे। उसी प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष भी इन्हीं तीन पृथ्वी, जल और तेज का ही होता है। कारिका में दिये गये 'प्रत्यक्ष' पद का अभिप्राय केवल 'चाक्षुषप्रत्ययक्ष' से ही है। आत्मा का भी प्रत्यक्ष होता है किन्तु वह चाक्षुषप्रत्यक्ष न होकर मानस प्रत्यक्ष है।

शंका—तैजस कहे जाने वाले चक्षु, भर्जनकपाल ( भाड़ ) में स्थित अग्नि,



और ऊष्मा ( गरमी ) इन तीनों के रूपवत्त्व में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि इन तीनों के रूप का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। अतः 'रूपवत्त्व'साधर्म्य की इनमें अव्याप्ति होगी।

समा०—जिन स्थलों में अव्याप्ति प्रतीत हो रही है, उन स्थलों में रूप की प्रतीति न होने पर भी 'तेजत्व' हेतु से रूप का अनुमान कर लेना चाहिये। अनुमान का आकार यह होगा—'चक्षुः रूपवत् तेजत्वात् प्रदीपवत्', 'भर्जनकपाल-स्थवह्निः रूपवान् तेजत्वात् विद्युद्वत्', 'ऊष्मा रूपवान् तेजत्वात् प्रभावत्' यहाँ सर्वत्र साध्य और हेतु का समवायसम्बन्ध समझना चाहिए। उसी प्रकार हवा में मिले हुए या हवा में उठते हुए पृथ्वी के, जल के, और तेज के कणों में भी रूप की प्रतीति नहीं होती है। अतः वहाँ पर भी पृथ्वीत्व आदि हेतुओं से अर्थात् पृथ्वीत्व, जलत्व तेजत्व हेतुओं से रूप का अनुमान करना चाहिए।

शंका––पृथ्वी में, जल में, तेजस् में, 'द्रवत्व' गुण बताया, लेकिन वह 'द्रवत्व' गुण समस्त पृथ्वी ( घट-पटादि ) में नहीं दिखाई देता, तथा पिघले हुए स्वर्ण को छोड़कर दूसरे अग्नि ( रसोई आदि का अग्नि ) में नहीं दिखाई देता, अतः द्रवत्व की अव्याप्ति हुई।

समा०––ऐसे स्थल पर 'द्रवत्ववत्त्व' का परिष्कृत अर्थ करना चाहिए। अर्थात् जातिघटित लक्षण कर देना चाहिए। द्रवत्ववत्त्व का परिष्कृत अर्थ इस प्रकार होगा––'द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' इस अर्थ के करने से अव्याप्ति का निवारण हो जायगा। क्योंकि द्रवत्ववान् करके घृत, जतु, पृथ्वी, जल, पिघला हुआ सुवर्णादिरूप तेज, उनमें वृत्ति ( रहनेवाला ) जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति, क्रम से पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजत्व जाति, उस जाति के अन्तर्गत पृथ्वीत्व-जातिमत्त्व घटादिरूप पृथ्वी में तथा तेजत्वजातिमत्त्व द्रुत ( पिघले ) सुवर्णादि से भिन्न वह्निरूप तेज में भी है, इसलिए अव्याप्ति नहीं हो पायेगी। इसी पद्धति से पृथ्वीत्वजाति को लेकर पूर्वप्रदर्शित सभी स्थलों में लक्षण को घटा लेना चाहिए।

शंका––'चाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्व' रूपसाधर्म्य की पृथिवी, जल आदि के परमाणुओं में तथा द्व्यणुक में अव्याप्ति होगी, क्योंकि—परमाणु एवं द्व्यणुक का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता, वे अतीन्द्रिय हैं। अतः उनमें 'प्रत्यक्ष-विषयत्व' न होने से अव्याप्ति हो रही है। उसी प्रकार रूप, रूपत्व और क्रिया में अतिव्याप्ति होगी; क्योंकि रूपत्व और क्रिया का प्रत्यक्ष होता है। अतः उनमें 'प्रत्यक्षविषयत्व' है। किन्तु रूप आदि उक्त साधर्म्य के लक्ष्य नहीं हैं। अतः अलक्ष्य में साधर्म्य का लक्षण जाने से अतिव्याप्ति हो रही है।

समा०—यहाँ पर भी जाति-घटितलक्षण करने से अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों का वारण हो जायगा। जातिघटित करने का प्रकार—चाक्षुष प्रत्यक्ष के जो विषय हैं उनमें वृत्ति (रहनेवाली) जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति'–यह अर्थ 'प्रत्यक्षविषयत्व'

का करना चाहिए। जैसे——चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय 'पृथ्वी' ( घट ), जल, तेज होंगे, उनमें वृत्ति ( रहनेवाली ) द्रव्यत्वव्याप्यजाति करके पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजत्व जाति होगी, तादृशजातिमान्, पृथ्वी, जल तेज के परमाणु भी होंगे। अतः तादृश ( उस प्रकार के ) जातिमत्त्वरूप-प्रत्यक्षविषयत्व के परमाणु, द्वचणुक आदि में अव्याप्ति नहीं होगी। और रूप, रूपत्व, क्रिया में तादृश-द्रव्यत्वव्याप्यजाति के न होने से उनमें अतिव्याप्ति भी नहीं होगी। चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय में रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्य जातियाँ केवल पृथ्वीत्व जलत्व और तेजत्व ये तीन ही होती हैं।

शंका—'प्रत्यक्षविषयत्व' का अर्थ 'चाक्षुष लौकिक प्रत्यक्षविषयत्व' है ऐसा पहले कह चुके हैं। परन्तु इस परिष्कृत अर्थ में से यदि 'चाक्षुष' पद हटा दिया जाय तो कहाँ दोष आएगा ?

समा०——'चाक्षुष' पद न देने पर 'आत्मा में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि 'आत्मा' का भी लौकिक मानस प्रत्यक्ष होता है। एवंच लौकिक मानस प्रत्यक्ष का विषय होनेवाले आत्मा में वृत्ति ( रहनेवाली ) द्रव्यत्वव्याप्यजाति 'आत्मत्व' जाति होगी, तादृशजातिमान् 'आत्मा' होगा। इस रीति से 'लौकिकप्रत्यक्षविषयत्व की अतिव्याप्ति हो जायगी। किन्तु 'चाक्षुष' पद के देने पर——अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। क्योंकि——'आत्मा' चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, उसका तो मानस प्रत्यक्ष होता है। इस रीति से अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए 'चाक्षुष' पद देना आवश्यक है।

इति पृथिव्यप्तेजसां साधर्म्यकथनम्।

गुरुणी इति। गुरुत्ववत्त्वं रसवत्त्वं च पृथिवीजलयोरित्यर्थः न च घ्राणेन्द्रियादीनां वाय्वानीतपार्थिवादिभागानां च रसादिमत्वे किं मानमिति वाच्यम्, तत्रापि पृथिवीत्वादिना तदनुमानात्।

इति पृथिवीजलयोः साधर्म्यकथनम्।

पृथ्वी और जल का 'गुरुत्ववत्त्व तथा रसवत्त्व' साधर्म्य पहले बता चुके हैं। उस सम्बन्ध में भी जिज्ञासा उपस्थित होती है—नैयायिक तथा वैशेषिकों के मत में पृथिवी और जल में ही 'गुरुत्व' माना गया है। सुवर्ण भी तैजसपदार्थ होने से उसमें जो 'गुरुत्व' है, वह पार्थिव अंश के कारण है। पृथ्वी और जल दोनों में ही 'रस' माना गया है। जल में मधुर रस और पृथ्वी में अनेक प्रकार के रस रहते हैं, यह भूलना नहीं चाहिये।

शंका नैयायिकों ने घ्राणेन्द्रिय को पृथ्वी माना है, तब उस ( घ्राणेन्द्रिय ) के पार्थिव भाग में तथा वायुवेग के द्वारा उड़कर आये हुए पार्थिव कणों में या जलीय कणों में तथा द्वचणुकों में रस ( रसादिमत्त्व या गुरुत्ववत्त्व ) की प्रतीति क्यों नहीं होती ?

समा०—वहाँ पर भी ( घ्राण, रसना, परमाणु आदि में भी ) 'पृथ्वीत्व और जलत्व' हेतु के द्वारा रसादिमत्त्व ( उनके रस ) का अनुमान कर लेना चाहिये।



जैसे——'घ्राणेन्द्रियं रसवत् पृथिवीत्वात् शर्करावत्'। 'घ्राणं गुरुत्ववत् पृथिवीत्वात् घटवत्'। रसनं रसवत् जलत्वात् कूपोदकवत्', 'रसनं गुरुत्ववत् जलत्वात् करकावत्। उसी तरह 'पार्थिवपरमाण्वादयः रसवन्तः गुरुत्ववन्तश्च पृथिवीत्वात् शर्करादिवत्' : 'जलपरमाण्वादयः रसवन्तः गुरुत्ववन्तश्च जलत्वात् नारिकेलजलवत्'। इन अनुमान प्रयोगों से पृथ्वी, जल का गुरुत्ववत्त्व और रसवत्त्व साधर्म्य सिद्ध होता है।

इति पृथिवीजलयोः साधर्म्यकथनम्।

द्वयोरिति। पृथिवीतेजसोरित्यर्थः न च नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्वं घटादौ वह्न्यादौ चाव्याप्तमिति वाच्यम्, नैमित्तिकद्रवत्वसमानाधिकण द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ॥ २८ ॥

इति पृथिवीतेजसोः साधर्म्यकथनम्।

पृथ्वी और तेजस् ( तेज ) दोनों का 'नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व' साधर्म्य है। जिस द्रव्य में किसी कारण ( निमित्त ) से द्रवत्व होता है, उस द्रव्य को नैमित्तिकद्रवत्ववान् कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज तीनों में द्रवत्वगुण रहता है। उनमें से 'जल' में 'स्वाभाविकद्रवत्व' रहता हैं। बरफ में जो कठिनता रहती है, वह तो किसी विशेष कारण ( निमित्त ) से हो जाती है। पृथ्वी और तेज में जो द्रवत्व होता है, वह स्वाभाविक नहीं है अपितु, किसी विशेष कारण ( निमित्त ) से होता है। व्यवहार में हम देखते भी हैं कि घी, तेल, लाख आदि पार्थिव द्रव्यों में तथा सुवर्णादि तैजस द्रव्यों में जो पतलापन ( द्रवत्व-तरलता ) होता है, वह किसी विशेष निमित्त से ( अग्निसंयोग, यंत्रसंयोग से ) ही होता है। अतः पृथ्वी, तेज का नैमित्तिकद्रवत्व' साधर्म्य बताया गया है।

शंका—उपर्युक्त 'नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व' साधर्म्य की 'घट' आदि पृथ्वी में तथा अग्नि आदि में अव्याप्ति है। क्योंकि किसी भी निमित्त से वहाँ 'द्रवत्व' नहीं हो पाता।

समा०—वहाँ पर 'नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व' का परिष्कृत अर्थ करना होगा। अर्थात् 'नैमित्तिकद्रवत्वसमानाधिकरण-द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' यह अर्थ करना होगा। समानाधिकरण का अर्थ होता है 'एक अधिकरण में दोनों का रहना। तब लक्षण समन्वय इस प्रकार किया जायगा——'नैमित्तिकद्रवत्व के अधिकरण में रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति, तादृशजातिमत्त्व'। प्रकृत स्थल में नैमित्तिकद्रवत्व का अधिकरण यद्यपि 'घटादि' तथा 'अग्नि' न हो, तथापि अधिकरण करके 'घृतरूप पृथ्वी' तथा द्रुतसुवर्णादिरूप तेज' लेंगे, उनमें रहनेवाली द्रव्यत्वव्याप्यजाति क्रमशः 'पृथ्वीत्व', तथा 'तेजत्व जाति होगी, तद्वृत्ता समस्त पृथ्वी और समस्त तेजों में रहेगी। अतः तादृशजात्यन्तर्गत 'पृथ्वीत्व-जातिमान् घटादिरूपा पृथ्वी' भी है और 'तादृशतेजत्वजातिमान् वह्निरूप तेज' भी है, इसलिए उनमें अव्याप्ति नहीं है ॥ २८ ॥

इति पृथिवीतेजसोः साधर्म्यकथनम्।

**आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेषगुणयोगिनः ।**
**यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत् ॥ २९ ॥**

परमात्मा, जीवात्मा और पाँच भूत ये विशेष गुणवाले हैं। अर्थात् इनका 'विशेषगुणवत्त्व' साधर्म्य है। तात्पर्य यह है कि इन्हीं छह द्रव्यों में विशेषगुण रहते हैं। 'बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः। अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः ॥' बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये छह और 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श' ये चार और स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व, अदृष्ट अर्थात् धर्म-अधर्म, भावनाख्यसंस्कार तथा शब्द ये सोलह विशेष गुण कहे जाते हैं। ये 'विशेष गुण' पाँच भूत और आत्मा में होते हैं। अवशिष्ट 'दिक्, काल और मन' तीन द्रव्यों में कोई विशेषगुण नहीं रहता। जो गुण किसी खास द्रव्य में रहे उसे विशेषगुण कहते हैं और साधारणरूप से अनेक द्रव्यों में जो पाया जाय उसे सामान्यगुण कहते हैं। जैसे—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व अपरत्व आदि ये गुण सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं। अतः ये सामान्यगुण समझे जाते हैं।

अभी तक जो जिसका साधर्म्य बताया गया है, वही साधर्म्य अन्य द्रव्यों का वैधर्म्य है। जैसे द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का 'सत्तावत्त्व' साधर्म्य बताया है। अतः इन तीनों से अन्य जो सामान्यादि हैं, उनका वैधर्म्य 'सत्तावत्त्व' होगा। अर्थात् विरुद्ध धर्म कहलाएगा। किन्तु ज्ञेयत्व, 'वाच्यत्व' प्रमेयत्व, अभिधेयत्व, पदार्थत्व' ये केवलान्वयी धर्म किसी के भी वैधर्म्य ( विरुद्धधर्म ) नहीं होते। ये सभी पदार्थों के समान धर्म होते हैं। केवलान्वयी धर्म उसे कहते हैं जो—अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्'—अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न हो अर्थात् अप्रतियोगी धर्म हो।

'आत्मान' इति। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मनां विशेषगुणवत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः।

इति भूतात्मनोः साधर्म्यकथनम्।

पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। जल में रूप, रस, स्पर्श। तेजस् ( तज ) में रूप, स्पर्श। वायु में स्पर्श। आकाश में शब्द। जीवात्मा में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना। ईश्वर ( परमात्मा ) में ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न ये धर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः समवायेन 'विशेषगुणवत्त्व' को पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, आत्मा का साधर्म्य कहा है। यहाँ तक साधर्म्य बताया।

इति भूतात्मनोः साधर्म्यकथनम्।

यदुक्तमिति। ज्ञेयत्वादिकं विहायेति बोध्यम्। तत्त न कस्यापि वैधर्म्यं, केवलान्वयित्वात् ॥ २९ ॥

इति वैधर्म्यनिरूपणम्।



अब उनका वैधर्म्य भी 'यदुक्तम्' से संक्षेप में बता रहे हैं। जो-जो धर्म ( गुण अथवा कर्म आदि ) जिस-जिस पदार्थ का साधर्म्य है, उन धर्मों में ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व आदि धर्मों का भी साधर्म्य समझना चाहिये। इनके अतिरिक्त ये धर्म उक्त पदार्थों से भिन्न पदार्थों के वैधर्म्यरूप हैं। जैसे—'समवायिकारणता' द्रव्यों का साधर्म्य है, किन्तु वही समवायिकारणता 'गुणों' का वैधर्म्य है। 'सतानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते' इससे स्पष्ट है कि 'ज्ञेयत्व-प्रमेयत्वादि धर्म' किसी भी पदार्थ के वैधर्म्य नहीं, ये तो सातों पदार्थों के साधर्म्य हैं। अतः ज्ञेयत्वादि धर्मों से भिन्न धर्मों को वैधर्म्यरूप समझना चाहिये। 'ज्ञेयत्वादि धर्म' तो केवलान्वयी हैं, वे किसी पदार्थ के विरुद्ध धर्म नहीं हो सकते ॥ २९ ॥

इति वैधर्म्यनिरूपणम्।

**स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।**
**स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः ॥३०॥**
**स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम्।**
**रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥३१॥**
**स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।**
**बुद्ध्यादिषट्कं सङ्ख्यादिपञ्चकं भावना तथा ॥३२॥**
**धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश।**
**सङ्ख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ॥३३॥**
**सङ्ख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।**
**परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे ॥३४॥**

'स्पर्शादय इति।' ते च पञ्चसंख्यादयः। खे आकाशे ॥३०-३४॥

इति सामान्यतो द्रव्यगुणकथनम्।

उन्तीस कारिकाओं तक पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य बता चुके। अब तीसवीं कारिका से चौंतीसवीं कारिका तक किन-किन द्रव्यों में कितने और कौन-कौन गुण रहते हैं, उसे बता रहे हैं। इस विषय में एक प्राचीन कारिका भी है—'वायोर्नवैकादश तेजसो गुणा, जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश। दिक्कालयोः पञ्च, षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ, मनसस्तथैव च।' इस प्राचीन कारिका के अनुसार ही ग्रन्थकार ने वायु आदि द्रव्यों में गुणों की व्यवस्था का निरूपण किया है। वायु में नौ गुण रहते हैं, तेज ( तेजस् ) में ग्यारह गुण रहते हैं, जल, पृथ्वी, जीवात्मा में चौदह गुण रहते हैं, दिक् ( दिशा ) और काल में पाँच गुण रहते हैं, अम्बर ( आकाश ) में छह गुण रहते हैं, ईश्वर में आठ गुण रहते हैं, मन में भी आठ गुण रहते हैं। इस कारिकार्थ को ही ध्यान में रखकर ग्रन्थकार अपनी कारिकाओं के द्वारा किस द्रव्य में कितने और कौन गुण रहते हैं, उसे बता रहे हैं। 'स्पर्शा-

दयोष्टौ' ( १ ) स्पर्श, ( २ ) संख्या, ( ३ ) परिमाण, ( ४ ) पृथक्त्व, ( ५ ) संयोग, ( ६ ) विभाग, ( ७ ) परत्व, ( ८ ) अपरत्व, ( ९ ) वेगाख्यसंस्कार—ये नौ गुण ( वायु ) के हैं। उनमें 'स्पर्श' विशेष गुण है, शेष सामान्य गुण हैं। 'स्पर्शाद्यष्टाविति' ( १ ) स्पर्श, ( २ ) संख्या, ( ३ ) परिमाण, ( ४ ) पृथक्त्व, ( ५ ) संयोग, ( ६ ) विभाग, ( ७ ) परत्व, ( ८ ) अपरत्व, ( ९ ) रूप, ( १० ) वेगाख्यसंस्कार, ( ११ ) नैमित्तिकद्रवत्व—ये ग्यारह गुण 'तेज' के हैं। उनमें स्पर्श और रूप विशेषगुण हैं, शेष सामान्यगुण हैं ॥ ३० ॥ स्पर्शादयोष्टाविति।' ( १ ) स्पर्श, ( २ ) संख्या, ( ३ ) परिमाण, ( ४ ) पृथक्त्व, ( ५ ) संयोग, ( ६ ) विभाग, ( ७ ) परत्व, ( ८ ) अपरत्व, ( ९ ) वेगाख्यसंस्कार, ( १० ) सांसिद्धिक [ स्वाभाविक ] द्रवत्व, ( ११ ) गुरुत्व, ( १२ ) रूप, ( १३ ) रस, ( १४ ) स्नेह—ये चौदह गुण 'जल' के हैं। उनमें स्पर्श, सांसिद्धिकद्रवत्व, रूप, रस, स्नेह विशेषगुण हैं, शेष सामान्यगुण हैं ॥ ३१ ॥ 'स्नेहहीनेति।' उपर्युक्त चौदह गुणों में से 'स्नेह' के स्थान में 'गन्ध' को रख देने से चौदह गुण पृथ्वी के हो जाते हैं। जैसे—( १ ) स्पर्श, ( २ ) संख्या, ( ३ ) परिमाण, ( ४ ) पृथक्त्व, ( ५ ) संयोग, ( ६ ) विभाग, ( ७ ) परत्व, ( ८ ) अपरत्व, ( ९ ) वेग, ( १० ) नैमित्तिकद्रवत्व, ( ११ ) गुरुत्व, ( १२ ) रूप, ( १३ ) रस, ( १४ ) गन्ध—ये चौदह गुण, 'पृथ्वी' के हैं। उनमें से स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विशेषगुण हैं, शेष सामान्यगुण हैं। 'बुद्ध्यादिषट्कमिति।' ( १ ) बुद्धि, ( २ ) सुख, ( ३ ) दुःख, ( ४ ) इच्छा, ( ५ ) द्वेष, ( ६ ) प्रयत्न—ये बुद्ध्यादिषट्क ( छह ) हैं। संख्यादिपञ्चकमिति। ( १ ) संख्या, ( २ ) परिमाण, ( ३ ) पृथक्त्व, ( ४ ) संयोग, ( ५ ) विभाग—ये संख्यादि पञ्चक हैं। ( ६ ) भावनाख्यसंस्कार, ( ७ ) धर्म, ( ८ ) अधर्म—ये चौदह गुण जीवात्मा के हैं, उनमें से बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावना, धर्म अधर्म विशेष गुण हैं, शेष सामान्य गुण हैं। संख्यादिपञ्चकं कालदिशोरिति।' ( १ ) संख्या, ( २ ) परिमाण, ( ३ ) पृथक्त्व, ( ४ ) संयोग, ( ५ ) विभाग—ये पाँच गुण काल के और दिक् ( दिशा ) के हैं। सामान्यगुण हैं, क्योंकि काल और दिक् के विशेषगुण नहीं होते। शब्दश्च ते च खे इति। ते च' अर्थात् ( १ ) संख्या, ( २ ) परिमाण, ( ३ ) पृथक्त्व, ( ४ ) संयोग, ( ५ ) विभाग, ( ६ ) शब्द—ये छह गुण ख=आकाश के हैं। उनमें से 'शब्द' विशेषगुण है, शेष सामान्यगुण हैं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ संख्यादयः पञ्च इति। ( १ ) संख्या, ( २ ) परिमाण, ( ३ ) पृथक्त्व, ( ४ ) संयोग, ( ५ ) विभाग, ( ६ ) बुद्धि, ( ७ ) इच्छा, ( ८ ) प्रयत्न—ये आठ गुण ईश्वर के हैं। इनमें से बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न विशेषगुण हैं, शेष सामान्यगुण हैं परापरत्वे इति। ( १ ) परत्व, ( २ ) अपरत्व, ( ३ ) संख्या, ( ४ ) परिमाण, ( ५ ) पृथक्त्व, ( ६ ) संयोग, ( ७ ) विभाग, ( ८ ) वेग—ये आठ गुण 'मन' के हैं। ये सब सामान्यगुण हैं, क्योंकि 'मन के विशेषगुण नहीं होते। 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म,



भावनारूपसंस्कार, शब्द स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व—ये विशेषगुण कहे जाते हैं। और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिकद्रवत्व, वेग—स्थितिस्थापकसंस्कार—ये सामान्यगुण कहे जाते हैं ॥ ३४ ॥

ते च पञ्च संख्यादयः। खे=आकाशे ॥ ३०, ३१, ३२, ३३, ३४ ॥

मुक्तावलिकार ने 'ते सर्वनाम से संख्यादि पाँच और 'खे' पद का अर्थ बताया 'आकाशे' आकाश में ॥ ३०—३४ ॥

इति सामान्यतो द्रव्यगुणकथनम्।

इति बालप्रियासनाथायां मुक्तावल्यां साधर्म्य वैधर्म्यनिरूपणात्मिका प्रथमप्रकरणलक्षणा।

---

## प्रत्यक्षखण्डे द्रव्यनिरूपणं नाम द्वितीयं प्रकरणम्

**तत्र क्षितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवती मता।**
**षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥३५॥**

द्रव्यनिरूपण—नामक द्वितीय प्रकरण का आरम्भ किया जा रहा है। चौतीसवीं कारिका तक सात पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य बताते हुए किन द्रव्यों में कितने और कौन-कौन गुण रहते हैं, यह बताया गया। अब पृथ्वी आदि प्रत्येक द्रव्य का निरूपण कर रहे हैं। 'गन्धहेतुः'=गन्ध का समवायिकारण। उक्त द्रव्यों में 'पृथ्वी' द्रव्य, गन्ध का समवायिकारण है।

साधर्म्यवैधर्म्ये निरूप्य सम्प्रति प्रत्येकं पृथिव्यादिकं निरूपयति'तत्रे'ति। गन्धहेतुरिति। गन्धसमवायिकारणमित्यर्थः। यद्यपि गन्धवत्त्वमात्रं लक्षणमुचितं, तथापि पृथिवीत्वजातौ प्रमाणोपन्यासाय कारणत्वमुपन्यस्तम्। तथा हि—पृथिवीत्वं हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्तेः।

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि 'काल' कार्यमात्र के प्रति कारण है। तब 'गन्धहेतुत्वम्पृथिवीत्वम्' गन्ध का जो हेतु हो वह 'पृथ्वी' है—इस 'पृथ्वीलक्षण' की 'काल और दिक्' में अतिव्याप्ति होगी। अतः 'गन्ध हेतुः' शब्द का अर्थ बताते हैं—'गन्धसमवायिकारणमिति।' अर्थात् 'समवायेन गन्धकारणं पृथ्वीलक्षणम्' समवायसम्बन्ध से जो गन्ध का कारण हो, उसे 'पृथ्वी' कहेंगे। कालः कालिकसम्बन्धेन गन्धहेतुः—काल, कालिकसम्बन्ध से गन्ध का कारण होता है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। उसी तरह दिक् 'दैशिकसम्बन्ध से गन्ध की हेतु होती है, समवायसम्बन्ध से नहीं। अतः दोनों में पृथ्वीलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

**शंका**—सुरम्यसुरभिकपालारब्ध तथा प्रथमलक्षणवर्ती निर्गन्ध 'घट' में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी।

**समाधान**—जातिघटित लक्षण करने से अव्याप्ति नहीं होगी। अर्थात् 'गन्धवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्' इतना अर्थ 'गन्धवत्' पद का विवक्षित करेंगे, तब अव्याप्ति नहीं होगी। गन्धवान् जो कपालादि उनमें रहनेवाली ( तद्वृत्ति ) जो द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्यजाति, यानी 'पृथ्वीत्व' जाति, तादृशजातिमत्त्व' 'गन्धवत्' पद से विवक्षित किया गया है। अतः सुरम्यसुरभिकपालारब्ध तथा प्रथमक्षण के निर्गन्धघट में भी पृथ्वीत्व के होने से लक्षणसमन्वय हो जाता है। अतः अव्याप्ति नहीं होगी। नौ द्रव्यों में से यह 'पृथ्वी' ही 'गन्ध' के प्रति समवायिकारण है। पृथ्वी से गन्ध उत्पन्न होता है। वह 'गन्ध' समवायसम्बन्ध से पृथ्वी में रहता है। अतः 'गन्धवत्त्व' यह लक्षण 'पृथ्वी' का किया गया है। अर्थात् 'जिसमें गन्ध हो वही पृथ्वी है' यह समझना चाहिये।

**शंका**—'गन्धवत्त्वं पृथ्वीत्वम्' इस लघु लक्षण से ही निर्वाह हो सकता है तो 'गन्धसमवायिकारणम्—'पृथ्वीत्वम्' इस गुरुभूत लक्षण करने की आवश्यकता क्यों हुई? अर्थात् 'पृथ्वी ही' गन्ध के प्रति कारण है, यह क्यों कहा गया? इसी आशय को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कारिकाकार ने 'गन्धहेतुः' इस पृथ्वी के लक्षण में 'हेतु' पद का ग्रहण क्यों किया?

**समा०**—तथापिति। 'पृथ्वीत्व' जाति की प्रामाणिकता ( पृथ्वीत्व जाति को सिद्ध करने में अनुमान प्रमाण है ) प्रदर्शित करने के लिए ही लक्षण में 'हेतु' पद दिया गया है, जिसका अर्थ 'गन्ध-समवायिकारणम्' है। पृथ्वीत्वजाति के सिद्ध करने में अनुमान इस प्रकार किया जायगा—'समवायसम्बन्धावच्छिन्नागन्धत्वावच्छिन्न गन्धनिष्ठकार्यतानिरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न पृथ्विनिष्ठा कारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालगतकारणतावत्। यथा कपालनिष्ठा कारणता कपालत्वधर्मावच्छिन्ना, तथा पृथ्वीनिष्ठा कारणता अपि पृथ्वीत्वधर्मावच्छिन्ना अवगन्तव्या।' इस अनुमान के बल पर ही यह कहा गया है कि 'पृथ्वी ही गन्ध के प्रति कारण है अर्थात् 'गन्धसमवायिकारणं पृथ्वीत्वम्' यह लक्षण किया गया है। इस रीति से गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया 'पृथ्वीत्व जाति की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् जो गन्ध का समवायिकारणतावच्छेदक हो उसी को पृथ्वीत्व' जाति कहते हैं। क्योंकि अन्यून और अनतिप्रसक्तधर्म ही कारणतावच्छेदक होता है। अन्यथेति। पृथ्वी को यदि गन्ध के प्रति कारण न मानें तो 'गन्ध' की उत्पत्ति अकस्मात् कहनी होगी। अर्थात् कारण के बिना ही ( गन्ध) कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। किन्तु कारण के बिना तो कार्य की उत्पत्ति होती नहीं, यह नियम है। कारण के रहने पर ही कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है। यदि कारण के बिना ही कार्य की आकस्मिक उत्पत्ति हुआ करेगी तो बिना जल के ही पिपासा (प्यास) शान्त होनी चाहिए। बिना खाद्य के ही बुभुक्षा ( भूख ) की शान्ति होनी



चाहिये, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः कहना होगा कि जो गन्ध का कारण है, वह पृथ्वी ही है। जिस किसी भी वस्तु ( द्रव्य ) में गन्ध आता है, उसमें पृथ्वी का अंश होने से ही गन्ध आता है, आकस्मिक नहीं। वह कारणता निरवच्छिन्न ( किसी अनुगत धर्म से रहित ) नहीं हुआ करती, अपितु वह किसी अनुगत धर्म से अवच्छिन्न ( युक्त ) ही रहती है, वह अनुगत धर्म ही उस कारणता का अवच्छेदक ( मर्यादक भेदक ) माना जाता है, उस अनुगत अवच्छेदक धर्म को ही 'पृथ्वीत्वजाति' कहते हैं। इस कारण पृथ्वी[1] ही गन्ध की उत्पत्ति का कारण है, तथा उस पृथ्वी में समवायसम्बन्ध से गन्ध रहता है, यह सिद्ध हुआ।

---

१. पृथ्वी का परिष्कृत लक्षण यह होगा—'गन्धसमानाधिकरणं द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं'—पृथिव्या लक्षणम्। गन्ध के समानाधिकरण तथा द्रव्यत्व जाति का साक्षात्व्याप्यजातिवाला जो द्रव्य, वही पृथ्वी' है। 'गन्ध' समवाय सम्बन्ध से पृथ्वी में रहता है। इस कारण 'पृथ्वीत्व' जाति, गन्धसमानाधिकरण हुई। वह 'पृथ्वीत्वजाति' द्रव्यत्वजाति का साक्षात् व्याप्य भी है। क्योंकि वह 'पृथ्वीत्वजाति एकमात्र सम्पूर्ण पृथ्वी में रहती है। और 'द्रव्यत्व जाति' सम्पूर्ण नौ द्रव्यों में रहती है। उपर्युक्त लक्षण में 'गन्धसमानाधिकरण' यह पद यदि न दें तो 'जलत्व' आदि जातियाँ भी 'द्रव्यत्व' जाति की साक्षात् व्याप्य जातियाँ हैं। तब उन जातिवाले जलादि द्रव्यों में अतिव्याप्ति होगी। उस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये 'गन्धसमानाधिकरण' पद देना आवश्यक है। अब 'द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य' पद न दें तो 'द्रव्यत्वजाति' तथा 'सत्ताजाति' को लेकर जल आदि में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि जिस पृथ्वी में गन्ध रहता है, वहीं पर द्रव्यत्व तथा सत्ताजाति भी रहती है। उन जातिवाले जल आदि द्रव्य भी हैं। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ, द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य' यह पद देना आवश्यक हुआ। तब 'सत्ताजाति' द्रव्यत्वजाति का व्यापक है, व्याप्य नहीं। क्योंकि 'सत्ताजाति' गुण तथा कर्म में भी रहती है। अतः वह द्रव्यत्वजाति की व्याप्यजाति नहीं हुई। अब यदि उक्त लक्षण में 'साक्षात्' पद न दें तो गन्धसमानाधिकरण तथा द्रव्यत्वजाति की व्याप्यजाति करके 'घटत्व' जाति को लें तो केवल 'घटरूप पृथ्वी' में तो लक्षणसमन्वय हो जायगा, किन्तु पटादिरूप पृथ्वी में 'अव्याप्ति होगी। इस अव्याप्ति के निवारणार्थ 'साक्षात्' पद देना आवश्यक है। 'साक्षात्' पद देने पर 'घटत्व' आदि जाति, 'द्रव्यत्वजाति' का साक्षात् व्याप्य नहीं है, साक्षात् व्याप्य तो पृथ्वीत्व' जाति ही ही होगी। 'घटत्व' आदि जाति तो 'पृथ्वीत्वजाति' का साक्षात व्याप्य हैं, 'द्रव्यत्वजाति' की नहीं। अतः पृथ्वीत्व, जलत्व आदि जातियाँ ही 'द्रव्यत्वजाति' के साक्षात् व्याप्य हैं।

**शंका**—'इयं नीलरूपा पृथ्वी, इयं पीतरूपा च' इस प्रत्यक्ष प्रमाण से ही 'पृथ्वी

न च पाषाणादौ गन्धाभावाद्गन्धवत्त्वमप्राप्तमिति वाच्यं तत्रापि गन्धसत्त्वात्। अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते । कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते ? भस्मनो हि पाषाणध्वंसजन्यत्वात्पाषाणोपादानोपादेयत्वं 'सिद्धयति । 'यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमि' ति व्याप्तेः । दृष्टं चैतत्खण्डपटे महापटध्वंसजन्ये । इत्थं च पाषाणपरमाणोः पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्य पाषाणस्यापि पृथिवीत्वम् । तथा च तस्यापि गन्धवत्त्वे बाधकाभावः ।

शंका—'गन्धसमवायिकारणत्वं पृथिवीत्वम्' इस लक्षण की पाषाण आदि में गन्ध की उपलब्धि न होने से उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी । 'आदि' शब्द से 'काँच' को समझिये । उक्त आशंका को हम अनुमान प्रयोग से इस प्रकार कह सकते हैं—पाषाणः न पृथ्वी, गन्धाभाववत्त्वात्' ।

समा०—पाषाण, गन्धाभाववान् है अर्थात् पाषाण में गन्ध नहीं है, इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है । शंका करने वाले ने जो 'गन्धाभाववत्त्व' हेतु दिया है, वह 'स्वरूपासिद्ध' है। 'स्वरूपासिद्धि' यह एक हेतुदोष है, उस दोष से दूषित होने के कारण उक्त हेतु' हेत्वाभास है, यथार्थ हेतु नहीं, अतः असत् हेतु से अनुमान करना उचित नहीं है । पाषाण, काँच आदि में भी 'पृथ्वीत्व' होने से गन्ध होने का अनुमान किया जा सकता है । जैसे—'पाषाणः गन्धवान् पृथ्वीत्वात् घटवत्' ।

शंका०—यदि पाषाण, काँच आदि में गन्ध होती तो सूँघने पर उसकी उपलब्धि अवश्य होती । जब कि नहीं होती तो उससे गन्ध के अभाव ( गन्ध न होने ) का ही निर्णय किया जा सकता है ।

समा०—पाषाण में गन्ध की जो अनुपलब्धि है, उसका कारण है—उस गन्ध

---

त्व' जाति की सिद्धि हो सकती है, तब अनुमान प्रमाण से 'पृथ्वीत्व' जाति को क्यों सिद्ध किया गया है ?

समा०—परमाणु, द्वयणुक और घ्राणेन्द्रिय रूप पृथ्वी में प्रत्यक्ष प्रमाण की पहुँच नहीं है । इस कारण अनुमान-प्रमाण से पृथ्वीत्व-जाति को सिद्ध करने की आवश्यकता हुई । यथा—'पृथ्वीवृत्तिः या गन्धसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, तन्तुवृत्तिकारणतावत् ।' पृथ्वी में जो गन्ध की समवायिकारणता है, वह किसी धर्म से अवच्छिन्न (युक्त मर्यादित) होने योग्य है, कारणता होने से । जो जो 'कारणता' होती है वह किसी न किसी धर्म से तो अवच्छिन्न होती ही है । निरवच्छिन्न कोई भी कारणता नहीं हुआ करती । जैसे तन्तुओं में पट की समवायिकारणता, तन्तुत्वधर्म से अवच्छिन्न रहती है, उसी प्रकार पृथ्वीवृत्ति गन्धसमवायिकारणता भी किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न होगी । वह धर्म 'पृथ्वीत्व' जाति ही है । इस अनुमान प्रमाण से परमाणु, द्वयणुक, घ्राणेन्द्रियरूप अतीन्द्रिय पृथ्वी में तथा प्रसिद्ध पृथ्वी में 'पृथ्वीत्व' जाति की सिद्धि करना सुगम हो जाता है ।



का अनुत्कट ( अनुद्भूत ) होना । गन्ध की अनुत्कटता के कारण उसकी (गन्ध की) उपलब्धि नहीं हो पाती । उत्कट गन्ध का ही प्रत्यक्ष ( उपलब्धि ) हुआ करता है। अनुत्कट गन्ध का नहीं । पाषाण में गन्ध के रहने पर भी अनुत्कटता के कारण उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती ।

शंका—पाषाण में गन्ध के आने न आने में उत्कटता-अनुत्कटता की कल्पना करते बैठने की अपेक्षा यही क्यों न मान लिया जाय कि पाषाण में उत्कट या अनुत्कट किसी प्रकार की कोई गन्ध ही नहीं है ।

समा०—कथमन्यथेति । पाषाण में उत्कट, अनुत्कट किसी प्रकार की कोई गन्ध ही यदि न होती तो पाषाणभस्म में गन्ध की उपलब्धि ( घ्राणजप्रत्यक्ष ) कैसे हो पाती । क्योंकि पाषाण का भस्म ( चूना ) पाषाण के ध्वंस ( नाश ) से उत्पन्न होता है । अतः पाषाणभस्म का उपादानकारण 'पाषाण' है। इस कारण पाषाणरूप उपादानकारण का वह पाषाणभस्म ( चूना ) उपादेय है । अर्थात् उपादानकरणनिरूपिता उपादेयता उस भस्म में है । अनुमान का आकार यह होगा—'पाषाणभस्म पाषाणोपादानोपादेयम् पाषाणध्वंसजन्यत्वात् महापटध्वंसजन्यखण्डपटवत्' ।

जो अवयव ( परमाणु ) उस पाषाण के हैं, वे ही अवयव ( परमाणु ) उस भस्म के भी हैं । क्योंकि जो द्रव्य, जिस वस्तु ( द्रव्य ) के नाश से उत्पन्न होता है, उन दोनों द्रव्यों के अवयव एक ही होते हैं । क्योंकि ऐसा नियम ( व्याप्ति ) है कि यद्द्रव्यं-भस्मादिद्रव्यं, यद्द्रव्यध्वंसजन्यं पाषाणादिद्रव्यध्वंसजन्यं, तत्-भस्मादि द्रव्यं, तदुपादानोपादेयम्-पाषाणादिद्रव्यस्य यदुपादानं पार्थिवपरमाण्वादि तस्य उपादेयं कार्यं भवति ।' जो भस्मादि द्रव्य, जिस ( पाषाणादि ) द्रव्य के ध्वंस से उत्पन्न होता है वह ( भस्मादि द्रव्य ) उस ( पाषाणादि ) द्रव्यरूप उपादान का उपादेय होता है । उपादान का अर्थ है—'समवायिकारण' और उपादेय का अर्थ है—'कार्य' । जैसे—बड़े वस्त्र के नाश से ( फाड़ने से ) जो खण्डवस्त्र ( टुकड़ा ) उत्पन्न होता है, तो उस बड़े तथा छोटे वस्त्र ( टुकड़े ) के अवयव एक ही हैं, अर्थात् बड़े वस्त्र के उपादानभूत परमाणु के ही दोनों ( बड़ा तथा छोटा टुकड़ा ) कार्य हैं, यह अनुभवसिद्ध है । उसी प्रकार प्रकृत प्रसंग में भी पाषाण के उपादान जो पाषाणपरमाणु, उसी के ये दोनों ( पाषाण और पाषाणभस्म ) कार्य हैं । तब पाषाणभस्म में गन्ध रहे और पाषाण में गन्ध न रहे यह कैसे संभव हो सकता है ? इसलिये पाषाण में भी 'गन्ध' को अवश्य ही स्वीकार करना होगा । यह जो प्रश्न है कि उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता तो उसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है कि गन्ध की अनुत्कटता ( अनुद्भूतता ) के कारण उसका ( गन्ध का ) वहाँ ( पाषाणमें ) प्रत्यक्ष नहीं हो पाता । इस रीति से पाषाणके परमाणु जैसे पृथिवीरूप

हैं वैसे ही उनसे उत्पन्न हुआ पाषाण भी पृथिवीरूप है। अतः पाषाण के गन्धवान् होने में कोई बाधक नहीं है।[1]

( १ ) उपर्युक्त प्रघट्टक का सरल भाव इस प्रकार है—

शंका०—पृथ्वी के उक्त लक्षण की 'पाषाण' में अव्याप्ति होती है, तथा 'जल और वायु' में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि 'जल तथा वायु' सुगन्ध तथा दुर्गन्धवाले हैं, यह प्रतीति होती है, और पाषाण, कांच में गन्ध की प्रतीति नहीं होती।

समा०—जिस जल तथा वायु में कस्तूरी, पुष्प आदि गन्धयुक्त पृथ्वी का संयोग सम्बन्ध है, वहीं गन्ध की प्रतीति होती है, अन्यत्र नहीं। इस कारण परम्परा सम्बन्ध से वह पृथ्वी का गन्ध ही जल और वायु में प्रतीत होता है। अतः पृथ्वी 'गन्ध' समवायसम्बन्ध से रहता है, यह निर्णीत है।

शंका०—यदि कस्तूरी पुष्पादिरूपपृथ्वी का गन्ध ही संयोग सम्बन्ध से वायु के साथ उड़ जाता है तो पुष्पों में छेद होना चाहिये तथा कस्तूरी भी तौल में कम हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं।

समा०—जितने सूक्ष्म अंशों को उनमें से वायु उड़ा ले जाता है उतने ही सूक्ष्म अंशों की भोक्ता प्राणियों के अदृष्ट से उनमें पुनः उत्पत्ति हो जाती है। इस कारण पुष्पों में छेद तथा कस्तूरी की तौल में न्यूनता नहीं होती।

शंका—यदि दूसरे अंशों की उत्पत्ति होती है तो सुरक्षित रखा कपूर कम क्यों हो जाता है?

समा०—कपूर आदि में भोक्ता प्राणियों के अदृष्ट नहीं हैं। अतः पृथ्वी का ही गन्ध, जल तथा वायु में आता है यह निश्चित होता है।

अब पाषाण के पक्ष में वादी से यह पूछना चाहिए की—तुम पाषाण में 'पृथ्वीत्व' को न मानकर दोष दे रहे हो, या पाषाण में 'पृथ्वीत्व' को मानकर दोष दे रहे हो?

यदि प्रथम पक्ष अंगीकार करो तो दोष देना संभव ही नहीं होगा। यदि द्वितीय पक्ष को अंगाकार करो तो, वह भी उचित न होगा। क्योंकि यदि आपने पृथ्वीत्व को मान लिया तो उसमें गन्ध अवश्य ही होगा। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'पाषाणादयः गन्धवन्तः पृथ्वीत्वात्, प्रसिद्ध पृथिवीवत्।'—पाषाणादि गन्धवाले हैं, पृथिवीत्व धर्मवाले होने से, जो जो द्रव्य पृथ्वीत्व धर्मवाला है, वह गन्धगुणवाला भी है, जैसे कस्तूरी, पुष्पादि द्रव्य। अतः पाषाण में भी गन्ध की सिद्धि हो जाती है।

शंका—कस्तूरी, पुष्प आदि के समान पाषाण में भी गन्ध की प्रतीति क्यों नहीं होती?

समा०—कस्तूरी, पुष्प आदि के समान पाषाण का गन्ध उद्भूत नहीं है, अपितु अनुद्भूत है। इस कारण प्रत्यक्ष प्रतीति को छोड़कर 'पृथ्वीत्व' हेतु के द्वारा अनुमान प्रमाण से उसमें गन्ध की प्रतीति होती है।



कारिकाकार ने 'पृथ्वी' का एक अन्य लक्षण भी किया है।

इस अन्य लक्षण की व्याख्या कर रहे हैं। नानारूपवती मता' इति। पृथ्वी—शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र' भेद से विविधरूपविशिष्ट है।

नानारूपेति। शुक्लनीलादिभेदेन नानाजातीयं रूपं पृथिव्यामेव वर्तते न तु जलादौ, तत्र शुक्लस्यैव सत्त्वात्। पृथिव्यां तु एकस्मिन्नपि धर्मिणि पाकवशेन नानारूपसम्भवात्। न च यत्र नानारूपं नोत्पन्नं तत्राऽव्याप्तिरिति वाच्यं, रूपद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य वा वाच्यत्वात्। वैशेषिकनये पृथिवीपरमाणौ रूपान्तरस्य च सत्त्वात्। न्यायनये घटादावपि तत्सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः।

शुक्ल, नीलादि भेद से सात प्रकार का, नानाजातीयरूप पृथ्वी में ही

---

शंका—पाषाण आदि को पृथ्वी मानने में ही कोई प्रमाण नहीं हैं।

समा०—अनुमान प्रमाण से पाषाण आदि में 'पृथ्वीत्व' सिद्ध ही है। तथा युक्ति से भी सिद्ध है। यथा—अग्निसंयोग आदि से जब पाषाण भस्मभाव को प्राप्त होता है, तभी घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का प्रत्यक्ष होता है। 'जहाँ गन्ध है वहाँ पृथ्वी है' इसमें किसी का विवाद नहीं है। अवयवों का गन्धगुण ही अवयवी के गन्धगुण का असमवायिकारण होता है। इस कारण भस्म के आरम्भक अवयवों में पृथ्वीत्व सिद्ध होने पर उन पाषाणादिकों के आरम्भक अवयवों में भी पृथ्वीत्व को अवश्य स्वीकृत किया जायगा। क्योंकि यह नियम है कि सौ हाथपरिमित महापट ( महान् वस्त्र ) के ध्वंस से उत्पन्न हुआ जो दस हाथ परिमित खण्डपट (वस्त्र का) टुकड़ा है, वह ( खण्डपट ) महापट के उपादान ( समवायिकारण ) रूप तन्तुओं का ही उपादेय ( कार्य ) है, अर्थात् महापट के तन्तु ही खण्डपट के उपादान कारण हैं।

क्योंकि महापट के अन्य समवायिकारण और खण्डपट के अन्य समवायिकारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। दोनों ( महापट और खण्डपट ) ही तंतूपादानजन्यत्व धर्म से अवच्छिन्न हैं। उसी प्रकार पाषाण भी पृथ्वीपरमाणुजन्य होने से पृथ्वीत्वधर्मवान् ( पार्थिव ) है। अर्थात् जो अवयव पाषाणादि द्रव्यों के उपादानकारण हैं, वे ही ( अवयव ) उस भस्मरूपद्रव्य के उपादानकारण होंगे। इस रीति से पृथ्वीपरमाणु में गन्ध होने से पाषाण में भी गन्धवत्ता का होना स्पष्ट होता है। अन्यथा उसके भस्म (चूर्ण) में कभी भी गन्ध की उपलब्धि न होती। क्योंकि कारण में अविद्यमान गुणों की उपलब्धि कार्य में कभी नहीं हुआ करती। अतः 'कारणगुणा एव कार्यगुणानारभन्ते' इस न्याय[1] से पाषाणादिकों में भी पृथ्वीत्व सिद्ध होता है।

एवंच—'पाषाणो न पृथिवी, गन्धाऽभाववत्त्वात्' इस पूर्वपक्षीय अनुमान में हेतु के पक्षवृत्ति न होने से स्वरूपासिद्धिदोष है। इस दूषित अनुमान से पाषाण में पृथिवीत्वाभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

---

१. 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'—( वै. सू. ५।२।२५ )

माना जाता है। वैसा जल, तेजस् ( तेज ) आदि में नहीं। जल और तेज में तो केवल शुक्लरूप रहता है। अर्थात् जल में अभास्वर ( न चमकने वाला ) शुक्ल-रूप और तेज में भास्वर ( चमकने वाला ) शुक्लरूप रहता है। यद्यपि पृथ्वी द्रव्य एक ही धर्मी ( गुणों का आश्रम ) है, तथापि उस एक में भी ( घट में ) पाक ( अग्निसंयोग अर्थात् विजातीय तेजः संयोग ) के द्वारा नाना ( अनेक ) रूपों की उत्पत्ति का होना संभव है। वैसा पाक जल आदि में नहीं होता। इस कारण उन जल आदि में अनेक प्रकार के रूपों की उत्पत्ति होना संभव नहीं है।

शंका—जिस पृथ्वी ( पटादि ) में कदाचित् नानारूप उत्पन्न नहीं हो पाये तो उनमें 'नानारूपवत्त्व' इस पृथ्वीलक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि पटादिरूप पृथ्वी में यदि पाक ( विजातीय तेजःसंयोग ) किया जायगा तो पट ही जलकर-नष्ट हो जायगा। ऐसी स्थिति में पट में नानारूपों की उत्पत्ति कैसे होगी? और नानारूपों की उत्पत्ति तो पाक से ही होती है। अतः 'नानारूपवत्त्व' इस पृथ्वी लक्षण की घटपटादि पृथ्वी में अव्याप्ति होगी।

समा०—'नानारूपवत्त्व' इस पृथ्वीलक्षण को जातिघटित कर देने से अव्याप्ति नहीं होगी। अर्थात् 'नानारूपवत्त्व' का अर्थ करेंगे 'रूपद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजाति-मत्त्व' या 'रूपनाशवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' पृथ्वी में नाना प्रकार के रूप हैं इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस एक पृथ्वी ( घटादि ) में दो रूप उत्पन्न हुए हों अर्थात् कच्ची अवस्था में घट नीला ( काला ) होता है, वही घट पकने के अनन्तर रक्त ( लाल ) हो जाता है, उसी तरह दूसरा उदाहरण 'फल' को लीजिये। वह प्रथम हरा रहता है, बाद में सूर्य किरण रूप तेजःसंयोग से पीला रंग उसमें हो जाता है। एवंच दो रूप ( तीन रूप भी ) वाली पार्थिव वस्तु में वर्तमान ( रहनेवाली ) जो द्रव्यत्व की व्याप्य जाति है, वही जाति यहाँ अपेक्षित है, तादृश जातिवाला होना—अथवा जहाँ रूप का नाश होता हो ऐसी वस्तु में रहनेवाली जो द्रव्यत्व-व्याप्य-जाति,—तादृश जाति वाला होना इस अर्थ में 'नानारूपवत्त्व' का तात्पर्य है।

दोनों प्रकार के जातिघटित लक्षणों के अनुसार व्याप्यजाति 'पृथ्वीत्व' ही होगी। वह पृथ्वीत्वजाति, उस पार्थिव घट-पट आदि पृथ्वी में भी रहती है, जहाँ अनेक रूप नहीं हैं, अतः अव्याप्ति दोष नहीं होगा। इन दो जाति घटित लक्षणों में से प्रथम लक्षण अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयकत्वरूप जो द्वित्व है, उससे युक्त है। इस कारण प्रथम लक्षण में उपस्थितिकृत गौरव प्रतीत होता है। उस गौरव को दूर करने के लिए तथा शीघ्र उपस्थिति करानेहेतु दूसरा जातिघटित लक्षण किया गया है। ( अयमेकः अयमेकः यह अपेक्षा बुद्धि का आकार है )। पाक से रूप-परिवर्तन के विषय में नैयायिक और वैशेषिकों की प्रक्रिया में मतभेद है। नैयायिकों को 'पिठरपाकवादी' कहते हैं। 'पिठर'=घटादिपात्ररूप अवयवी, उसमें पाक अर्थात् अवयवी में पाक। भठ्ठी में कच्चा घट रखा जाता है तब पाक ( विलक्षण



तेजःसंयोग ) से पहला श्याम ( नील ) रूप नष्ट होता है पश्चात् रूपान्तर अर्थात् लालरूप उत्पन्न होता है। इस रूपपरिवर्तन के लिये जो पाक हुआ, वह पार्थिव कपालादिजन्य घटादि अवयवी में ही हुआ। उस अवयवी में ही पूर्वरूप का नाश और रूपान्तरोत्पत्ति हुई। इनके मत में परमाणुरूप अवयव तथा अवयवी ( घट ) दोनों में एक साथ ही पाक होता है, उससे पूर्वरूप का नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति होती है। एवंच रूपनाशवान् घटादि पदार्थ हुआ, उस नष्टरूपवाले अर्थात् रूपनाशवान् घटादि पदार्थ में वृत्ति है जिसकी ( रहनेवाली ) ऐसी पृथ्वीत्व जाति ही होगी। क्योंकि वही द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्यजाति है, तादृशजातिमत्व ही 'नानारूपवत्त्व' पद से यहाँ विवक्षित है।

वैशेषिकों को 'पीलुपाकवादी' कहते हैं। 'पीलु'=परमाणु, उसमें पाक अर्थात् अवयवों में पाक। इनका कहना है कि भठ्ठी में रखे हुए घट के रूपपरिवर्तन के लिए जो पाक हुआ, वह ( पाक ) पृथ्वी ( घट ) के परमाणु में ही हुआ। अर्थात् पाक ( विलक्षण अग्नि संयोग ) से घटरूप अवयवी क्रमशः टूट जाता है, वह परमाणु की अवस्था तक प्राप्त होता है। तब उन परमाणुओं का श्यामरूप नष्ट हो जाता है और रक्तरूप उत्पन्न होता है। उनसे (परमाणुओं से) द्वयणुक, त्र्यणुक आदि क्रमशः होकर घटरूप अवयवी का पुनः निर्माण होता है।[1] उसमें ( घट में ) अपने कारणभूत पर-माणुओं का रक्तरूप क्रमशः आ जाता है। इस प्रकार घट का नाश, पुनः उसकी उत्पत्ति इतनी शीघ्रता से होती है कि हमें पता ही नहीं चल पाता। इनके मत में पाक से परमाणुरूप अवयवों में पूर्वरूप का नाश तथा दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है।

एवंच दोनों के अनुसार जिस घटरूप पृथ्वी में पूर्वरूप का नाश तथा दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है, उसमें रहनेवाली जाति पृथ्वीत्व होगी वह पृथ्वीत्व जाति जिसमें नानारूप उत्पन्न नहीं हुए ऐसे पट आदि में भी रहती है, तादृशजातिमान् वे घटादि हैं। अतः कहीं भी अव्याप्ति दोष नहीं है।

'षडविधस्तु रसस्तत्रे'ति। अम्ल, मधुर, लवण, कटु, तिक्त, और कषाय यह छह प्रकार का रस ( आस्वाद ) पृथ्वी में है। इस कारण 'षड्विधरसवत्त्व' यह भी पृथ्वी का लक्षण है।

( १ ) विलक्षणतेज के संयोग से परमाणुओं में क्रिया पैदा होती है। तत् पश्चात् क्रिया से विभाग, तत्पश्चात् पूर्वसंयोग का नाश, तत्पश्चात् उत्तरदेश का संयोग होता है और साथ ही द्वयणुक का नाश होता है। इस क्रम से त्र्यणुक आदि का नाश होने पर घट का नाश होता है। केवल परमाणुमात्र बचा हुआ है। जब अग्निसंयोग से प्रत्येक परमाणु पक जाता है तब पुनः अदृष्टवदात्मसंयोग से पर-माणुओं में क्रिया पैदा होती है और क्रमशः द्वयणुकादिकों की उत्पत्ति के बाद घट पूर्व की तरह बन जाता है यानी उत्पन्न होता है।

'षडविध इति । मधुरादिभेदेन यः षड्विधो रसः स पृथिव्यामेव । जले च मधुर एव रसः । अत्रापि पूर्ववद्रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणार्थोऽवसेयः ।

गन्धस्त्विति । द्विविध इति वस्तुस्थितिमात्रं, न द्विविधगन्धवत्त्वं लक्षणं, द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात् । द्वैविध्यं च सौरभासौरभभेदेन बोध्यम् ॥ ३५ ॥

मधुर, अम्ल, लवण, कटु ( कड़ुआ ), कषाय ( कसैला ), तिक्त ( तीखा ) भेद से जो ( प्रसिद्ध ) षड्विध अर्थात् मधुरत्व, अम्लत्व लवणत्व, कटुत्व, कषायत्व, तिक्तत्व, इस प्रकार षड्विधजातीय रस हैं, वे समवायिकारण पृथ्वी में ही रहते हैं । यहाँ ग्रन्थकार ने 'एव' कार का प्रयोग किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वीत्व से रहित जल में षड्विधरसवत्त्व नहीं है । जल से मुक्त जल में मधुरत्वजातीय रस ही रहता है ।

शंका—'समवायेन षड्विधरसवत्त्वं' इस पृथ्वीलक्षण की जहाँ षड्विधरसों की क्रमशः उत्पत्ति नहीं होती उन शर्करादि पार्थिव वस्तुओं में अव्याप्ति होगी । और यदि 'समवायेन रसवत्त्वं' इतना ही लक्षण रखें तो 'जल' में अतिव्याप्ति होगी ।

समा०—प्रदर्शित अव्याप्ति अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये यहाँ भी 'रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व' ऐसा जातिघटित लक्षण कर देना चाहिये । अर्थात् पार्थिव आम्रफल आदि में जो दो प्रकार के रस उत्पन्न होते है, अथवा पाक के कारण रस का नाश होता है, उनमें रहनेवाली जो पृथ्वीत्वजाति है, वह पृथ्वीत्वजाति, द्रव्यत्वव्याप्यजाति होने से पार्थिव शर्करा आदि में भी रहेगी, अतः अव्याप्ति नहीं होगी । और केवल समवायेनरसवत्त्वं कहने के बजाय 'षड्विधरसवत्त्वं' कह दें तो जल में होनेवाली अतिव्याप्ति का निवारण हो जायगा, क्योंकि जल में तो केवल मधुर रस ही रहता है, षड्विधरस नहीं ।

शंका—भिन्न भिन्न जलों में भिन्न भिन्न मधुर रस होते हैं । अतः मधुर-रसद्वयवाले जल में अतिव्याप्ति यथावस्थित रही ।

समा०—'रसद्वयवत्' का अर्थ रसत्वव्याप्य-मिथोविरुद्ध मधुरत्व-अम्लत्वादिजातीयवत्' करना होगा । तब अतिव्याप्ति नहीं होगी । 'गन्धस्तु द्विविधो मतः' इति । पृथ्वी में गन्ध दो प्रकार का है, सुरभि ( सुगन्ध ) और असुरभि (दुर्गन्ध) । 'गन्धस्तु द्विविधो मतः' यहाँ पर 'द्विविध' पद केवल वस्तुस्थिति का बोधक है । अर्थात् गन्धरूप वस्तु की सुरभि-असुरभि भेद से द्विविधतया पृथ्वी में स्थिति है, यह सूचित करने के लिए 'द्विविध' पद दिया गया है । एवंच गन्धत्वव्याप्यसुरभित्व-असुरभित्वजाति से गन्ध की द्विविधता समझनी चाहिए । सुरभि या असुरभि गन्ध पृथ्वी में ही सम्भव है । पृथ्वी से भिन्न अन्य किसी वस्तु में सम्भव नहीं । अतः 'समवायेन गन्धवत्त्वं' इतना ही लक्षण करना पर्याप्त है । 'गन्धत्वव्याप्य-सुरभित्वा-सुरभित्व-जातीयवत्त्व' इस प्रकार जातिघटित लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है । और दो प्रकार का गन्ध ही पृथ्वी का लक्षण है, यह भी नहीं समझना चाहिये । दो प्रकार का गन्ध तो केवल वस्तु के स्वरूप को बता रहा है । अतः 'समवायेन गन्धवत्त्वं' यही पृथ्वी का लक्षण है । इस प्रकार लघुपरिष्कार से ही निर्वाह हो जाता है । इस कारण 'दो प्रकार का गन्धवत्त्व, इस गुरुभूत परिष्कार करने का भी प्रयोजन नहीं है, लक्षण में उसका निवेश करना व्यर्थ ॥ ३५ ॥



## स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।

तस्याः पृथिव्याः । अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं वायोरपि वर्तत इत्युक्तं पाकज इति । इत्थं च पृथिव्याः स्पर्शोऽनुष्णाशीत इति ज्ञापनार्थं तदुक्तम् । वस्तुतस्तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रं लक्षणम्, अधिकस्य वैयर्थ्यात् । यद्यपि पाकजस्पर्शः पटादौ नास्ति तथापि पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्यः ।

इति पृथिवीनिरूपणे पृथिवीलक्षणम् ।

तस्याः = उस ( पृथ्वी ) का स्पर्श तो 'अनुष्णाऽशीतपाकज' = जो न गरम और न ठण्डा तथा अग्निसंयोग से उत्पन्न होनेवाला है । 'अनुष्णः अशीतश्चासौ पाकजश्चे'ति कर्मधारयः । एवंच 'षड्विधरसवत्त्व' और 'पाकजस्पर्शवत्त्व' पृथ्वी का लक्षण होता है । 'अनुष्ण' 'अशीत' में 'नञ्' का अर्थ अल्पत्व है, क्योंकि तथाहि—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।

अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ।

पृथ्वी का स्पर्श, 'पाकज अनुष्णाशीत' समझना चाहिये । अनुष्णाशीत = जो स्पर्श ऊष्ण न हो और शीतल भी न हो किन्तु उससे विलक्षण हो, तथा पाकजन्य = पाक के संयोग से उत्पन्न हो । ऐसा स्पर्श पृथ्वी में ( घट आदि में ) रहता है । अतः 'पाकज अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व' यह भी पृथ्वी का लक्षण है ।

शंका—पृथ्वी का लक्षण, 'अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं' इतना ही क्यों न किया जाय ? उसमें 'पाकज' विशेषण देने की क्या आवश्यकता है ?

समा०—'अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व' तो वायु में भी होता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी । उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'पाकज' विशेषण दिया गया है । वायु का स्पर्श पाकज=पाकजन्य नहीं है । पृथ्वी के ही रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श ये चार 'पाकज' हुआ करते हैं । अतः 'पाकजस्पर्शवत्त्वम्'—पाकजन्य-स्पर्श का होना—इतना ही पृथ्वी का लक्षण है । 'अनुष्णाशीत' इस विशेषण को देने की कोई आवश्यकता नहीं है । ग्रन्थकार ने 'अनुष्णाशीत' विशेषण देकर इतना ही बताना चाहा है कि पृथ्वी का स्पर्श अन्य स्पर्शों की अपेक्षा विलक्षण है । 'अनुष्णाशीत' यह पद पृथ्वी के लक्षण के अभिप्राय से नहीं कहा है, किन्तु पृथ्वी का स्पर्श अनुष्णाशीत होता है, यह शिष्यों को समझने के लिये कहा है

इसके अतिरिक्त और कोई उसका प्रयोजन नहीं है, इसलिए 'पाकजन्यस्पर्शवत्त्व' ही पृथ्वी का लक्षण है।

**शंका**—पाकजस्पर्शवत्त्वम्' इस पृथ्वीलक्षण की तृण-पटादि जो पृथ्वी के भाग हैं उनमें पाकजन्यस्पर्शवत्त्व नहीं है, क्योंकि पट में पाक नहीं होता, यह पहले बता चुके हैं। अतः उनमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी।

समा०—'पाकजस्पर्शवत्त्व' का जातिघटित अर्थ कर देना चाहिये। अर्थात् 'पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्व-व्याप्यजातिमत्त्वम्' ऐसा अर्थ करने से अव्याप्ति नहीं होगी। पाकजस्पर्शवाला हुआ 'घट', उसमें रहनेवाली ( वृत्ति ) जो द्रव्यत्वव्याप्य जाति 'पृथ्वीत्वजाति'—तादृशपृथ्वीत्वजातिमान् यावद् पृथिवी हुई, तो उसके अन्तर्गत पटादिरूपा पृथ्वी भी होगी। इस कारण अव्याप्ति की आशंका नहीं करनी चाहिये। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि 'शीत स्पर्श' जल में, 'उष्ण स्पर्श' अग्नि में, और वायु तथा पृथ्वी में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि 'वायु' का अनुष्णाशीत स्पर्श 'अपाकज' है और 'पृथ्वी' का अनुष्णाशीतस्पर्श 'पाकज' है। 'घट' को आँवे ( भाड़ ) में पकाते हैं, इस कारण उसके स्पर्श में पाक ( अग्निसंयोग ) भी कारण कहा जाता है। अतएव पृथ्वी के स्पर्श को ( पाकज ) कहते हैं। वैसा ( पाकज ) पट आदि का स्पर्श नहीं है।

इति पृथिवीनिरूपणे पृथिवीलक्षणम्।

**नित्यानित्या च साद्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ॥ ३६ ॥**

( पृथ्वी ) नित्य और अनित्य दो प्रकार की है। 'अणुलक्षणा' परमाणु[1] के रूप में वह नित्य है, और सावयव ( अवयवों से युक्त ) कार्यरूप पृथ्वी अनित्य है। अर्थात् द्वचणुकादि के रूप में वह अनित्य है। नित्य उसे कहते हैं—जो 'भावत्वेसति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्'—भावरूप होता हुआ ध्वंस का प्रतियोगी न हो।

**नित्येति सा पृथिवी द्विविधा, नित्या अनित्या चेत्यर्थः अणुलक्षण परमाणुरूपा पृथिवी नित्या ॥ ३६ ॥**

वह पृथ्वी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की है। परमाणुरूपा पृथ्वी नित्य है, क्योंकि अणु या परमाणु को निरवयव माना गया है। इस कारण 'अणु' रूप पृथ्वी का ( अवयवनाश या अवयवों के संयोग ) का नाश सम्भव न हो सकने से उसे नित्य कहा गया है और अणु से द्वचणुक, त्र्यणुक आदि से स्थूलकार्य जो होते हैं वे सावयव होते हैं। इस कारण सावयव- पृथ्वी को अनित्य कहा गया है।

( १ ) जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः प्रकीर्तितः। अणु और परमाणु का एक ही अर्थ है अणु निरवयव होता है।



अर्थात् जिसकी उत्पत्ति तथा नाश नहीं होता और जो निरवयव होती है उस पृथ्वी को नित्य[1] कहते हैं ॥ ३६ ॥

अब जिसकी उत्पत्ति और नाश होता है तथा जो सावयव है उस पृथ्वी को अनित्य[2] कहते हैं, यह अग्रिम कारिका में बतावेंगे।

( १ ) नित्य वस्तु का लक्षण—प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्।' जो पदार्थ प्रागभाव का अप्रतियोगी होकर ध्वंस का अप्रतियोगी होता हो उसे 'नित्य' कहते हैं। परमाणु ( अणु ) आदि नित्य पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती, इस कारण उन नित्य पदार्थों में प्रागभाव का प्रतियोगित्व ( प्रतियोगीपन ) नहीं होता। और नित्य पदार्थों का विनाश भी नहीं होता। इस कारण नित्यों में ध्वंस ( प्रध्वंसाभाव ) का प्रतियोगित्व भी नहीं रहता, यही नित्य वस्तु का लक्षण है। इस लक्षण में यदि 'ध्वंसाप्रतियोगित्वं' यह पद न दें तो 'प्रागभाव' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि नैयायिकों ने 'प्रागभाव' को उत्पत्ति रहित ( अनादि ) तथा अनित्य माना है। इस कारण वह प्रागभाव अपने प्रागभाव का प्रतियोगी नहीं हुआ। अतः अनित्य प्रागभाव में 'नित्य' के लक्षण की अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'ध्वंसाऽप्रतियोगित्व' पद दिया गया है। इस प्रागभाव में ध्वंस का 'अप्रतियोगित्व' नहीं है, क्योंकि 'घट' बनकर अपने प्रागभाव को नष्ट कर देता है अर्थात् प्रागभाव का अभाव होता है। अतः वह ( प्रागभाव ) अपने अभाव का प्रतियोगी हो गया, अप्रतियोगी नहीं। अतः प्रागभाव में अतिव्याप्ति नहीं है। अब यदि 'प्रागभावाऽप्रतियोगित्वे सति' यह पद न दें तो 'ध्वंस' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'ध्वंस' का ध्वंस नहीं मानते। और उस ध्वंस को अनन्त तथा सादि मानते हैं। तब ध्वंस का अप्रतियोगित्व 'ध्वंस' में है ही। इस कारण सादि ( अनित्य ) ध्वंस में अतिव्याप्ति होगी। उसके वारणार्थ 'प्रागभावाऽप्रतियोगित्वे सति' यह विशेषण दिया गया है। घटादि कार्यों के तुल्य वह ध्वंस भी उत्पत्तिमान् होने से प्रागभाव का प्रतियोगी ही होता है, अप्रतियोगी नहीं। अतः ध्वंस में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

( २ ) अनित्य वस्तु का लक्षण—'प्रागभावप्रतियोगित्व ध्वंसप्रतियोगित्वाऽन्यतरवत्त्वं अनित्यत्वम्।' जो पदार्थ प्रागभाव का प्रतियोगी हो या ध्वंस का प्रतियोगी हो अथवा प्रागभाव और ध्वंस दोनों का प्रतियोगी हो, उसे अनित्य कहते हैं। यदि केवल 'प्रागभावप्रतियोगित्व' इतना ही लक्षण करें 'प्रागभाव' में प्रागभाव का प्रतियोगित्व ही नहीं होता, या 'ध्वंसप्रतियोगित्व' इतना ही लक्षण करें तो 'ध्वंस' में ध्वंस का भी प्रतियोगित्व नहीं होता। इस कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रागभाव' में तो केवल ध्वंस का प्रतियोगित्वरूप '**अनित्यत्व**' है, और 'ध्वंस' ( प्रध्वंसाभाव ) में केवल प्रागभाव का प्रतियोगित्वरूप '**अनित्यत्व**' है। और घट-पटादि पदार्थों में प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव दोनों का प्रतियोगित्व-

**अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी ।**
**सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥ ३७ ॥**

परमाणुरूप पृथ्वी से भिन्न द्वयणुकादिरूप समस्त कार्यरूप है। और वही अनित्य अर्थात् सावयवा है। वह कार्यरूप पृथ्वी, शरीर, इन्द्रिय विषय के भेद से तीन प्रकार की है।

अनित्येति । तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवी द्वयणुकादिरूपा सर्वाऽप्यनित्येत्यर्थः । सैव—अनित्या पृथिव्येव, अवयववतीत्यर्थः ।

ननु अवयविनि किं मानं, परमाणुपुञ्जैरेवोपपत्तेः । न च परमाणूनामतीन्द्रियत्वाद्घटादेः प्रत्यक्षं न स्यादिदि वाच्यम्, एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वात् । यथैकस्य केशस्य दूरेऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम् । न चैको घटः स्थूल इति बुद्धेरनुपपत्तिरिति वाच्यम्, एको महान् धान्यराशिरितिवदुपपत्तेः ।

'नित्याऽनित्या च साद्वेधा' इस पूर्वकारिका के द्वारा नित्य और अनित्य भेद से पृथ्वी दो प्रकार की बता चुके हैं। परमाणुरूप पृथ्वी नित्य है और 'तदन्या' अर्थात् उससे भिन्न द्वयणुकादिरूपा पृथ्वी अनित्य होती है, और अनित्य पृथ्वी ही अवयववती ( सावयवा ) होती है।

**बौद्धों की शंका**—अवयव से पृथक् अवयवी के होने में क्या प्रमाण ? शंका करनेवाले का अभिप्राय यह है—नैयायिक 'अवयव और अवयवी' ऐसे दो भिन्न-पदार्थ मानते हैं। परन्तु देखा जाय तो कहना पड़ता है कि केवल अवयवों का समूह ( समुदाय, इकट्ठा होना ) ही तो 'अवयवी' है। अतः परमाणुओं का समुदाय ( परमाणुपुञ्ज ) ही 'घट' है। तब 'अवयवी' को एक तथा अवयवों से पृथक् पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता ? अतः अवयवसमुदाय ही अवयवी है, अवयव से पृथक् अवयवी नहीं है[१]। क्योंकि परमाणुसमूह को मानने से ही काम चल जाता है। बौद्ध का कहना है कि यहाँ पर यह शंका भी नहीं की जा सकती कि परमाणु तो अतीन्द्रिय ( प्रत्यक्ष के अयोग्य ) हैं, इस कारण परमाणु-समूहरूप घट का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। उक्त शंका का समाधान ( बौद्ध के मत से ) इस प्रकार होगा कि दूर से प्रत्येक ( एक-एक ) केश का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उन केशों के समूह का तो प्रत्यक्ष होता ही है। वैसे ही एक परमाणु का प्रत्यक्ष न भी हो तो भी परमाणुसमूहरूप घट के प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा ( अड़चन ) नहीं है।

रूप अनित्यत्व है, यही अनित्य का लक्षण है। एवंच नित्य पृथिवी का लक्षण यह होगा—'ध्वंसाऽप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाऽप्रतियोगित्वे च सति गन्धवत्त्वं—नित्य-पृथिव्या लक्षणम्। तथा अनित्य पृथिवी का लक्षण यह होगा—'ध्वंसप्रागभावाऽन्यतरप्रतियोगित्वेसति गन्धवत्त्वम्—अनित्यपृथिव्या लक्षणम्।

( १ ) यह 'अवयविवाद' नैयायिकों का है। इनका कहना है कि अवयव और अवयवी परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। किन्तु बौद्धों का कहना कि 'अवयवी' अपने अवयवों से अतिरिक्त कोई नवीन पदार्थ ( वस्तु ) नहीं है। वह तो अवयवों का समूहरूप ( समुदाय ) माना है। नैयायिक कहता है कि 'पट तन्तुओं का समुदाय-मात्र नहीं हैं। वह ( पट ) तो तन्तुओं में ( से ) उत्पन्न होता है, अतः वह (पट) तन्तुओं से पृथक् एक नवीन पदार्थ है। यह अवयविवाद का सिद्धान्त ही नैयायिक-विशेषिकों के कार्यकारणवाद का आधार है। किन्तु सांख्य, वेदान्त, बौद्ध आदि सभी उक्त सिद्धान्त के विरोधी हैं। सांख्य कहता है कि 'पट' तन्तुओं का परिणाम हैं। अर्थात् दूध, दही की तरह तन्तु ही 'पट' के रूप में परिणत हो जाते हैं। तन्तुओं से पृथक् 'पट' नामकी कोई नवीन वस्तु नहीं है। यही सांख्य का 'सत्कार्यवाद' है।

उसके विपरीत न्याय-वैशेषिक का कहना है कि 'तन्तु', 'पट' के रूप में परिणत नहीं होते। वे तो अपने स्वरूप ( तन्तुरूप ) में ही यथास्थित रहते हैं। और उन तन्तुओं में 'पट' नामकी एक नवीन वस्तु उत्पन्न होती है। यही इनका 'आरम्भवाद' या 'असत्कार्यवाद' है। यह दर्शन तन्तुओं से 'पट' का पृथक् अस्तित्व मानता है। अर्थात् अवयवों से अवयवी पृथक् है। वह ( अवयवी ) अवयवों का समूह ( समुदाय ) मात्र नहीं है। यह ( न्याय-वैशेषिक ) दर्शन, यथार्थ ( बाह्य ) वस्तुवादी है। इस दर्शन का नामान्तर 'पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र' है। जगत् के दृश्यमान पदार्थों के अस्तित्व का, उनके स्वरूप का यथार्थ परिचय करा देना ही इस दर्शन का उद्देश्य है। एवंच 'सांख्य' सत्कार्यवादी ( परिणामवादी ) और न्याय-वैशेषिक आरंभवादी ( असत्कार्यवादी ) कहलाते हैं।

बौद्ध 'स्वलक्षणवादी' है। वह नैयायिकों के अवयविवाद का खण्डन करता है। बौद्धों का 'स्वलक्षण' नामक तत्त्व अनन्त है, यथार्थ है किन्तु क्षणिक है। यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् और उसके पदार्थों की प्रतीति 'स्वलक्षण' नामक तत्त्वों के आधार पर ही हुआ करती है। तथापि उन स्वलक्षणों को मिलाकर कोई कार्य ( घट-पटादि द्रव्य ) उत्पन्न नहीं किया जाता। न्याय-वैशेषिक के 'परमाणु' तत्त्व के समान ही बौद्धों ने भी अपने अभिमत 'स्वलक्षणों को मूलतत्त्व के रूप में माना है। वस्तुतः 'स्वलक्षणों' का स्वरूप 'परमाणुओं' से भिन्न है। तथापि मूलतत्त्व की समानता को मन में रखकर बौद्ध का कहना है कि 'परमाणुपुञ्ज' से ही घट-पटादि स्थूल द्रव्यों की प्रतीति संभव हो जाती है तो 'अवयवी' नामक एक अतिरिक्त पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है ? अपने कथन में बौद्ध यह युक्ति देता है कि दूर स्थित एक केश की तरह एक परमाणु यद्यपि 'अप्रत्यक्ष' है तथापि दूर स्थित केश समूह की तरह परमाणुपुञ्ज ( समूह ) का प्रत्यक्ष हो सकता है। और धान्य (धान)

शंका—परमाणुसमूह ( समुदाय अर्थात् पुष्कल परमाणु ) ही 'घट' है, ऐसा यदि मानेंगे तो 'एको घटः स्थूलः—घट एक है तथा स्थूल ( बड़ा ) है ऐसी प्रतीति न हो सकेगी। क्योंकि परमाणु में स्थूलता नहीं है। यदि परमाणु में स्थूलता मानी जाय तो उसका ( परमाणु का ) प्रत्यक्ष होना चाहिए, किन्तु होता नहीं। इस कारण परमाणुसमूहरूप घट में भी स्थूलता का ज्ञान सम्भव नहीं हो पायगा।

उक्त शंका का समाधान बौद्ध इस प्रकार करता है—प्रत्येक छोटे छोटे धान्य-कणों में महत्त्व ( स्थूलता ) बुद्धि न होने पर भी तथा धान्यकणों की पुष्कलता के होने पर भी उन अनेक छोटे छोटे धान्य कणों से बनी राशि में 'एक बड़ी धान्य-राशि है' ऐसी प्रतीति होती है, उसी प्रकार परमाणु में स्थूलता की बुद्धि ( ज्ञान ) न होने पर भी परमाणुसमुदाय रूप घट में 'एक घट स्थूल (महान्) है ऐसी प्रतीत हो सकती है। अर्थात् उक्त प्रतीति के होने में कोई बाधा नहीं है। इसलिए पर-माणुओं का ( अवयवों का ) जो समुदाय है, वही घट—( अवयवी ) है। एवंच अवयव से अवयवी भिन्न नहीं है।

मैवं, परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापि प्रत्यक्षायोग्यत्वात्। दूरस्थके-शस्तु नातीन्द्रियः, सन्निधाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। न च तदानीमदृश्यपरमाणुपु-ञ्जाद् दृश्यपरमाणुपुञ्जस्योत्पन्नत्वान्न प्रत्यक्षत्वे विरोध इति वाच्यम्, अदृश्य-स्य दृश्यानुपादानत्वात्। अन्यथा चक्षुरूष्मादिसन्ततेरपि कदाचित् दृश्यत्वप्रस-ङ्गात्। न चातितप्ततैलादौ कथमदृश्यदहनसन्ततेर्दृश्यदहनोत्पत्तिरिति वाच्यम्, तत्र तदन्तःपातिभिर्दृश्यैरेव दहनावयवैः स्थूलदहनोत्पत्तेरुपगमात्। न चादृश्येन द्व्यणुकेन कथं दृश्यत्रसरेणोरुत्पत्तिरिति वाच्यं, यतो न दृश्यत्वमदृश्यत्वं वा कस्यचित्स्वभावादाचक्ष्महे, किन्तु महत्त्वोद्भूतरूपादिकारणसमुदायवशाद् दृश्यत्वं

---

की राशि ( ढेर ) में 'एक और बड़ा ढेर' यह प्रतीति जैसे हुआ करती है, वैसे ही परमाणुपुञ्जरूप 'घट' में भी 'एक और महान्' वस्तु होने की प्रतीति हो सकती है। अतः 'अवयवों' से पृथक् 'अवयवी' नामक वस्तु को अलग से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पर न्याय-वैशेषिक का कहना है कि यद्यपि केश अपनी सूक्ष्मता के कारण दूर से दृष्टिगोचर ( प्रत्यक्ष ) नहीं हो पाता, तथापि वह ( केश ) वस्तुतः प्रत्यक्ष के अयोग्य तो नहीं है, क्योंकि 'वही केश' समीप से दृष्टिगोचर ( प्रत्यक्ष ) होता है। अतः प्रत्यक्षयोग्य 'केश' अपनी सूक्ष्मता के कारण अकेला दूर से दृष्टिगोचर न भी होता हो, किन्तु उसका समूह दूर से भी दिखलाई पड़ जाता है। यह स्थिति परमाणु में नहीं है। 'परमाणु' तो सर्वथैव प्रत्यक्ष के अयोग्य है। उसका कितना ही महान् समूह क्यों न हो, वह भी प्रत्यक्ष के अयोग्य ही होगा, क्योंकि वस्तु के स्वभाव में कभी परिवर्तन नहीं होता। अतः 'अवयवी' को 'अवयवों' से पृथक् रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा।



तदभावे चादृश्यत्वम्। तथा च त्रसरेणोर्महत्त्वात्प्रत्यक्षत्वं न तु द्व्यणुकादेस्तद-भावात्। न हि त्वन्मतेऽपिसम्भवतीदं, परमाणौ महत्त्वाभावात्।

बौद्धों की आशंका का उत्तर नैयायिक देता है—'मैवमि' ति। बौद्ध ने जो कहा ( अवयव से भिन्न अवयवी नहीं है ), वह उचित नहीं है। जब कि परमाणु अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के अयोग्य) हैं, तब उनका (अतीन्द्रिय परमाणुओं का) समूह (पुञ्ज) रूप जो घट, उसका भी प्रत्यक्ष कैसे सम्भव होगा? अर्थात् परमाणु, प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से उसका समूह भी प्रत्यक्ष के अयोग्य होगा। इसलिए अवयव से अतिरिक्त अवयवी[२] को स्वीकार करना होगा। दूरदेश स्थिति केश का दृष्टान्त बौद्ध ने जो दिया था, वह यहाँ ठीक नहीं बैठता, क्योंकि दूरदेशस्थ केश को अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष के अयोग्य) नहीं कह सकते क्योंकि समीप लाने पर उसका प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् दूर स्थित केश की अप्रत्यक्षता स्वाभाविक नहीं है, वह तो दूरतादोष के कारण है। उस दूरतादोष की निवृत्ति होने पर वही केश, प्रत्यक्ष का विषय हो जाता है। एवंच केश में अतीन्द्रियता के न होने से अर्थात् प्रत्यक्षयोग्यता होने से केश समूह की प्रत्यक्षता ( केश समूह का प्रत्यक्ष होना ) भी स्वाभाविक है। किन्तु परमाणु की अप्रत्यक्षता तो स्वाभाविक है अतः उसका पुञ्ज ( समूह ) भी अप्रत्यक्ष मानना होगा।

---

( १ ) 'द्रव्यसमवायिकारणमवयवः'—यह 'अवयव' का लक्षण है। द्रव्य का जो समवायिकरण हो, उसे 'अवयव' कहते हैं। जैसे 'पट' ( द्रव्य ) का 'तन्तु', 'घट' ( द्रव्य ) का 'कपाल' समवायिकारण है। शरीर ( द्रव्य ) के समवायिकारण हस्त पादादि हैं। अतः वे 'अवयव' कहलाते हैं। उक्त लक्षण में यदि 'द्रव्य' पद न दें तो 'आकाशादि' द्रव्य भी 'शब्दादि' गुणों के समवायिकारण हैं, परन्तु उनमें अवयवरूपता नहीं है। इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'द्रव्य' पद दिया गया है। तब 'आकाशादिकों' में किसी द्रव्य की समवायिकारणता नहीं है, अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं हो पाता। यदि 'समवायि' पद न दें तो 'तन्तु' आदि अवयवों का संयोग भी 'पटादि' द्रव्यों का असमवायिकारण है। और 'काल' आदि उन्हीं के निमित्तका-रण हैं। इन दोनों कारणों (असमवायिकारण और निमित्तकारणों ) में अतिव्याप्ति हो जायगी। उस अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में 'समवायि' पद दिया गया है।

( २ ) 'जन्यद्रव्यमवयवी'—यह 'अवयवी' का लक्षण है। जो जन्य द्रव्य हो उसे 'अवयवी' कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु और उनके द्व्यणुक से लेकर जितने भी उत्पत्तिवाले पार्थिव, जलीय, तैजस् वायवीय द्रव्य हैं वे सब जन्यद्रव्य होने से 'अवयवी' कहलाते हैं। इस लक्षण में यदि 'जन्य' पद न दें तो 'परमाणु' आदि नित्य द्रव्यों में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'जन्य' पद दिया गया है। अब यदि 'द्रव्य' पद न दें तो गुण—कर्मादिकों में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवा-णार्थ 'द्रव्य' पद दिया गया है।

बौद्ध कहता है कि हमारा अभिप्राय[1] यह नहीं है कि जो अतीन्द्रिय वस्तु है, उसके समूह का प्रत्यक्ष होता है।' किन्तु क्षणभङ्गुर (प्रतिक्षण में भिन्नविभिन्न) परमाणुओं में से जिस परमाणुसन्तान का पिण्ड, कपाल, घट आदि शब्दों से व्यवहार किया जाता है, वह अतीन्द्रिय नहीं है, इसलिए उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। और जो उनके पूर्ववर्ती हैं, वे अतीन्द्रिय हैं ही इस कारण उनका चाक्षुषप्रत्यक्ष

१. शंका—'न च तदानीमिति।' 'अयं घटः' इत्याकारक प्रत्यक्ष होने के पूर्वक्षण में ही प्रत्यक्ष के विषय ( योग्य ) न होनेवाले समुदित परमाणुओं ( अदृश्य = इन्द्रियागोचर परमाणुपुञ्ज ) के द्वारा प्रत्यक्षयोग्य परमाणुसमुदा ( दृश्य = इन्द्रिय गोचर परमाणुपुञ्ज) उत्पन्न किया जाता है, अतः परमाणुपुञ्जरूपी घट का प्रत्यक्ष हो सकता है, क्योंकि 'यत् सत् सत् क्षणिकम्' इस नियम के अनुसार क्षणभंगवादियों ( बौद्धों ) के मत में परमाणुओं की उत्पत्ति मानी गई है।

समा०—इस पर नैयायिक कहते हैं कि यह जो बौद्ध कहता है कि 'घट' शब्द से व्यपदेश ( व्यवहार ) करने के योग्य जो 'परमाणु' हैं, वे दृश्य होते हैं और चक्षुरादि से व्यपदेशार्ह परमाणु तो प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहने पर भी नहीं दिखलाई देते। अतः उक्त व्यवस्था की उपपत्ति के लिये बौद्धों को कहना होगा कि दृश्यत्व में दृश्योपादेयत्व प्रयोजक होता है, और अदृश्यत्व में अदृश्योपादेयत्व प्रयोजक होता है। एवञ्च अदृश्य पूर्वपरमाणुओं के द्वारा घटात्मक दृश्य परमाणुओं का उपादान कैसे कर सकोगे। इसी आशय को मन में रखकर ग्रन्थकार ने समाधान किया है—'अदृश्यस्येति' बौद्धमतानुसार पूर्व परमाणुपुञ्ज अदृश्य (अप्रत्यक्ष ) होने से वह प्रत्यक्ष ( दृश्य ) परमाणुपुञ्ज का कारण (उपादान) नहीं हो सकता। और दृश्यपरमाणुपुञ्ज में दृश्योपादेयता ( दृश्योपादेयत्व ) न होने से दृश्यपरमाणुपुञ्ज की उत्पत्ति होना ही संभव नहीं है। एवञ्च अदृश्य वस्तु से दृश्य वस्तु की उत्पत्ति कभी भी नहीं हो सकती। अर्थात् अदृश्य वस्तु, दृश्य वस्तु का उपादान ( कारण ) नहीं हुआ करती। अतः बौद्ध यह नहीं कह सकता कि 'कार्योत्पत्तिकाल में अदृश्य परमाणुपुञ्ज से दृश्य परमाणुपुञ्जरूप घटकी उत्पत्ति होती है, इसलिए उसके प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है।' क्योंकि अदृश्य पदार्थ, दृश्य पदार्थ का उपादान (कारण) नहीं होता। अन्यथेति। अन्यथा अर्थात् अदृश्य को दृश्य का उपादान ( कारण ) माना जाय तो कदाचित् चक्षुरिंद्रिय तथा ऊष्मा ( ताप ) आदि अदृश्य तेजः पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। अर्थात् अदृश्य चक्षु से कदाचित् दृश्य चक्षु की तथा अदृश्य ऊष्मा से दृश्य ऊष्मा की उत्पत्ति होने लगेगी। और त्वगिन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष होने लगेगा। किन्तु शास्त्रकारों ने चक्षुरिन्द्रिय तथा ऊष्मा ( ताप ) को तेजःपदार्थ और अदृश्य ( प्रत्यक्ष ) का अविषय माना है।

शंका—बौद्ध कहता है कि किसी पात्र में रखे हुए अतितप्त तेल में विद्यमान अदृश्य अग्नि से कभी कभी ज्वालारूपी अदृश्य अग्निकी उत्पत्ति ( अर्थात् अत्यधिक तपे हुए तेल में जल का छींटा देने से तप्त तैलस्थ अदृश्य अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। जैसे दृष्टिगोचर होती है, वैसे ही प्रकृत में भी अदृश्य परमाणु पुञ्ज से एक दृश्य परमाणु पुञ्जात्मक घट भी उत्पन्न हो सकता है।

"जालान्तरगते भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः। प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते।" —याज्ञ १।३।१,—मनु० ८।१३२

समा०—नैयायिक का कहना है कि अत्यधिक तप्त तेल के भीतर रहने वाली अग्नि के जो सूक्ष्म अवयव हैं उनमें प्रत्यक्ष होने की योग्यता है अर्थात् वे दृश्य हैं, जल का छींटा पड़ने पर उनसे ही स्थूल अग्नि ( दृश्य ज्वाला ) की उत्पत्ति होती है। अतः दृश्य से ही दृश्य की उत्पत्ति होती है अदृश्य से दृश्य की नहीं।

शंका—बौद्ध 'नैयायिक' से पूछता है कि आपके मत में द्व्यणुक अदृश्य है उससे दृश्यत्रसरेणु ( त्र्यणुक ) की उत्पत्ति होती है। यदि अदृश्य से दृश्य की उत्पत्ति न मानी जाय तो अदृश्य द्व्यणुक से दृश्य त्रसरेणु की उत्पत्ति कैसे कह सकोगे ?

समा०—नैयायिक कहता है—अमुक वस्तु दृश्य है और अमुक वस्तु अदृश्य है। यह कहने के लिए कुछ हेतु ( कारण ) प्रदर्शित करना होता है। बिना कारण के अर्थात् अकस्मात् ही कोई वस्तु दृश्य या अदृश्य नहीं हुआ करती, क्योंकि दृश्यत्व या अदृश्यत्व किसी वस्तु के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं। प्रत्यक्ष की सामग्री ( कारण ) महत्व तथा उद्भूतरूप है। वह सामग्री जिस वस्तु में रहेगी वही वस्तु दृश्य कहलाती है। और वह सामग्री जिस वस्तु में नहीं रहेगी वह वस्तु अदृश्य कहलाती है। त्रसरेणु आदि में महत्त्व आदि प्रत्यक्ष की समाग्री है। अतः उसका ( त्रसरेणुका ) प्रत्यक्ष होता है। और द्व्यणुक में महत्त्व ( प्रत्यक्ष की सामग्री ) न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस कारण त्रसरेणु को दृश्य और द्व्यणुक को अदृश्य कहा जाता है।

शंका—यद्यपि प्रत्येक परमाणु अदृश्य है तथापि परमाणुपुंजात्मक घट को दृश्य मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

समा० नैयायिक के मत में तो उपपत्ति हो जाती है, किन्तु बौद्ध के मत में अदृश्य से दृश्य की उपपत्ति नहीं बन पाती है। क्योंकि अदृश्य परमाणुओं के समूह ( पुञ्ज ) में महत्त्वरूपी प्रत्यक्षसामग्री के न रहने से उस घट के प्रत्यक्ष की उपपत्ति नहीं होगी। अर्थात् बौद्ध के मत में भी परमाणु में महत्व न होने से उसका दृश्यत्व नहीं है। अतः असंख्य परमाणु क्यों न हों, उनमें महत्त्व कहाँ से आवेगा। अतः बौद्ध का ( प्रत्येक परमाणु का प्रत्यक्ष न हो किन्तु परमाणुपुञ्जात्मक घट का प्रत्यक्ष हो सकता है ) कथन कदापि उचित



नहीं होता। एवंच अतीन्द्रिय परमाणुओं के पुञ्जरूप घट के प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। घट के प्रत्यक्ष की सिद्धि के लिए अवयवातिरिक्त अवयवी के मानने की आवश्यकता नहीं।

**नैयायिक** कहता है कि अदृश्य वस्तु किसी दृश्य वस्तु का कारण ( उपादान ) नहीं बन सकती। यदि अदृश्य वस्तु को भी दृश्य वस्तु का उपादान ( कारण ) स्वीकार कर लें तो अदृश्य चक्षु से कदाचित् दृश्य चक्षु की तथा अदृश्य ऊष्मा से कदाचित् दृश्य ऊष्मा की उत्पत्ति भी कहनी होगी अर्थात् चक्षु तथा ऊष्मा आदि अदृश्य तेज पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा[1]।

**बौद्ध** कहता है—कटाह ( कड़ाह ) के अत्यन्त तप्त तैल में विद्यमान अदृश्य अग्नि से कभी कभी ज्वालारूप दृश्य अग्नि की उत्पत्ति होती जैसे देखते हैं। उसी प्रकार यहाँ पर भी अदृश्यपरमाणुपुञ्ज से एक दृश्यपरमाणुपुञ्ज घट भी उत्पन्न हो सकता है।

**नैयायिक** कहता है—अत्यन्त तप्त तैल में अग्नि के सूक्ष्म अवयव विद्यमान हैं और वे दृश्य भी हैं, उन्हीं से ज्वालारूप दृश्य ( स्थूल ) अग्नि की उत्पत्ति होती है। अतः बौद्ध का आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ दृश्य से ही दृश्य की उत्पत्ति हो रही है।

**बौद्ध** पूछता है कि आपके यहाँ अदृश्य द्व्यणुक से दृश्य त्रसरेणु का प्रत्यक्ष ( उत्पत्ति ) कैसे होता है ?

**नैयायिक** बताता है कि दृश्यत्व, अदृश्यत्व किसी वस्तु के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं, अपितु जहाँ महत्त्व आदि कारणसमूह होता है, वह वस्तु दृश्य होती है और जहाँ महत्त्व आदि कारणसमूह नहीं रहता वह वस्तु अदृश्य होती है। त्रसरेणु में महत्त्व होने से उसका प्रत्यक्ष होता है और द्व्यणुक में महत्त्व के न रहने से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

**बौद्ध** कहता है कि प्रत्येक परमाणु के अदृश्य रहने पर भी परमाणुपुञ्ज रूप 'घट' को दृश्य मान लेने में क्या हानि है ?

**नैयायिक** 'नहि त्वन्मतेऽपि' कहकर उत्तर दे रहा है कि तुम्हारे बौद्ध-सिद्धान्त के अनुसार भी परमाणु में अर्थात् परमाणुपुञ्ज कार्य में महत्त्व आदि कारणों के न होने से यह दृश्यत्वोपपादन संगत नहीं हो पा रहा है। अर्थात् कारणीभूत परमाणु दृश्यत्व का उपपादन नहीं हो पा रहा है। अतः कार्यभूत परमाणु-पुञ्ज में भी महत्त्व आदि कारणों के न होने से दृश्यत्व का उपपादन संगत नहीं हो सकता। अतः परमाणुओं से द्व्यणुकादि के द्वारा उत्पद्यमान घटादि अवयवी को महत्परिमाण आदि के आश्रय के रूप में स्वीकार करना ही होगा। एवंच अवयवी को पृथक् सत्ता सिद्ध हो जाती है।

नहीं है। क्योंकि पुञ्ज ( समूह ) भी तो परमाणुओं से पृथक् नहीं है। इसलिए परमाणुओं से द्व्यणुक उससे त्र्यणुक आदि के द्वारा उत्पद्यमान एक घटादिरूप अवयवी को पृथक् स्वीकार करना ही होगा।

( १ ) इस दोष के निवारणार्थ 'अदृश्य वस्तु से दृश्य वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती यह मानना ही पड़ेगा।



**इत्थं चावयविसिद्धौ तेषामुत्पादविनाशयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वादनित्यत्वम्।**

॥ इति अवयव्यनुमानम् ॥

इस रीति से अवयवी ( घट-पटादि ), अवयवों ( परमाणुओं ) से भिन्न है। अर्थात् 'वह' अवयवी, अवयवों की अपेक्षा एक स्वतंत्र वस्तु है' यह सिद्ध हो जाने पर अवयवों के उत्पाद-विनाश[1] प्रयुक्त अवयवी का उत्पाद-विनाश ( उत्पत्ति तथा नाश ) प्रत्यक्ष ही है, उससे अवयवी की अनित्यता[2] स्पष्ट हो जाती है और परमाणुओं की उत्पत्ति तथा नाश न होने से वे ( परमाणु ) नित्य हैं। एक अवयवी के अवयव अनेक हैं। अतः अवयवातिरिक्त अवयवी सिद्ध हो जाता है।

॥ इति अवयव्यनुमानम् ॥

**तेषां चावयवावयवधाराया अनन्तत्वे मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसङ्गः। अतः क्वचिद्विश्रामो वाच्यः, यत्र तु विश्रामस्तस्याऽनित्यत्वेऽसमवेतभावकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः इति तस्य नित्यत्वम्। महत्परिमाणतारतम्यस्य गगनादौ विश्रान्तत्वमिवाणुपरिमाणतारतम्यस्यापि क्वचिद्विश्रान्तत्वमस्तीति तस्य परमाणुत्वसिद्धिः। न च त्रसरेणावेव विश्रामोऽस्त्विति वाच्यं, त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धौ, त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महादारम्भकत्वात् कपालवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धेः। न चेदमप्रयोजकम्, अपकृष्टमहत्त्वं प्रत्यनेकद्रव्यवत्त्वस्य प्रयोजकत्वात्। न चैवं क्रमेण तदवयवधाराऽपि सिध्येदिति वाच्यम्, अनवस्थाभयेन तदसिद्धेरिति।**

॥ इति परमाणुसाधनम् ॥

यदि परमाणुओं के अवयव तथा उन अवयवों के भी अवयव फिर उनके भी अवयव इस प्रकार अवयवों की धारा मानी जाय। अर्थात् किसी एक वस्तु ( अवयवी ) के अवयव अमुक पर्यन्त हैं ऐसा यदि न माना जाय—तो मेरुपर्वत तथा सरसों इन दोनों के परस्पर परिमाणों का तारतम्य नहीं रहेगा। अर्थात् अनन्त भाग सुमेरुपर्वत के यदि होते चले जायेंगे, तो वैसे ही अनन्त भाग सरसों के भी होंगे। अतः दोनों की तुल्यता होती चली जायगी। तात्पर्य यह है कि अवयवियों में जो विषमता होती है वह उनके अवयवों की न्यूनाधिकता पर ही निर्भर है। यदि सभी अवयवी अनन्तावयववाले हो गये, तो अवयवियों की विषमता का कोई प्रयोजक ही नहीं रहेगा। इस रीति से मेरु और सर्षप में समानता का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः कहीं-न-कहीं पर तो अवयवधारा को विश्राम देना ही होगा। जहाँ अवयवधारा विश्रान्त होगी तब उस भाग की अपेक्षा अन्य कोई सूक्ष्म भाग

१. आद्यक्षणसम्बन्धरूप उत्पाद और चरमक्षणसम्बन्धरूप विनाश ( ध्वंस ) ये प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं।

२. प्रागभावप्रतियोगित्व और ध्वंसप्रतियोगित्वरूप अनित्यत्व।

नहीं होगा। जहाँ धारा विश्रान्त होगी वही सबकी अपेक्षा सूक्ष्म होगा और उस सूक्ष्मतम भाग को नित्य कहना होगा। यदि उसे भी अनित्य ( जन्य ) कहेंगे, तो 'असमवेतभावकार्योत्पत्ति' का प्रसंग होगा। 'असमवेतश्च तद्भावकार्यञ्च'—यह कर्मधारय समास है। किन्तु सभी 'भावकार्य' अपने अवयवों में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। जैसे—घट, पटादि भावकार्य अपने अवयव कपाल और तन्तुओं में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, इसी को 'समवेतभावकार्योत्पत्ति' कहते हैं। जितने भी भावकार्य हैं वे सभी अपने अवयवों में समवेत होकर ही उत्पन्न होते हैं, यह हमने घट-पटादि भावकार्यों की उत्पत्ति में देखा है। एवंच जहाँ अवयवधारा समाप्त होगी, उसे ही अन्तिम अवयव कहा जायगा। वह अन्तिम अवयव होने के कारण उसे असमवेत कहना होगा, क्योंकि यदि उसका भी अन्य कोई अवयव होता, तो उसमें वह ( अन्तिम अवयव ) समवेत हो पाता। यदि उस अन्तिम अवयव को अनित्य ( जन्य ) कहते हैं, तो घट-पटादि के समान उसे भावकार्य कहना पड़ेगा। एवंच अनित्य मानने पर असमवेतभाव कार्य की उत्पत्ति कहने का प्रसंग आवेगा। किन्तु इस प्रकार असमवेतभावकार्योत्पत्ति का होना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये उस अन्तिम अवयव को 'नित्य' ही कहना चाहिये[1] और वही 'परमाणु' पदार्थ है। क्योंकि जैसे महत्परिमाण के तारतम्य की विश्रान्ति गगन ( आकाश ) आदि में होती है, ( आदि शब्द से काल, दिक्, आत्मा का संग्रह कर लेना चाहिये ) वैसे ही अणुपरिमाण के तारतम्य ( न्यूनाधिकभाव ) की विश्रान्ति भी कहीं-न-कहीं तो अवश्य करनी ही होगी। एवंच जहाँ अणुपरिमाण के तारतम्य

१. परमाणु का पुनः अवयव न मानने का कारण यही है कि वे अवयव अपने समवायिकारण के बिना उत्पन्न होने लगेंगे यह सैद्धान्तिक दोष होगा। न मानने पर यह दोष नहीं होगा। जो भाव 'जन्य' होता है, वह समवायिकारण के बिना उत्पन्न नहीं होता। 'परमाणु' भाव पदार्थ है, फिर भी वह 'जन्य' नहीं है, अपितु 'नित्य' है। अतः उक्त आपत्ति नहीं हो पाती। 'परमाणु' का लक्षण इस प्रकार होगा—'मनोभिन्नत्वे सति परमाणुत्वपरिमाणवान् परमाणुः' जो द्रव्य मन से भिन्न होकर समवायसम्बन्ध से 'परमअणुत्व' परिमाणवान् हो उस द्रव्य को 'परमाणु' कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु, मन से भिन्न हैं तथा समवाय-सम्बन्ध से 'परमअणुत्व' परिमाणवाले भी हैं। 'मन' भी 'परमअणुत्व' परिमाण-वाला है। अतः अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ लक्षण में 'मनोभिन्नत्वे सति' यह सत्यन्त विशेषणपद दिया गया है। उसी प्रकार 'द्वयणुक' में अतिव्याप्ति न हो इसलिये 'अणुत्वपरिमाण' का 'परम' विशेषण दिया गया है। 'द्वयणुक' में तो 'मध्यम अणुत्व परिमाण'—माना गया है। 'परम अणुत्वपरिमाण' नहीं। पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में 'परिमाण' है, तथापि 'परम अणुत्वपरिमाण' तो केवल 'पर-माणु' तथा 'मन' का ही माना गया है। द्रव्यादिक समस्त पदार्थों में लक्षण की अतिव्याप्ति दूर करने के लिये 'परमाणुत्वपरिमाणवान्' यह विशेषण दिया गया है।



की विश्रान्ति होगी, वही 'परमाणु'[1] है और उससे पृथक् घटादि अवयवी अनित्य है यह स्पष्ट हुआ। अतः परमाणुपुञ्जवादी बौद्ध को परास्त हुआ समझना चाहिये।

शंका—त्रसरेणु पर ही यदि अवयव धारा को विश्रान्त करें, परमाणुपर्यन्त न माने, तब त्रसरेणु ही अवशिष्ट अवयव कहलायेगा। अर्थात् 'परमाणुत्वपरिमाण' ( सूक्ष्मतम परिमाण ) वाला त्रसरेणु ही कहा जाय। अर्थात् त्रसरेणु को ही परमाणु मान लिया जाय, उसके और आगे अन्यान्य कल्पना करने से क्या लाभ?

समा०—पहले बता चुके हैं कि त्रसरेणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अतः यह अनुमान प्रयोग किया गया है—'त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत्' इस अनुमान प्रयोग से यह व्याप्ति ( नियम ) समझ में आती है, कि 'यच्चाक्षुषं तत् सावयवम्'—'जो द्रव्य, चक्षुरिन्द्रिय का विषय होता है, वह सावयव रहता है' अर्थात् उसके अवयव रहते हैं। जैसे 'घट' द्रव्य, चक्षुरिन्द्रिय का विषय है, तो वह सावयव भी है। उसी प्रकार त्रसरेणु भी चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने से सावयव है, ऐसा अनुमान होता है। इस अनुमान से त्रसरेणु के अवयवों ( द्वयणुक ) की सिद्धि हो जाती है। एक और दूसरे अनुमान से 'त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महदारं-भकत्वात् कपालवत्'—त्रसरेणु का अवयव द्वयणुक भी सावयव है, क्योंकि वह महान् का आरम्भक है, कपाल की तरह। इस अनुमान से यह व्याप्ति ( नियम ) समझ में आती है 'यो महदवयवः अर्थात् महत्परिमाणवतः कार्यस्य आरम्भकः अवयवः सोऽपि सावयवः'—जिस द्रव्य से बड़ा द्रव्य ( दृश्य द्रव्य ) उत्पन्न होता है, उस द्रव्य का अवयव भी सावयव होता है। जैसे—कपालद्रव्य से बड़ा घट उत्पन्न होता है, अतः वह अवयवरूप कपाल भी सावयव है, अर्थात् उस कपाल के भी अवयव हैं। वैसे ही द्वयणुकस्वरूप अवयवों से त्रसरेणु स्वरूप बड़ा द्रव्य उत्पन्न होता है। अतः द्वयणुकस्वरूप अवयव सावयव है, यानी उस द्वयणुक के अवयव ही 'परमाणु' हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। त्रसरेणु या त्रसरेणु के अवयवों को 'परमाणु' नहीं माना जा सकता। प्रथम अनुमानप्रयोग की व्याप्ति से त्रसरेणु की सावयवता सिद्ध की गई है और द्वितीय अनुमानप्रयोग की व्याप्ति से द्वयणुक की सावयवता को निराबाध बताया गया है।

शंका—चाक्षुषद्रव्यत्वहेतुक प्रथम अनुमान को त्र्यणुक के सावयव होने में अप्रयोजक ( अनुकूल तर्करहित ) क्यों न माना जाय?

समा०—हेतु में व्यभिचारशंकानिवर्तक तर्कशून्य अनुमान को 'अप्रयोजक अनुमान' कहते हैं। एवंच हेतु में यदि व्यभिचार की आशंका हो जाय, तो उस आशंका को हटानेवाले 'तर्क' को ही अनुकूल तर्क कहते हैं। तथाहि—प्रथम अनुमान में व्याप्ति यह थी—'यच्चाक्षुषं तत् सावयवम्'। इस व्याप्ति में यदि 'हेतुरस्तु, साध्यं

१. 'न प्रलयोऽणुसद्भावात्'—न्या. सू. (४।२।१६) इस पर भाष्य 'यस्मान्नाल्पतर-मस्ति यः परमोऽल्पस्तत्र निवर्तते, यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तम्परमाणुम्प्रचक्ष्महे' इति।

मास्तु' इति हेतुः साध्यव्यभिचारी न वा' इस प्रकार व्यभिचार शंका—त्रसरेणु' रूप पक्ष में 'चाक्षुषद्रव्यत्व' रूप हेतु तो रहे किन्तु 'सावयवत्व' रूप साध्य न रहे—हो जाय, तो उसे दूर करने वाला अनुकूल तर्क नैयायिक के पास है। यदि नैयायिक के पास अनुकूल तर्क न हो, तो 'चाक्षुषद्रव्यत्वात्' यह हेतु 'सावयवत्व'—रूप साध्य की सिद्धि नहीं कर सकेगा। नैयायिक के पास अनुकूल तर्क है। अनुकूल तर्क, कार्य-कारणभावमूलक होता है। उसे इस प्रकार बता सकते हैं—'चाक्षुषद्रव्यत्वं यदि सावयवत्वव्यभिचारि स्यात् तर्हि सावयवत्वव्याप्य-अनेकद्रव्यवत्त्वव्याप्य-अपकृष्टमहत्त्व-व्याप्यं न स्यात्, किन्तु चाक्षुषद्रव्यत्वं सावयवत्वव्याप्य—अनेकद्रव्यत्वव्याप्य-अपकृष्ट-महत्त्वव्याप्यं भवति, अतो न व्यभिचारि।' नैयायिकों का सिद्धान्त है कि 'तीन द्वचणुकों से एक त्र्यणुक उत्पन्न होता है। अतः त्र्यणुकपरिमाण अनेक अवयविजन्य-द्रव्यरूप हुआ, इस कारण उस त्र्यणुक में अपकृष्ट महत्त्व ( विभु से अतिरिक्त महत्परिमाण ) उत्पन्न होता है। क्योंकि उस अपकृष्टमहत्त्व के प्रति 'अनेकावयवि-जन्य अनेकद्रव्यवत्त्वरूप द्रव्यत्व प्रयोजक है। यदि 'त्र्यणुक' में चाक्षुष द्रव्यत्व को तो मान लें और 'सावयवत्व' को न मानें, तो—'अपकृष्टमहत्त्व और अनेकावयवि-जन्य अनेक द्रव्यत्त्वरूप द्रव्यत्व दोनों में स्थित प्रयोज्यप्रयोजकभाव ( कार्य-कारण-भाव ) हो नहीं सकेगा। अतः त्र्यणुक में सावयवत्व तो मानना ही होगा। अर्थात् त्र्यणुक को सावयव कहना ही होगा। ऊपर बता चुके हैं कि अपकृष्ट-महत्त्व के प्रति 'अनेकद्रव्यवत्त्व' प्रयोजक है। जैसे—अपकृष्ट-महत्परिमाणवाले द्रव्य का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अतः कहना होगा कि चाक्षुष-प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यत्व—व्याप्य है और अपकृष्ट-महत्परिमाण व्यापक है। अर्थात् जिस-जिस द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, उस-उस द्रव्य में अपकृष्ट-महत्परिमाण अवश्य ही रहता है। क्योंकि किसी भी द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'महत्परिमाण' कारण होता है। उसी प्रकार जहाँ-जहाँ अपकृष्ट महत्परिमाण रहता है, वहाँ-वहाँ अनेक 'द्रव्यवत्त्व' अवश्य ही रहता है। अतः 'अपकृष्ट महत्परिमाण' व्याप्य हुआ और अनेक 'द्रव्यवत्व' व्यापक हुआ। क्योंकि त्र्यणुक आदि में अपकृष्ट महत्परिमाण रहता है और वे ( त्र्यणुक आदि ) अनेक द्रव्यों से उत्पन्न हुए रहते हैं। उसी तरह अनेकद्रव्यवत्त्व—व्याप्य है और सावयवत्त्व—व्यापक है, यानी जो-जो अनेक द्रव्यवाला ( अनेकद्रव्यवान् ) होगा वह अवश्य ही सावयव भी होगा। एवंच जिस-जिस द्रव्य में चाक्षुष-प्रत्यक्षयोग्यता रहेगी, वहाँ-वहाँ सावयवत्व अवश्य रहेगा। अतः वह ( त्र्यणुक का अवयव द्वचणुक) भी सावयव है, यह कल्पना की जाती है। अतः चाक्षुष-प्रत्यक्षयोग्यद्रव्यत्व-व्याप्य हुआ और सावयवत्व-व्यापक हुआ। इस कारण यदि किसी द्रव्य (वस्तु) में चाक्षुष-प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यत्व है, तो उसमें सावयवत्व भी अवश्य होगा। अतः चाक्षुष-प्रत्यक्ष-योग्य द्रव्य में की गई व्यभिचारशंका ( त्र्यणुक में 'चाक्षुषद्रव्यत्वरूप हेतु हो और सावयवत्त्व रूप साध्य न हो ) का निराकरण इस रीति से हो जाता है। एवंच इस प्रकार प्रदर्शित किये गये प्रयोज्य-प्रयोजकभाव ( कार्य-कारणभाव ) से यह सुस्पष्ट



हो जाता है कि यदि त्र्यणुक में चाक्षुष प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यत्व है अर्थात् यदि त्र्यणुक द्रव्य चक्षुरिन्द्रिय के गोचर है, तो वह अवश्य ही सावयव है, यानी उसके अवयव भी मानने होंगे। जैसे—घटद्रव्य चक्षुरिन्द्रिय का गोचर होता है। अतः वह सावयव भी होता है। उसी प्रकार त्रसरेणु भी चक्षुरिन्द्रिय के गोचर होने से उसके ( त्रस-रेणुके) अवयव ( द्वचणुक) हैं, यह कल्पना की जाती है। जिससे त्र्यणुक के अवयवों ( द्वचणुक) की सिद्धि हो जाती है। क्योंकि यह नियम है कि 'जिस द्रव्य से कोई बड़ा द्रव्य ( दृश्य द्रव्य ) उत्पन्न होता है, उस द्रव्य का अवयव भी सावयव होता है, जैसे—कपालद्रव्य से बड़ा घटरूप द्रव्य ( दृश्य द्रव्य ) उत्पन्न होता है, अतः वह कपाल भी सावयव है अर्थात् उस कपाल के भी अवयव हैं। वैसे ही द्वचणुकस्वरूप अवयवों से त्रसरेणु ( त्र्यणुक ) स्वरूप बड़ा दृश्य द्रव्य उत्पन्न होता है, अतएव द्वचणुकस्वरूप अवयव भी सावयव है, अर्थात् उस द्वचणुक के अवयव 'परमाणु' ही हैं, यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—उक्त नियम को न मानकर बौद्ध शंका कर रहा है कि द्वचणुक से जो महत् परिमाणवाला त्रसरेणु ( दृश्य ) उत्पन्न होता है, क्या वह महत्परिमाणवाला त्रसरेणु 'द्वचणुक' के परिमाण को स्वीकार नहीं करेगा? अर्थात् अवश्य ही करेगा।[1] अतः पूर्वोक्त अनुमान में अनुकूल तर्क का अभाव है।

समा०—नैयायिक समाधान करता है कि 'जो द्रव्य, चक्षुरिन्द्रिय का गोचर होकर महत् ( साधारण बड़ा ) है, वह ( द्रव्य ) इन्द्रियों के अगोचर तथा अति सूक्ष्म द्रव्य से कदापि उत्पन्न नहीं होगा। इस कारण अतिसूक्ष्म द्रव्य की अपेक्षा किंचित् बड़ा तथा पूर्वोक्त साधारण बड़े द्रव्य की अपेक्षा किंचित् छोटा ऐसी मध्य-स्थिति का द्रव्य स्वीकार किया जाता है। अतएव उत्तम ( बड़ा ), मध्यम तथा कनिष्ठ ( अतिसूक्ष्म ) ऐसा तीन प्रकार का द्रव्य है, यह स्पष्ट होता है। उक्त तीन प्रकारों में से जो उत्तम है वह त्रसरेणु है और जो मध्यम है वह द्वचणुक है और जो कनिष्ठ है वही परमाणु है, यह समझना चाहिये। अतः बौद्ध का नियम ( त्र्यणुक का परिमाण द्वचणुक के परिमाण पर निर्भर है ) उचित नहीं है। क्योंकि त्र्यणुक का महत्परिमाण द्वचणुक के अणुपरिमाण से उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत तीन द्वचणुकों में रहनेवाली त्रित्व संज्ञा से उत्पन्न होता है। एवंच 'अपकृष्ट महत्त्व के प्रति अनेक द्रव्यवत्त्व में प्रयोजकता (कारणता) होती है' इस तरह व्यभिचारशंकानिवर्तक के रूप में अनुकूल तर्क सिद्ध होता है।

शंका—इस प्रकार यदि अनुमान से सावयवत्व को सिद्ध करते हैं, तो द्वचणुकावयवाः सावयवाः महदारम्भकारम्भकत्वात्, कपालिकावत्' इस अनुमान से परमाणु को भी सावयव सिद्ध कर सकते हैं।

समा०—'न चैवंक्रमेणेति। 'अवयव-साधक उपर्युक्त अनुमान के द्वारा द्वचणुकावयव स्वरूप परमाणुओं के अवयवों की तरह उन अवयवों के भी अवयव पुनः

[1] क्योंकि 'परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात्'।

उनके भी अवयव इस प्रकार उन अवयवों की धारा ( प्रवाह ) ही बह उठेगी, तब अप्रामाणिक अनन्त कल्पना समाप्त्यभावात्मक अनवस्था हो जायगी, उस अनवस्था दोष के भय से अवयवधारा को अनुमिति का विषय नहीं बनाया जाता, अर्थात् अवयव धारा का अनुमान नहीं, किया जाता। क्योंकि हेतु में अनवस्था दोष रहने पर, वह ( अनवस्थादोष हेतु में अप्रामाण्य बुद्धि को उत्पन्न करता है, तब उससे साध्य की सिद्धि नहीं हो पाती। अतः परमाणु के पुनः अवयव नहीं हैं यह अवश्य मानना ही होगा। ॥ इति परमाणुसाधनम् ॥

**सा चेति सा कार्यरूपा पृथिवी त्रिधेत्यर्थः। शरीरेन्द्रियविषयभेदादित्यर्थः ॥ ३७ ॥**

वह पृथ्वी नित्य तथा अनित्य भेद से दो प्रकार की है, यह पहले कह चुके हैं। अब उन दोनों में से जो अनित्य पृथिवी है, वह शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार की है। यहाँ पर कार्यरूपा पृथिवी' को पक्ष बनाया है, 'त्रिविधत्व'[1] को साध्य बनाया है और 'शरीरेन्द्रियविषयभेदात्' को हेतु बनाया है। इस प्रकार अनुमानप्रमाण के द्वारा कार्यरूपा पृथ्वी में त्रिविधत्व' को सिद्ध किया गया है। शरीर और इन्द्रिय का आत्मा से सम्बन्ध रहने के कारण उनका निरूपण विशेषरूप से ग्रन्थकार ने किया है। अन्य जितने भी पार्थिव पदार्थ हैं, उनका विषय में अंतर्भाव समझना चाहिये।

इन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले पदार्थों को 'विषय' कहते हैं। अथवा शरीर एवं इन्द्रिय से भिन्न होते हुए जो उपभोग का साधन हो उसे विषय कहते हैं। सुख एवं दुःख के साक्षात्कार को भोग कहा गया है ॥ ३७ ॥

**योनिजादिर्भवेद्देहमिन्द्रियं घ्राणलक्षणम्।**
**विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः ॥३८॥**

---

१. उद्देश्यतावच्छेदक जो पृथ्वीत्व, उसकी समनियत संख्या 'त्रित्व संख्या' होती है, तादृशसंख्यावत्त्व का नाम ही 'त्रिविधत्व' है। संख्या की आश्रयता 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से लेनी चाहिये। 'स्व' पद से 'त्रित्व' संख्या, उसका आश्रय 'शरीरत्व, इन्द्रियत्व, विषयत्व', ये तीनों होते हैं। उनका आश्रय शरीर, इन्द्रिय और विषय होगा।

'समनियतत्व'––'व्याप्यत्वे सति व्यापकत्वं' को कहते हैं। यहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदक 'पृथ्वीत्व' जाति है, वह जहाँ-जहाँ रहेगी, वहाँ-वहाँ शरीरत्व, इन्द्रियत्व, एवं विषयत्व में रहनेवाली 'त्रित्व' संख्या भी 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से रहती है। इसलिये 'पृथ्वीत्व' का व्याप्य 'त्रित्व' हो जाता है एवं जहाँ-जहाँ 'स्वाश्रयाश्रयत्व' सम्बन्ध से 'त्रित्व' संख्या रहती है वहाँ-वहाँ 'समवाय' सम्बन्ध से 'पृथ्वीत्व' जाति भी रहती है, इसलिये 'पृथ्वीत्व' जाति 'त्रित्व' जाति की व्याप्य होती है। इस तरह पृथ्वीत्व के साथ त्रित्व संख्या की समव्याप्ति है––ऐसा समझना चाहिये।



'देह अर्थात् पार्थिव'[1] शरीर, योनिजादि अर्थात् स्त्री के गर्भ में रहने के कारण योनि से अर्थात् भग के द्वारा उत्पन्न हुआ, उसे 'योनिज' कहा गया है। अर्थात् शुक्र-शोणित के मिश्रण से उत्पन्न होनेवाला शरीर 'योनिज' है। 'आदि' शब्द से तद्भिन्न 'अयोनिज' समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि 'योनिज' और 'अयोनिज' भेद से 'देह' दो प्रकार का है। 'इन्द्रिय' अर्थात् पार्थिव इन्द्रिय[2] जिसका स्वरूप 'घ्राण' ही है। 'विषय' अर्थात् पार्थिवविषय[3], त्र्यणुक से लेकर समस्त ब्रह्माण्ड है।

**तत्र देहमुदाहरति––**

**योनिजादिरिति।' योनिजमयोनिजं चेत्यर्थः। योनिजमपि द्विविधं जरायुजमण्डजं च। जरायुजं मानुषादीनाम्। अण्डजं सर्पादीनाम्। अयोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम्। स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः। उद्भिज्जास्तरुगुल्माद्याः। नारकिणां शरीरमप्ययोनिजम्।**

'तत्र देहमिति'। देह, इन्द्रिय और विषयों में से पार्थिव शरीर ( देह ) को उदाहरण देकर बता रहे हैं। कारिकागत 'योनिजादि' पद का अर्थ करते हैं–योनिज और अयोनिज। शुक्र-शोणित के परस्पर सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाले देह ( शरीर ) को 'योनिज' कहते हैं और उससे भिन्न ( पूर्वोक्त प्रकार से उत्पन्न न होनेवाले ) शरीर को 'अयोनिज' कहते हैं। योनिज तथा अयोनिज इन दो प्रकार के शरीरों में से जो योनिज है, उसके भी दो प्रकार हैं––( १ ) जरायुज और ( २ ) अण्डज। गर्भवेष्टनचर्मपुटक ( झिल्ली ) को 'जरा' कहते हैं, उससे उत्पन्न होनेवाले 'शरीर' को 'जरायुज' कहते हैं। ( २ ) गर्भवेष्टनशुक्तिकटाह को 'अण्ड' कहते हैं। उससे उत्पन्न होनेवाले शरीर को 'अण्डज' कहते हैं। जरायुज शरीर, मनुष्य, पशु, मृग आदि का होता है और अण्डज शरीर–साँप, पक्षी आदि का होता है। अयोनिज शरीर भी अनेक प्रकार के होते हैं––( १ ) शरीर से निकलने वाले जल ( घर्म ) बिन्दु को 'स्वेद' कहते हैं, उससे उत्पन्न होनेवाले शरीर को 'स्वेदज' कहते हैं। अर्थात् पसीने से उत्पन्न हुए शरीर 'स्वेदज' हैं। जैसे–खटमल, मच्छर, जूँ आदि के शरीर 'स्वेदज'[4] हैं।

जमीन को फोड़कर उत्पन्न होनेवाले शरीर को 'उद्भिज' कहते हैं। जैसे–पेड़, लता, झाड़ी आदि के शरीर 'उद्भिज्ज' हैं। 'स्वेदजोद्भिज्जादिकम्' यहाँ के

---

१. पार्थिव देह का सामान्य लक्षण––'चेष्टावदन्त्यावयवित्वे सति गन्धवत्त्वम्'।

२. पार्थिव इन्द्रिय का सामान्य लक्षण––'प्रत्यक्षकरणत्वे सति गन्धवत्त्वम्'।

३. पार्थिव विषय का सामान्य लक्षण––'उपभोगसाधनत्वे सति गन्धवत्त्वम्'।

४. कुछ लोगों का कहना है कि 'जिनको स्वेदज कहा है, वे सब अण्डज हैं'––किन्तु वह उचित नहीं है, क्योंकि गूलर के फल में सैकड़ों भुनगे निकल पड़ते हैं, तो प्रत्येक के अण्डों की कल्पना करने में कोई युक्ति नहीं है। अतः स्वेदज तथा अण्डज भिन्न ही हैं।

'आदि' पद से देवशरीर[1] तथा नारकीय ( नरकवासियों के ) शरीर को समझ लेना चाहिये। ये शरीर भी 'अयोनिज' कहे जाते हैं। धर्मविशेषसहित अणुओं से 'देवशरीर' उत्पन्न होते हैं। अधर्मविशेषसहित अणुओं से नारकी लोगों के शरीर उत्पन्न होते हैं। 'योनिं विना न शरीरम्' इस वाक्य में 'योनि' शब्द को कारण-मात्र का उपलक्षक समझना चाहिये।

न च मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्वे किं मानमिति वाच्यं, गन्धादिमत्त्वस्यैव प्रमाणत्वात्। न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकमपि स्यादिति वाच्यं, तथा सति जलत्वपृथिवीत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्। न च तर्हि जलीयत्वादिकमेवास्तु न तु पार्थिवत्वमिति वाच्यं, क्लेदादीनां विनाशेऽपि शरीरत्वेन प्रत्यभिज्ञानाद् गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धेः। तेन पार्थिवादिशरीरे जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम्।

शंका—मनुष्य आदि का शरीर पार्थिव ( उसमें पृथ्वी का भाग ) है, इस कथन में क्या प्रमाण है?

समा०—मनुष्य आदि के शरीर की पार्थिवता में ( उसमें पृथ्वी का भाग होने में ) 'गन्धादिमत्त्व' ही प्रमाण है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार करेंगे—'मानुषादिशरीरं पार्थिवं समवायेन गन्धवत्त्वात्' एवं च मनुष्यादिशरीर, पार्थिव ( पृथ्वी का ही भाग ) ही है, यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—मनुष्यादिकों के शरीर में जैसे पृथिवी का भाग है, वैसे ही स्वेद ( जल का भाग अर्थात् पसीना ) तथा ज्वरादि के हो आने से उष्णता भी उपलब्ध होती है। अतः उन शरीरों को जल या तेजस् से उत्पन्न हुए अर्थात् जलीय ( आप्य ) आदि भी क्यों न कहा जाय? यानी उक्त शरीरों में पृथ्वी की तरह जल तथा तेजस् ( तेज ) का, 'आदि' पद से वायु तथा आकाश का भी भाग है, यह कह सकते हैं। यहाँ अनुमान प्रयोग इस प्रकार करेंगे—'मनुषादिशरीरं जलीयं क्लेदवत्त्वात् क्लेदावयववत्'। वैसे ही 'मानुष्यादिशरीरं तैजसं ऊष्मावत्त्वात्', 'मानुषादिशरीरं वायवीयं, श्वासवत्त्वात्', 'मानुषादिशरीरं आकाशीयं अवकाशवत्त्वात्' इति।

---

१. 'ब्रह्मणो मानसा मन्वादयः पुत्राः, प्रजापतिः अनेकाः प्रजा असृजत्, स तपोऽतप्यत, प्रजाः सृजेयमिति, स मुखतो ब्राह्मणमसृजत्, बाहुभ्यां राजन्यम्, ऊरुभ्यां वैश्यम्, पद्भ्यां शूद्रमित्यागमः।' मनु आदि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। अर्थात् अदृष्टवशात् वे मनु आदि ब्रह्मा के संकल्पमात्र से ही उत्पन्न होते हैं।

शंका—'योनिं विना न शरीरम्' योनि के विना शरीर की उत्पत्ति नहीं होती। यह श्रुति तो सभी शरीरों को योनिज ही बताती है। तब देवशरीर को अयोनिज कैसे कहा जाय?

समा०—उक्त श्रुति में 'योनि' शब्द कारणमात्र का वाचक है, शुक्रशोणित के मेलन रूप योनि का वाचक नहीं है। अतः देवता आदि अदृष्टादि कारणों से ही जन्य होते हैं। यह मानने से उक्त दोनों श्रुतियों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।



समा०—सभी भागों की कल्पना करने से अर्थात् पृथ्वीत्व, जलत्व आदि जाति एक ही शरीर ( वस्तु ) में रहने लगेगी तो 'संकर' ( जातिबाधक ) दोष होगा। जो वस्तु पृथ्वीस्वरूप है, वह वस्तु जल या तेजःस्वरूप नहीं हो सकती। शंका करने वाला, मनुष्य शरीर में 'क्लेद' ( स्वेद=पसीना ) को 'समवाय' संबंध से भ्रमवश समझकर उसे हेतु बना रहा है, किन्तु मनुष्यादिशरीर में 'क्लेद' तो 'संयोग' सम्बन्ध से रहता है, 'समवाय' सम्बन्ध से नहीं। अतः पूर्वपक्षी का दिया 'क्लेदवत्त्वात्' हेतु 'असद्धेतु' है। मानुषादि शरीर में जलीयत्वादि के मानने पर संकर दोष इस प्रकार होगा—'पृथिवीत्वाऽभाववति सरिज्जले जलत्वं, जलत्वाभाववति च घटे पृथिवीत्वं, द्वयोर्जलत्व-पृथ्वीत्वयोः समवेशो मनुष्यशरीरे'। पृथ्वीत्वाभाववान् हुआ 'सरिज्जल' उसमें 'जलत्व' है और जलत्वाभाववान् हुआ 'घट', उसमें पृथ्वीत्व है, दोनों ( पृथ्वीत्व-जलत्व ) का समावेश 'मनुष्यशरीर' में है, इस कारण 'संकर' होगा। इसी तरह 'पृथ्वीत्वाऽभाववति सूर्यकिरणे तेजस्त्वं, तेजस्त्वाभाववति च घटे पृथ्वीत्वं, द्वयोः पृथ्वीत्व-तेजस्त्वयोः समावेशो मानुषशरीरे इति संकरः।' इस संकर-दोष से पृथ्वीत्वादि धर्मों में जो जातित्व माना जाता है, उसका व्याघात हो जायगा अर्थात् पृथ्वीत्वादिधर्मों को जाति नहीं कह सकेंगे।

शंका—'संकर' दोष का यदि भय है, तो मनुष्यादिशरीर में पार्थिवत्त्व और जलीयत्व दोनों को एक साथ स्वीकार मत करिये, केवल जलीयत्व या केवल तैजसत्व या केवल वायवीयत्व या केवल आकाशीय ही उसे मान लीजिये। उसे 'पार्थिव' मानने का आग्रह क्यों किया जा रहा है?

समा०—मनुष्यादिशरीर केवल जल या तेज के ही ( जलीय या तैजसादि ही ) हैं, पृथ्वी के ( पार्थिव ) नहीं हैं, ऐसी उलट-पुलट कल्पना करना ठीक नहीं है। क्योंकि स्वेद ( क्लेद ) या उष्णता उस शरीर में उसी समय कही जायगी कि जिस समय उस शरीर में जल या तेज का सम्बन्ध रहेगा। किन्तु उनके सम्बन्ध के नष्ट होने पर भी ( पसीना आदि के सूखने पर भी ) उस मानुषशरीर में 'यही वह शरीर है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा ( चक्षुःसंयोग और संस्कार दोनों से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अर्थात् प्रत्यभिज्ञात्मकप्रत्यक्ष ) होती है। यदि उस शरीर को जलीय या तैजस कहा जाय, तो वैसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी। जल या तेज का सम्बन्ध नष्ट होने पर भी होनेवाली प्रत्यभिज्ञा के समय 'गन्ध', 'गौर-श्याम' आदि रूप की ही 'संयुक्त-समवाय' सम्बन्ध से प्रत्यक्षोपलब्धि होती है। अतः तथाकथित अनुमान 'मानुषादिशरीरं पार्थिवम् गन्धादिमत्त्वात्' से यह निश्चित होता है कि मानुषशरीर पार्थिव ही है। मनुष्यादिकों के शरीर की उत्पत्ति में मुख्य ( प्रधान ) कारण ( समवायिकारण ) पृथिवी ही है और जल, तेज, वायु तथा आकाश—ये सब निमित्तकारण हैं, अर्थात् जल आदि का संयोग उस पार्थिवशरीर[1] में गौण ( अप्रधान-अंशभूत ) है, मुख्य अंश तो पृथ्वी का ही है।

---

१. पार्थिव शरीर के अनुमान का आकार—मनुष्यादिशरीरं पार्थिवं गन्ध-

शंका—मनुष्यादिशरीर में जलीयत्व, तैजसत्व आदि के होनें का निराकरण कर 'पार्थिवत्व' ही यदि सिद्ध करते हैं, तो उस शरीर को 'पाञ्चभौतिक' क्यों कहा जाता है ?

समा०—मनुष्यादिशरीर में 'पाञ्चभौतिकत्व' व्यवहार, पञ्चभूतोपादनकत्व-निबन्धन नहीं है अर्थात् उस शरीर की उत्पत्ति में पञ्चभूत उपादान कारण हैं, यह मानकर 'पाञ्चभौतिक' उसे नहीं कहते, अपितु पञ्चभूतसाहचर्यनिबन्धन अर्थात् उसकी उत्पत्ति में पञ्चभूतों का सहयोग मात्र हैं, यह मानकर उसे 'पाँचभौतिक' कहा जाता है । पार्थिव शरीर में जल, तेज, वायु एवं आकाश के अंश स्वल्प होते हैं, इस कारण वे केवल निमित्तकारण मात्र हैं। जलीयशरीर में पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश के अंश स्वल्प होते हैं । तैजसशरीर में पृथ्वी, जल, वायु तथा आकाश के अंश स्वल्प होते हैं । वायवीय शरीर में पृथ्वी, जल, तेज एवं आकाश के अंश स्वल्प होते हैं, अतः ये स्वल्प अंश निमित्तकारण मात्र माने जाते हैं। तत्तच्छरीरों में एक ही 'भूत' मुख्य होता है, जो उपादानकारण कहा जाता है, शेष चार भूत तो निमित्तकारण होते हैं ।

**शरीरत्वं तु न जातिः, पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यात्, किन्तु चेष्टाश्रयत्वम् । वृक्षादीनामपि चेष्टासत्त्वान्नाव्याप्तिः । न च वृक्षादेः शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम्, आध्यात्मिकवायुसम्बन्धस्यं प्रमाणत्वात् । तत्रैव किं मानमिति चेद् ? भग्नक्षतसंरोहणादिना तदनुमानात् । यदि हस्तादौ शरीरव्यवहारो न भवति तदाऽन्त्यावयवित्वेन विशेषणीयम् ।**

शंका—अवयवों में अवयवी उत्पन्न होता है, अर्थात् अवयवरूप कारण से अवयवीरूप कार्य बनता है । अवयव अपने अवयवी के समवायिकारण कहलाते हैं। अवयवीरूप कार्य अपने अनेक अवयवों के समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता है । अवयवी की उत्पत्ति के इस इतिहास से वृक्षादिकों के अयोनिज शरीर होने में संदेह होता है ।

सन्देह इस प्रकार है—शरीररूपी अवयवी के कर-चरण आदि अवयव समवायिकारण हैं, उनमें समवायसम्बन्ध से शरीररूपी अवयवी ( कार्य ) उत्पन्न

वत्त्वात् गौरनीलादिरूपवत्त्वाद्वा प्रसिद्धपृथिवीवत्' यह मनुष्यशरीरादि पार्थिव हैं, गन्धविशिष्ट अथवा गौर-नीलादिरूपविशिष्ट होने से, जो-जो गन्ध तथा गौर-नीलादिरूपवाला होता है, वह-वह पार्थिव द्रव्य होता है । जैसे प्रसिद्ध कस्तूरी-कुसुमादिद्रव्य, गन्ध तथा नीलादिरूपवाले होने से पार्थिव हैं, वैसे ही मनुष्यशरीरादि भी गन्ध तथा गौर-नीलादि रूपवाले होने से पार्थिव होंगे । मरणमूर्च्छादिक अवस्थाओं में स्वेद, उष्णता के नाश होने पर भी इन मनुष्यशरीरादिकों की शरीररूप से प्रत्यभिज्ञा होती है तथा गन्धगुण और नील-गौरादिरूपगुण की भी प्रतीति होती है । अतः मनुष्यादि शरीरों में पार्थिवत्व सम्भव है ।



होता है । कार्यता होने के नाते उस कार्य ( शरीर ) में रहनेवाली 'कार्यता' भी किसी-न-किसी धर्म ( शरीरत्व ) से अवश्य ही युक्त होगी । इसी वक्तव्य को न्याय की भाषा में इस प्रकार कहेंगे—कर-चरणादिनिष्ठसमवायिकारणतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्ना कार्यता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कार्यतात्वात्'—इस अनुमान से सिद्ध हुई 'शरीरत्व' जाति, वृक्षादिकों में बाधित होने से वृक्षादिकों में अयोनिजदेहता ( शरीरता ) कैसी हो सकती है ?

समा०—ग्रन्थकार स्वयं 'शरीरत्वं न जातिः' कहकर उक्त शंका का समाधान करते हैं । 'शरीरत्व' धर्म को जाति के रूप में माना जाय या नहीं ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि 'शरीरत्व' धर्म को जातिरूप नहीं मान सकते, क्योंकि उसे जातिरूप मानने पर 'शरीरत्व' का 'पृथ्वीत्व' 'जलत्व' आदि के साथ संकर[1] होगा । शरीर तो पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय भी होते हैं किन्तु शरीरत्व और पृथ्वीत्व आदि जातियों में परस्पर व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता । एक पदार्थ में एक साथ रहनेवाली जातियों में व्याप्यव्यापकभाव होना चाहिये यानी वे एक दूसरे को काटने वाली न हों । 'पृथिवीत्व' जाति पार्थिव मनुष्यादि शरीर के अतिरिक्त पार्थिव घट-पटादि वस्तुओं में भी रहेगी, वैसे ही 'जलत्व' जाति सरिता आदि के जल में रहेगी । एवं च शरीरत्व को जाति मानने पर 'शरीरत्व' जाति की अपेक्षा पृथ्वीत्व, जलत्व जाति व्यापक होनी चाहिये ऐसा प्राचीनों का नियम है । किन्तु शरीरत्वजाति जलादिशरीर में भी रहती है, वहाँ पृथ्वीत्व के न होने से पृथ्वीत्वजाति की व्यापकता नहीं हो सकती है । अभिप्राय यह है कि शरीरत्वधर्म के अत्यन्ताभाववाले घटादिकों में 'पृथ्वीत्व' रहता है और पृथ्वीत्व धर्म के अत्यन्ताभाववाले जलीय शरीर में शरीरत्व धर्म रहता है । ये दोनों धर्म मनुष्यादि के पार्थिव शरीर में रहते हैं—यही 'संकर' नाम का दोष है । इसलिये 'शरीरत्व' धर्म को जातिरूप नहीं मान सकते । इसी अभिप्राय को अनुमान प्रयोग के द्वारा इस प्रकार बताया जा सकता है—'शरीरत्वं, जातित्वाऽभाववत् सांकर्यवत्त्वात् भूतत्ववत्', तथाहि—पृथिवीत्वं विहाय शरीरत्वं जलादित्रितयशरीरेषु । शरीरत्वं विहाय पृथिवीत्वं घटादौ । मनुष्यशरीरे तु शरीरत्वं-पृथ्वीत्वमुभयं विद्यते, इति कृत्वा 'शरीरत्व'स्य सांकर्यदोषग्रस्तत्वात् जातित्वं नास्ति ।' अतः 'शरीरत्व' धर्म को 'जाति' न मानकर 'उपाधि' माना गया है । चेष्टा का आश्रय होना ही

१. 'संकरो' नाम—'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरेकत्र समावेशः ।' 'संकर' दोष को यदि जातिबाधक न माना जाय, तो 'स्वसामानाधिकरण्य-स्वाभावसामानाधिकरण्येत्युभयसम्बन्धेन यज्जातिविशिष्टजातित्वं यत्र, तत्र तज्जातिव्यापकत्वम्' इस नियम का भंग हो जायगा । यथा—घटे, घटत्वसमानाधिकरणं पृथ्वीत्वं, पटे च घटत्वाभावसमानाधिकरणं पृथ्वीत्वं, तादृशोभयसम्बन्धेन घटत्वविशिष्टा पृथ्वीत्वजातिः, तत् पृथ्वीत्वं, घटत्वव्यापकम् । संकरधर्मयोर्जातित्वे व्याप्यव्यापकभावो न स्यात् ।

'शरीरत्व' का स्वरूप है। हिताऽहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया चेष्टा'—हित की प्राप्ति तथा अहित की निवृत्ति के लिये की जानेवाली क्रिया को 'चेष्टा' कहते हैं। यह चेष्टा 'समवाय' सम्बन्ध से जहाँ रहती है उसे 'शरीर' कहते हैं। समवायेन चेष्टा-वत्त्वं शरीरत्वम्'। यह शरीर का लक्षण वृक्षादिशरीर में भी उपलब्ध होता है। क्योंकि वृक्षादिकों में भी अपने हित ( जल आदि ) प्राप्ति के लिये ( पानादि ) क्रिया तथा क्षार एवं अग्निज्वाला आदि का परिहार ( अग्रहण ) रूप क्रिया का आश्रयत्व होने से उनमें शरीरत्व का समन्वय हो जाता है। अतः शरीरत्व लक्षण की वृक्षादिशरीरों में अव्याप्ति नहीं है। एवं च वृक्षादिकों में चेष्टा रहती है, इस कारण उनके शरीर हैं, यह सिद्ध हो जाता है।

**शंका**—भाष्यकार ने 'स्थावरा वृक्षास्तृणौषधिगुल्मलता वनस्पतयः' कहकर वृक्षादिकों की गणना पार्थिव विषय में की है। तब भाष्यकार के विरुद्ध वृक्षादिकों को 'पार्थिव शरीर' में कैसे कहा जा रहा है? अर्थात् वृक्षादिकों के शरीर होने में कोई प्रमाण नहीं है।

**समा०**—वृक्षादिकों के शरीर मानने में यही प्रमाण है कि वृक्षादिकों में आध्यात्मिक वायु ( प्राणवायु ) का सम्बन्ध रहता है। प्राणवायु का नियम है कि उसका सम्बन्ध शरीर से ही होता है। यद्यपि मनुष्य-पशु आदि में शरीरवत्ता प्रतीत होती है, वैसी वृक्षादिकों में नहीं दीखती, तथापि अनुमान-प्रमाण से वृक्षादिकों में शरीरवत्त्व सिद्ध किया जा सकता है। तथाहि—'वृक्षः शरीरवान् आध्यात्मिकवायु-सम्बन्धवत्त्वात्, मनुष्यदेहादिवत्'—वृक्ष आदि शरीरी कहलाने के योग्य हैं, प्राण-वायु से सम्बन्धित होने के कारण। जो द्रव्य, प्राणवायु से सम्बन्धित रहता है, वह द्रव्य, शरीरी होता है। जैसे मनुष्यादिक।

**शंका**—मनुष्य-शरीर में प्राणवायु का सम्बन्ध जैसे प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, वैसा वृक्षादिकों में नहीं प्रतीत होता।

**समा०**—वृक्षादिकों में भी प्राणवायु का सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्योंकि वृक्ष को कुल्हाड़ी से काटने पर फिर भी वह जम जाता है तथा क्षत ( घाव ) होने पर भी वह भर आता है, यह क्रिया प्राणवायु के सम्बन्ध के बिना और किसी प्रकार नहीं हो सकती। क्योंकि जिस शरीर में प्राणवायु का सम्बन्ध नहीं होता उस शरीर में अवयव भंग होने पर संवर्धन नहीं होता। इससे प्राणवायु का सम्बन्ध उन वृक्षादिकों में है[1], ऐसी कल्पना की जाती है। तस्मात् 'चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम्'

१. यद्यपि प्राणवायु का सम्बन्ध वृक्षादिकों में प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता, तथापि वृद्धि ( बढ़ना ) आदि हेतुओं से अनुमान किया जाता है। तथाहि—'वृक्षः आध्यात्मिकवायुसम्बन्धवान्, वृद्धिमत्त्वात्' भग्नक्षतावयवसंरोहणवत्त्वाद्वा, मनुष्यादि शरीरवत्'—वृक्ष प्राणवायु के सम्बन्ध से युक्त है, वृद्धिवाला अथवा भग्न क्षत अवयवों के संरोहणवाला होने से। जो-जो द्रव्य, वृद्धिवाले तथा भग्नक्षत अवयवों के संरोहणवाले होते हैं, वे-वे द्रव्य प्राणवायु के सम्बन्धवाले भी होते हैं, जैसे—



'चेष्टा का आश्रय होना' यही शरीर का लक्षण है और 'शरीरत्व' चेष्टाश्रयत्वरूप है। वृक्षादिशरीर में चेष्टा है, अतः वे भी चेष्टाश्रय हैं। उनमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं है।

**शंका**—हस्त-पादादि अवयवों को तो 'शरीर' नहीं कहा जाता। किन्तु उनमें चेष्टा तो रहती है, अतः उनमें ( शरीरावयवों में ) 'चेष्टाश्रयत्व' इस शरीर लक्षण की अतिव्याप्ति है।

**समा०**—उस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'अन्त्यावयवित्वे सति-
चेष्टाश्रयत्वम्' यह लक्षण कर देना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त शरीरलक्षण ( चेष्टा-
श्रयत्वं ) में 'अन्त्यावयवी'[1] यह विशेषण जोड़ देना चाहिये। जो अन्त्य अवयवी

मनुष्यादिकों के शरीर। अर्थात् मनुष्यादिकों के शरीरों में जब कोई हस्त-पादादि
टूट जाता है, तब वही अवयव कुछ काल पीछे पुनः जुड़ जाता है, इसी को 'भग्ना-
वयवसंरोहण' कहते हैं और जब शस्त्रादि के लगने से घाव हो जाता है, तब
वही घाव कुछ दिनों के बाद भर जाता है, इसी को 'क्षतावयवसंरोहण' कहते हैं।
यह बात प्राणवायु के सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकती। शब्द प्रमाण से भी वृक्षा-
दिकों का शरीर है, यह बात सिद्ध होती है। तथाहि—"नर्मदातीरसंजाताः सर-
लार्जुनपादपाः। नर्मदातोयसंस्पर्शात् ते यान्ति परमां गतिम्"।

गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रान्निर्जित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः॥

प्रथम श्लोक से नर्मदा के जल स्पर्श के पुण्य से वृक्षावच्छिन्न जीवात्मा को
उत्तमगति की प्राप्ति बताई गई है और द्वितीय श्लोक से गुरु, ब्राह्मणों के तिर-
स्काररूप पाप से उस जीवात्मा को श्मशान भूमि में वृक्षदेह की प्राप्ति कही गई है।
अतः वृक्षादिकों के भी शरीर होते हैं, यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा।

१. अन्त्यावयवित्वं नाम 'समवायेन' द्रव्यवद्भिन्नत्वम् अर्थात् द्रव्यानारम्भक-
द्रव्यत्वम्। अथवा 'अवयवजन्यत्वेसति अवयव्यजनकः अन्त्यावयवी।' जो द्रव्य
अवयवों से जन्य होकर दूसरे किसी अवयवी का जनक नहीं होता, वह द्रव्य 'अन्त्य
अवयवी' है। जैसे—मनुष्यादिशरीर, हस्त-पादादि अवयवों से जन्य है और दूसरे
अवयवी का अजनक भी है। इस कारण मनुष्यादि का देह ( शरीर ) अन्त्यावयवी
है। इसी प्रकार घट-पटादि भी कपाल-तन्तु आदि से जन्य हैं तथा दूसरे अवयवी
के अजनक हैं, इसलिए वे अन्त्यावयवी हैं। उक्त लक्षण में 'अवयवजन्यत्वे सति'
यदि न कहें, तो 'आकाशादि' समवाय सम्बन्ध से अपने किसी भी अवयवी के जनक
नहीं हैं। अतः वे 'अवयव्यजनक' हुए, तब उन्हें भी अन्त्यावयवी कहना पड़ेगा।
इस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए 'अवयवजन्यत्वे सति' यह विशेषण जोड़ना
पड़ा। तब आकाशादि तो किसी अवयव से जन्य नहीं हैं, अतः अतिव्याप्ति का
निवारण हो गया। पुनः 'अवयवी-अजनकः' न कहें, तो हस्त-पाद-अङ्गुली आदि
शरीरावयव भी अपने-अपने अवयवों से जन्य हैं, तो 'अवयवजन्यत्व' उनमें होने से

होकर चेष्टावान्[1] होता है, वही 'शरीर' है। ऐसा लक्षण करने से शरीर के हस्त-पादादि अवयव अन्त्यावयवी नहीं हैं वे तो मध्यावयवी हैं। अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

न च यत्र शरीरे चेष्टा न जाता तत्राऽव्याप्तिरिति वाच्यं, तादृशे प्रमाणाभावात्। अथवा चेष्टावदन्त्यावयविवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्, अन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्वं वा तत्। मानुषत्वचैत्रत्वादिजातिमादाय लक्षणसमन्वयः।

शंका—जिस मूर्छित शरीर में तथा सुषुप्त ( सोए हुए ) शरीर में चेष्टा नहीं होती, उसमें 'अन्त्यावयवित्वविशिष्ट चेष्टाश्रयत्व' इस शरीर-लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

समा०—मूर्च्छाकाल में या सुषुप्ति काल में शरीर चेष्टाशून्य रहता है—यह मानने में कोई प्रमाण नहीं है। मूर्छाकाल में तथा सुषुप्तिकाल में प्राणग्रहण तथा निद्राग्रहणात्मक हितानुकूल क्रिया का होना तो प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः तत्कालीन शरीर चेष्टासहित ही है, चेष्टारहित नहीं। अतः अव्याप्ति नहीं है।

शंका—फिर भी उत्पत्तिकालावच्छिन्न शरीर में तथा मृतशरीर में चेष्टा न रहने से शरीर के लक्षण की पुनः अव्याप्ति होगी।

समा०—वास्तव में तो मृतशरीर को 'शरीर' ही नहीं कहा जाता, उसे 'शव' कहते हैं। यदि मृतशरीर को भी 'शरीर' कहने का आग्रह ही हो, तो शरीर लक्षण को 'जातिघटित' बना देंगे। तथा हि—'चेष्टावान् जो अन्त्यावयवी, उसमें वृत्ति जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति—तादृशजातिमत्त्व' इस प्रकार शरीर का लक्षण कर देने से अव्याप्ति नहीं होगी। अर्थात् चेष्टावद् जो अन्त्यावयवी जीवच्छरीर, उसमें वृत्ति जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति, मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, चैत्रत्वादि जाति, तादृशजातिमत्त्व—चैत्रीय-मृतशरीर तथा उत्पत्तिकालीनशरीर में भी रहने से लक्षणसमन्वय हो सकेगा, तब अव्याप्ति नहीं होगी। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने कहा है कि **'चेष्टावदन्त्यावयविवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्'**। मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्वादि ऐसी जाति है, जो चेष्टायुक्त अन्त्यावयवी जीवच्छरीर में रहती है और वह जाति द्रव्यत्वव्याप्य भी है, तादृशजातिमत्त्व सभी शरीरों में है, अतः कोई दोष नहीं है। यदि 'अन्त्यावयवी में रहनेवाली जाति' इतना ही कहें, 'चेष्टावद्' न कहें, तो 'घटत्व' जाति भी केवल

उन्हें 'अन्त्यावयवी' कहना पड़ेगा, किन्तु वे अन्त्यावयवी तो हैं नहीं, अतः अतिव्याप्ति होगी। उसके वारणार्थ 'अवयव्यजनकः' कहना पड़ा। अब 'अवयवी' पद न दें, तो असंभव ही हो जायगा। तात्पर्य यह है कि जिस अवयवी से फिर दूसरा अवयवी होना संभव न हो, वह पूर्ण या शेषी होता है। जैसे—'कपाल, शाखा' अवयव हैं और घट तथा वृक्ष अन्त्यावयवी हैं। घट से घट कभी नहीं होगा।

१. शरीर के लक्षण में यदि 'चेष्टा' पद न दें, तो घट-पटादि भी अन्त्यावयवी हैं, परन्तु उनमें चेष्टा न होने से लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'चेष्टा' पद दिया है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है।



अन्त्यावयवी 'घट' में रहती है, तो उसमें भी शरीर-लक्षण के चले जाने से अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निवारणार्थ 'चेष्टावद्' कहना पड़ा। कर पाद आदि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'अन्त्यावयवी' कहा। अब 'द्रव्यत्वव्याप्य' यदि न कहें, तो 'सत्ता' जाति भी चेष्टावद् ( चेष्टाविशिष्ट ) अन्त्यावयवी में रहती है, अर्थात् द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों में 'सत्ता' जाति रहती है, अतः उनमें शरीरलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, तन्निवारणार्थ 'द्रव्यत्वव्याप्य' कहना पड़ा। फिर भी कालिकसम्बन्ध से चेष्टावद्घट में अतिव्याप्ति हो सकती है, उसके निवारणार्थ 'समवायसम्बन्ध' से चेष्टावत्त्व समझना चाहिए।

शंका०—'द्रव्यत्वव्याप्यजाति' कहने पर भी 'चेष्टावदन्त्यावयवी' 'शरीर' हुआ तद्वृत्ति ( उसमें रहनेवाली ) द्रव्यत्वव्याप्यजाति 'पृथ्वीत्व' होगी, वह पृथ्वीत्वजाति 'घट' में भी है। अतः शरीरलक्षण की 'घट' में अतिव्याप्ति होगी।

समा०—इसी अरुचि के कारण ग्रन्थकार ने उसी लक्षण को और परिष्कृत कर दिया **'अन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्वं'** वा तत्। अर्थात् जो जाति केवल अन्त्यावयवी में ही रहती हो तथा चेष्टावाले में भी रहती हो ऐसी जाति से युक्त होना। अब देखिये कि 'पृथ्वीत्व' जाति, केवल अन्त्यावयवी में ही नहीं रहती, बल्कि कपाल में भी ( जो अन्त्यावयवी नहीं है ) रहती है। अतः परिष्कृत लक्षण के अनुसार ऐसी जाति लेनी होगी, जो केवल अन्त्यावयवी में रहती हो और चेष्टावाले में रहती हो। ऐसी जाति केवल 'मनुष्यत्व' आदि ही हो सकती है पृथ्वीत्वजाति नहीं। मनुष्यत्व आदि जाति, शरीर में ही रहती है, तादृशजातिमत्त्व मृतशरीर तथा उत्पत्तिकालीन शरीर में भी रहने से लक्षण समन्वय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्यत्व, चैत्रत्व आदि जाति को लेकर शरीर मात्र में लक्षणसमन्वय कर लेना चाहिये। यदि केवल 'अन्त्यावयविमात्र में रहनेवाली जाति' इतना ही कहें और 'चेष्टावद्वृत्ति' न कहें, तो 'घटत्व' जाति भी केवल अन्त्यावयवी ( घट ) में ही रहती है, उसमें अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः 'चेष्टावद्वृत्ति' कहना पड़ा। तब अतिव्याप्ति नहीं होगी। 'द्रव्यत्व' को लेकर अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये प्रथम वृत्यन्त और 'घटत्व' को लेकर अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए द्वितीय वृत्यन्त का उपादान किया गया है। इस परिष्कृत लक्षण में 'द्रव्यत्वव्याप्य' कहने की भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'सत्ता', 'द्रव्यत्व', 'पृथ्वीत्व', जातियाँ केवल अन्त्यावयवी में ही नहीं रहतीं, अपितु अन्यत्र भी रहती हैं। केवल अन्त्यावयवी में रहनेवाली जाति तो 'मनुष्यत्व', चैत्रत्व', आदि जाति ही मिलेगी, तादृशजातिमत्त्व समस्त शरीरों में होगा।

न च नृसिंहशरीरे कथं लक्षणसमन्वयः? तत्र नृसिंहत्वस्यैकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वाभावाज्जलीयतैजसशरीरवृत्तितया देवत्वस्यापि जातित्वाभावादिति वाच्यं, कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात्।

॥ इति पार्थिवशरीरनिरूपणम् ॥

**शंका**—ऊपर कहा गया है कि परिष्कृत किये हुए 'अन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्वम्–शरीर-लक्षण का शरीर मात्र में ( समस्त शरीरों में ) लक्षण-समन्वय हो जाता है, किन्तु भगवान् विष्णु का जो 'नृसिंह' रूप में अवतार है, वह 'नृसिंह' शरीर तो एक ही है। अतः उस शरीर में द्वितीय परिष्कृत शरीर-लक्षण का समन्वय कैसे होगा ? क्योंकि 'नृसिंहत्व' धर्म, 'एकव्यक्तिमात्रवृत्ति' होने से उसे 'जाति' नहीं कह सकते। यदि उस शरीर में मनुष्यत्व जाति कहें, तो वह भी नहीं कह सकते। क्योंकि परिष्कृतलक्षण के अनुसार केवल अन्त्यावयविमात्र में रहनेवाली और चेष्टावाले में रहनेवाली 'मनुष्यत्व' आदि कोई जाति हो ही नहीं सकती। वह नृसिह का शरीर भी 'शरीर' ही है। उसमें शरीर का लक्षण न घटने से शरीरलक्षण की अव्याप्ति है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'नृसिंहत्वं न जातिः, एकव्यक्तिवृत्तित्वात्'। यदि 'नृत्व' या 'सिंहत्व' जाति मानकर लक्षणसमन्वय करें, तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि केवल एक-एक को स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। दोनों को यदि स्वीकार करें, तो दोनों में जातिसंकर का प्रसंग प्राप्त होगा और आंशिकत्व भी प्राप्त होगा। यदि कहें कि 'नृसिंह' देवता है, अतः उस 'नृसिंह शरीर' में 'देवत्व' जाति है, तो यह भी नहीं कहसकते, क्योंकि 'देवत्व' कोई जाति नहीं है। क्योंकि 'देवत्वजाति' को मानने पर 'संकर' दोष आवेगा। देवत्व तो जलीय शरीरवाले 'वरुण' में और तैजस शरीरवाले 'सूर्य में' रहता है अर्थात् वरुणलोक मे प्रसिद्ध जलीय-शरीर तथा सूर्यलोक में प्रसिद्ध तैजसशरीर में 'देवत्व' रहता है। अतः जलीयत्व तथा तैजसत्व के साथ 'देवत्व' का सांकर्य होगा। तथाहि—'देवत्व' को छोड़कर 'जलीयत्व', सरिज्जल में और 'जलीयत्व' को छोड़कर 'देवत्व', तैजस सूर्यादिदेवों में और दोनों का समावेश जलीयशरीर में। उसी प्रकार देवत्व को छोड़कर तैजसत्व सुवर्ण में और तैजसत्व को छोड़कर देवत्व वरुणादि जलीय देव में और दोनों का समावेश 'तैजसशरीर' में है। इस सांकर्य दोष के कारण 'देवत्व' को जाति नहीं कह सकते। एवंच 'नृसिंह शरीर' में रहने-वाली ऐसी कोई जाति नहीं, जिसे लेकर परिष्कृतलक्षण का समन्वय नृसिंहशरीर में किया जा सके।

**समा०**—काल अनादि तथा अनन्त है, उसमें कृत, त्रेता, द्वापर आदि युग के क्रम से अनेक कल्प होते हैं। 'कल्प' शब्द ब्रह्मा के एक दिन का वाचक है। यह एक दिन का काल चालीस अर्बुद बत्तीस कोटि वर्षों का होता है। ब्रह्मा के प्रत्येक कल्प में 'नृसिंहावतार' होता है। उन नृसिंहशरीरों का एकत्व ही 'नृसिंहत्व' जाति है। इस रीति से 'नृसिंहत्व' जाति की सिद्ध की गई है। अतः नृसिंहशरीर में शरीरलक्षण का लक्षण-समन्वय हो जाता है। क्योंकि 'नृसिंहत्व' अनेक व्यक्तिवृत्ति हो जाता है। अतः नृसिंहत्वधर्म को जाति मानने में 'एकव्यक्तिवृत्तित्व' बाधक नहीं है।

॥ इति पार्थिवशरीरनिरूपणम् ॥



इन्द्रियमिति। घ्राणेन्द्रियं पार्थिवमित्यर्थः।[१] पार्थिवत्वं कथमिति चेत्? इत्थम्। घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात्, कुंकुम-

१. गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षात्व्याप्यजातिमिन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम्'—यह घ्राणेन्द्रिय गन्धगुणवाली है। इसमें यह नियम है कि–'यदिन्द्रियं रूपादिषु मध्ये यं गुणं गृह्णाति तत् इन्द्रियं तद्गुणयुक्तम्'—जो इन्द्रिय, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द--इन पाँच गुणों में से जिस गुण को ग्रहण करती है, वह इन्द्रिय उस गुण वाली कहलाती है। जैसे—चक्षु, रसन, घ्राण, त्वक्, श्रोत्र ये इन्द्रियाँ यथाक्रमरूपादिकों का ग्रहण करती हैं। 'घ्राणेन्द्रियं गन्धवत् गन्धग्राहकेन्द्रियत्वात्' 'चक्षुरादिवत्'—यह घ्राणेन्द्रिय गन्धगुणवाला है, गन्ध की ग्राहक इन्द्रिय होने से, चक्षुरादि इन्द्रिय के समान। **अथवा** दूसरा अनुमान यह है—'घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात्, कुंकुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत्, वायूपनीतसुरभिपार्थिवभागवत्'—घ्राणेन्द्रिय पार्थिव होने योग्य है, क्योंकि रूपादि चारों के मध्य में से वह केवल गन्ध को ही प्रकट करता है। जो-जो गन्ध का अभिव्यञ्जक होता है, वह वह पार्थिव होता है। कुंकुम ( केशर ) में मिला हुआ गोघृत कुंकुम के रूपादिकों में से गन्ध का ही अभिव्यंजक है। अतः गोघृत में पार्थिवत्त्व प्रत्यक्ष सिद्ध है।

**अथवा**—कस्तूरी, कुसुमादि पार्थिव भागों का वायु से उड़ाया हुआ जो पार्थिव भाग है, वह भी रूपादि चारों में से गन्ध का ही अभिव्यंजक है, इस कारण भी सुरभिभाग में पार्थिवत्त्व निश्चित होता है। अब घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, क्योंकि रूपादिकों में से वह केवल गन्ध का ही ग्रहण करती है। इस लक्षण में यदि 'एव' पद न दें, तो नवीन सकोरे में डाला हुआ जल, सकोरे के गन्ध का भी अभिव्यंजक होता है। इस कारण जल को भी पार्थिव कहना होगा, तब तो व्यभिचार हो जायगा तथा मन के बिना किसी वस्तु का ज्ञान होगा, अतः मन भी गन्ध का अभिव्यंजक है। इस कारण मन में भी दोष ( व्यभिचार ) हुआ। इस दोष के निवारणार्थ लक्षण में 'एव' पद दिया गया है। यह 'एव' पद गन्ध से भिन्न रूप, रस, स्पर्श का निषेधक है। नवशरावस्थित जल केवल गन्ध का ही अभिव्यंजक नहीं, किन्तु सक्तु में पड़कर रस का भी अभिव्यंजक है तथा 'मन' जैसे गन्ध का अभिव्यंजक है, वैसे ही रूपादिकों का भी वह अभिव्यंजक है। यदि 'रूपादिमध्ये' यह पद न दें, तो हेतु में स्वरूपाऽसिद्धि ( पक्ष में हेतु का न रहना ) दोष होगा। घ्राणेन्द्रिय केवल गन्ध का ही अभिव्यंजक नहीं किन्तु गन्धत्वजाति तथा गन्धाभाव का भी अभिव्यंजक है। 'द्रव्यत्वे सति' यह पद न देने से 'सन्निकर्ष' के द्रव्य न होने से दोष नहीं है। 'गोघृत' यद्यपि अनेक रूपादिकों का अभिव्यंजक है तथापि 'कुंकुम' के रूपादिकों में से केवल गन्ध का ही अभिव्यंजक है। इस कारण उस हेतु में उन रूपादिकों का 'परकीयत्व' विशेषण कहने से 'गोघृत' दृष्टान्त में हेतु की असिद्धि नहीं होती। 'परकीय' पद के देने से शरीरकृत गौरव होता है, इस कारण 'परकीय' पद को छोड़ देते हैं और वायूपनीतसुरभिभागवत्' यह दूसरा

गन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत् । न च दृष्टान्ते स्वकीयरूपादिव्यञ्जकत्वादसिद्धिरिति वाच्यं, परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थत्वात् । न च नवशरावगन्धव्यञ्जक-जलेऽनैकान्तिकत्वमिति वाच्यं, तस्य सक्तुरसाभिव्यञ्जकत्वात् । यद्वा परकीयेति न देयम्, वायूपनीतसुरभिभागस्य दृष्टान्तत्वसम्भवात् । न च घ्राणेन्द्रिय-सन्निकर्षस्य गन्धमात्रव्यञ्जकत्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यं, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणात् ।

॥ इति पार्थिवेन्द्रियनिरूपणम् ॥

अनित्य पृथ्वी के तीन भागों में से जो 'इन्द्रिय' संज्ञक भाग है वह 'घ्राणेन्द्रिय' ( नासिका ) है । 'घ्राणेन्द्रियं पार्थिवम्'—यह प्रतिज्ञा वाक्य है । उस पर शंका की गई है कि 'पार्थिवत्वं कथम्' अर्थात् घ्राणेन्द्रिय में पार्थिवत्व' की सिद्धि करने में ( घ्राणेन्द्रिय को पार्थिव कहने में ) हेतु क्या है ? तब 'इत्थम्' कहकर उत्तर दिया जा रहा है, अर्थात् अनुमान प्रयोग के द्वारा 'हेतु' बता रहे हैं । घ्राणेद्रिय पार्थिव ( पृथ्वी का भाग ) है, इसे सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं, रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यंजकत्वात्, कुंकुम गन्धाभिव्यञ्जक-गोघृतवत्'—इसमें 'घ्राणेन्द्रिय' पक्ष है, पार्थिवत्व' साध्य है, 'रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात्' हेतु है, कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत्' यह दृष्टान्त है । जैसे—गाय का घृत कुङ्कुम ( केशर ) में जब मिला देते हैं, तब वह ( गो-घृत ) केवल कुङ्कुम के गन्ध का ही ज्ञान कराता है, बाकी के जो कुङ्कुम के रूप, रस, स्पर्श हैं, उनका ( तीनों का ) ज्ञान वह नहीं कराता । तथापि वह ( गो-घृत ) अपने रूपादि का तो अभिव्यञ्जक होता ही है । दूसरे ( केशर ) के रूपादि का अभि-दृष्टान्त दिया है । वह 'सुरभि' पार्थिवभाग, स्वकीय रूपादिकों के अभिव्यंजक नहीं होते, किन्तु स्वकीय गन्धमात्र के ही अभिव्यंजक होते हैं ।

शंका—'सति कुड्ये चित्रम्'—यदि भित्ति ( दीवार-भीत ) हों, तो उस पर चित्र चितारे जाँय । भीत के न होने पर अपने आप ही चित्र का अभाव होगा । इस न्याय के अनुसार जब छह इन्द्रियाँ सिद्ध हो जाँय, तभी पार्थिवत्वादि भी सिद्ध हो जायगा ।

समा०—उक्त आशंका निवारणार्थ अनुमान प्रदर्शित किया जा सकता है—'रूपाद्युपलब्धिः करणसाध्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्'—रूपादिकों की उपलब्धि ( ज्ञान ) किसी कारण से ही साध्य होने योग्य है, क्रियारूप होने से । जो जो क्रिया है, वह वह किसी कारण से ही साध्य होती है । जैसे छेदन क्रिया, कुठाररूप करण से ही साध्य होती है । इस अनुमान से रूपोपलब्धि का करण चक्षु, रस का रसनेन्द्रिय, गन्ध का घ्राणेन्द्रिय, स्पर्श का त्वगिन्द्रिय, और शब्द की उपलब्धि का करण श्रोत्रेन्द्रिय है तथा सुख-दुःखादि का मन इन्द्रिय है—यह सिद्ध होता है ।



व्यंजक नहीं होता—यह 'केवल' का तात्पर्य है । इसलिये 'केवलगन्ध' का ही ज्ञान कराना ( अभिव्यंजक होना ) यह जो हेतु का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है, वह दृष्टान्त में घटित न हो पाने से 'विशेषणासिद्धि' दोष की शंका नहीं करनी चाहिये । यदि 'असिद्धि' दोष, 'हेतु' में आता तो उस हेतु को 'असिद्ध हेतु' मानकर 'हेत्वाभास' कहते, किन्तु वैसा है नहीं । निष्कर्ष यह है कि 'रूप आदि का अभिव्यंजक न होकर केवल गन्ध का ही अभिव्यंजक हो, इसका तात्पर्य यह है कि 'दूसरे ( पर ) के रूपादि का अभिव्यंजक न हो ।'

शंका—उपर्युक्त 'विशेषणाऽसिद्धि' दोष के न रहने पर भी 'नवशरावगन्ध-व्यंजक जल में व्यभिचार हो सकता है । नवीन मृत्पात्र ( मिट्टी का बर्तन ) की गन्ध तभी अभिव्यक्त हो पाती है, जब उस मृत्पात्र पर पानी गिराया ( छिड़का ) जाता है । इस रीति से पानी ( जल ) भी गन्ध का अभिव्यंजक है । अतः पार्थि-वत्व'—साध्य के अभावाधिकरणस्वरूप 'जल' में 'गन्धेतरविषयकज्ञानाऽजनकत्वे-सति गन्धविषयकज्ञानजनकत्वात्' इस हेतु के रहने से व्यभिचार होता है । अतः 'हेतु' व्यभिचरित हो गया । क्योंकि सद्धेतु वही होता है, जो हमेशा साध्य के साथ ही रहता हो, तथा जहाँ साध्य का अभाव रहता हो, वहाँ कभी भी न रहता हो ।

समा०—नवीन मृत्पात्र ( मिट्टी का पात्र शराव=सकोरा आदि ) के गन्ध का अभिव्यंजक जल, केवल 'गन्ध' का ही अभिव्यंजक नहीं है, अपितु सक्तु (सत्तू=सतुआ ) के रस का भी अभिव्यंजक है । क्योंकि पानी में घोलने पर ही सत्तु का स्वाद आता है । अतः जल में, 'परकीयरसादिज्ञानाऽजनकत्वे सति' इस विशेषण के घटित न होने से व्यभिचार नहीं हो पाया ।

'लाघव' को ध्यान में रखकर उपर्युक्त हेतु में 'परकीय' विशेषण देने की भी आवश्यकता नहीं है । इसी अभिप्राय को सूचित करने के लिये 'विशेषणाऽसिद्धि' दोषशून्य एक अन्य दृष्टान्त भी प्रदर्शित किया जा रहा है—'यद्वापरकीये'ति इस दृष्टान्त के देने में अभिप्राय यह है कि हेतु में जो विशेषण जोड़ा गया था—'परकीय ( दूसरे के ) रूपादि का अभिव्यंजक न होकर केवल गन्ध का अभिव्यंजक हो'—उसमें 'परकीय' ( दूसरे के ) यह अंश न दिया जाय । केवल इतना ही हेतु रखा जाय कि 'रूपादि का अभिव्यंजक न होकर केवल गन्ध का ही अभिव्यंजक हो' इसके लिये 'वायूपनीतसुरभिभाग' का दृष्टान्त दे रहे हैं । अर्थात् वायु से उड़ाये पुष्पादि के सुगन्धित अंश को दृष्टान्त के रूप में रखा जा सकता है । क्योंकि वह सुगन्धित अंश केवल गन्ध का ही ज्ञान कराता है, गन्ध के अतिरिक्त रूपादि का ज्ञान नहीं कराता । एवंच 'रूप-रस-स्पर्शज्ञानाऽजनकत्वेसति गन्धज्ञानजन-कत्वात्' यह हेतु दृष्टान्त में घटित हो जाने से 'भागासिद्धि' दोष नहीं है । अतः वे 'वायूपनीतसुरभिभाग' रूपादिकों में से केवल गन्ध के ही व्यंजक हैं और पार्थिव भी हैं ।

शंका०—यद्यपि उक्त अन्य दृष्टान्त में भी कोई दोष नहीं है, तथापि—

घ्राणेन्द्रिय और गन्ध का जो 'स्व-संयुक्त-समवाय' अर्थात् घ्राणसंयुक्तसमवायसम्बन्ध है, उसमें व्यभिचार होगा। क्योंकि 'घ्राणसंयुक्तसमवायसम्बन्ध' में रूपरस-स्पर्शाऽ-व्यंजकत्वे सति गन्धस्यैव अभिव्यंजकत्वात्' यह हेतु विद्यमान है। तस्मात् अपार्थिव समवायसम्बन्धरूप षष्ठ पदार्थ में हेतु का व्यभिचार हो जाता है।

समा०—हेतु में 'द्रव्यत्वे सति' यह विशेषण जोड़ देना चाहिये। तब अर्थ होगा कि 'द्रव्य होकर रूपादिकों में से गन्ध का ही व्यंजक होना।' अर्थात् गन्ध के व्यंजक कहलाने वाले को साथ-साथ 'द्रव्य' भी होना आवश्यक है। 'स्वसंयुक्त समवाय' संज्ञक सम्बन्ध ( घ्राणेन्द्रिय-सन्निकर्ष ) 'द्रव्य' नहीं है। अतः उसमें हेतु के न रहने से व्यभिचार नहीं है।

विषय इति। उपभोगसाधनं विषयः 'सर्वमेव हि कार्यजातमदृष्टाधीनम्'। यत्कार्यं यददृष्टाधीनं तत्तदुपभोगं साक्षात्परम्परया वा जनयत्येव। न हि बीज-प्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति। तेन द्व्यणुकादिब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयो भवति। शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरोपन्यासः शिष्यबुद्धि-वैशद्यार्थः॥ ३८॥

॥ इति पृथिवीग्रन्थः॥ ॥ इति पार्थिवविषयनिरूपणम्॥

द्व्यणुकादि से लेकर ब्रह्माण्ड तक जितना पदार्थसमुदाय है, वह सब पृथ्वी का विषय है। अनित्यसंज्ञक पृथ्वी के भागों में से जो 'विषय' संज्ञक भाग है, उसका निरूपण करते हैं—'विषय' इति। जिस वस्तु से सुख-दुःख का उपभोग होता है उस वस्तु को 'विषय' कहते हैं। अर्थात् सुख-दुःख साक्षात्कार के प्रयोजक को 'विषय' कहते हैं। साक्षात् अथवा परम्परासम्बन्ध से कार्यसम्पादक का नाम 'प्रयोजक' है। द्व्यणुक से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जितनी पृथ्वी है, वह सब 'विषय' है। इस विषय से उत्पन्न हुए सुख या दुःख के उपभोग का प्रकार यह है कि इस लोक या परलोक में जो वस्तु उत्पन्न हुई है, या उत्पन्न होगी अथवा उत्पन्न हो रही है वह सभी वस्तु ( कार्यसमुदाय ) जीवों के अदृष्ट ( पुण्य-पाप ) के अधीन है। जो वस्तु ( कार्य ) जिस जीव के जिस अदृष्ट के अधीन है, वह वस्तु ( कार्य ) उसी जीव को उसी के अदृष्ट के अनुसार साक्षात् अथवा परम्परासम्बन्ध से सुख-दुःख साक्षात्कार की प्रयोजक होती है। तत्तत् जीवों के अदृष्ट ( भाग्य, दैव, पुण्य-पाप ) से उत्पन्न हो गई या होगी या हो रही है—ऐसा माना जाता है। तथा च 'सर्वं कार्यं धर्माधर्माधीनं भवति, कहा जाता है। इसमें प्रमाण यह है—जो वस्तु ( विषय, कार्य ) उत्पन्न होती है, उसकी उत्पत्ति का बीज ( कारण ) तथा प्रयोजन ( उपयोग अथवा फल ) आवश्यक मानने पड़ते हैं। इन दो कारणों के बिना कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती। अर्थात् प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में कोई न कोई समवायि-असमवायि या निमित्त कारणों में से कोई भी एक अवश्य ही होगा। उसी तरह कोई न कोई प्रयोजन भी अवश्य ही होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि द्व्यणुक से ब्रह्माण्ड तक जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सभी वस्तुएँ उनके विषय हैं।



शंका—शरीर तथा इन्द्रिय इन दो से ही सुख-दुःख का उपभोग होता है। अतः शरीर और इन्द्रिय ये ही दो विषय कहे जा सकते हैं[1], तब शरीर, इन्द्रिय और विषय—ये तीन भेद क्यों किये गये हैं?

समा०—शिष्यों की बुद्धि को विशद बनाने के लिये ( पदार्थों के सूक्ष्म भेद जानने की शक्ति प्राप्त कराने के लिये ) उक्त तीन भेद किये गये हैं। अर्थात् सभी उपभोगसाधन होने के नाते विषय कहे जा सकते हैं, पुनः शरीर और इन्द्रिय का पृथक् विभाग करने की आवश्यकता नहीं थी, तथापि ये शरीर हैं, ये इन्द्रियाँ हैं, उनसे भिन्न ये विषय भी हैं, इस प्रकार से शिष्यों की बुद्धि को विकसित करना यही एक मात्र प्रयोजन ग्रन्थकार का है। इति पृथिवीग्रन्थः।

इति पृथ्वीनिरूपणम्।

**वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ।**
**स्नेहस्तत्र, द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम्॥ ३९॥**

जल का शुक्ल ( सफेद ) वर्ण है, मधुर रस तथा शीतलस्पर्श है। उसमें ( जल में ) स्नेहगुण अर्थात् चिकनापन तथा स्वाभाविक द्रवता ( तरलता ) बताई गई है। 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इस नियम के अनुसार जैसे 'अब्भक्षो वायुभक्षः' का अर्थ-जल को ही भक्षण करता है ( पीता है ), वायु को ही भक्षण करता है—उप-लब्ध होता है, उसी तरह यहाँ भी जल में अभास्वर शुक्ल ही वर्ण है अर्थात् जल में अभास्वर शुक्लरूप समवायसम्बन्ध से रहता है। जल में मधुर ही रस है और शीत ही स्पर्श है अर्थात् मधुर रस और शीतस्पर्श दोनों समवायसम्बन्ध से उसमें रहते हैं। उसी तरह जल में ही स्नेह है। अर्थात् जल में स्नेह समवायसम्बन्ध से रहता है। और जल में द्रवत्व तो सांसिद्धिक=स्वाभाविक, उदाहृतम्=समवायसम्बन्ध

---

१. पार्थिवशरीरलक्षणम्—'गन्धवत्त्वे सति भोगायतनत्वम्पार्थिवशरीरत्वम्।' पार्थिवेन्द्रियलक्षणम्—'गन्धवत्त्वे सति गन्धज्ञानकारणत्वम्पार्थिवेन्द्रियत्वम्।' पार्थिवविषयलक्षणम्—'गन्धवत्त्वे सति उपभोगसाधनत्वम्पार्थिवविषयत्वम्' द्व्यणुक तथा त्र्यणुक से लेकर ब्रह्माण्ड तक सभी अनित्य पृथिवी के विषय हैं। अतः द्व्यणुक तथा त्र्यणुक की सिद्धि का प्रकार यह होगा—'तद् त्र्यणुकं अवयवजन्यं चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवत्'—घट चाक्षुषद्रव्य है, और कपालरूप अवयवों से जन्य भी है, उसी प्रकार त्र्यणुक भी चाक्षुषद्रव्य है। अतः वह भी अवयवों से जन्य होगा। इस लक्षण में यदि 'चाक्षुष' पद न दें तो आकाशादि नित्य द्रव्यों में व्यभिचार होगा। यदि 'द्रव्य' पद न दें तो गुणादिकों में व्यभिचार होगा। त्र्यणुक के अवयव द्व्यणुक होते हैं। परस्पर संयुक्त तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक उत्पन्न होता है। द्व्यणुक की सिद्धि का प्रकार—'द्व्यणुकः अवयवजन्यः महदारम्भकत्वात् कपालवत्'—कपालरूपद्रव्य महत्त्वपरिणामवाले घटरूपद्रव्य का आरम्भक है। यह कपालरूपद्रव्य, कपालिकारूप अवयवों से जन्य भी है, वैसे ही महत्त्व-परिणामवाला त्र्यणुकरूप द्रव्य भी द्व्यणुकरूप अवयवों से अवश्य ही जन्य होगा।

से रहता है, ऐसा स्वीकार किया है।[१] एवंच–'अभास्वरशुक्लमात्ररूपवत्त्वम्' 'शीतमात्रस्पर्शवत्त्वम्', 'स्नेहवत्त्वम्', 'सांसिद्धिकद्रवत्ववत्त्वम्'—इस प्रकार जल के अनेक लक्षण हो सकते हैं।

**जलं निरूपयति—'वर्णः शुक्ल' इति स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्वजातिः सिद्धयति।**

जलं निरूपयतीति। यहाँ पर ( निरूपण ) 'नि + रूप' का अर्थ है—जल के लक्षण, स्वरूप, प्रामाण्य का ज्ञान करानेवाला व्यापार। इसी को संस्कृत में इस प्रकार कहा जायगा—लक्षण-स्वरूप-प्रामाण्यादिप्रकारकज्ञानाऽनुकूलव्यापारो निरूपयतेरर्थः। तथा च—जलनिष्ठविषयतानिरूपकं यत् लक्षण-स्वरूप-प्रामाण्यादिप्रकारकं ज्ञानं, तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकारः इति 'जलं निरूपयती'त्यस्य शाब्दबोधः। जल के अभास्वरशुक्लरूपवत्त्वादि जो लक्षण ऊपर बताये गये हैं, उन लक्षणों का 'लक्ष्य' 'जल' है। अतः लक्ष्यता 'जल' में रहेगी, और लक्ष्यतावच्छेदक 'जलत्व' होगा। वह 'जलत्व' धर्म जातिरूप है। अर्थात्—जल के 'स्नेह' गुण को छोड़कर बाकी बचे अन्य विशेष गुण रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व ये कतिपय अन्यान्य विशेषताओं के साथ पृथ्वी आदि अन्य द्रव्यों में भी उपलब्ध होते हैं। एक 'स्नेह' ही ऐसा गुण है जो केवल जल में पाया जाता है, इस कारण स्नेह का समवायिकारणस्वरूप जो जल उसमें रहनेवाली जो समवायिकारणता, उसकी अवच्छेदक 'जलत्व' जाति मानी जाती है।

**यद्यपि स्नेहत्वं नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदकं, तथापि जन्यस्नेहत्वं तथा बोध्यम्। अथ परमाणौ जलत्वं न स्यात्, तत्र जन्यस्नेहाभावात्, तस्य च नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भावनियमादिति चेत्? न, जन्यस्नेहजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्वजातेः सिद्धौ, तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धिः।**

शंका—कार्यरूप अनित्य पृथिवी के समान उसके ( पृथ्वी के ) परमाणुओं में भी रूप, रस, गन्ध आदि अनित्य ही माने जाते हैं, क्योंकि वे ( रूप, रसादि ) अग्निसंयोग से उत्पन्न होते हैं। अतएव उनमें परिवर्तन होता है, अतः वे पाकज गुण हैं। इस कारण पृथ्वी के परमाणुओं के भी गुण अनित्य हैं। किन्तु जल, तेज और वायु में जो गुण हैं, वे पाकज नहीं माने जाते। इसलिये जल आदि के परमाणुओं के गुणों को 'नित्य' ही कहना होगा। क्योंकि उनके पाकज न होने के कारण उनमें ( गुणों में ) परिवर्तन होने की कोई बात ही नहीं है। अनित्य जल के गुण भी अनित्य ही होंगे, क्योंकि अनित्य जल की उत्पत्ति के पश्चात् उसमें वे गुण उत्पन्न होते हैं, यह है वस्तुस्थिति। तब जल-परमाणुओं में रहनेवाला 'स्नेह' तो नित्य ही कहना होगा। इस कारण 'स्नेहत्व' जाति को जो नित्य और अनित्य

( १ ) "रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः'—( वै. सू. २।१।२ )



दोनों प्रकार के 'स्नेहों' में रहती है। अतः उसे 'कार्यता' की अवच्छेदक नहीं कह सकते। तब स्नेहत्वावच्छिन्न ( स्नेह में रहनेवाली ) कार्यता की ( निरूपित ) जो जलनिष्ठकारणता, उसकी अवच्छेदक एक अनुगत 'जलत्व' जाति कैसे सिद्ध हो सकेगी?

समा०—कार्यरूप अनित्य 'जल' में रहनेवाली अनित्य ( जन्य ) स्नेह की जो कारणता, उसकी अवच्छेदक 'जलत्व' जाति ही होगी, क्योंकि वह ( जलत्वजाति) जन्यजल में भी रहती है। उसके बाद उस जन्यजल में रहनेवाली जो जन्यता, उससे निरूपित जो नित्य जलनिष्ठा जनकता, उस जनकता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार नित्य और अनित्य जल दोनों में रहनेवाली जलत्वजाति, जन्यजल-निष्ठ समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप में सिद्ध हो जाती है। इसी अभिप्राय को इस प्रकार भी समझ सकते हैं। स्नेहरूप कार्य की ( निरूपित ) जलनिष्ठ समवायिकारणता की अवच्छेदक होने से 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। क्योंकि स्नेह का समवायिकारण हुआ 'जल', उसमें रहनेवाली जो समवायिकारणता, उसका अवच्छेदक होगा 'जलत्व'। एवंच स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया[१] 'जलत्व' जाति की सिद्धि हो जाती है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'स्नेहत्व' धर्म, नित्यस्नेह तथा अनित्यस्नेह दोनों में रहता है, तब उसे कार्यतावच्छेदक ( कार्यतामात्र का अवच्छेदक ) कैसे कह सकते हैं? परन्तु इस प्रश्न का उत्तर यह दे सकते हैं कि—'जन्यस्नेहत्व' रूप धर्म को कार्यतावच्छेदक मान लीजिये। किन्तु फिर भी प्रश्न हो सकता है कि 'जन्यस्नेहत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकतया'—सिद्ध होनेवाली जो 'जलत्व' जाति, वह जलीय 'परमाणुओं' में नहीं रह सकेगी, क्योंकि परमाणुओं में जन्य स्नेह नहीं है। यदि स्नेह रूप कार्य के प्रति जलीय परमाणुओं में 'स्वरूपयोग्यता' रूपकारणता को मानें, तो उसे भी नहीं मान सकते, क्योंकि उनमें ( नित्यपरमाणुओं में ) स्वरूपयोग्यतारूप कारणता को मानने पर उससे कभी तो फल अवश्य ही होना चाहिये, किन्तु होता नहीं। इस कारण स्नेहरूप कार्य की निरूपित ( जलनिष्ठ ) समवायिकारणता की अवच्छेदक किसी अनुगत 'जलत्व' जाति की सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि पहले [२]जन्यस्नेहत्वावच्छिन्नजन्यता-

( १ ) जलत्वजाति की सिद्धि—समवायसम्बन्धावच्छिन्न-स्नेहत्वावच्छिन्नस्नेहनिष्ठकार्यतानिरूपिता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या जलनिष्ठा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, घटनिष्ठकार्यतानिरूपित-कपालगत-कारणतावत्।

( २ ) जन्यजलत्वजाति की सिद्धि—समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यस्नेहत्वावच्छिन्न-जन्यस्नेहनिष्ठजन्यतानिरूपिता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या जन्यजलनिष्ठा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, पटनिष्ठकार्यतानिरूपित-तन्तुगतकारणतावत्।

निरूपितजनकतावच्छेदकतया 'जन्यजलत्व' जाति की सिद्धि कीजिये। अर्थात् जन्य-स्नेहनिष्ठजन्यतानिरूपित जो जन्यजलनिष्ठा जनकता, तादृश-जनकता की अवच्छेदक होने से जन्यजल में 'जलत्व' जाति सिद्ध कर लेनी चाहिये। उसके पश्चात् [1]'जन्य-जलत्वावच्छिन्न, जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकतया 'जलत्व' जाति की सिद्धि करनी चाहिये। अर्थात् जन्यजलनिष्ठजनकतावच्छेदकतया जन्यजल में 'जलत्व' जाति की सिद्धि करने के पश्चात् जन्यजलनिष्ठा जो जन्यता, उससे निरूपित जो शुद्धजलनिष्ठा जनकता, तादृशजनकता की अवच्छेदक होने से 'शुद्धजलत्व' जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये। वह 'जलत्वजाति' परमाणु जल में भी है। तात्पर्य यह है—'जलत्व' यह जाति है, ऐसा सिद्ध करने में अनुमान[2] प्रमाण है—जैसे स्नेह ( चिकनाहट ) गुण जल ही का है, वह नित्य तथा अनित्य होने से दो प्रकार का है। जल के परमाणुओं का स्नेह नित्य है और द्वचणुकादिकों का

१. शुद्ध जलत्वजाति की सिद्धि—समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्यजलत्वावच्छिन्न-जन्यजलनिष्ठा या जन्यता, तन्निरूपिता, तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना या शुद्धजलनिष्ठा समवायिकारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्।

२. 'जलत्व' जाति के अनुमान का आकार——

'जलनिष्ठा या स्नेहसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् तन्तुनिष्ठकारणतावत्'—तन्तुओं में रहनेवाली पट की समवायिकारणता तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है, उसी प्रकार जलनिष्ठ स्नेह की समवायिकारणता भी किसी धर्म से अवश्य अवच्छिन्न होगी, ऐसा 'जलत्व' धर्म ही जाति के रूप में सिद्ध होता है।

शंका—जो धर्म नित्य तथा अनित्य दोनों में रहता है, वह धर्म कार्यता का अवच्छेदक नहीं होता। यह स्नेहत्व धर्म भी नित्य तथा अनित्य स्नेह में रहता है, इस कारण वह जल-निरूपित कार्यता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। जन्य स्नेह की समवायिकारणता केवल जन्य जल में ही है, परमाणुरूप नित्य जल में नहीं। इस कारण नित्य जल में जलत्व-जाति की सिद्धि नहीं हो सकती।

समा०—द्वचणुकादिरूप जन्यजल में जन्य-स्नेह की समवायिकारणता है, इस कारण प्रथम जन्य-जलत्व-मात्रवृत्ति जलत्व-जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये, तदनन्तर उस जन्य-जलत्वजाति से अवछिन्न जल की समवायिकारणता का अवच्छेदकरूप से जन्य तथा अजन्य सर्व जल में शुद्ध-जलत्वजाति की सिद्धि करनी चाहिये। जैसे द्वचणुक-अनित्य-जल में त्र्यणुकादि-जन्य-जल की समवायिकारणता है, वैसे ही परमाणुरूप नित्य जल में द्वचणुकरूप जन्य-जल की समवायिकारणता है, इस कारण उस परमाणुरूप नित्य जल में तथा द्वचणुकादि-रूप अनित्य जल में उस जन्य जल की समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप से जलत्व जाति की सिद्धि संभव है।



स्नेह अनित्य है। एवंच सभी स्नेह के ( नित्य-अनित्यस्नेह के ) प्रति 'जल' कारण है। इस प्रकार का कार्य—कारणभाव नहीं माना जाता। यदि माना जायगा तो परमाणुओं का नित्य स्नेह भी जल के सभी स्नेहरूपी कार्यों में समाविष्ट होकर वह ( नित्य-स्नेह ) उत्पन्न होने लगेगा, किन्तु होता नहीं है। इस कारण नित्यस्नेह के बिना केवल 'अनित्यस्नेह के प्रति अनित्यजल कारण है—ऐसा कार्य-कारणभाव प्रथम मानकर, तदनन्तर जल परमाणुओं में 'जलत्व' सिद्ध होता है। अतः अनित्य जल के प्रति सब जल ( नित्य-अनित्य ) कारण है—ऐसा कार्य-कारणभाव मानना चाहिये। इस प्रकार उस कारण के भेद की दर्शक, सर्व जलसाधारण 'जलत्व' जाति सिद्ध हो जाती है।

शंका—अन्त्यावयविरूप जल में उस जन्यजल की समवायिकारणता नहीं है' इस कारण अन्त्यावयविरूप जल में जलत्व जाति की सिद्धि नहीं होगी।

समा०—किसी भी जल में अन्त्यावयवित्व नहीं होता, और दूसरे जल के संयोग से बृहत् जल की उत्पत्ति की योग्यता तो है ही।

शंका०—जलमात्र में यदि जन्य जल की समवायिकारणता का स्वीकार करोगे तो वरुणलोकस्थ जलीय शरीरों से तथा रसनेन्द्रियरूप जल से भी किसी जन्य जल की उत्पत्ति होनी चाहिये, किंतु होती नहीं।

समा०—वरूणलोकस्थ जलीयशरीर तथा रसनेन्द्रिय में यद्यपि जन्य-जल की फलोपधायकत्वरूप कारणता नहीं है तथापि स्वरूपयोगत्वरूप कारणता तो विद्यमान है ही। अर्थात् कारणता दो प्रकार की होती है—एक तो फलोपधायकत्वरूपा तथा दूसरी स्वरूपयोग्यत्वरूपा। इनमें से प्रथम का स्वरूप यह है—'अव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन फलविशिष्टत्वं फलोपधायकत्वम्'—व्यवधानरहित पूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से जो फलविशिष्टता है, वही फलोपधायकत्वरूप कारणता है। जैसे—घट की उत्पत्ति में कुलाल के हाथ में जो दण्ड है, उसमें अव्यवहित—पूर्ववृत्तित्वसम्बन्ध से घटरूप फलविशिष्टता है। यही दण्ड में फलोपधायकत्वरूप कारणता है।

दूसरी कारणता का स्वरूप यह है—'कारणतावच्छेदकधर्मवत्त्वं स्वरूपयोग्यत्वम्'—कारणता का अवच्छेदक जो धर्म, उसी का नाम स्वरूपयोग्यत्वरूपकारणता है। जैसे—दण्ड में रहनेवाली जो घट की कारणता है' उस कारणता का अवच्छेदक धर्म 'दण्डत्व' है। वह 'दण्डत्व' धर्म जैसे कुलाल के हाथ में स्थित दण्ड में है, वैसे ही वह ( धर्म ) वनस्थ-दण्ड में भी रहता है। वह कारणतावच्छेदक दण्डत्व धर्मवत्त्व ( धर्म ) ही, उस वनस्थित दण्ड में उस घट की स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता है। वैसे ही यहाँ प्रकृत में परमाणुरूप जल में जो द्वचणुकादिरूप जन्य जल की समवायिकारणता है, वह फलोपधायकत्वरूप कारणता है, और जलीय-शरीर तथा जलीय इन्द्रिय में जिस जन्यजल की कारणता है, वह स्वरूपयोग्यत्व-रूप कारणता है। ऐसी स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के विद्यमान रहने पर भी अन्य

**शुक्लरूपमेव जलस्येति दर्शयितुमुक्तं वर्णः शुक्ल इति। न तु शुक्लरूपवत्त्वं लक्षणम्। अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तिरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्, अभास्वरशुक्लतररूपासमानाधिकरणरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं वा तदर्थः। तेन स्फटिकादौ नातिव्याप्तिः।**

'शुक्लरूप' जल में ही है, यह पहले बता चुके हैं। कारिका में इसी अभिप्राय से 'वर्णः शुक्लः' कहा गया है। 'शुक्लरूपवत्त्व' यह जल का लक्षण नहीं है। क्योंकि 'पृथ्वी तथा तेज में भी शुक्लरूप रहता है, अतः अतिव्याप्ति हो जायगी। जल में 'शुक्लरूप' है, यह कहने का तात्पर्य यही है कि जल में एक शुक्ल ही रूप है, अन्य रूप नहीं। अथवा 'शुक्लरूपवत्त्व' को ही यदि जाति-घटित कर दिया जाय तो वही जल का निर्दुष्ट लक्षण हो सकता है। **जैसे**—(१) जिनमें ( पृथ्वी

सहकारी कारणों के अभाव से जलीय शरीर तथा जलीय इन्द्रिय से किसी जन्य जल की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे—वनस्थ दण्ड में स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के होने पर भी अन्य कुलाल, मृत्तिका आदि—सहकारी कारणों के अभाव में उस दण्ड से किसी घट की उत्पत्ति नहीं होती। अतः जलीय शरीर तथा जलीय इन्द्रिय में भी जन्य जल की स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के अवच्छेदकरूप से जलत्व जाति की सिद्धि हो जाती है, और परमाणुरूप नित्य जल में जन्य स्नेह की जो स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता है, वह परमाणुरूप नित्य जल में किसी समय जन्य स्नेह की उत्पत्ति अवश्य करेगी। क्योंकि शास्त्रकारों का यह नियम है कि 'नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यंभावनियमः'—नित्य पदार्थ में यदि किसी कार्य की उत्पत्ति की स्वरूपयोग्यतारूप कारणता स्वीकार की जाय तो उस नित्य पदार्थ से उस कार्यरूप फल की उत्पत्ति अवश्य होगी, क्योंकि नित्य पदार्थ का कभी भी नाश नहीं होता। नित्य पदार्थ से किसी समय अन्य कारण सामग्री की सहायता से कार्य की उत्पत्ति अवश्य होगी। किन्तु अनित्य पदार्थ में स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता के मानने पर भी कार्य की उत्पत्ति का नियम करना संभव नहीं। जैसे—वनस्थ दण्ड, घटकार्य में स्वरूप योग्य होकर भी कुलालादि सामग्री के न होने पर कार्य की उत्पत्ति बिना किये ही अग्नि आदि से नष्ट हो जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि परमाणुरूप नित्य जल में जन्य स्नेह की स्वरूप योग्यता को स्वीकार कर यदि जलत्वजाति की सिद्धि की है तो जलपरमाणुओं से किसी समय स्नेह की उत्पत्ति अवश्य होगी। किन्तु यह कथन न्याय-सिद्धांत के विरुद्ध है। इस कारण जन्य-स्नेह की समवायिकारणतावच्छेदकरूप से जलत्व-जाति की सिद्धि नहीं करनी चाहिये। किन्तु जन्य जल की समवायिकारणतावच्छेदकरूप से ही जलत्व-जाति की सिद्धि करनी चाहिये। अभिप्राय यही है कि जन्य-स्नेह की समवायिकारणता के अवच्छेदक से जन्य-जलत्व-जाति सिद्ध कर लेना और जन्य-जल की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप से शुद्ध-जलत्व-जाति की सिद्धि करनी चाहिये, यही सिद्धान्त है।



तथा वायु में ) नैमित्तिक द्रवत्व रहता है, उनमें न रहनेवाली, तथा जिसमें 'रूप' रहता है, उसमें रहनेवाली जो जाति अर्थात् 'नैमित्तिक द्रवत्व' के अधिकरण में न रहनेवाली और रूप के अधिकरण में रहनेवाली जो 'द्रव्यत्व' की साक्षात् 'व्याप्य जाति', तादृशजातिमत्त्व—इतना अर्थ 'शुक्लरूपवत्त्व' के कहने से समझना चाहिये।

**अथवा** ( २ ) अभास्वर[1] शुक्ल से भिन्न जो अन्य रूप हैं, वे जिनमें ( पृथ्वी और तेज में ) हैं, उनमें न रहनेवाली, तथा जिस में रूप रहता है उसमें रहनेवाली जो जाति अर्थात् अभास्वर शुक्ल से इतर जो रूप उसके अधिकरण में न रहनेवाली तथा रूप के अधिकरण में रहने वाली जो द्रव्यत्व जाति, उसकी साक्षात् व्याप्य जाति, तादृशजातिमत्त्व—इतना अर्थ 'शुक्लरूपवत्त्व' के कहने से समझना चाहिये। प्रथम जाति-घटित लक्षण करने से पृथ्वी तथा तेज में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि पृथ्वीत्व तथा तेजस्त्व जाति, नैमित्तिक-द्रवत्वजातिवाली घृतरूपा पृथ्वी में तथा सुवर्णादिरूप तेज में वृत्ति ( रहती ) ही है। और द्वितीय जाति-घटित लक्षण करने से स्फटिक में अतिव्याप्ति नहीं होगी। उपर्युक्त विशेषण-विशिष्ट जो द्रव्यत्वसाक्षात् व्याप्यजाति 'जलत्व' ही होगी। अतः कहीं भी अतिव्याप्ति नहीं हो पायेगी।

**रसस्पर्शाविति। जलस्य मधुर एव रसः शीत[2] एवस्पर्शः। तिक्तरसवदवृत्तिमधुरवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं तदर्थः।**

'जल' में केवल **मधुररस** ही रहता है तथा **शीतस्पर्श** ही रहता है। अर्थात् 'जल' में **मधुररस** तथा शीतस्पर्श के अतिरिक्त कोई अन्य प्रकार का रस और स्पर्श नहीं रहता। एवं च समवायेन 'मधुररसवत्त्वं' तथा समवायेन 'शीतलस्पर्शवत्त्वं' ये लक्षण 'जल' के हुए।

**शंका**—समवायेन 'मधुररसवत्त्व' लक्षण की शर्करादि ( खाण्ड आदि ) जल से भिन्न पार्थिव पदार्थ में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उसमें भी मधुर-रस है। तथा 'समवायेन शीतलस्पर्शवत्त्व' लक्षण की उत्पत्तिकालीन और उत्पन्न-विनष्ट जल में अव्याप्ति होगी। क्योंकि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' इस नियम के अनुसार उत्पत्तिकालीन 'जल' द्रव्य में शीतल-स्पर्शरूप गुण नहीं होता।

**समा०**—उपर्युक्त अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के निवारणार्थ उपर्युक्त दोनों

१. 'शुक्लरूप' भास्वर तथा अभास्वर दो प्रकार का है। उनमें से 'भास्वर' तो स्पष्ट ही दीखता है और 'अभास्वर' अस्पष्ट दीखता है। 'भास्वर शुक्लरूप' तेज में रहता है। और 'अभास्वर शुक्लरूप' जल में रहता है। अभास्वर शुक्लरूप के बिना अन्य कोई भी रूप 'जल' में नहीं रहता।

२. मुक्तावलीकार ने 'शीत एव स्पर्शः' कहकर 'शीत' शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया है। 'शीतंगुणः' कोश के अनुरोध से 'शीत' शब्द का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग करना चाहिये था। तथापि 'अस्त्रीनियतलिङ्गानां योगे तल्लिङ्गताऽपि च' इस नियम से 'शीत' शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया गया है।

लक्षणों को जातिघटित बना लेना चाहिये। जातिघटित लक्षण बनाने का प्रकार ग्रन्थकार स्वयं बता रहे हैं—'तिक्तरसवदवृत्तिमधुरवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं'—'समवायेन मधुररसवत्त्वम्'। अर्थात् तिक्त ( कटु=कड़वा ) रस के अधिकरण पृथ्वी में न रहनेवाली ( अवृत्ति ), तथा मधुर रस के अधिकरण जल में वृत्ति ( रहनेवाली ), जो द्रवत्व की साक्षात् व्याप्यजाति 'जलत्वजाति', वह ( जलत्वजाति ) जिसमें हो, उसे 'जल' समझना चाहिये— यही 'जल' का लक्षण है। ऐसा जातिघटित लक्षण करने से 'शर्करा' ( पार्थिवपदार्थ ) में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'शर्करा' पार्थिव पदार्थ है, जलीय पदार्थ नहीं है। उसमें रहनेवाली 'पृथ्वीत्व' जाति, तिक्तादि रसों में भी रहती है तथा मधुररस में भी रहती है। यदि वह ( पृथ्वीत्व ) केवल मधुररस में ही रहती तो जल का उक्त लक्षण 'शर्करारूपपृथ्वी' में अतिव्याप्त हो जाता। किन्तु शर्करादि में मधुर-रस के विद्यमान रहने पर भी तिक्तरसवदवृत्तिजाति अर्थात् 'जलत्वजाति' नहीं है, किन्तु तद्विरुद्ध तिक्तरसवद्वृत्ति ऐसी 'पृथ्वीत्वजाति' ही शर्करा में है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है। इस जाति-घटित लक्षण में 'तिक्तरसवत्-अवृत्ति' यदि न कहते तो 'पृथ्वी' में अतिव्याप्ति होती। 'मधुरवद्वृत्ति' न कहते तो तेज आदि में अतिव्याप्ति होती। 'द्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्य' न कहते तो 'शर्करात्व' में अतिव्याप्ति होती तथा 'मधुरवद्वृत्तिजाति' करकात्वजाति को लेकर उससे अनवच्छिन्न ( रहित ) 'हिम' आदि में अव्याप्ति होती। 'जाति' न कहें तो 'जल-शर्करोभयत्व' को लेकर 'वायु' में अतिव्याप्ति होती।

उसी तरह 'समवायेन शीत( ल )स्पर्शवत्त्व' लक्षण को भी जातिघटित कर लेना चाहिये, जिससे अव्याप्ति नहीं होगी। जातिघटित लक्षण करने का प्रकार ग्रन्थकार स्वयं बता रहे हैं—'शीतेतरस्पर्शवदवृत्ति-स्पर्शवद्वृत्ति-द्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्'—समवायेन शीतस्पर्शवत्त्वम्। अर्थात् शीतस्पर्श से इतर ( अन्य ) उष्ण और अनुष्णाशीतस्पर्श, उसके अधिकरणस्वरूप जो तेज, पृथ्वी और वायु, उनमें अवृत्ति ( न रहनेवाली ), तथा स्पर्श ( शीतस्पर्श ) के अधिकरणस्वरूप 'जल' में वृत्ति ( रहनेवाली ) द्रव्यत्व को साक्षात् व्याप्य जो 'जलत्वजाति', वह उत्पत्तिकालीन तथा उत्पन्नविनष्ट जल में भी रहती है। अतः जल के लक्षण की वहाँ अव्याप्ति नहीं होगी। यहाँ भी 'शीतेतरस्पर्शवत् + अवृत्ति' यदि न कहें तो 'पृथ्वी' में अतिव्याप्ति होती। 'स्पर्शवद्वृत्ति' न कहें तो 'आत्मा आदि' में अतिव्याप्ति होती। 'द्रव्यत्वसाक्षात्व्याप्य' न कहें तो 'शीतेतरस्पर्शवत् + अवृत्ति अथ च स्पर्शवद्वृत्ति' से 'करकात्व' को लेंगे, उससे अनवच्छिन्न ( रहित ) 'जल' में अव्याप्ति होती। लक्षण में 'जाति' न कहते तो 'करका-चन्दनान्यतरत्व' को लेकर चन्दनरूपपृथ्वी में अतिव्याप्ति होती, अथवा 'करका हिमोभयत्व' को लेकर उससे अनवच्छिन्न ( रहित ) 'जलान्तर' में अव्याप्ति होती। एवंच जल के लक्षण को जातिघटित कर देने से कहीं भी किसी प्रकार का दोष नहीं है।



ननु शुक्लरूपमेवेति कुतः, कालिन्दीजलादौ नीलिमोपलब्धेरिति चेत्—

न, नीलजनकतावच्छेदिकायाः पृथिवीत्वजातेरभावाज्जले नीलरूपासम्भवात्। कालिन्दीजले नीलत्वप्रतीतिस्त्वाश्रयौपाधिकी। अत एव वियति विक्षेपे धवलिमोपलब्धिः।

शंका—पहले कह चुके हैं कि जल का लक्षण 'समवायेन शुक्लरूपवत्त्वमेव'—जल में शुक्लरूप ही है। किन्तु जल का शुक्लरूप ही क्यों कहा गया है? श्रीयमुनाजी के जल में तथा जलपूर्ण मेघ के मध्य, समुद्र के जल में नीलरूप भी दिखाई पड़ता है। इसलिये 'नीलरूपवत्त्वम्' यह भी 'जल' का लक्षण कहना चाहिये। अतः मूलग्रन्थ ( कारिका ) में 'वर्णः शुक्लः' जो कहा गया है, वह प्रतीति ( अनुभव ) के विरुद्ध है।

समा०—इस प्रकार की आशंका करना उचित नहीं है। क्योंकि 'नीलरूप की समवायिकारणतावच्छेदिका जो पृथ्वीत्वजाति है, वह 'जल' में नहीं है। 'नीलारूप पृथ्वी में ही रहता है, यह निःसन्दिग्ध है। इस कारण उस नीलिमारूप के प्रति समवायिकारण पृथ्वी ही है, यह अनुभवसिद्ध कार्य-कारणभाव है। इस कार्य-कारणभावसम्बन्ध से सिद्ध जो जाति अर्थात् पृथ्वीनिष्ठ-समवायिकारणता की अवच्छेदक ( भेददर्शक ) जो 'पृथ्वीत्वजाति', वह 'जल' में नहीं रहती। अतः 'जल' में नीलरूप की कल्पना करना भी सम्भव नहीं। श्रीयमुनाजी के जल में जो नीलरूप दिखलाई पड़ता है, वह 'आश्रयोपाधिक' है अर्थात् श्रीजी के जल का आधार ( आश्रय ) जो पृथ्वी है, उसका वह 'नीला' रूप है, उस आश्रयभूत पृथ्वी की नीलिमा ( नीलारूप ) ही श्रीजी के जल में दिखाई देती है। यही कारण है कि श्रीजी के जल को आकाश में अर्थात् ऊपर की ओर उछाला जाय तो जल की स्वाभाविक धवलता अर्थात् उसका अपना निजी श्वेतवर्ण[1] ( रूप ) दिखाई देता है। इस कथन को नैयायिकों की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं—मुक्तावली में पृथ्वीत्वजाति को 'नीलजनकतावच्छेदक' कहा है। 'नीलजनकता' का अर्थ है—'नीलनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकता' यह न्याय की भाषा है। एवंच—

१. जल को ऊपर उछालने से उस जल से पृथ्वी का सम्बन्ध दूर होकर जल का अपना निजी ( स्वभाविक ) गुण ( श्वेतवर्ण=सफेद रंग ) दिखाई देता है। यदि कहें कि वह श्वेतवर्ण, जो जल में दिखाई दे रहा है, वह 'तेज' का गुण (रूप) है, तो परिपक्व हुए 'घट' आदि का भी रंग, 'तेज' का ही गुण है—ऐसा क्यों नहीं मानते? अतः 'श्वेतिमा' जल का स्वाभाविक गुण है। यदि ऐसा न मानें तो ( नारिकेल जल का माधुर्य, नारिकेल का गुण नहीं, अपितु वह जल का ही स्वाभाविक गुण है—ऐसा मानें तो ) नींबू के रस में जो अम्लरस ( खट्टापन ) है, वह उस रसरूपी जल का स्वाभाविक गुण है—यह भी मानना होगा। अतः मधुरता, जल का स्वाभाविक गुण नहीं है बल्कि मधुरता, अम्लता आदि पृथ्वी ( नारिकेल, नींबू आदि ) का ही गुण है, यह कहना होगा।

नीलरूपनिष्ठा या जन्यता ( कार्यता ), तादृशजन्यतानिरूपिता या जनकता, अर्थात् पृथ्वीनिष्ठा समवायिकारणता, तदवच्छेदकम्पृथ्वीत्वं अर्थात् जातिरूपो धर्मः, तस्य अभावात् जले नीलरूपस्य असम्भव एव । अतः 'नीलरूपवत्त्वम्' इति लक्षणं जलस्य कथं भवितुमर्हति । कथन्तर्हि जले नीलत्वप्रतीतिः ? तत्रोच्यते-'स्वसमवायिसंयुक्तत्व-सम्बन्धेन पार्थिवरूपं जले प्रतीयते तथाच—समवायेन नीलरूपाऽभाववति जले 'समवायेन नीलरूपवज्जलम्' इति कथनन्तु सिकताचर्वणमिवेति विज्ञेयम् ।

**अथ जले माधुर्ये किं मानम् ? न हि प्रत्यक्षेण कोऽपि रसस्तत्रानुभूयते । न च नारिकेलजलादौ माधुर्यमुपलभ्यत एवेति वाच्यं, तस्याश्रयौपाधिकत्वात् । अन्यथा जम्बीररसादावम्लाद्युपलब्धेरम्लादिमत्त्वमपि स्यादिति चेत् ?**

शंका—'जल में मधुर रस है'—यह पीछे बता चुके हैं, परन्तु मधुर-रस में कोई प्रमाण तथा अनुभव नहीं है, क्योंकि पीनेवालों को 'इस जल में यह रस है'—ऐसा अनुभव नहीं होता । अर्थात् जल में किसी भी रस का अनुभव नहीं होता ।

यदि कहें कि नारिकेल ( नारियल ) के पानी ( दूध ) में तो मधुर-रस का अनुभव सभी को होता है तो उसका उत्तर यह हो सकता है कि—

**समा**—नारियल के जल में अनुभूयमान जो मधुररस है, वह आश्रय के कारण ( आश्रयोपाधिक ) है । अर्थात् उस जल का आश्रय जो नारियलरूपपृथ्वी, उसके सम्बन्ध से है । अतः नारिकेल के जल में जो माधुर्य है, वह आश्रयोपाधिक है, स्वाभाविक नहीं ।

आक्षेप०—यदि ऐसा न मानें तो ( नारिकेलजल का माधुर्य, नारिकेल का गुण नहीं, अपितु वह जल का ही स्वाभाविक गुण है—ऐसा मानें तो ) नींबू के रस में जो अम्लरस ( खट्टापन ) है, वह उस रसरूपी जल का स्वाभाविक गुण है—यह भी मानना होगा ।

**न, हरीतक्यादिभक्षणस्य जलरसव्यञ्जकत्वात् । न च हरीतक्यामेव जलोष्मसंयोगाद्रसान्तरोत्पत्तिरिति वाच्यं, कल्पनागौरवात् । पृथिवीत्वस्याम्लादि-जनकतावच्छेदकत्वाच्च जले नाम्लादिकम् । जम्बीररसादौ त्वाश्रयौपाधिकी तथा प्रतीतिः ।**

**समा०**—हर्रे ( हरड़ ) तथा आँवला खाने पर जिह्वा से जो पानी छूटता है, अथवा हरड़ तथा आँवले खाकर ऊपर से जो पानी पिया जाता है, उसमें मधुर-रस उपलब्ध होता है । इस कारण वह मधुर-रस जल का स्वाभाविक गुण है, यह कल्पना की जाती है । हरीतकी-भक्षण जल के मधुर-रस का व्यंजक है ।

**प्रश्न**—यदि कोई यह कल्पना करे कि आँवला या हरीतकी खाने के अनन्तर उसके पानी से जिह्वा की उष्णता ( भाँप ) का सम्बन्ध ( संयोग ) होने पर एक प्रकार का जो मधुर रस उत्पन्न होता है, वह आँवले से ही उत्पन्न होता है । अर्थात् आँवला या हरितकी में ही जल तथा गरमी के संयोग से दूसरा रस उत्पन्न होता है ।

**उत्तर**—किन्तु ऐसी कल्पना करने में बड़ा गौरव होगा । अर्थात् फलादिरूप



पृथ्वी में जहाँ पर पूर्वरस का नाश होने पर अन्य रस की उत्पत्ति देखी जाती है, वहाँ विलक्षण तेजःसंयोग ( पाकविशेष ) ही कारण होता है ।[1]

यदि हरीतकी ( हरड़ ) के उदाहरण के अनुरोध से जल के संयोग को भी पृथ्वी के रस का उत्पादक माना जाय तो वह एक अन्य प्रकार का ही कार्य-कारणभाव माना जायगा और कल्पना-गौरव होगा । अर्थात् तेजःसंयोग को तो पार्थिवरस का व्यंजक माना ही है, और एक उसी के समान जल-संयोग को भी यदि माना जाय तो प्रतिवादी के पक्ष में दो कार्य-कारणभावों की कल्पना करनी होगी, तब गौरव होगा । इस कारण यह कल्पना करना उचित नहीं है । अम्ल आदि षड्-रस पृथ्वी में ही उत्पन्न होते हैं, यह सर्व प्रसिद्ध है । अतः उन रसों के प्रति पृथ्वी ही कारण है, ऐसा कार्य-कारणभाव मानना योग्य है । अर्थात् हमारे ( सिद्धान्ती के ) पक्ष में हरीतकी जल-गत मधुररस की केवल व्यंजिका ही है, अतः गौरव नहीं है । मधुरता, जल का स्वाभाविक गुण नहीं बल्कि मधुरता, अम्लता आदि पृथिवी ( नारिकेल, नींबू आदि ) के ही गुण हैं । इस आक्षेप का समाधान ग्रन्थकार स्वयं दे रहे हैं ।

**शंका**—जल में मधुर-रस भले ही रहे, किन्तु जम्बीर-रस में प्रत्यक्ष अनु-भूयमान अम्लरस का अपलाप कैसे कर सकते हैं ?

**समा०**—अम्ल आदि रस का जनकतावच्छेदक जो पृथ्वीत्व, वह जल में नहीं है, इस कारण जल में अम्ल आदि रस नहीं है । इसी को न्याय की भाषा में—अम्लादिरसनिष्ठा या जन्यता, तादृशजन्यतानिरूपिता या जनकता पृथ्वीनिष्ठा, तदवच्छेदकम्पृथ्वीत्वम्, पृथिव्यामेव, न तु जले इति जले नाम्लादिस्वीकारः । अर्थात् पृथ्वीत्वसमानाधिकरणक एव अम्लादिरसः, न तु जलत्वसमानाधिकरणकः । जम्बीर ( नींबू ) के रस आदि में तो आश्रय के कारण अम्लादि की प्रतीति होती है अर्थात् 'स्वसमवायिसंयोग' सम्बन्ध से अम्लादि की प्रतीति होती है । अतः वह औपाधिकी है । अर्थात् पृथ्वीगत अम्लरस का जल में जो अनुभव है, उसे औपाधिक ही समझना चाहिये ।[2]

**एवं जन्यशीतस्पर्शजनकतावच्छेदकं जन्यजलत्वं तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं तु जलत्वं बोध्यम् । घृष्टचन्दनादौ तु शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्तिशीततर-**

---

१. अग्नि के संयोग से घट या आम्रादिरूप पृथ्वी में नाना प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं । उसी प्रकार जल से अग्नि का संयोग होने पर जल से पृथ्वी में रस की उत्पत्ति होती है—ऐसा मानने में तथा आँवले में मधुर रस की कल्पना करने में गौरव है ।

२. जल में नींबू के सम्बन्ध से जो खट्टापन है वह खट्टापन उस नींबू का ही स्वाभाविक गुण है, क्योंकि वह नींबू पृथ्वी का ही विकार है । अम्लता ( खट्टापन ) भी पृथ्वी का ही गुण है । इस कारण नींबू के रस में नींबू का ही खट्टापन भासता है । वह खट्टापन जल का गुण नहीं है ।

**सलिलस्यैव । तेजःसंयोगाज्जले उष्णप्रतीतिरौपाधिकी स्फुटैव, तत्र पाका-सम्भवात् ।**

इसी प्रकार जन्यजल में जन्यशीतस्पर्शनिष्ठ-जन्यतानिरूपित जनकता की अवच्छेदक 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। और जन्यजलनिष्ठ-जन्यतानिरूपित-जनकता की अवच्छेदक 'शुद्धजलत्व' जाति सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि जल में शीतस्पर्श है, इसी कारण 'जलत्व' जाति सिद्ध होती है। यह कार्यकारणभाव माना गया है कि 'अनित्य स्पर्श के प्रति अनित्य जल कारण है। इसी कार्यकारणभावसम्बन्ध से अनित्य जलत्वजाति सिद्ध होकर, ततः पश्चात् 'अनित्य जल के प्रति जलमात्र ( नित्य और अनित्य ) कारण है'—वह कार्य-कारणभाव माना है। इस कार्य-कारणभाव के सम्बन्ध से सिद्ध होनेवाली ही—अर्थात् कारण के भेद का दर्शक जो धर्म, वही—'जलत्व' जाति है। तात्पर्य यह है कि जन्यशीतस्पर्शजनकतावच्छेदकतया जन्यजलत्व जाति की सिद्धि, और जन्य-जलत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्व जाति की सिद्धि की जाती है। अब घिसे हुए चन्दन में जो शीतल स्पर्श है, वह उस चन्दन से संयुक्त हुए जल का ही गुण है अर्थात् चन्दन में वह शीतलस्पर्श जल के द्वारा भासता है। उसी प्रकार जल में जो उष्णता भासित होती है वह तेज का गुण है। तेज के सम्बन्ध से ही जल में उष्णता भासित होती है, क्योंकि जल में पाक नहीं होता, अतः पाक के कारण जल में उष्णता का होना सम्भव नहीं है। तेज के परमाणु जल के भीतर आने से जल में उष्णता प्रतीत होती है। अर्थात् तेजः-संयोगरूप उपाधि से जल में उष्णत्व की प्रतीति होती है। अतः शीतस्पर्श जल का गुण है, यह सिद्ध होता है।

**स्नेहस्तत्रेति । घृतादावपि तदन्तर्वर्तिजलस्यैव स्नेहः, जलस्य स्नेहसमवा-यिकारणत्वात् । तेन जल एव स्नेह इति मन्तव्यम् ।**

**द्रव्यत्वमिति । सांसिद्धिकद्रवत्वत्वं जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः । तदवच्छिन्नजन-कतावच्छेदकमपि तदेवेति भावः । तैलादावपि जलस्य द्रवत्वं स्नेहप्रकर्षेण च दहनानुकूल्यमिति वक्ष्यति ॥ ३९ ॥**

इति जलनिरूपणे जललक्षणकथनम् ।

**स्नेहस्तत्रेति** । जल में स्नेह गुण अर्थात् चिकनापन है, तथा द्रवता है, किन्तु उस द्रवता को स्वाभाविक समझना चाहिये। एवंच जल में शुक्लरूप, मधुररस, शीतलस्पर्श, स्नेह और द्रव्यत्व ये सब समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। अतः अभास्वर-शुक्लमात्ररूपवत्त्वं, मधुरमात्ररसवत्त्वं, शीतमात्रस्पर्शवत्त्वं, स्नेहवत्त्वं, सांसिद्धिक-द्रवत्ववत्त्वं—ये सब जल के लक्षण हुए। स्नेह ( चिकनापन ) जल में ही रहता है। घृत आदि कितने ही जो स्निग्ध द्रव्य हैं, वे सब पृथ्वी के ही भाग हैं। उनमें जो स्नेह है, वह तो उस द्रव्य में मिला हुआ जो जल का भाग है, उसी का गुण है, क्योंकि स्नेह का समवायिकारण जल है, अतः जल में ही स्नेह है, यह स्वीकार करना चाहिये। इस समवायिकारणता की अवच्छेदक ( भेददर्शक ) जलत्व जाति



है। वह घृत आदि में न रहकर भी उसमें जल के संयोग से स्नेह रहता ही है। अतः स्नेह, जल का ही गुण है, यह सिद्ध होता है।

द्रवत्वगुण सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक भेद से दो प्रकार का है। उनमें से सांसिद्धिक ( स्वाभाविक ) द्रवत्व, जल में रहता है, यह सभी का प्रत्यक्ष अनुभव है। यह सांसिद्धिक द्रवत्व जातिविशेष है। तथा सांसिद्धिकद्रवत्वावच्छिन्नजन्यता-निरूपितजनकतावच्छेदक भी जलत्व ही है। इस द्रवत्व के प्रति जल ही कारण है। इस कारणता के सम्बन्ध से अनित्य जलत्व जाति पहले सिद्ध हो चुकी है। तत्पश्चात् उस अनित्य जल के प्रति समस्त जल कारण है—यह कार्य-कारणभाव स्वीकार किया गया है। अब तेल, दूध आदि कितने ही पृथ्वीभागों में जो सांसिद्धिक द्रवत्व है, वह तेल आदि पदार्थों में जल का भाग मिश्रित होने से उस जल का द्रवत्व, तेल आदि पृथ्वीभागों में परम्परासम्बन्ध ( स्वसमवायिसंयुक्तत्व सम्बन्ध ) से भासित होता है।

शंका—तेल आदि में जो जल का भाग मिलता है, वह ( जल ) अग्नि की ज्वाला के प्रतिकूल है। अर्थात् जल-मिश्रित तेल दीपक के जलने में प्रतिकूल ही है, अनुकूल नहीं है, तब दीपक कैसे जलता है ?

समा०—'स्नेह' प्रकृष्ट तथा अप्रकृष्ट दो प्रकार का होता है। उन दोनों में से जो प्रकृष्ट स्नेह है वह ज्वाला के प्रति ( जलने में ) अनुकूल होता है। और जो अपकृष्ट स्नेह है, वह ज्वाला के प्रति प्रतिकूल होता है ( जलता नहीं है )। इस विषय में सविस्तर निरूपण स्नेहनिरूपण के अवसर पर किया जायेगा ॥३९॥

इति जलनिरूपणे जललक्षणकथनम् ।

**नित्यतादि प्रथमवत्किन्तु देहमयोनिजम् ।**
**इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिर्विषयो मतः ॥४०॥**

नित्यतादि प्रथमवत्=प्रथम बताई हुई पृथ्वी की तरह जल की नित्यता, अनित्यता आदि समझनी चाहिये। अर्थात् 'नित्याऽनित्या च सा द्वेधा, नित्या स्यादणुलक्षणा। अनित्या तु तदन्या स्यात् सैवावयवयोगिनी।' इत्यादिवत् जल की भी नित्यता, अनित्यता आदि समझनी चाहिये। प्रथमस्य इव प्रथमवत्—यहाँ पर "तत्र तस्येव" ( ५।१।११६ ) सूत्र के द्वारा षष्ठचन्त से 'वति' प्रत्यय किया गया है। किंतु तीन प्रकार की अनित्य पृथ्वी में योनिज व अयोनिज दो प्रकार के देह बताये थे, उसकी अपेक्षया इस जलीय देह में असमानता ( विशेष ) है। अर्थात् जलीय देह अयोनिज है। जलीय इन्द्रिय को 'रसना' अर्थात् जिह्वा नाम दिया गया है। जलीयविषय समुद्र, हिम, नदी आदि हैं।

**प्रथमवदिति । पृथिव्या इवेत्यर्थः । तथा हि, जलं द्विविधं—नित्यमनित्यं च । परमाणुरूपं नित्यं, द्व्यणुकादिकं सर्वमनित्यमवयवसमवेतं च । अनित्य-मपि त्रिविधं—शरीरेन्द्रियविषयभेदात् ।**

पृथिवीतो यो विशेषस्तमाह—किन्त्विति। [देहमयोनिजम्, अयोनिजमेवेत्यर्थः। जलीयं शरीरमयोनिजं वरुणलोके प्रसिद्धम्।

इति जलीयशरीरनिरूणम्।

इन्द्रियमिति। जलीयमित्यर्थः। तथाहि,

मुक्तावलीकार ने 'प्रथमवत्' पद का अर्थ बताया है—'पृथिव्या इव' पृथ्वी के तुल्य। उसी को स्वयं स्पष्ट करते हैं—'तथाहीति'। नित्य और अनित्य भेद से 'जल' दो प्रकार का है। 'नित्य' उसे कहते हैं, जो ध्वंस से भिन्न हो एवं ध्वंस का प्रतियोगी न हो, अर्थात् 'ध्वंस-भिन्नत्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं—नित्यत्वम्'। 'ध्वंस' में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'सत्यन्त' पद दिया है। 'घटादि' में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'विशेष्यदल' दिया गया है। नित्यजल तथा अनित्यजल का नामतः परिचय कराते हैं—नित्यजल 'परमाणुरूप' होता है, और अनित्यजल द्वयणुक, त्रसरेणु आदि स्थूल महाभूतरूप होता है। उसी को अवयविरूप जल समझना चाहिये, क्योंकि वह अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। अर्थात् बौद्धों के कथनानुसार वह ( जल ) परमाणुपुञ्जरूप नहीं है। वही अनित्य जल पुनः तीन प्रकार का है—शरीरात्मक, इन्द्रियात्मक और विषयात्मक। तीन प्रकार की पृथ्वी में जो योनिज और अयोनिज भेद से दो प्रकार का देह बताया था, उसकी अपेक्षया प्रस्तुत जलीय-शरीर में कुछ विशेष अर्थात् असमानता बता रहे हैं—जलीय शरीर ( देह ) केवल 'अयोनिज' ही होता है, अर्थात् जलीय-शरीर कभी योनिज नहीं होता। इस जलीय शरीर में 'जल' उपादान कारण है और पृथ्वी आदि निमित्त कारण होते हैं, अर्थात् जलतत्त्व की मुख्यता ( प्रधानता ) होने से जलीय-शरीर[1] कहते हैं। ऊपर वर्णित जलीय-शरीर 'वरुण-लोक' में प्रसिद्ध है।

१. जलीय शरीर का लक्षण—'शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमच्छरीरं जलीय-शरीरम्।' जलीय इन्द्रिय तथा विषय में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'शरीर' पद दिया है।

शंका—जलीय शरीर में मुख, दांत आदि अवयवों की संभावना नहीं हो सकती, और अवयवों के बिना आहार, विहार आदि नहीं हो सकते, और आहार, विहार के बिना भोगायतनत्व नहीं बन सकता और उनके बिना शरीरत्व का होना भी संभव नहीं।

समा०—वरुणलोकस्थित जलीय-शरीर में पृथ्वी आदि भूतों का भी भाग मिला रहता है। इस कारण मुख, दांत आदि तथा आहार-विहार और भोगायतनत्व के बनने से शरीरत्व भी संभव है। सभी भूतों के मिश्रित रहने पर भी जलतत्त्व की प्रधानता रहने से ही उसे 'जलीय-शरीर' कहा जाता है। जल की अधिष्ठात्री देवता को 'वरुण' कहते हैं। इसमें प्रमाण है, ऋग्वेद का मन्त्र—'वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुधारसः'—( ऋ. मं. १।६।२४ ) स्वल्प जल में दुर्बीन के द्वारा देखने पर कीटाणु, जो अत्यन्त कोमल तथा छोटे-बड़े होते हुए दिखलाई पड़ते हैं। तालाबों, नदियों में उनसे बड़े और समुद्र में उनसे भी बड़े; इन सबके शरीरों में जल ही प्रधानता रहती है। उसी तरह जल की देवता भी जलीय शरीरवाली होती है। मत्स्य आदि जन्तु पार्थिव हैं, जलीय नहीं। जल के भीतर वे उत्पन्न मात्र होते हैं। मनुष्य जीवन में श्वास की तरह उनके जीवित रहने में 'जल' असाधारण-सहकारि कारण रहता है।



इति जलीय-शरीरनिरूपणम्।

इन्द्रियमिति। जलीयमित्यर्थः। तथाहि, रसनं जलीयं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रसव्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्। रसनेन्द्रियसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्।

इति जलीयेन्द्रियनिरूपणम्।

अनित्य जल का इन्द्रिय-संज्ञक जो भाग है, वह रसनेन्द्रिय ( जिह्वा ) है। इसमें अनुमान[1] प्रमाण है—तथाहि—जिस द्रव्य में रूप, गन्ध तथा स्पर्श के

१. जलीय इन्द्रिय का लक्षण—'शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वजातिमदिन्द्रियं जलीयेन्द्रियम्।' जलीय इन्द्रिय के होने में अनुमान इस प्रकार होगा—'रसनं (जिह्वास्थमिन्द्रियम्) जलीयं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रसव्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्।'—रसनेन्द्रिय जलीय होने योग्य है, क्योंकि गन्ध आदि गुणों की व्यञ्जक न होकर रसगुण की व्यञ्जक होती हैं। जो ( जो ) द्रव्य गन्धादि गुणों का व्यंजक न होकर रसगुण का व्यंजक होता है, वह ( वह ) द्रव्य जलीय होता है। जैसे—जल, सक्तु के गन्ध आदि गुण का व्यञ्जक न होकर सक्तु के केवल रस का व्यंजक होता है, इस कारण उसमें ( जल में ) जलीयत्व प्रसिद्ध है। उसी प्रकार रसनेन्द्रिय भी अन्न आदि पदार्थों के गन्ध आदि का व्यंजक न होकर केवल रस का ही व्यंजक होता है, उस कारण रसनेन्द्रिय में जलीयत्व भी स्पष्ट हो जाता है। इस अनुमान में 'गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति' यह पद न दें तो 'मन' में व्यभिचार होगा। क्योंकि मन के बिना किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। अतः 'मन' को भी रस का व्यंजक कहना होगा, परन्तु उसमें (मन में) 'जलीयत्व' रूप साध्य नहीं है, अतः 'रसव्यंजकत्व' हेतु को व्यभिचारी कहना पड़ेगा। उक्त व्यभिचार के निवारणार्थ 'गन्धाद्यव्यंजकत्वे सति' पद दिया गया है। तब 'मन' में गन्धादिकों की अव्यंजकता न होने से व्यभिचार नहीं है। कर्म, सामान्य आदि पदार्थ, गन्ध आदि के तो अव्यञ्जक हैं परन्तु उन पदार्थों में 'जलीयत्व' रूप साध्य नहीं रहता। इस व्यभिचार के निवारणार्थ 'रसव्यंजकत्वात्' पद दिया है। कर्मादिकों में रसव्यञ्जकता न होने से व्यभिचार दूर हुआ। रसनेन्द्रिय का रस के साथ 'स्वसंयुक्तसमवाय' रूप सन्निकर्ष भी गन्ध आदि का अव्यंजक होकर रसमात्र का व्यंजक है, किन्तु इस सन्निकर्ष में 'जलीयत्व' रूप साध्य नहीं है। इस

ज्ञान पैदा कर देने की शक्ति नहीं है, किन्तु केवल रस के ही ज्ञान को उत्पन्न कर देने की शक्ति है, उस कारण उस ( सक्तु में मिले हुए जल की तरह ) जल भाग की रसनेन्द्रिय में पूर्वोक्त शक्ति है। इस हेतु से वह 'इन्द्रिय' जल का भाग है, ऐसी कल्पना की जाती है। रसनेन्द्रिय का आम्रफल आदि के साथ जो सन्निकर्ष ( संयोग ) है, उसमें पूर्वोक्त शक्ति तो है, परन्तु वह जल का भाग नहीं है, इसलिये पूर्वोक्त नियम का व्यभिचार होता है। वह व्यभिचार न होने पाय इसलिये लक्षण में 'द्रव्य' पद दिया गया है। 'वह सन्निकर्ष' द्रव्य नहीं है, अपितु गुण है। अतः पूर्वोक्त व्यभिचार नहीं होने पाता।

इति जलीयेन्द्रियनिरूपणम्।

**विषयं दर्शयति सिन्धुहिमादिरिति—सिन्धुः समुद्रः। हिमं तुषारः। आदिपदात्सरित्कासारकरकादिः सर्वोऽपि ग्राह्यः। न च हिमकरकयोः कठिनत्वात्पार्थिवत्वमिति वाच्यम्, ऊष्मणा विलीनस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। यद् द्रव्यं 'यद्द्रव्यध्वंसजन्यमि'ति व्याप्तेर्जलोपादानोपादेयत्वसिद्धेः, अदृष्टविशेषेण वा द्रवत्वप्रतिरोधात्। करकादीनां काठिन्यं प्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात्॥ ४०॥**

**इति जलग्रन्थः।**

इति जलीयविषयनिरूपणम्।

अब अनित्य जल का विषयसंज्ञक तीसरा भाग दिखाते हैं। समुद्र, हिम (बर्फ), करक (ओला), सरोवर, कूप तथा नदी आदि सब जल का विषयरूपी भाग है।

शंका—हिम ( तुषार ) तथा करक ये कठिन द्रव्य हैं, अतः इन्हें पृथ्वी का भाग क्यों न कहा जाय ?

समा०—सूर्य-किरणों की उष्णता से हिम और करक पिघलकर जलरूप हो जाते हैं, यह सभी के दृष्टिगोचर है। अर्थात् हिम-करक का स्वरूप नष्ट हो जाने पर 'हिम करके जलम्' हिम और करका जलरूप है—इस प्रकार की चक्षुःप्रत्यक्षप्रमाणजन्य जो प्रमा, तद्विषयतावच्छेदकता जलत्व में होने से हिम-करक को पृथ्वी का भाग ( पार्थिव ) नहीं कह सकते, अपितु 'हिम करके जलमेव' उन्हें ( हिम-करक को) जल का ही भाग ( जलीय ही ) कहना होगा। क्योंकि वह व्याप्ति ( नियम ) है कि 'जो द्रव्य, जिस द्रव्य के ध्वंस से जन्य होता है, वह द्रव्य, उस द्रव्य के उपादान से उपादेय होता है' अर्थात् 'यज्जलरूपं द्रव्यं यतो हिमकरकादिद्रव्यस्य ध्वंसात् जन्यं भवति, तज्जलरूपं द्रव्यं, हिम-कारकादि-द्रव्यस्य उपादानरूपेणैव उपादेयं भवति'। इस व्याप्ति के बल पर हिम-करका भी जल के उपादान कारणभूत जलीय परमाणु के ही कार्य हैं। अतः उनमें जलीयत्व[1] प्रत्यक्ष सिद्ध है।

व्यभिचार के निवारणार्थ 'द्रव्यत्वे सति' यह पद दिया गया है। सन्निकर्ष तो गुण है, द्रव्य नहीं, अतः दोष नहीं है।

१. जलीयविषय का लक्षण—'शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमद्विषयः जलीयविषयः।



शंका—हिम-करक यदि जल के भाग हैं तो उनके सांसिद्धिकद्रवत्व का अनुभव क्यों नहीं होता ?

समा०—जिस किसी प्राणी के उपभोगार्थ हिम-करका उत्पन्न हुई, उस प्राणी के अदृष्ट-विशेष से उसका ( हिम-करका का ) अपना सांसिद्धिक ( स्वाभाविक ) द्रवत्व ( द्रवता ) भी अवरुद्ध हो जाता है, अतः उसका ( स्वभाविक द्रवता का ) प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। मणिमंत्रादि-न्याय से सांसिद्धिक द्रवता को अवरुद्ध करने में अदृष्ट को भी स्वतन्त्र कारण समझना चाहिये।

शंका—हिम-करका यदि पार्थिव नहीं है तो उनमें कठिनता क्यों है ?

समा०—ऊपर कहा गया है कि अदृष्ट के कारण उसकी द्रवता दब जाती है, अतः उसमें कठिनता की प्रतीति होती है। अर्थात् 'हिम-करका' कठोर ( कठिन ) है—इस प्रकार से कठिनत्वाख्यसंयोगप्रकारक प्रत्यय जो होता है, उसकी उपपत्ति तो पार्थिवद्व्यणुकादि का सम्बन्ध रहने के कारण 'स्वसमवायिसंयुक्तत्व' सम्बन्ध से हो जाती है। 'समवायेन' कठिनत्व के न रहने पर भी उनमें ( हिमकारका में ) 'समवायेन हिमं करकादि कठिनम्'—हिम-करका में 'कठिनता' समवाय-सम्बन्ध से रहती है, यह समझना अर्थात् कठिनत्वप्रकारक प्रतीति का उनमें होना केवल भ्रम है। वास्तविक कठिनता उनमें नहीं है। वास्तविक द्रवत्व ही उनमें है। हिम आदि में पार्थिव भाग बहुत अल्प और जलतत्त्व का भाग अधिक है। अतः हिम-करकादि पार्थिव न होकर जलीय ही हैं॥ ४०॥

॥ इति जलीयविषयनिरूपणम्॥ इति जलग्रन्थः॥

इति जलनिरूपणम्।

शंका—अग्नि आदि तेज के संयोग से जो 'द्रवत्व' होता है, वह नैमित्तिक द्रवत्व है। जैसे—घृत, जतु ( लाख ) आदि में। उसी तरह हिम-करक आदि की द्रवता भी सूर्यरश्मिरूप निमित्त से हुआ करती है। अतः हिम-करका आदि को पृथ्वीरूप ही क्यों न माना जाय ?

समा०—हिम-करकादिरूप जल में यद्यपि प्रसिद्ध जल की तरह सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवत्व नहीं दिखलाई पड़ता, क्योंकि वह, जीवों के पुण्य-पापरूप अदृष्ट विशेष से अवरुद्ध ( दबा-सा ) रहता है। तथापि हिम-करका आदि में घृत-जतु के तुल्य नैमित्तिक द्रवत्व नहीं है, किन्तु सांसिद्धिक द्रवत्व ही है। इनमें कठिनता की प्रतीति भ्रान्तिरूप है, प्रमारूप नहीं। 'भ्रान्तित्वं नामान्यथाभावेन वस्त्ववगाहनत्वम्'। कुछ लोगों का कहना है कि जल के साथ विलक्षण दिव्य तेज के संयोग से ही हिम-करकादिकों की उत्पत्ति होती है। दिव्य तेज के प्रवेश के अनन्तर उन जलों का सांसिद्धिक द्रवत्व नष्ट हो जाता है, पुनः सूर्यादितेज की उष्णता के संयोग से उस दिव्य तेज का संयोग निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर उन जलों में सांसिद्धिक द्रवत्व की पुनः उत्पत्ति होती है।

**उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम् ।**
**नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत् ॥४१॥**

तेज का स्पर्श उष्ण होता है, उसका रूप भास्वर शुक्ल होता है, और द्रवत्व नैमित्तक होता है। ये सभी उसमें ( तेज में ) समवाय से रहते हैं। तेज का नित्यत्व अनित्यत्व आदि अवान्तरभाग पूर्व की तरह ( जल की तरह ) समझना चाहिये।

तेजो निरूपयति। उष्णस्पर्श इत्यादिना। उष्णत्वं स्पर्शनिष्ठो जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः इत्थं च जन्योष्णस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदकं तेजस्त्वं जातिविशेषः। तस्य परमाणुवृत्तित्वं तु जलत्वस्येवानुसन्धेयम्।

न चोष्णस्पर्शवत्वं चन्द्रकिरणादावव्याप्तमिति वाच्यं, तत्राप्युष्णत्वस्य सत्त्वात्। किन्तु तदन्तःपातिजलस्पर्शेनाभिभवादग्रहः। एवं रत्नकिरणादौ पार्थिवस्पर्शेनाभिभवाच्चक्षुरादौ चानुद्भूतत्वादग्रहः।

अब यथावसर तेज का निरूपण करते हैं—'उष्णः स्पर्शः' इत्यादिग्रन्थ से। अर्थात्—'तेजोनिष्ठविषयतानिरूपकं लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादिप्रकारकं यज् ज्ञानं तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकारः' यह 'तेजो निरूपयति' का शब्दबोध होगा। जिसका स्पर्श उष्ण है, उसी का नाम तेज है। उष्णस्पर्श, तेज में ही रहता है, अर्थात् 'समवायेन उष्णस्पर्शवत्त्वं' यह तेज का लक्षण[1] समझना चाहिये। स्पर्श

१. तेज का लक्षण—'उष्णस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत् तेजः'। उष्णस्पर्श समवाय-सम्बन्ध से अग्नि, सूर्य आदि के तेज में है। तथा 'तेजस्त्व' जाति भी समवाय-सम्बन्ध से तेज में ही है। गुण तथा कर्म में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'जाति' में 'द्रव्यत्वव्याप्य' यह विशेषण जोड़ दिया है। आत्मत्वजाति तथा मनस्त्वजाति भी द्रव्यत्वजाति की व्याप्यजाति है। इसलिये 'जाति' में दूसरा विशेषण 'स्पर्शसमानाधिकरण' भी दिया गया है। उसके देने से अतिव्याप्ति नहीं हो पाती, क्योंकि 'आत्मत्व तथा मनस्त्व जाति' स्पर्श की समानाधिकरण नहीं है। पुनरपि यदि 'स्पर्श' में 'उष्ण' विशेषण न दें तो पृथिवी आदि में अतिव्याप्ति होगी। किन्तु 'उष्ण' विशेषण के देने से अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। अपि च—द्रव्यत्वजाति तथा सत्ताजाति, द्रव्यत्वजाति की व्याप्य नहीं है, इस कारण इन दोनों जातियों को लेकर तेज के लक्षण की पृथिवी आदि में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। यद्यपि अग्नि, सूर्य आदि में 'इदं तेजः, इदं तेजः'—यह तेज यह तेज, इस प्रकार से तेजस्त्वजाति का प्रत्यक्ष होता रहता है, तथापि परमाणुरूप, अथवा चक्षुरिन्द्रियरूप अतीन्द्रिय तेज में तथा समस्त तेजों में अनुमान से ही तेजस्त्वजाति की सिद्धि की जाती है। यथा—'तेजोनिष्ठा या उष्णस्पर्शसमवायिकारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात् तन्तुनिष्ठकारणतावत्'। तन्तुओं में स्थित पट की समवायिकारणता तन्तुत्व धर्म से अवच्छिन्न होती है, उसी तरह तेज में स्थित उष्णस्पर्श की समवायिकारणता तेजस्त्व धर्म से अवच्छिन्न है। अतः तेजस्त्वजाति है, यह मानना होगा।



में रहनेवाली 'उष्णत्वजाति' ( उष्णत्व ) त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। अर्थात् त्वाचप्रत्यक्षवेद्य है, क्योंकि 'येनेन्दियेण यद् गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च गृह्यते'—इस न्याय से जब कि त्वगिन्द्रिय से उष्णस्पर्श का ज्ञान होता है, तो उसी इन्द्रिय से तन्निष्ठ उष्णत्वजाति का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से उष्णत्वजाति की सिद्धि होने पर 'कालिक और समवाय, एतदुभयसम्बन्ध से उष्णत्वजाति-विशिष्ट जो अनित्य ( जन्य ) उष्णस्पर्श, उसका समवायिकारण जो अनित्य तेज, तदवच्छेदक के रूप में, जन्य 'तेजस्त्व' जाति की सिद्धि हो जाती है। तथा च अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'समवायसम्बन्धावच्छिन्न-जन्योष्णस्पर्शत्वावच्छिन्न-जन्योष्णस्पर्शनिष्ठकार्यतानिरूपित-तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नजन्यतेजोनिष्ठा या कारणता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्'—इस रीति से जन्यतेजस्त्व की सिद्धि करने के पश्चात् नित्यतेजोवृत्ति 'तेजस्त्व' की सिद्धि की जाती है। उसकी ( परमाणुवृत्ति तेजस्त्व की ) सिद्धि की रीति परमाणुवृत्ति जलत्व के तुल्य ही समझनी चाहिये। तथाहि—तेज के परमाणुओं में जन्य उष्णस्पर्श नहीं है, इस कारण जन्यस्पर्शनिष्ठ-जन्यता-निरूपित-जनकता की अवच्छेदक, परमाणुसाधारण तेजस्त्वजाति की सिद्धि नहीं हो सकती, किन्तु जन्यस्पर्शनिष्ठ-जन्यतानिरूपित जनकतावच्छेदकत्वरूप से जन्य तेजस्त्व जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये, पश्चात् जन्यतेजस्त्वावच्छिन्न-जन्यता-निरूपित-जनकतावच्छेदकत्वरूप से शुद्धतेजस्त्वजाति की सिद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि अनित्य उष्णस्पर्श के प्रति अनित्य तेज द्वयणुक आदि कारण हैं—ऐसा कार्य-कारणभाव पहले समझना और उसी कारणता के सम्बन्ध से अनित्य तेजस्त्व जाति की सिद्धि हो जाने के पश्चात् अनित्य तेज के प्रति ( नित्य तथा अनित्य ) कारण हैं—ऐसा कार्य-कारणभाव समझना चाहिये। उस कारणता का अवच्छेदक ( भेदक ) जो धर्म है, वही 'तेजस्त्व' जाति है, यह सिद्ध होता है।[1]

शंका—'समवायेन उष्णस्पर्शवत्त्वं तेजसो लक्षणम्'—उष्णस्पर्श जिसमें हो वह तेज है—यह तेज का लक्षण पहले कह चुके हैं। चन्द्र-किरण तथा रत्नकिरण;

१. जलत्व जाति की सिद्धि की तरह यहाँ भी प्रथमतः जन्य उष्णस्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप से द्वयणुकादि जन्य तेजोवृत्ति तेजस्त्व जाति की सिद्धि कर लेनी चाहिये, तदनन्तर जन्य तेजस्त्वजाति से अवच्छिन्न जन्य तेज की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप से नित्य तथा अनित्य सभी तेज में 'तेजस्त्व-जाति' की सिद्धि करनी चाहिये। यद्यपि सूर्यलोकस्थ तैजसशरीरादि अन्त्यावयवी तेज से तथा चक्षुरिन्द्रियरूप तेज से किसी भी जन्य तेज की उत्पत्ति नहीं होती, तथापि उसमें स्वरूपयोग्यतारूप-कारणता विद्यमान रहती है। अतः सभी तेजों में 'तेजस्त्वजाति' की सिद्धि हो जाती है।

ये भी तेज हैं, किन्तु उनमें उष्णस्पर्श नहीं है। इस कारण उनमें तेज का लक्षण घटित न हो पाने से अव्याप्ति हो रही है।

समा०—चन्द्रकिरण में उष्णस्पर्शवत्व (उष्णस्पर्श) है, परन्तु चन्द्र के अन्तर्गत (भीतर) रहनेवाले जल के स्पर्श से वह (उष्णस्पर्श) अभिभूत (दबा) रहता है, इसलिये वहाँ उष्णस्पर्श प्रतीत नहीं हो पाता। उसी प्रकार रत्नकिरण आदि में भी पार्थिवस्पर्श से उसका उष्णस्पर्श अभिभूत रहता है, उस कारण वहाँ उष्णस्पर्श की प्रतीति नहीं हो पाती। तथा चक्षु आदि में उष्णस्पर्श के उद्भूत न रहने के कारण (अनुद्भूत रहने से) उसकी प्रतीति नहीं हो पाती।[1]

**रूपमित्यादि। वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभवाच्छुक्लरूपाग्रहः।**

**अथ तद्रूपाग्रहे धर्मिणोऽपि चाक्षुषत्वं न स्यादिति चेत्? न, अन्यदीयरूपेणापि (रूपेणैव) धर्मिणो ग्रहसम्भवात्, शङ्खस्येव पित्तपीतिम्ना। वह्नेस्तु शुक्लरूपं नाभिभूतं, किन्तु तदीयं शुक्लत्वमभिभूतमित्यन्ये।**

**नैमित्तिकमिति। सुवर्णादिरूपे तेजसि तत्सत्त्वात्। न च नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्वं दहनादावव्याप्तं घृतादावतिव्याप्तं चेति वाच्यम्। पृथिव्यवृत्तिनैमित्तकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्वस्यविवक्षितत्वात्।**

इति तेजोनिरूपणे तेजोलक्षणकथनम्।

**पूर्ववदिति। जलस्येवेत्यर्थः। तथाहि, तद्—द्विविधं नित्यमनित्यं च, नित्यं परमाणुरूपम्। तदन्यदनित्यम्, अवयवि च। तच्च त्रिधाशरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमयोनिजमेव, तच्च सूर्यलोकादौ प्रसिद्धम् ॥ ४१ ॥**

इति तैजसशरीरनिरूपणम्।

शंका—'भास्वर-शुक्लरूप' यह तेज का गुण है, अतः 'भास्वरशुक्लरूपवत्व' तेज का लक्षण है। क्योंकि 'असाधारणधर्मो लक्षणम्'—यह 'लक्षण' का लक्षण बताया गया है। अग्नि (वैश्वानर) तथा रत्न (मरकतमणि) आदि भी तेज हैं, किन्तु इनमें 'शुक्लरूप' नहीं रहता, इसलिये लक्षण अव्याप्त हो रहा है।

---

१. शंका—जल, वायु तथा पृथ्वी में कभी-कभी उष्णस्पर्श प्रतीत होता हैं। अतः तेज के लक्षण (उष्णस्पर्शवत्व) की उक्त तीनों में अतिव्याप्ति हो रही है। तथा चन्द्र, रत्न, सुवर्ण ओर चक्षुरिन्द्रिय ये सब तैजस कहे जाते हैं परन्तु, इनमें उष्णस्पर्श प्रतीत नहीं होता, अतः इनमें अव्याप्ति हो रही है।

समा०—तेज का उष्णस्पर्श ही 'स्वसमवायिसंयोग' सम्बन्ध से जल आदि में प्रतीत होता है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है। और चन्द्र आदि तैजस पदार्थों में उष्णस्पर्श है, परन्तु तदन्तर्वर्ति जल के मिश्रित शीतस्पर्श से वह अभिभूत हो गया है। तथा रत्न और सुवर्णरूप तेज में भी पार्थिवभाग के मिश्रित होने से उष्णस्पर्श प्रतीत नहीं हो पाता। चक्षुरिन्द्रिय में उष्णस्पर्श अनुद्भूत है, अतः उसकी प्रतीति नहीं होती, इस कारण अव्याप्ति दोष भी नहीं है।



समा०—वैश्वानर अग्नि तथा मरकतमणि (रत्न) के किरण में भास्वर शुक्लरूप तो है, किन्तु उसकी उपलब्धि इस कारण नहीं हो पाती कि उनका (अग्नि-मरकतकिरण का) पृथ्वी के भाग (पार्थिवभाग) से सम्बन्ध रहता है। अतः अग्नि में पृथ्वी के भाग का पीलापन तथा मरकतकिरण में हरापन दिखलाई पड़ता है। क्योंकि उनका (अग्नि-मरकतकिरण का) अपना निजी शुक्लरूप, पार्थिव भाग से अभिभूत (दबा) रहता है। अर्थात् अग्नि का शुक्लरूप, पृथ्वी के पीले रूप से ढका रहता है और मरकतकिरण का शुक्लरूप भी पृथ्वी के हरे रूप से ढका रहता है। इस कारण उनके शुक्लरूप की उपलब्धि नहीं होती।

शंका—अग्नि-मरकतमणि आदि का निजी रूप यदि चक्षुरिन्द्रिय से उपलब्ध नहीं होता, तो उस रूप के आश्रयभूत (धर्मी) अग्नि तथा मरकत (रत्न) किरण आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये था, क्योंकि रूपवत् द्रव्य आदि के चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने में द्रव्य का रूप ही, तो कारण रहता है। यहाँ पर उस रूप की तो उपलब्धि ही नहीं है तो उस रूप के आश्रयभूत अग्नि-मरकत-किरण आदि का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं होना चाहिये।

समा०—ऊपर बता चुके हैं कि अग्नि-रत्नकिरण आदि से पृथिवी के भाग का सम्बन्ध रहने से, उस पृथिवी के ही रूपों की अग्नि-रत्नकिरण आदि में प्रतीति होती हैं, इस कारण अग्नि तथा रत्नकिरण आदि का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। जैसे—पित्तरोग (पीलियारोग) होने पर मनुष्य को शङ्ख वस्तुतः श्वेत रहने पर भी पीला दिखाई देता है। अर्थात् पित्तरूपी दोष का जो पीला रङ्ग है, वह शङ्ख में (मानो शङ्ख का ही गुण है) भासता है, इस कारण शंख पीला दिखता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक द्रव्य का रूप, दूसरे द्रव्य के प्रत्यक्ष होने में कारण हो जाया करता है। इस सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का यह भी कहना है कि अग्नि का तथा रत्नकिरण का निजीरूप अर्थात् शुक्लरूप पार्थिवभाग के सम्बन्व से अभिभूत नहीं होता, किन्तु उस शुक्लरूप में स्थित जो 'शुक्लत्व' (श्वेतपना) है, वह पार्थिव भाग से प्रतिरुद्ध (दब) हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अग्नि तथा रत्नकिरण का प्रत्यक्ष; उनके अपने निजीरूप से ही होता हैं।

नैमित्तिक (अस्वाभाविक) अर्थात् अग्नि के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला द्रवत्व, सुवर्णादि तैजस द्रव्यों में रहता है, इसलिये नैमित्तिक द्रवत्ववत्त्व' भी तेज का लक्षण है।

शंका—अग्नि आदि तैजस द्रव्यों में 'नैमित्तिकद्रवत्व' नहीं रहता, अतः अव्याप्ति है। और घृत आदि पार्थिव द्रव्यों में नैमित्तिक द्रवत्व रहता है, अतः अतिव्याप्ति है।

समा०—'नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्व' वह तेज का लक्षण है—इसका तात्पर्य यह है कि 'नैमित्तिकद्रवत्व' जिसमें (सुवर्णादि तेज में) रहता है उसमें रहनेवाली तथा

पृथ्वी में न रहनेवाली जो जाति, तादृशजाति जिसमें हो वही 'तेज' है—यह तेज का परिष्कृत लक्षण है। एवंच उक्त लक्षण-लक्षित 'तेजस्त्व' जाति अग्नि-रत्न-किरण आदि में रहने से लक्षण-समन्वय हो जाता है। और घृत आदि पृथ्वी ( पार्थिवद्रव्य ) तेजस्त्व नहीं रहने से अतिव्याप्ति भी नहीं है।

इति तेजोनिरूपणे तेजोलक्षणकथनम्।

तेज की नित्यता आदि पूर्व की ( जल की ) तरह समझनी चाहिये। तथाहि—तेज, नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। उसमें परमाणुरूप तेज नित्य है और उससे भिन्न जो तेज है ( द्वयणुकादि से महातेज तक ) वह सब अवयवी रूप होने से अनित्य है। अनित्य तेज, शरीर, इंद्रिय, विषय इन तीनों भेदों से तीन प्रकार का है। तैजस-शरीर[1] अयोनिज ही है। वह सूर्यलोक, तारा, ग्रह, नक्षत्र आदि में प्रसिद्ध है ॥ ४१ ॥

इति तैजसशरीरनिरूपणम्।

**इन्द्रियं नयनं, वह्निः स्वर्णादिर्विषयो मतः ।**

नयन ( नेत्र ) तैजस इन्द्रिय है और वह्नि ( अग्नि ) सुवर्ण आदि तेज के विषय हैं।

अत्र यो विशेषस्तमाह—इन्द्रियमिति। ननु चक्षुषस्तैजसत्वे किं मानमिति चेत्? चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्, प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादत्र दृष्टान्तेऽव्याप्तिवारणाय प्रथमं परकीयेति। घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वाद्व्यभिचारवारणाय द्वितीयं परकीयेति। अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसम्भवादाद्यं परकीयेति न देयम्। चक्षुःसन्निकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्।

इति तैजसेन्द्रियनिरूपणम्।

अत्रेति। तैजस इन्द्रिय और विषय में पार्थिव तथा जलीय इन्द्रिय और विषय की अपेक्षा क्या अन्तर है, उसे बताते हैं—इन्द्रियमिति। अनित्य तेज का इन्द्रियसंज्ञक जो भेद है, वह 'चक्षु' है।

शंका—चक्षुरिन्द्रिय के तैजस होने में क्या प्रमाण है?

समा०—चक्षुरिन्द्रिय के तैजस होने में 'अनुमान' प्रमाण है।

---

१. तैजस शरीर का लक्षण—'उष्णस्पर्शवत् शरीरं तैजसशरीरम्'। जो शरीर 'समवायसम्बन्ध' से उष्णस्पर्शवाला हो, उसे तैजस शरीर कहते हैं। वह सूर्यलोक आदि में सूर्यभगवान् आदि का है। यद्यपि उत्पन्न होते ही विनष्ट होनेवाले तैजस-शरीर में तथा उत्पत्ति-क्षणावच्छिन्न तैजस-शरीर में उष्णस्पर्श का अभाव होने से अव्याप्ति दोष की आशङ्का हो सकती है, क्योंकि 'उत्पन्नं सद् द्रव्यं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति' ऐसा नियम है। तथापि जातिघटित लक्षण ( उष्णस्पर्श-समानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत् शरीरं-तैजसशरीरम् ) कर देने से अव्याप्ति नहीं हो सकेगी।



तथाहि—'चक्षुरिन्द्रियं तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यंजकत्वे सति परकीयरूपव्यंजकत्वात् प्रदीपवत्।'—चक्षुरिन्द्रिय तैजस होने योग्य है, क्योंकि परकीय ( दूसरे ) द्रव्य के स्पर्श, रस तथा गन्धादि का व्यंजक न होकर परकीय ( दूसरे ) द्रव्य के रूप का व्यंजक होता है, प्रदीप की तरह। इससे यह नियम स्पष्ट होता है कि 'जो जो द्रव्य, परकीय स्पर्श आदि का व्यंजक न होकर परकीय रूप का व्यंजक होता है, वह द्रव्य, तैजस होता है, यह अनुभवसिद्ध नियम है। उक्त अनुमान में प्रदीप का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे—प्रदीप तेज है। वह परकीय ( घटादि अन्य द्रव्य का ) स्पर्श, रस, गन्ध आदि गुणों का प्रदर्शक नहीं है, केवल परकीय ( उस घट द्रव्य के ) रूप का ही ( रक्तत्व, शुक्लत्व आदि का ही ) प्रदर्शक होता है। उस अनुमानप्रमाण से चक्षुरिन्द्रियरूप द्रव्य, परकीय द्रव्य के स्पर्श आदि का प्रदर्शक न होकर केवल उस परकीय रूप का प्रदर्शक होता है, अतः वह ( चक्षुरिन्द्रिय ) तेजःस्वरूप है—यह सिद्ध होता है। उपर्युक्त अनुमान में 'चक्षु' पक्ष है, तेजस्त्व'—साध्य है, 'परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात्'—यह हेतु है, प्रदीपवत्—यह दृष्टान्त है। निर्दिष्ट हेतु में यदि प्रथम 'परकीय' पद न दें तो दिये गये 'दृष्टान्त' की असिद्धि होगी। क्योंकि 'दृष्टान्त' में साध्य और हेतु दोनों का सत्त्व आवश्यक होता है। दोनों में से एक भी यदि दृष्टान्त में न रहे तो उसे "दृष्टान्तासिद्धि" कहते हैं। उपर्युक्त हेतु में प्रथम 'परकीय' पद न दें तो 'स्पर्शाद्यव्यंजकत्वे परकीयरूप-व्यंजकत्वात्' इतना ही हेतु का आकार रहेगा, तब वह हेतु, 'प्रदीप' दृष्टान्त में उपलब्ध नहीं हो रहा है। क्योंकि 'प्रदीप' स्वयं भी उष्णता ( स्पर्श ) का प्रदर्शक होता है, इस कारण प्रदीपरूप दृष्टान्त में 'स्पर्शाद्यव्यंजकत्व—स्पर्श के अप्रदर्शकत्वरूप हेतु के न रहने से दृष्टान्त में हेतु की असिद्धि ( दोष ) हो जायगी, वह न हो सके, इसलिये प्रथम 'परकीय' पद दिया गया है। उसके देने से 'प्रदीप' स्वतन्त्रता से ( अपने आप स्वयं ) स्पर्श ( उष्णस्पर्श ) का प्रदर्शक होने पर भी, वह परकीय स्पर्श का प्रदर्शक नहीं होता। इस कारण दृष्टान्तासिद्धि दोष का प्रसंग नहीं है। द्वितीय परकीय पद न दें तो 'घट' अपने रूप का व्यंजक होता है। इस कारण 'घट' में व्यभिचार होगा। क्योंकि 'घट' आदि पृथ्वीरूप हैं, वे स्वयं अपने आप स्वतन्त्रता से शुक्ल, रक्त आदि रूप के प्रदर्शक हैं। अतः घट आदि में स्वकीयरूप का प्रदर्शकत्व अर्थात् 'परकीयस्पर्शाद्यव्यंजकत्वविशिष्ट—रूप-व्यंजकत्व' हेतु तो है, किन्तु 'तेजस्त्व' रूपी साध्य नहीं है। इसलिये व्यभिचार दोष हो जाता है, क्योंकि 'जहाँ हेतु तो रहे किन्तु साध्य न रहे' वहाँ व्यभिचार दोष माना जाता है। उस दोष का वारण करने के लिये यह 'परकीय' दूसरा पद दिया गया है। उसके देने से 'घट' आदि परकीय रूप के प्रदर्शक ( व्यंजक ) नहीं होते, अर्थात् 'घट' में 'हेतु' भी नहीं रहा। अब शरीरकृतलाघव की दृष्टि से पक्षान्तर कहते हैं—'अथवा' इति। प्रदीप को दृष्टान्त में न देकर यदि 'प्रभा'

को दृष्टांत में रखा जाय तो प्रथम 'परकीय' पद न देने की आवश्यकता नहीं रहती। तब हेतु का आकार इतना ही रहेगा—'स्पर्शाद्यव्यंजकत्वे सति परकीयरूपव्यंजकत्वात्'। प्रभा, स्वस्पर्श को तथा परकीय स्पर्श को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है, अतः हेतु का विशेषण उचित ही है। एवंच 'विशेषणासिद्धि' के निवारण का क्लेश भी नहीं है। तथापि 'चक्षुःसन्निकर्ष' में व्यभिचार को हटाने के लिये 'हेतु' में 'द्रव्यत्व' विशेषण देना आवश्यक है। यदि 'द्रव्य' पद न दें तो चक्षुरिन्द्रिय[1] का घट के साथ जो संयोगसन्निकर्ष है, उस संयोगसन्निकर्ष में 'तेजस्त्व'

---

१. तैजस इन्द्रिय का लक्षण—'उष्णस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमदिन्द्रियं तैजसेन्द्रियम्। इस तेजस्त्वजातिघटित लक्षण से चक्षुरिन्द्रिय की सिद्धि होती है। यह चक्षुरिन्द्रिय, कृष्णतारा के अग्रभाग में रहता है, तथा रूपादिकों को ग्रहण करता है।

चक्षुरिन्द्रिय में तैजसत्व सिद्ध करने का अनुमान—'चक्षुरिन्द्रिय तैजसं परकीय-स्पर्शाद्यव्यंजकत्वे सति परकीयरूपव्यंजकत्वात्, प्रदीपवत्।' चक्षुरिन्द्रिय तैजस है, क्योंकि परकीय ( घट आदि के ) स्पर्शादि का व्यंजक न होकर परकीय रूप का व्यंजक होने से, 'जो द्रव्य परकीय स्पर्श आदि का व्यंजक न होकर परकीय रूप का व्यंजक होता है वह तैजस होता है।' जैसे—प्रदीप, घटादि द्रव्यों के स्पर्शादिकों का व्यंजक न होकर घटादिकों के रूप का व्यंजक होता है, उसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय भी घटादिकों के स्पर्श आदि का व्यंजक न होकर घटादि के रूप का व्यंजक होता है, अतः चक्षुरिन्द्रिय तैजस है। अब हेतु में 'परकीयस्पर्शाद्यव्यंजकत्वे सति' यह पद यदि न दें तो 'मन' के बिना कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, इस कारण 'मन' में परकीय-रूप-व्यंजकत्व' 'हेतु' तो है, किन्तु उसमें तैजसत्व रूप 'साध्य' नहीं है। अतः व्यभिचार है। उस व्यभिचार को दूर करने के हेतु परकीयस्पर्शाद्यव्यंजकत्वे सति' पद दिया गया है। तब 'मन' में परकीय स्पर्श आदि का व्यंजकत्व ही है, 'अव्यंजकत्व' नहीं है, इस कारण व्यभिचार दोष नहीं है। अब 'हेतु' में 'परकीय-रूपव्यंजकत्व' यह पद न दें, तो 'आकाशादि' भी परकीय स्पर्श आदि के व्यंजक नहीं हैं। इस कारण अतिव्याप्ति हो जायगी। किन्तु 'परकीयरूप-व्यंजकत्व' पद देने से अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है, क्योंकि 'आकाशादि' परकीयरूप के व्यञ्जक नहीं हैं। अब अनुमान में 'प्रदीप' के स्थान में 'प्रभा' को दृष्टांत में रखें तो हेतु में दिये गये 'प्रथम परकीय' पद की आवश्यकता न होगी। क्योंकि प्रभा के स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होता और न ही वह अपने स्पर्श आदि की व्यञ्जिका हैं। उच्छृङ्खल ( बौद्ध ) के मत में चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्य-प्रकाशकारी माना जाता हैं। किन्तु नैयायिक उसे प्राप्य-प्रकाशकारी मानते हैं। जो इन्द्रिय संयोगादि-सम्बन्ध से विषय के देश में जाकर ( प्राप्त होकर ) विषय को प्रकाशित करती है—उसे प्राप्य-प्रकाशकारी कहते हैं। और जो इन्द्रिय, संयोगादिसम्बन्ध से विषय देश को प्राप्त किये बिना ही ( अपने



रूप साध्य नहीं है किन्तु 'हेतु' है, क्योंकि संयोगसन्निकर्ष परकीय घट आदि के स्पर्श आदि का व्यंजक ( प्रदर्शक ) नहीं है और वह 'तेज' न होने पर भी परकीय घट-पटादि के रूप का व्यंजक है, इसलिये व्यभिचार हो रहा है। 'द्रव्य' पद के देने पर 'संयोगसन्निकर्ष' में 'द्रव्यत्व' नहीं है अर्थात् संयोगसन्निकर्ष 'द्रव्यरूप' नहीं है, किन्तु 'गुण' है। अतः नियमभंगरूप व्यभिचार नहीं है।

इति तैजसेन्द्रियनिरूपणम्।

---

स्थान में ही स्थित रह कर ) विषय को प्रकाशित करती है, वह अप्राप्य-प्रकाशकारी है। उच्छृङ्खल का अपना मत है—चक्षुरिन्द्रिय ( गोलक ) से अत्यन्त दूर स्थित सूर्य-चन्द्र आदि पदार्थों को भी ग्रहण करती है, इस कारण वह 'अप्राप्य-प्रकाशकारी' है। चक्षुरिन्द्रिय यदि प्राप्य-प्रकाशकारी होती, तो 'रस-नेन्द्रिय' के समान अधिष्ठान-सम्बद्ध वस्तु का ही ग्रहण करती, किन्तु ऐसी बात तो है नहीं, वह तो ( गोलक से ) असम्बद्ध अत्यन्त दूर स्थित सूर्य-चन्द्र पदार्थों को ग्रहण करती है। इस कारण वह अप्राप्य प्रकाशकारी है। किञ्च चक्षुरिन्द्रिय अपने तुल्य परिमाणवाली वस्तुओं को ग्रहण करती है, उसी तरह वह महान् पर्वत आदि को भी ग्रहण करती है, इस कारण भी वह ( चक्षुरिन्द्रिय ) अप्राप्य-प्रकाशकारी है। किञ्च यदि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्य-प्रकाशकारी होती तो वह वृक्ष-शाखा को या चन्द्रमा को प्राप्त कर उन्हें ( चन्द्रमा को या शाखा को ) ग्रहण करती, अर्थात् एक काल में दोनों को ग्रहण नहीं करती परन्तु नेत्रों को खोलते ही शाखा तथा चन्द्र को एक ही काल में देखता है। अतः चक्षुरिन्द्रिय, अप्राप्य प्रकाशकारी है।

नैयायिक—निर्दिष्ट उच्छृङ्खल मत असंगत है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय वस्तु देश में जाकर ही वस्तु को प्रकाशित करती है। पार्थिवगोलक से भिन्न ही तैजस चक्षु है। प्रदीप की प्रभा अपने अधिष्ठानरूप प्रदीप के सम्बन्ध के साथ ही घटादि पदार्थों के पास पहुँचकर उसे प्रकाशित करती है, उसी प्रकार तैजस चक्षु भी अपने गोलकरूप अधिष्ठान के सम्बन्ध के साथ ही छोटे-बड़े पदार्थों तक पहुँचकर उन्हें ग्रहण करती हैं। किंवा प्राप्य प्रकाशकारी प्रदीप-प्रभा जैसे अपने से अधिक परिमाणवाले पर्वतादिकों को भी प्रकाशित करती है, उसी प्रकार गोलक से निकला हुआ, महत्त्व—परिमाणवाला तैजस चक्षु भी अपने से अधिक परिमाणवाले पर्वतादिकों को ग्रहण करती है। किञ्च—शाखा तथा चन्द्रमा का एक काल में ग्रहण नहीं होता, किन्तु प्रथम क्षण में शाखा को प्राप्त होकर शाखा का ग्रहण होता है और द्वितीय क्षण में चन्द्रमा को प्राप्त होकर चन्द्रमा का ग्रहण किया जाता है। किन्तु वह क्षणरूपकाल अत्यन्त सूक्ष्म है; इस कारण लोगों को यह भ्रम होता है कि हम एक ही काल में शाखा तथा चन्द्रमा को देख रहे हैं। चक्षुरिन्द्रियरूप तेज में सुई ( सूची ) से छिदे हुए कमल के पत्रों के तुल्य इतनी अधिक तीव्र वेगशीलता रहती है जिससे

¹विषयं दर्शयति--वह्निरिति। ननु सुवर्णस्य तैजसत्वे किं मानमिति

यह भ्रम होता है। परन्तु ग्रहण तो यथाक्रम ही होता है। अतः चक्षुरिन्द्रिय के प्राप्य-प्रकाशकारिता में कोई सन्देह नहीं हैं।

किन्तु शालिकाचार्य कहते हैं—चक्षुरिन्द्रिय तथा सूर्य की प्रभा ( बाह्य आलोक ) ये दोनों मिलकर 'नवीन चक्षुरिन्द्रिय' के आरम्भक होते हैं। इस कारण चक्षुरिन्द्रिय का एक ही काल में शाखा तथा चन्द्रादि पदार्थों के साथ सम्बन्ध होकर ग्रहण करना असम्भव नहीं है। किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि चक्षु तथा बाह्य आलोक ( प्रभा ) से निर्मित ( रचित ) वह चक्षुरिन्द्रिय जैसे अग्रभाग में होती है, वैसे ही पृष्ठभाग में भी अवश्य होगी। इस कारण पृष्ठभागस्थ पदार्थों का भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना चाहिये, परन्तु होता नहीं है। अतः शालिकाचार्य का मत असंगत है।

१. विषय का लक्षण—'उष्णस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमद्विषयः तैजसो विषयः।' यह तैजस विषय—( १ ) भौम, ( २ ) दिव्य, ( ३ ) औदर्य, ( ४ ) आकारज, इन भेदों से चार प्रकार का है। 'पार्थिव-निमित्तकं तेजः'—**भौमम्।** काष्ठादि पार्थिवपदार्थ जिसका इंन्धन है, वह **भौम**, अर्थात् भूमिगत तेज है, तथा खद्योत ( पटबीजना ) गत तेज भी 'भौम' है।

'अबिन्धनं तेजः'—**दिव्यम्।** जलमात्र है इन्धन जिसका वह दिव्य तेज है। जैसे—बिजली, आदि।

'अन्न-जलोभयेन्धनं तेजः'—**औदर्यम्।**' अन्न तथा जल ये दोनों हैं इन्धन जिसके ऐसा जो तेज है, वह औदर्य है। जैसे—उदरस्थ जठराग्नि। 'अनुभयेन्धनं तेजः'—**आकारजम्।** पृथ्वी, जल, ये दोनों इन्धन जिसके नहीं हैं, वह 'आकारज' तेज है। जैसे—खान से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण, रजत, ताम्र, मणि आदि।

शंका—सुवर्णादि द्रव्य तो इस अनुमान से पार्थिव सिद्ध होते हैं। जैसे—'सुवर्णं पार्थिवं पीतत्वाद्गुरुत्वाद्वा हरिद्रावत्—सुवर्ण पार्थिव है, पीत तथा गुरु होने से, पार्थिव हरिद्रा के समान।

समा०—इस अनुमान से सुवर्ण में 'तैजसत्व' सिद्ध करते हैं। 'सुवर्णं तैजसं असति प्रतिबन्धके अत्यन्ताग्निसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वाधिकरणत्वात्, यन्नैवम्, तन्नैवम् यथा घृतादिकम्।' सुवर्णतैजस द्रव्य होने योग्य है, प्रतिबन्धक ( रोकनेवाले ) के न होने पर तथा अत्यन्त अग्निसंयोग होने से भी अनुच्छिद्यमान ( अनश्वर ) द्रवत्व का अधिकरण होता है, जो द्रव्य तैजस नहीं होता, वह प्रतिबन्धक के अविद्यमान होने से तथा अग्नि के अत्यधिक संयोग होने से अनुच्छिद्यमान (नष्ट न होने वाले) जन्य द्रवत्व का अधिकरण नहीं होता। जैसे—घृत, जतु ( लाख ) आदि—तैजसद्रव्य नहीं कहलाते। इस कारण जलरूप प्रतिबन्धक के अविद्यमान रहने पर तथा अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर उसका द्रवत्व नष्ट हो जाता है। यहाँ पर 'सुवर्णं तैजसम्'—यह प्रतिज्ञावाक्य है। 'असति



चेत्! न, सुवर्णं तैजसम्, असतिप्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमान-

प्रतिबन्धके' इत्यादि हेतु वाक्य है, 'यन्नैवं तन्नैवं' इत्यादि व्यतिरेकि-दृष्टान्त-वाक्य है। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थात् सुवर्ण, चाँदी आदि में प्रतिबन्धक जलादि के अविद्यमान रहने पर और अत्यन्ताग्निसंयोग होने पर उसके ( सुवर्ण, चाँदी के ) द्रवत्व का उच्छेद ( विनाश ) नहीं होता। अतः सुवर्ण, चाँदी आदि तैजस द्रव्य हैं।

उपर्युक्त हेतु में 'असति प्रतिबन्धके' यह पद न दें तो अत्यन्ताग्निसंयोग के रहने पर जलमध्यस्थ घृत के द्रवत्व का विनाश नहीं होता। अतः घृत में 'तैजसत्व' रूप साध्य का अभाव रहने से व्यभिचार होगा। उसके निवारणार्थ हेतु में 'असति प्रतिबन्धके' यह पद दिया गया है। अब यदि 'अत्यन्ताग्निसंयोगे सति' यह पद न दिया जाय तो जिस घृत में 'अग्निसंयोग' न हुआ हो, अर्थात् स्वल्पतर अग्नि का संयोग हुआ हो वह घृत अत्यन्ताग्निसंयोग के न रहने पर भी तथा जलरूप प्रतिबन्धक के अविद्यमान रहने पर भी अनुच्छिद्यमान द्रवत्व का अधिकरण होता है अर्थात् उसमें 'द्रवत्व' रहता है। किन्तु वह घृत तो 'तैजसत्व' रूप साध्य के अभाव का अधिकरण है, उसमें ( घृत में ) अनुच्छिद्यमान द्रवत्व रूप हेतु के रहने से व्यभिचार हो जायगा क्योंकि साध्याभावाधिकरण में हेतु विद्यमान है। हेतु को साध्याभावाधिकरण में कभी नहीं रहना चाहिये, उसे ( हेतु को ) तो हमेशा साध्य के साथ एक अधिकरण में ही रहना चाहिये। अतः उस व्यभिचार के निवारणार्थ, 'अत्यन्ताग्निसंयोगे सति' पद दिया गया है। अब यदि 'अत्यन्त' पद को हेतु में न रखें तो परमाणु-द्व्यणुकरूप अग्नि के रहने पर या अत्यन्ताग्निसंयोग कुछ क्षणों तक रहने पर भी उस घृत का नाश नहीं होगा। अर्थात् अनुच्छिद्यमान द्रवत्व उसमें रहेगा तब अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणार्थ 'अत्यन्त' ( प्रदीप्त ) पद दिया गया है। उक्त हेतु-वाक्य में यदि जन्यपद न दिया जाय तो जलीय परमाणु में व्यभिचार होगा, क्योंकि वहाँ भी किसी प्रकार के प्रतिबन्धक के न रहते हुए अत्यन्त अग्नि का संयोग होने पर भी नित्य द्रवत्व का अधिकरणत्व ही है। इस व्यभिचार के निवारणार्थ जन्यपद दिया गया है। अतः उक्त हेतु का उन जलपरमाणुओं में व्यभिचार नहीं होने पाता। जैसे—जल में मिलाया हुआ स्याही का चूर्ण ( चूरा ) द्रवीभूत नहीं होता, अपितु जल ही स्वाभाविकरूप से द्रवित ( पिघला ) रहता है, किन्तु द्रवितजल के संयोग से उस में मिलाये गये स्याही के चूरे में द्रवित ( पिघला हुआ ) होने की भ्रान्ति होती है। वैसे ही तैजस सुवर्ण में स्थित जो पीतवर्ण का तथा गुरुत्व का आश्रयभूत पार्थिवभाग है, वह अत्यन्ताग्निसंयोग रहने पर भी ( प्रबल आँच रहने पर भी ) द्रवीभूत नहीं होता, अपितु वह तैजस सुवर्ण ही द्रवीभूत होता है, किन्तु उस द्रवीभूत तैजस सुवर्ण के संयोग से उसमें मिश्रित पार्थिव भाग के द्रवीभूत ( पिघलेपन ) होने की भ्रान्ति होती है। अतः उस पार्थिव भाग

जन्यद्रवत्वात्, यन्नैवं-तन्नैवम्, यथा पृथिवीति । न चाप्रयोजकं, पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजलद्रवत्वस्य चात्यन्ताग्निसंयोगनाश्यत्वात् ।

---

में 'तैजसत्व' रूप साध्य के अभाव की तरह हेत्वभाव भी है। तात्पर्य यह है कि उस पार्थिव भाग में उक्त हेतु का व्यभिचार नहीं होने पाता। अतः सुवर्ण में तैजसत्व सिद्ध हो जाता है।

कतिपय ग्रंथकार सुवर्ण में तैजसत्व इस अनुमान से सिद्ध करते हैं। जैसे—'अत्यन्ताग्निसंयोगी पीतिमगुरुत्वाश्रयः (पार्थिवभागः) विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः अत्यन्ताग्निसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वे सति पृथ्वीत्वात्, जलमध्यस्थ-पीतपटवत् ।' जिस पार्थिव द्रव्य के साथ जो अत्यंत अग्निसंयोग है; वह उस पार्थिव द्रव्य में विजातीयरूप की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक द्रवत्वगुणवाले द्रव्य के संयोग के न रहने पर उसके अपने पूर्वरूप से भिन्न एक विजातीयरूप को अवश्य उत्पन्न करता है। जैसे—तण्डुल आदि पार्थिव द्रव्यों के साथ जो अत्यन्त अग्निसंयोग है, वह जलरूप प्रतिबन्धक के न रहने पर उन तण्डुलादि पार्थिव-द्रव्यों में उसके अपने शुक्लरूपसे भिन्न एक विजातीय कृष्ण, पीतादिरूप की उत्पत्ति अवश्य ही कर देता है। और सुवर्ण में स्थित जो पीतरूप तथा गुरुत्ववाला जो पार्थिव भाग है, उस पार्थिव भाग के साथ अनेक बार अत्यन्त अग्निसंयोग के होने पर भी उसके पूर्वरूप से भिन्न किसी विजातीय नीलादिरूप की उत्पत्ति कभी नहीं होती। इस कारण यह अवश्य मानना होगा कि उस पार्थिव भाग के साथ किसी प्रतिबन्धक द्रवत्वगुणवाले द्रव्य का सम्बन्ध अवश्य है, जो उस पार्थिव भाग में विजातीयरूप की उत्पत्ति नहीं होने देता। वह प्रतिबन्धकद्रव-द्रव्य पृथ्वी या जल में से तो कोई हो नहीं सकता, तब परिशेषात् तेजोद्रव्य को ही विजातीयरूप की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक मानना होगा। अतः वह प्रतिबन्धक तेजोद्रव्य ही सुवर्ण है। किञ्च—"अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णम्" इस श्रुतिप्रमाण से भी सुवर्ण में तैजसत्व सिद्ध होता है। कुछ ग्रन्थों में (१) उद्भूतरूपस्पर्श, (२) अनुद्भूतरूपस्पर्श, (३) उद्भूतस्पर्श-अनुद्भूतरूप, (४) उद्भूतरूप-अनुद्भूतस्पर्श—इन भेदों से यह तेजोद्रव्य चार प्रकार का है। (१) जिस तेज के रूप तथा स्पर्श उद्भूत होते हैं, वह उद्भूतरूपस्पर्श कहलाता है। जैसे—सूर्यकिरण अग्नि आदि। (२) जिस तेज का रूप तथा स्पर्श दोनों अनुद्भूत होते हैं, वह अनुद्भूतरूपस्पर्श कहलाता है। जैसे—चक्षुरिन्द्रियरूप तेज। (३) जिस तेज का स्पर्श तो उद्भूत हो किंतु रूप अनुद्भूत हो, वह उद्भूतस्पर्श अनुद्भूतरूप कहलाता है। जैसे—तप्तजलगत-तेज (४) जिस तेज का रूप तो उद्भूत हो और स्पर्श अनुद्भूत हो, वह उद्भूत रूप-अनुद्भूतस्पर्श कहलाता है। जैसे—प्रदीप आदि का प्रभारूप तेज। सुवर्ण-रूप तेज का उद्भूतरूप-स्पर्शवाले प्रथम तेज के भेद में ही अन्तर्भाव होता है। यदि सुवर्ण को अनुद्भूतरूपवाला माने तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा। यदि सुवर्ण को अनुद्भूत स्पर्शवाला मानें तो उसका त्वाच प्रत्यक्ष नहीं होगा। अतः सुवर्ण का



ननु पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य पार्थिवभागस्यापि तदानीं द्रुतत्वान्नव्यभिचार इति चेत् ? न, जलमध्यस्थमसीक्षोदवत्तस्याद्रुतत्वात् ।

अपरे तु पीतिमाश्रयस्य अत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि पूर्वरूपापरावृत्तिदर्शनात्तत्प्रतिबन्धकं विजातीयद्रवद्रव्यं कल्प्यते। तथा हि—अत्यन्ताग्निसंयोगे पीतिमगुरुत्वाश्रयः विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्य-संयुक्तः अत्यन्ताग्निसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात् जलमध्यस्थपीतपवटत् । तस्य च पृथिवीजलभिन्नस्य तेजस्त्वनियमात् ।

इति तैजसविषयनिरूपणम्

इति तेजोग्रन्थः ।

अब अनित्य तेज के 'विषय' संज्ञक तीसरे विशेष को प्रदर्शित करते हैं। भौम, दिव्य, उदर्य, आकारज भेद से तैजस विषय चार प्रकार का होता है। १ भौमतेज—वह्नि आदि, २ दिव्यतेज—अबिन्धनविद्युतादि, ३ उदर्यतेज-भुक्तवस्तु के परिणाम में हेतुभूत अर्थात् जाठराग्नि, ४ आकारज तेज—सुवर्ण आदि हैं।

शंका—'सुवर्ण' के तैजस होने में क्या प्रमाण है ?

समा०—सुवर्ण को तैजस मानने में अनुमान-प्रमाण है। यथा—सुवर्णम्, तैजसम्, असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा पृथिवीति।' सुवर्ण तेज है, क्योंकि किसी प्रतिबन्धक के न रहने पर (किसी प्रतिबन्धक वस्तु के साथ सुवर्ण का सम्बन्ध न रहने पर) तथा अग्नि का अत्यन्त संयोग रहने पर भी सुवर्ण के द्रवत्व का विनाश नहीं होता है, जो ऐसा नहीं, वह तैजस भी नहीं, जैसे पृथ्वी। अर्थात् जिस वस्तु की द्रवता (पतलापन) प्रदीप्त अग्नि का अत्यन्त संयोग होने पर भी नष्ट नहीं हो पाती, वही वस्तु 'सुवर्ण' द्रव्य है। पृथ्वी और जल का द्रवत्व तीक्ष्ण आग के रहने पर नष्ट हो जाता है, किन्तु सुवर्ण का द्रवत्व ही एकमात्र ऐसा है कि तीक्ष्ण आग के लगने पर भी वह नष्ट नहीं होता। अतः उक्त अनुमान-प्रमाण से 'सुवर्ण' तैजस है, यह सिद्ध हो जाता है।

शंका—यह अनुमान अप्रयोजक (अनुकूलतर्करहित) होने से सुवर्ण को तैजस न मानने पर भी निर्दिष्ट हेतु सुवर्ण में रहता है। अर्थात् उक्त अनुमान में व्यभिचार की आशंका हो सकती है कि 'पक्ष' में 'अनुच्छिद्यमान द्रवत्व' हेतु रहे और 'तेजस्त्व' साध्य न रहे।

---

तेज के प्रथम भेद में ही अन्तर्भाव होता है। सुवर्णरूप तेज में रूप और स्पर्श के उद्भूत रहने पर भी उसके अपने यथार्थ भास्वर शुक्लरूप तथा तप्त स्पर्श का जो ग्रहण नहीं होता उसमें हेतु यह है कि बलवान् विजातीय पार्थिव द्रव्य के रूप से तथा स्पर्श से वह अभिभूत रहता है। अतः तेज के (सुवर्ण) अपने रूप और स्पर्श का ग्रहण नहीं हो पाता।

समा०--यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि अनुकूल तर्क है—जैसे---'असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगे सति अनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वं यदि तैजसत्व-व्यभिचारि स्यात् तदा असति प्रतिबंधके अत्यंतानलसंयोगे सति नाश्यं स्यात्। यतो न तथा नाश्यम्, अतो न व्यभिचारि तत्।'

शंका---स्वर्ण पिघलकर जब तरल पानी जैसा हो जाता है, तब उसमें ( सुवर्ण में ) मिला हुआ पीतिमा का तथा गुरुत्व का आश्रयरूप पृथ्वी का भाग भी सुवर्ण के साथ ही पिघल कर पानी जैसा हो जाता है, वह पिघला हुआ पीला पानी तेज नहीं है, वह पार्थिव है। क्योंकि तेज में पीतिमा ( पीलापन ) नहीं होता और गुरुत्व भी नहीं होता, वह तो पार्थिव है। एवंच साध्याभाव के अधिकरण में हेतु के रहने से व्यभिचार स्पष्ट है। तथाहि--यहाँ पर साध्य 'तैजसत्व' है, उसका अभाव अर्थात् तैजसत्वाभाव, उसका अधिकरण पार्थिवभाग, उसमें 'अत्यन्तानलसंयोगादि हेतु विद्यमान है, अतः व्यभिचार है।

समा०--नेति। जल में स्थित मसीक्षोद ( चूर्णविशेष ) अर्थात् 'काजल' के समान। काजल पिघलनेवाली वस्तु नहीं है, तथापि जल में घोलने से वह भी जल के साथ द्रवित होता हुआ-सा प्रतीत होता है, अर्थात् लिखते समय जल जैसा द्रवित ( पिघलता=बहता है ) होता है, वैसे ही वह काजल भी द्रवित होता ( बहता ) है। 'स्याही बहती है, फैल रही है' आदि शब्द-प्रयोग लोग करते पाये जाते हैं। किन्तु वह स्याही के द्रवित होने का भ्रम ही समझना चाहिये। उसी प्रकार अत्यन्तानलसंयोग से सुवर्ण के द्रवित होने पर उसमें मिले हुए पीतिम तथा गुरुत्व के आश्रयभूत पार्थिव भाग में होने वाला जो द्रवण प्रत्यय है, वह वास्तविक नहीं है, अपितु भ्रम है। अतः व्यभिचार नहीं है।

अब प्रकारान्तर से सुवर्ण का तैजसत्व सिद्ध करने वालों का मत बताते हैं---कुछ विद्वान् कहते हैं कि पार्थिवरूप तो अग्नि के संयोग से परिवर्तित हो जाता है। जैसे--घट का श्यामरूप अग्निसंयोग से नष्ट होकर रक्तवर्ण ( रक्तरूप ) हो जाता है, किन्तु सुवर्ण में विद्यमान पीतिमाश्रय पार्थिव भाग के पूर्वरूप ( पीतरूप ) की परावृत्ति ( परिवर्तन ) अत्यन्त अग्निसंयोग के होने पर भी देखने में नहीं आती। अतः अनुमान करना पड़ता है कि कोई विजातीय द्रव्य ऐसा है, जो पूर्वरूप ( पीतरूप ) की परावृत्ति ( परिवर्तन ) का प्रतिबन्धक अवश्य है। उसी को अनुमान के द्वारा बता रहे हैं---'अत्यन्ताग्निसंयोगी पीतिमगुरुत्वाश्रयः, विजातीय-रूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः, अत्यन्ताग्निसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात्, जलमध्यस्थपीतपटवत्।' अत्यन्त अग्निसंयोगी पीतिमा तथा गुरुत्व का आश्रय पार्थिवभाग, विजातीयरूप के प्रतिबन्धक द्रवद्रव्य से संयुक्त है, क्योंकि अत्यन्त अग्निसंयोग के होने पर भी पूर्वरूप ( पीतरूप ) के विजातीय रूप ( नीलादिरूप ) का अधिकरण न होने से, जल में स्थित पीतपट के समान। अर्थात् पीला तथा जड़ ऐसा जो पृथ्वी का भाग है, उसके समान। अपनी स्थूल दृष्टि से जो जड़ तथा पीला भाग सुवर्ण का माना जाता है, उसमें अत्यन्त अग्निसंयोग के होने पर भी पूर्व के पीलेरूप का नाश तथा अन्य किसी रूप की उत्पत्ति नहीं होती। अतः अनुमान करना पड़ता है कि उस पीले तथा जड़ भाग में पीलेरूप का नाश तथा अन्यरूप की उत्पत्ति होने में प्रतिबन्धक कोई भाग उस द्रवद्रव्य में संयुक्त है, जैसे--पानी में पीला कपड़ा डाल दिया जाय और उस पानी को अत्यन्त अग्निसंयोग यहाँ तक हो कि पानी औट जाय, फिर भी उस कपड़े के पीलेरूप का नाश तथा दूसरे रूप की उत्पत्ति नहीं होती। अतः यह स्वीकार करना होता है कि--कपड़े से संयुक्त जो द्रवद्रव्य जल है, वह उस कपड़े के पीलेरूप के नाश का तथा उसमें अन्य रूप के होने का प्रतिबन्धक है। उसी प्रकार अर्थात् वह कपड़ा जैसे द्रवद्रव्य से ( जल से ) संयुक्त है, वैसे ही सुवर्ण में पीलापन तथा जड़ भाग ( पार्थिवभाग ) भी एक प्रकार के द्रवद्रव्य से संयुक्त है—यह सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जलमध्यस्थ पीतपट का पीलारूप, अग्नि की अत्यधिक आँच के रहने पर भी जैसे परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि वहाँ उस पीलेरूप से विजातीयरूप के पैदा होने में प्रतिबन्धक जैसे जल होता है, वैसे ही सुवर्णमिश्रित पार्थिवभाग का पीलारूप, अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर भी बदलता नहीं। न बदलने में प्रतिबन्धक कोई द्रवद्रव्य वहाँ अवश्य है। उस द्रवद्रव्य को पृथ्वी नहीं कह सकते और न जल ही कह सकते हैं, क्योंकि पृथ्वी या जल का द्रवत्व, अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर नष्ट हो जाता है। अतः उस द्रव्य को पृथ्वी और जल से भिन्न तेज ही कहना चाहिये।



इति तेजोनिरूपणम्।

**अपाकजोऽनुष्णाशीतः स्पर्शस्तु पवने मतः ॥४२॥**
**तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः।**
**पूर्ववन्नित्यताद्युक्तं देहव्यापि त्वगिन्द्रियम् ॥४३॥**

( कठिनपदव्याख्या )-१--अपाकजः--पाकाज्जायते इति पाकजः, न पाकजः इति अपाकजः=पाकाजभिन्नः। २--अनुष्णाशीतः=उष्ण भी नहीं और शीतल भी नहीं। ३--तिर्यग्गमनवान्=वक्रगतिवाला। ४--स्पर्शादिलिङ्गकः यहाँ 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ हेतु है और 'आदि' शब्द से शब्द, धृति, कम्प आदि का ग्रहण किया है। ५--पूर्ववत् = जल के समान। ६--देहव्यापि = शरीर-व्यापक। ७--नित्यतादि=नित्यता तथा अनित्यता।

वायु में स्पर्श गुण है, और वह पाकज नहीं है, तथा वह अति उष्ण और अतिशीतल भी नहीं है--यही नैयायिकों को अभिमत है। वायु की गति वक्र है। स्पर्शादि हेतुओं से वायु का अमुमान होता है। जल के समान वायु की भी नित्यता, अनित्यता समझनी चाहिये। वायु के स्पर्श की ग्राहक त्वगिन्द्रिय है, जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

**वायुं निरूपयति–अपाकज इति। अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यामपि सत्त्वादुक्तमपाकज इति। अपाकजस्पर्शस्य जलादावपि सत्त्वादुक्तमनुष्णाशीत इति। तेन वायवीयो विजातीयः स्पर्शो दर्शितः। तज्जनकतावच्छेदकं वायुत्वमिति भावः॥ ४२॥**

इति वायुनिरूपणे वायुत्वजातौ प्रमाणकथनम्।

वायुं निरूपयति इति। निरूपयति ( नि + रूप ) का अर्थ है––लक्षण-स्वरूप-प्रामाण्यादिप्रकारकज्ञानानुकूलो व्यापारः। तथाच–वायुनिष्ठविषयतानिरूपकं यल्लक्षण-स्वरूप-प्रामाण्यादिप्रकारकं ज्ञानं, तदनुकूल-व्यापारानुकूल-कृतिमान् ग्रन्थकारः। क्योंकि न्याय के सिद्धान्त में प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध माना जाता है। अपाकज अनुष्णाशीत (विलक्षण) स्पर्श, वायु में रहता है। वह (वायु) वक्रगतिमान् है, स्पर्शादि हेतुओं से उसका ( वायु का ) अनुमान किया जाता है। एवंच 'अपाकज–अनुष्णाशीतस्पर्शवान् वायुः'––यह वायु का लक्षण है। उक्त लक्षण में 'अपाकज' पद यदि न दें तो 'अनुष्णाशीतस्पर्श' पृथ्वी में भी है, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणार्थ 'अपाकज' पद का देना आवश्यक है। तब अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'पृथ्वी' का स्पर्श तो 'पाकज' हैं, 'अपाकज' नहीं है। अब यदि 'अनुष्णाशीत' यह विशेषण स्पर्श में न दें तो 'अपाकजस्पर्श' (शीत तथा उष्णस्पर्श) जल और तेज में भी रहता है, अतः लक्षण को अतिव्याप्ति हो जायगी। उसके निवारणार्थ 'अनुष्णाशीत' यह विशेषण 'स्पर्श' में दिया गया है। तब अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'जल' में अनुष्णाशीतस्पर्श नहीं है, अपितु 'शीतस्पर्श' रहता है। और 'तेज' में उष्णस्पर्श रहता है। एवंच 'वायु' का स्पर्श सबसे विलक्षण (विजातीय) है। तात्पर्य यह है कि पृथ्वी, जल का तेजस्पर्शव्यावृत्तजात्यवच्छिन्न स्पर्श है। अर्थात् इस प्रकार की विलक्षण-स्पर्शनिष्ठ-जन्यतानिरूपिताजनकता 'वायु' में है––यह प्रदर्शित किया गया है। ऐसे विलक्षण-स्पर्श की उत्पत्ति के प्रति 'वायु' समवायिकारण है। अर्थात् विजातीय स्पर्श का समवायिकारण 'वायु' है। इस प्रकार दोनों ( स्पर्श-वायु ) का कार्य-कारणभाव समझना चाहिये।

समवायिकारणरूप 'वायु' में समवायिकारणता रही, उसका ( समवायिकारणता का ) अवच्छेदक 'वायुत्व' होगा, यही 'वायुत्व' जाति है॥ ४२॥

**एष वायुः स्पर्शादिलिङ्गकः। वायुर्हि स्पर्शशब्दधृतिकम्पैरनुमीयते विजातीयस्पर्शेन, विलक्षणशब्देन, तृणादीनां धृत्या, शाखादीनां कम्पनेन च वायोरनुमानात्। यथा च वायुर्न प्रत्यक्षस्तथाग्रे वक्ष्यते।**

इस वक्रगतिमान् वायु का स्पर्श आदि हेतुओं से अनुमान किया जाता है, अर्थात् वह अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं। 'आदि' शब्द से शब्द, धृति, कम्प को भी हेतु समझना चाहिये। वायु के ज्ञान में प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों में मतभेद है। नवीन नैयायिक—वायु के स्पर्शन प्रत्यक्ष में स्पर्श को कारण मानते हैं, इसलिये वे वायु का प्रत्यक्ष मानते हैं, परन्तु प्राचीन नैयायिक—बहिरिन्द्रिय से होनेवाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'उद्भूतरूप' को कारण मानते हैं, इसलिये वे वायु को अनुमेय कहते हैं। वायु का स्पर्श, शब्द, धृति, कम्प इन चार हेतुओं से अनुमान किया जाता है। जैसे––प्रथम हेतु-स्पर्श है। एक प्रकार का विजातीय ( विलक्षण ) स्पर्श अपने शरीर से ज्ञात होता है। अतः रूपरहित द्रव्य के स्पर्श का प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रिय से होने के कारण वह स्पर्श जिस रूपरहित द्रव्य के आश्रित है, वही रूपरहित द्रव्य––वायु है। उसी प्रकार द्वितीय हेतु—शब्द है। वायु के बहने पर पेड़ के पत्तों से जो विलक्षण 'मर्मर' शब्द सुनाई पड़ता है, वह शब्द, यदि किसी रूपवाले द्रव्य के अभिघात से होता, तो उस रूपी (रूपवाले) द्रव्य का प्रत्यक्ष होता, किन्तु नहीं हो रहा है। अतः उस अभिघात का कारण कोई रूपरहित द्रव्य ही होगा, वही रूपरहितद्रव्य वायु है। उसी तरह तृतीय हेतु––धृति है। आकाश में तृण, मेघ, रुई, धूलि-कण उड़ते रहते हैं, तो उन्हें धारण करनेवाला जो रूपरहित द्रव्य है, वही वायु है। उसी प्रकार चतुर्थ हेतु—कम्प है। जिस रूपरहित द्रव्य के अभिघात से शाखा, पत्ते, आदि में जो कम्पन होता है, वही रूपरहित द्रव्य वायु है। उसका त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता, यह आगे आत्मनिरूपण के प्रसंग में सविस्तर कहा जायगा।

इति वायुनिरूपणे वायौ प्रमाणकथनम्।



**पूर्ववदिति। वायुर्द्विविधो नित्योऽनित्यश्च, परमाणुरूपो नित्यस्तदन्योऽनित्योऽवयवसमवेतश्च। सोऽपि त्रिविधः, शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। तत्र शरीरमयोनिजं पिशाचादीनाम्। परन्तु जलीयतैजसवायवीयशरीराणां पार्थिवभागोपष्टम्भादुपभोगक्षमत्वं, जलादीनां प्राधान्याज्जलीयत्वादिकमिति।**

इति वायवीयशरीरनिरूपणम्।

जल के भेद आदि के समान ही वायु के भेद आदि भी समझने चाहिये। अर्थात् वायु नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। परमाणुरूप वायु नित्य है और उससे भिन्न द्व्यणुक से लेकर महावायु तक तो वायु है, वह अनित्य ( अवयवीरूप ) है, अर्थात् उससे अवयव भी हैं। यह अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय, तथा विषय भेद से तीन प्रकार का है। इन तीन प्रकार के वायुओं में से 'शरीर' संज्ञक जो वायु है, वह अयोनिज है। अर्थात् 'वायवीय शरीर' अयोनिज ही होता है, वह पिशाच, भूत आदिकों का मरुत्लोक ( भुवर्लोक ) में हुआ करता है।

शंका –इन जलीयशरीर, तैजसशरीर तथा वायवीयशरीरों से यह जीव कैसे उपभोग ले सकेगा? क्योंकि जल, तेज, वायु आदि में कर-चरणादि अवयव नहीं हुआ करते। और शरीर तो उसी को कहा जाता है, जो उपभोग ( सुख-दुःखादि के अनुभव ) का साधन हो––यह 'शरीरलक्षण' वायवीय पिशाचादि के

शरीर में घटित नहीं हो पा रहा है। क्योंकि वायुरूप पिशाचादिकों के मुख, तालु आदि न होने से वे बोल नहीं सकते तथा हाथ, पैर आदि न होने से आहरण ( ग्रहण ), विहरण ( चलना, फिरना ) क्रिया भी नहीं कर सकते। इस कारण उन वायुरूप पिशाचादिकों के 'शरीर' में 'उपभोग-साधनत्व' रूप शरीर-लक्षण नहीं घट सकता। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के शरीर के होने में कोई प्रमाण नहीं है।

समा०—'परन्तु' इति। जलीय, तैजस, तथा पिशाचादिकों के वायवीय शरीर, पृथ्वी के भाग ( पार्थिवभाग ) से उपष्टब्ध ( संयुक्त ) हैं। पार्थिवभाग का संयोग होने से उन जलीय, तैजस, वायवीय शरीरों में सुख दुःखान्यतर-साक्षात्काररूपभोगावच्छेदकता ( उपभोगक्षमता ) रहती है। अतः उन शरीरों को उपभोग के योग्य अर्थात् उपभोग का साधन माना जाता है। जलीयशरीर, वरुणलोक में, तथा तैजसशरीर, सूर्यलोक में उपभोग करने के योग्य है।

शंका—उन शरीरों में यदि पार्थिवभाग भी सम्मिलित है, तो उन्हे 'पार्थिवशरीर' न कहकर केवल 'जलीय' 'तैजस', और 'वायवीय' शरीर क्यों कहा जाता है?

समा०—उन शरीरों को 'पार्थिवशरीर' इसलिये नहीं कहा जाता कि उनमें 'पार्थिव' ( पृथ्वी का ) भाग की अप्रधानता ( निमित्तकारणता ) रहती है, और स्व-स्व ( अपने अपने ) अंश की प्रधानता ( समवायिकारणता ) रहती है। अर्थात् 'जलीयशरीर' में जल की, 'तैजसशरीर' में तेज की और 'वायवीयशरीर' में वायु की प्रधानता ( समवायिकारणता ) रहने से उन उन शरीरों को जलीय, तैजस, वायवीय शरीर कहा जाता है।

इति वायवीयशरीरनिरूपणम्।

**अत्र यो विशेषस्तमाह—देहव्यापीति। शरीरव्यापकं स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं त्वक्। तच्च वायवीयं, रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत् ॥ ४२–४३ ॥**

इति वायवीयेन्द्रियनिरूपणम्।

अत्रेति। अनित्यवायु का जो 'इन्द्रियसंज्ञक' भेद है, उसकी अधिष्ठानभूत ( आश्रयभूत ) त्वक् है। इसलिये 'त्वचि स्थितम् इन्द्रियं' - त्वगिन्द्रियं कहा गया है। यद्यपि त्वगिन्द्रिय का आधारभूत यह शरीर है तथापि नख, केश, लोम आदि संयोगिद्रव्य होने के कारण उसके आधार नहीं हैं। उसमें 'सर्वशरीरवृत्तित्वादि' रूप जो विशेषता है, उसका निरूपण अब किया जा रहा है—देहव्यापीति। यह त्वगिन्द्रिय, शरीर के समस्त अवयवों पर रहती हुई स्पर्श का ज्ञान कराती है। शरीर के समस्त अवयव इस त्वक् से ढके रहते हैं। एवंच त्वगिन्द्रिय का लक्षण यह होगा—'शरीरत्वव्यापकत्वे सति इन्द्रियत्वं—त्वगिन्द्रियत्वम्। यह 'इन्द्रिय' वायवीय है। इस त्वगिन्द्रिय के वायवीय होने में



अनुमान-प्रमाण उपस्थित किया गया है—'तच्चेति।' यह त्वगिन्द्रिय 'वायु' का कार्य ( वायुकार्य ) होने से उसे वायवीय कहा गया है। उसके वायवीय होने में ग्रंथकार ने मुक्तावली में ही अनुमान का आकार बता दिया है। उस अनुमानप्रयोग में 'तच्च' ( त्वगिन्द्रिय )— यह पक्ष है, 'वायवीयं'—यह साध्य है, 'रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैव अभिव्यंजकत्वात्'—यह 'हेतु' है, और अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यंजक-व्यजनपवनवत्'—यह दृष्टान्त है। जैसे पंखे ( व्यजन ) का वायु ( हवा ) अंग के स्वेद—( पसीना ) रूप जल में रहनेवाले शैत्य का ही ज्ञापक ( अभिव्यंजक ) होता है। अर्थात् पंखे की हवा, उस पसीने की गर्मी के रूप, आदि गुणों का ज्ञापक ( अभिव्यंजक ) नहीं होती, अपितु उस गर्मी के केवल 'शीतस्पर्श' रूपी गुण की ही ज्ञापक होती है। इस दृष्टान्त से यह नियम स्पष्ट होता है कि 'जो द्रव्य, रूपादिगुणों में से केवल 'स्पर्श' का ही ज्ञापक ( अभिव्यंजक ) हो उसे 'वायवीय' ही समझना चाहिये।' एवंच व्यजन-पवन ( पंखे की हवा ) जैसे वायुपरमाणुसमवेत है, वैसे ही त्वगिन्द्रिय भी वायुपरमाणुओं से आरब्ध है। वह त्वगिन्द्रिय, गरमी के रूपादिगुणों का ज्ञापक न होकर उसके ( गरमी के ) स्पर्शमात्र का ही ज्ञापक होता है, इस कारण वह ( त्वगिन्द्रिय ) वायवीय है, यह सिद्ध होता है ॥ ४३ ॥

॥ इति वायवीयेन्द्रियनिरूपणम् ॥

**प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः।**
**आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः ॥४४॥**

शरीर के भीतर संचार करनेवाले प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय—ये दस वायु हैं। और बाहर के साधारण वायु से लेकर महावायु तक जो प्रलयकाल तक रहते हैं—वे सब वायवीय विषय हैं।

**विषयं दर्शयति—प्राणादिरिति। यद्यप्यनित्यो वायुश्चतुर्विधः, तस्य चतुर्थी विधा प्राणादिरित्युक्तमाकरे, तथापि सङ्क्षेपादेव त्रैविध्यमुक्तम्। प्राणस्त्वेक एव हृदादिनानास्थानवशान्मुखनिर्गमनादिनानाक्रियावशाच्च नानासंज्ञां लभत इति ॥**

॥ इति पर्यवसितो वायुः ॥

प्राणवायु से महावायु तक सब वायु, विषय स्वरूप हैं। प्रशस्तपाद–भाष्यकार ने अपने भाष्य में तथा अन्य ग्रन्थों में भी यह कहा है कि अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा प्राण इन भेदों से चार प्रकार का होता है। इस कारिकावली ग्रन्थ में यद्यपि उस अनित्य वायु का चौथा प्रकार प्राणवायु है, यह नहीं कहा, तथापि उस प्राणवायु का अन्तर्भाव विषय में ही कर दिया गया है, क्योंकि यह कारिकावली ग्रन्थ अति संक्षिप्त है, इस कारण इसमें अनित्यवायु के तीन ही प्रकार ( शरीर, इन्द्रिय और विषय ) बताये हैं। वस्तुतः यह

प्राणवायु एक ही प्रकार का है तथापि हृदयादिस्थानों के भेद से और मुख से निर्गमन और पुनः उसमें प्रवेशन आदि क्रिया-भेद से वह पाँच संज्ञाओं को प्राप्त करता है। संज्ञाभेद से संज्ञी का भेद नहीं समझना चाहिये। संज्ञी वायु एक ही है, किन्तु उसकी संज्ञायें पाँच हैं। वे पाँच नाम ( संज्ञायें ) इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। कहा भी है—'हृदि प्राणो गुदे ऽपानः, समानो नाभिमण्डले। उदानः कण्ठदेशे स्याद्, व्यानः सर्वशरीरगः॥' इस प्रकार स्थानभेद बताया गया है। तथा मुखनासिकाभ्यां निष्क्रमण-प्रवेशनात्-प्राणः।' मुख और नासिका के द्वारा निष्क्रमण और प्रवेशन क्रिया के कारण—उसे 'प्राण' कहते हैं। 'मलादीनामधोनयनात्—'अपानः' मल आदि की अधोनयन क्रिया के कारण—उसे 'अपान' कहते हैं। 'भुक्तस्य पाकार्थं जाठराग्नेः समुन्नयनात्—समानः।' भक्षित वस्तु का परिपाक करने के लिये जाठराग्नि की समुन्नयन क्रिया करने के कारण—उसे 'समान' कहते हैं। 'रसादेः ऊर्ध्वनयनात्—उदानः।' रसादि की ऊर्ध्वनयनक्रिया करने के कारण—उसे 'उदान' कहते हैं। नाडीमुखेषु वितननात्—व्यानः।' नाड़ियों के मुखभागों में वायु की वितनन ( फैलने की ) क्रिया के कारण—उसे 'व्यान' कहते हैं। इस प्रकार क्रियाभेद बताया गया है। अनित्यकार्यों की उत्पत्ति और विकास का क्रम संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिये—ईश्वर की चिकीर्षा से 'परमाणुओं' में क्रिया उत्पन्न होती है, तब परमाणुद्वयसंयोग होने पर 'द्व्यणुक' उत्पन्न होता है। द्व्यणुकोत्पत्ति में 'परमाणु' समवायिकारण है, 'परमाणुद्वयसंयोग' असमवायिकारण है, और परमेश्वर, उसका ज्ञान, इच्छा, उसकी कृति, काल, दिक्, प्रागभाव, अदृष्ट ( धर्माधर्म ), प्रतिबन्धकाभाव, ये सब निमित्तकारण हैं। कार्यमात्र के प्रति ये सब साधारणरूप से निमित्तकारण हुआ करते हैं। तब तीन द्व्यणुकों से 'त्र्यणुक' उत्पन्न होता है, यहाँ भी पूर्ववत् द्व्यणुकों को समवायिकारण, उनके संयोग को असमवायिकारण, ईश्वरेच्छादि को निमित्तकारण समझना चाहिये। इसी प्रकार सजातीय त्र्यणुकों में क्रिया, चार त्र्यणुकों से एक चतुरणुक, वे चतुरणुक भी असंख्य उत्पन्न होते हैं। तब पाँच चतुरणुक मिलकर एक स्थूलतर कार्य का आरम्भ होता है, तब स्थूलतर पाँच पंचाणु मिलकर एक स्थूलतम पञ्चाणुक-संज्ञक कार्य का आरम्भ करते हैं। इसी प्रकार पूर्वकार्य की अपेक्षया उत्तरोत्तर स्थूल की उत्पत्ति के क्रम से महती पृथ्वी, महान् जल, महान् तेज, महान् वायु उत्पन्न होता है। इस प्रकार उत्पन्न किये कार्य द्रव्यों की संजिहीर्षा ( संहार करने की इच्छा ) जब ईश्वर को होती है, तब उसकी इच्छा से ही परमाणुओं में क्रिया, क्रिया से परमाणुद्वयविभाग, तब दो परमाणुओं के संयोग का नाश, तब द्व्यणुक का नाश, तब त्र्यणुक का, तब चतुरणुक का नाश, इस प्रकार महती पृथ्वी आदि का विनाश होता है। इसी को अवान्तर प्रलय कहते हैं। क्योंकि 'सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः'—यह अवान्तर प्रलय का लक्षण है।



और 'सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलयः'—यह महाप्रलय का लक्षण है। अनित्य द्रव्य, अनित्यगुण, अनित्यकर्म को भावकार्य कहते हैं। प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि असमवायिकारण के नाश से द्व्यणुक का नाश और समवायिकारण के नाश से त्र्यणुक का नाश होता है। किन्तु नवीन नैयायिक सर्वत्र असमवायिकारण के नाश से ही द्रव्य का नाश मानते हैं। पुनः सृष्टि के होने में 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'–(ऋ० १०।१९०।१-२-३) यह श्रुति प्रमाण है। मीमांसक तो संसार-प्रवाह को अनादि और अनन्त मानते हैं। उनका कहना है कि प्रलय के होने में कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार वायवीय विषय का निरूपण समाप्त हुआ।

॥ इति वायुग्रन्थः ॥

आकाशस्येति। शब्द ही आकाश का विशेषगुण है। 'विशेष एव वैशेषिकः' यहाँ 'विशेष' शब्द से स्वार्थ में 'ठक्' प्रत्यय किया गया है। एवंच 'समवायेन शब्दाधिकरणत्वम्'—आकाशस्य लक्षणम्। समवायसम्बन्ध से शब्द के अधिकरण को आकाश कहते हैं।

आकाशं निरूपयति—आकाशस्येति। आकाशकालदिशामेकैकव्यक्तित्वादा-
काशत्वादिकं न जातिः। किन्तु आकाशत्वं शब्दाश्रयत्वम्। वैशेषिक इति कथनं तु
विशेषगुणान्तरव्यवच्छेदाय। एतेन प्रमाणमपि दर्शितम्। तथाहि, शब्दो विशेष-
गुणः चक्षुर्ग्रहणायोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत्। शब्दो द्रव्यसमवेतो
गुणत्वात् संयोगवत् इत्यनुमानेन शब्दस्य द्रव्यसमवेतत्वे सिद्धे, शब्दो न स्पर्शवद्-
विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सत्यकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात्
सुखवत्। पाकजरूपादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम्। पटरूपादौ व्यभिचारवार-
णायाकारणगुणपूर्वकेति। जलपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति।
शब्दो न दिक्कालमनसां गुणो विशेषगुणत्वात्। नात्मविशेषगुणो बहिरिन्द्रियग्रा-
ह्यत्वाद्रूपवत्। इत्थं च शब्दाधिकरणं नवमं द्रव्यं गगननामकं सिध्यति।

न च वाय्ववयवेषु सूक्ष्मशब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वकः शब्द उत्पद्यतामिति
वाच्यम् ( १ ) अयावद्द्रव्यभावित्वेन वायुविशेषगुणत्वाभावात् ॥४४॥

इत्याकाशे प्रमाणकथनम्।

आकाशं निरूपयति—आकाशनिष्ठविषयतानिरूपकं यल्लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादि-
प्रकारकं ज्ञानं तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकार इति शब्दबोधः। आकाश,
काल, दिक् ये एक-एक व्यक्ति हैं, इस कारण इनमें रहनेवाले आकाशत्व, कालत्व,
दिक्त्व धर्म जातिरूप नहीं हो सकते। क्योंकि 'आकाशत्व' आदि धर्म एकव्यक्तिवृत्ति
होने के कारण 'जाति' शब्द से नहीं कहे जाते, किन्तु उन्हें 'अखण्डोपाधि' कहते हैं।

शका—'आकाशत्व' को जातिरूप न मानने पर उसका स्वरूप क्या होगा ?

समा०—'शब्दाश्रयत्वम् आकाशस्य लक्षणम्।' यहाँ पर 'आश्रयता' को

'समवायसम्बन्ध से कहा गया है। अतः जगदाधारत्वेन रूपेण काल में शब्दाश्रयता रहने पर भी अतिव्याप्ति नहीं है।

शब्दाश्रयत्व ( शब्द का आधार होना ) ही 'आकाशत्व' है, अर्थात् आकाश, शब्द का आश्रय है। कारिकाकार ने "शब्दो वैशेषिको गुणः" कहा है। शब्द में 'वैशेषिक' विशेषण देने का प्रयोजन यह है कि आकाश में शब्द से अतिरिक्त अन्य कोई विशेष गुण नहीं रहता, अर्थात् शब्द ही एक मात्र विशेष गुण रहता है। तथाच–समवायेन शब्दाधिकरणत्वम् अर्थात् 'शब्दगुणकत्वमाकाशत्वम्' इति आकाशलक्षणम्। 'शब्दवत्त्वम् आकाशत्वम्'—यह लक्षण नहीं कहना चाहिये। क्योंकि आकाश में शब्द की सदासर्वदा उपलब्धि नहीं होती। यदि आकाश का 'शब्दवत्त्वं' लक्षण कहें तो उसका अर्थ होगा 'सदासर्वदा शब्द वाला अर्थात् सदैव शब्दवत्त्वं'। क्योंकि 'नित्ययोग' अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय का विधान है। तथाहि—भूमनिन्दाप्रशंसासु 'नित्ययोगेऽतिशायने। संबन्धेऽस्ति विवक्षायाम्भवन्ति मतुबादयः। ऐसा होने से आकाश का 'शब्दवत्त्वम्' लक्षण असम्भवदोष से ग्रस्त हो जायगा। अतः 'समवायेन शब्दाधिकरणत्वमाकाशत्वम्' यही लक्षण करना उचित है। आकाश का विशेषगुण शब्द है—यह कहने से 'आकाश' संज्ञक एक निराले द्रव्य के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण के होने की सूचना दी गई है। 'तथाहीति।' अनुमान प्रयोग कर रहे हैं—शब्दो, गुणः, चक्षुर्ग्रहणायोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात्, स्पर्शवत्।'—शब्द विशेषगुण है, स्पर्श की तरह, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ग्रहण के अयोग्य किन्तु बहिरिन्द्रिय ( श्रोत्रेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय आदि ) से ग्रहण करने योग्य शब्दत्वजातिविशिष्ट होने से। इस अनुमान में स्वरूपाऽसिद्धिदोष न आ सके इसलिये अवान्तर अनुमानों को भी प्रदर्शित करना आवश्यक है। उपर्युक्त अनुमान में 'स्पर्शवत्' दृष्टान्त दिया है। स्पर्श में चक्षुरिन्द्रिय की अगोचर तथा बहिरिन्द्रिय त्वगिन्द्रिय की गोचर जाति 'स्पर्शवत्' जाति रहती है, और वह 'स्पर्श' गुण है। इस दृष्टांत से यह सिद्ध होता है कि जो चक्षुरिन्द्रिय की अगोचर तथा बाह्येन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय की गोचर जाति 'शब्दत्व' शब्द में रहने से 'शब्द' गुण है, यह प्रथम अनुमान किया गया है। इस प्रकार शब्द में गुणत्व सिद्ध किया है।

अब शब्द को आकाश का गुण न माननेवाले वैयाकरण तथा मीमांसकों के मत का खण्डन करने के लिये नैयायिक एक दूसरा अनुमान प्रदर्शित कर रहा है—इस अनुमान के द्वारा 'शब्द' में द्रव्याश्रितत्व सिद्ध किया जायगा—'शब्दो द्रव्यसमवेत' इति। अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—'शब्दः द्रव्यसमवेतः गुणत्वात् संयोगवत्'। इसमें 'शब्द' पक्ष है, 'द्रव्यसमवेतत्व' साध्य है, 'गुणत्वात्' हेतु है, 'संयोगवत्' दृष्टान्त है।

अथवा 'रूपवत्' को भी दृष्टांत किया जा सकता है। जैसे 'संयोग' अथवा 'रूप' गण होने के कारण 'समवायसम्बन्ध' से घटादि द्रव्य में समवेत ( सम्बद्ध )



रहता है, वैसे ही शब्द भी 'गुण' होने से द्रव्यसमवेत होता है। इस अनुमान से यह सिद्ध हो जाता है कि जो गुण हो वह किसी द्रव्य में 'समवायसम्बन्ध' से रहता ही है। इस नियम के अनुसार शब्द भी गुण होने के कारण किसी द्रव्य में अवश्य ही समवायसम्बन्ध से रहेगा, यह सिद्ध होता है।

अब 'शब्द' किस द्रव्य में समवेत है? यह भी अनुमान से सिद्ध करेंगे, अर्थात् अनुमान के द्वारा जिस द्रव्य की सिद्धि की जा रही है, उस आकाशद्रव्य के बिना अन्य किसी द्रव्य में 'शब्द' संज्ञक गुण नहीं रहता, यह सिद्ध करेंगे। 'शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति अकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् सुखवत्।' इसमें 'शब्द' पक्ष है, 'स्पर्शवद्विशेषगुणत्वाभाव' साध्य है, 'अग्निसंयोगा ··· ·········प्रत्यक्षत्वात्' हेतु है। इस अनुमान के द्वारा यह बताया है कि जैसे 'सुख' ( आत्मा का एक विशेष गुण ) पाकजन्य ( अग्निसंयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होनेवाला ) नहीं है, और अपने समवायिकारण ( आकाश में ) गुण ( असमवायिकारण ) के योग से भी उत्पन्न नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष ( मानस प्रत्यक्ष ) का विषय है, तथापि वह ( सुख ) स्पर्शवान् किसी द्रव्य का विशेष गुण नहीं है। इस दृष्टांत से यह नियम सिद्ध होता है कि जो 'गुण' पाकजन्य न होकर अपने समवायिकारण में अथवा अपने समवायिकारण के अवयव में 'गुण' ( असमवायिकारण ) के योग से उत्पन्न नहीं होता तथापि प्रत्यक्ष ( इन्द्रिय गोचर ) होनेवाला वह ( गुण ) स्पर्शवद् द्रव्य का विशेषगुण भी नहीं होता। इस नियम के अनुसार यह सिद्ध होता है कि 'शब्द' पाकजन्य नहीं है, तथा अपने समवायिकारण ( आकाश ) में गुण के योग से ( असमवायिकारण के योग से ) उत्पन्न नहीं होता और प्रत्यक्ष ( श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष विषय ) होने के कारण वह ( शब्द ) स्पर्शवाले द्रव्य का विशेषगुण नहीं है।

तात्पर्य यह है कि 'शब्द' स्पर्शवद्द्रव्य ( पृथ्वी, जल, तेज, वायु ) का विशेष गुण नहीं है क्योंकि 'अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सति' यह कहा है। अर्थात् पृथ्वी आदि चार द्रव्यों के जो रूप, रसादि विशेषगुण हैं उनमें से कुछ तो पाकजन्य हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति अग्निसंयोगरूप असमवायिकारण से होती है। इस कारण उन्हें 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणक' कहा जाता है। पृथिवी आदि के रूप-रसादि गुण, पाक ( अग्निसंयोग या तेजःसंयोग ) से उत्पन्न होने के कारण परिवर्तनशील हैं। जैसे 'घट' में अग्निसंयोग होने से उसका पूर्वरूप ( श्यामरूप ) नष्ट होता है, और अन्यरूप ( रक्तरूप ) उत्पन्न होता है, इसलिये घट के रक्तरूप के प्रति 'अग्निसंयोग' असमवायिकारण है। किन्तु यह स्थिति 'शब्दगुण' में नहीं है कि पूर्वशब्द का अग्निसंयोग से नाश होकर शब्दान्तर उत्पन्न होता हो। अतः स्पर्शवाले पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों में से किसी का भी विशेषगुण वह ( शब्द ) नहीं है। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों के 'विशेषगुण' कारणगुणपूर्वक होते हैं, क्योंकि उन्हीं कार्यगुणों को 'कारणगुणपूर्वक' कहते हैं जो कारणगुणों के द्वारा

उत्पन्न होते हैं। जैसे–'पट का रूप', अर्थात् 'पट' का कारण जो 'तन्तु' उसमें जो रूप होगा उसी के अनुरूप 'पट का रूप' होगा। शब्द में ऐसी बात नहीं है क्योंकि 'शब्द' की उत्पत्ति में न तो 'अग्निसंयोग असमवायिकारण है और न उसकी ( शब्द की ) उत्पत्ति कारणगुणपूर्वक' ही है। इसलिये शब्द में 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्वाभावविशिष्ट-अकारणगुणपूर्वकत्वविशिष्ट प्रत्यक्षत्व' हेतु विद्यमान है, क्योंकि शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

'सप्तम्यन्तं विशेषणम्' इस नियम के अनुसार 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्वाभावे सति'–यह 'हेतु' का विशेषण है। इसका विग्रह इस प्रकार करना चाहिये–'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणं यस्य सः –अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकः, तस्य भावः तत्त्वम्', तदभावे सति। उसी तरह 'अकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात्'—कारणगुणपूर्वकम्प्रत्यक्षं यस्य तत्कारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षम्, न कारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षं, तदकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षम्, तस्य भावः, तस्मात् अकारणगुणपूर्वकत्वे सति प्रयक्षत्वात् इत्यर्थः।

तब व्याप्ति का आकार यह होगा—'यत् अग्निसंयोगरूपाऽसमवायिकारणकत्वाऽभावविशिष्टाऽकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षं, तत्र स्पर्शवद्विशेषगुणः।' यदि हम केवल 'विशेष्यभाग' को ही कहें और विशेषणभाग को न कहें तो पाकजरूपादि में हेतु का व्यभिचार ( अतिव्याप्ति ) होगा। क्योंकि पृथ्वीनिष्ठपाकजरूपादिचतुष्टय में 'अकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्व' तो है, किन्तु 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्व' नहीं है। यदि केवल 'विशेषणभाग' को ही रखें तो 'पटरूप' आदि में हेतु का व्यभिचार ( अतिव्याप्ति ) होगा। क्योंकि 'पटरूप' आदि में कारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्व है। क्योंकि 'पृथ्वी' में अपाकजरूप आदि कारणगुणोत्पन्न हुआ करते हैं। 'कारणगुणोत्पन्नत्व' का अर्थ है—'स्वाश्रयसमवायिसमवेतगुणजन्यत्व'। 'स्व' पद से 'पट का रूप' उसका आश्रय 'पट' उसका 'समवायितन्तु' उसमें 'समवेतगुणतन्तुरूप' ही है। उस असमवायिकारणभूत तन्तुरूप से 'पटरूप' पैदा होता है। इसलिये पटादिपृथ्वीनिष्ठ 'अपाकजरूपादि' को 'कारणगुणोत्पन्न' कहते हैं। इसलिये इन अपाकजरूपादि का प्रत्यक्ष 'कारणगुणपूर्वक' बताया गया है। एवंच 'पटरूप' आदि में भी अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्वाभाव' है। पटरूप आदि में 'अग्निसंयोग' को 'असमवायिकारण' नहीं माना जाता। यदि उसे 'पटरूप' के प्रति असमवायिकारण कहा जाय तो उस पट का दाह ही हो जायगा। अतः पटरूप के प्रति 'तन्तुरूप' को ही असमवायिकारण माना जाता है। अतः विशेषण, विशेष्य दोनों दलों की आवश्यकता है।

अभिप्राय यह है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये चार द्रव्य 'स्पर्श' गुणवाले हैं, "चत्वारिस्पर्शवन्ति हि" यह साधर्म्य-वैधर्म्य प्रकरण में कह चुके हैं। 'स्पर्शगुण' वाले द्रव्यों का जो 'विशेषगुण'—जैसे, पृथ्वी का 'गन्ध', जल का 'शीतस्पर्श', तेज का 'उष्णस्पर्श', वायु का 'अनुष्णाशीतस्पर्श'। उक्त चारों द्रव्यों के जिस-जिस



विशेषगुण का प्रत्यक्ष होता है, वह कारणगुणपूर्वक ही हुआ करता है।' 'शब्द' का वैसा प्रत्यक्ष नहीं है, यदि वैसा होता तो गन्धादि के समान ही होता। तब उसे (शब्द को) भी पृथ्वी आदि चार द्रव्यों में से किसी द्रव्य का गुण कहा जाता। किन्तु 'शब्द' तो अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणत्वाभावविशिष्टाऽकारणपूर्वकप्रत्यक्षत्वधर्मवान् है, अतः वह ( शब्द ) स्पर्शगुणवाले द्रव्यों में से किसी का भी विशेष गुण नहीं है, यह समझ में आता है। वह ( शब्द ) तो उक्त चारों द्रव्यों से अतिरिक्त किसी विलक्षण द्रव्य का ही विशेषगुण है। वैशेषिक-सूत्रकार ने भी कहा है—'कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्छब्दः स्पर्शवतामगुणः'–( वै. सू. २।१।२५ )। दण्डे से बजाये जाने पर ( अभिघात करने पर ) भेरी आदि ( कार्य ) में शब्द का प्रादुर्भाव होता है, तथापि तद्भिन्न घट, पटादि अन्य कार्यों में उसका (शब्द का) प्रादुर्भाव न होने से उसे ( शब्द को ) स्पर्शवाले पृथ्वी, जल, तेज, वायुसंज्ञक द्रव्यो में से किसी का भी विशेषगुण नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह भी है कि 'शब्द' अयावद्द्रव्यभावी है, अर्थात् जब तक द्रव्य की स्थिति है, तब तक उसकी ( शब्द की ) स्थिति नहीं रहती। जैसे—पृथ्वी के गन्धादिगुण, जब तक पृथ्वी है तब तक रहते हैं। इसी कारण उन्हें (गन्धादिगुणों को) यावद्द्रव्यभावी कहा जाता है। 'शब्द' में वह बात नहीं है, 'शब्द' तो मन्द, मन्दतर, मन्दतम होता हुआ धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है, किन्तु उसका आश्रयभूत 'आकाशद्रव्य' तो बराबर बना रहता है, वह नष्ट नहीं होता। अतः पृथ्वी आदि द्रव्यगत गन्धादि गुणों के विपरीत धर्मवान् यह ( शब्द ) है, इसलिये पृथ्वी आदि चार द्रव्यों में से किसी का भी उसे ( शब्द को ) विशेष गुण नहीं कहा जा सकता।

उक्त अनुमान में हेतुगत पदों का प्रयोजन बताते हैं–पाकजेति। घट के पाकजरूप में व्यभिचार न हो इसलिये 'अकारणगुणपूर्वकत्वे सति' यह सत्यन्त पद दिया है। अन्यथा 'घट' का जो पाकजरूप है, वह 'कारणगुणपूर्वक' नहीं है, क्योंकि कारण के गुणों के द्वारा जहाँ कार्य में गुण उत्पन्न होते हैं उन्हें ही कारणगुणपूर्वक कहते हैं।

घट कार्य के रक्तरूपादि गुणों की उत्पत्ति में, घट का कारण जो 'कपाल' है, उसके गुण कारण नहीं हैं, बल्कि 'पाक' कारण है। इसलिये पाकजरूपादि में 'अकारणगुणपूर्वकत्व' और 'प्रत्यक्षत्व' दोनों हैं। अतः 'हेतु' तो है, किन्तु 'साध्य' नहीं है। एवंच विलक्षण तेजःसंयोगरूप पाक से जन्य पार्थिवरूपरसादि में 'स्पर्शवद्विशेषगुणत्वाभाव' रूप साध्य के न होने से वे पार्थिवरूपरसादि 'साध्यभावाधिकरण हुए, उस साध्याभावाधिकरण में 'अकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्व' हेतु के विद्यमान होने से व्यभिचार हो गया। उसके निवारणार्थ 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्वाऽभाववत्वे सति' यह सत्यन्त पद दिया गया है। तब पाकजरूपादि में

सत्यन्त पद नहीं है। वे 'अग्निसंयोगासमवायिकारणक' ही हैं। पटरूपादि में व्यभिचार का वारण करने के लिये 'अकारणगुणपूर्वक' कहा गया है। क्योंकि 'पटरूप' में असमवायिकारण 'अग्निसंयोग' नहीं है। उसे असमवायिकारण कहें तो 'पट' ही जल जायगा। अतः 'पटरूप' में असमवायिकारण 'तन्तुरूप' को ही कहा जाता है। एवंच साध्याभावाधिकरण जो 'पटरूप' है, उसमें 'हेतु' के रहने से व्यभिचार होता है। उसके दूर करने के लिये 'अकारणगुणपूर्वक' जोड़ दिया है। उसके जुड़ने से 'पटरूप' तो तन्तुरूपपूर्वक है, अर्थात् तन्त्वात्मक कारण का जो गुण (रूप) तत्पूर्वक ही पट का रूप है, अतः 'पररूप' को 'अकारणगुणपूर्वक नहीं कह सकते। इसलिये व्यभिचार नहीं है।

जलपरमाणुरूप आदि में व्यभिचार निवारणार्थ 'प्रत्यक्ष' पद दिया गया है। क्योंकि जल और तेज के परमाणुरूप में 'अग्निसंयोगाऽसमवायिकारणकत्वाऽभाव-विशिष्टाऽकारणगुणपूर्वकत्व' धर्म रहता है। तब 'हेतु' तो रह गया किन्तु 'साध्य' नहीं रहा अर्थात् 'हेतु का सत्त्व' और 'साध्य' का 'असत्त्व' होने से व्यभिचार हो गया। हेतु में 'प्रत्यक्ष' पद के देने से व्यभिचार दूर हो गया, क्योंकि जल या तेज के परमाणुरूप का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता, अर्थात् जल या तेजःपरमाणुरूप में प्रत्यक्ष-विषयता नहीं है, इसलिये व्यभिचार नहीं है।

शंका—शब्द को पृथिव्यादिचतुष्टय का विशेषगुण यदि नहीं कह सकते तो न कहें, किन्तु दिक्, काल, मनस् ( मन ) का उसे ( शब्द को ) विशेष गुण कहा जाय तो क्या हानि है ?

समा०—'शब्दो न दिक्कालमनसामिति।' एक नियम है कि 'यो लौकिक-संयुक्तसमवायादिसम्बन्धेन इन्द्रियग्राह्यः, अस्ति च तेनैव सम्बन्धेन द्वीन्द्रियग्रहणा-ऽयोग्यत्वधर्मवान् गुणत्वव्याप्यजातिमांश्च स विशेषगुण इत्युच्यते'।

जो लौकिक संयुक्त-समवायादिसम्बन्ध से इन्द्रियग्राह्य होता है, और उसी सम्बन्ध से द्वीन्द्रियग्रहणाऽयोग्यत्वधर्मवान् तथा गुणत्वव्याप्यजातिमान् होता है उसे 'विशेषगुण' कहते हैं। इस नियम के अनुसार शब्द को विशेष गुण सिद्ध करने में अनुमान इस प्रकार होगा—'शब्दः विशेषगुणः लौकिकप्रत्यासत्त्या इन्द्रिय-ग्राह्यत्वे सति लौकिकप्रत्यासत्त्या द्वीन्द्रियग्रहणयोग्यताराहित्ये च सति गुणत्वव्याप्य-जातिमत्त्वात्'। एवंच दिक्, काल, मन में कोई भी विशेषगुण नहीं रहता। दिक्, काल, मन तीनों का विशेषगुण 'शब्द' नहीं है, इसे अनुमान के द्वारा बता रहे हैं—'शब्दः दिक्कालमनोगुणत्वाभाववान् विशेषगुणत्वात् रूपवत्।' 'शब्द' पक्ष है, 'दिक्कालमनोगुणत्वाभाव' साध्य है, 'विशेषगुणत्वात्' हेतु है, 'रूपयत्' दृष्टान्त है। जैसे 'रूप' एक विशेषगुण है, और वह उक्त तीनों द्रव्यों का गुण नहीं है।' उसी तरह 'शब्द' भी एक विशेषगुण है, अतः वह भी उक्त तीनों द्रव्यों का गुण नहीं हो सकता।



शंका—शब्द को दिक्, काल और मन तीनों का विशेषगुण यदि नहीं मान सकते तो मत मानिये, किन्तु उसे आत्मा का विशेष गुण क्यों नहीं मानते ?

समा०—नात्मविशेषगुण इति। 'शब्दः आत्मविशेषगुणत्वाभाववान् बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात् रूपवत्।' 'शब्द' पक्ष है, आत्मविशेषगुणत्वाभाव' साध्य हैं, 'बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात्' हेतु है। 'रूपवत्' दृष्टान्त है। जैसे—रूप बहिरिन्द्रिय-जन्यप्रत्यक्षत्व धर्मवाला होने से 'आत्मा' का गुण नहीं कहलाता, उसी तरह शब्द को भी बहिरिन्द्रिय ( श्रोत्र ) से ग्राह्य ( प्रत्यक्ष ) होने के कारण 'आत्मा' का गुण नहीं कह सकते। आत्मा के जो इच्छा आदि विशेषगुण कहे जाते हैं उनका बहिरिन्द्रिय से कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। इस रीति से परिशेषानुमान के द्वारा शब्द के अधिकरणस्वरूप नवमद्रव्य 'आकाश' की सिद्धि हो जाती है। परिशेष का अर्थ है—'प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्र अप्रसंगात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः।' अतः परिशेषानुमान उसे कहते हैं कि जहाँ प्राप्ति की सम्भावना रहने पर निषेध किया जाय और उससे भिन्न स्थल में अप्राप्ति हो, तब बचे हुए शेष विषय का जो अनुमान किया जाता है, उसे परिशेषानुमान कहते हैं। एवंच अनुमान प्रयोग यह होगा—'शब्दः' पृथिव्याद्यष्ट-द्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात्।' 'शब्द' गुण है यह पहले सिद्ध कर ही चुके हैं, अतः उसे किसी द्रव्य के आश्रित रहना ही होगा। क्योंकि द्रव्य के बिना गुण की स्थिति हो ही नहीं सकती। किन्तु 'रूप' के तुल्य यह 'शब्द' नहीं है, जिससे पृथ्वी आदि द्रव्य के आश्रित हो सके, यह पहिले कह चुके हैं। गुण, कर्म आदि को 'शब्द' का आश्रय कहना तो सम्भव ही नहीं हो सकता। क्योंकि गुण, कर्म, कभी गुण, कर्म के आश्रय नहीं हुआ करते, अपितु गुण, कर्म का आश्रय तो 'द्रव्य' ही होता है। एवंच पृथिव्यादि आठ द्रव्यों के अतिरिक्त बचा हुआ जो द्रव्य हो, वही सम-वायसंबंध से 'शब्द' का आश्रय हो सकता है। वही 'आकाश' संज्ञक नवमद्रव्य है।

शंका—'शब्दः न स्पर्शवद्विशेषगुणः' इस पूर्वोक्त अनुमान में बाध तथा स्वरूपासिद्धि क्यों नहीं हो पाती ? 'शब्द' को हम वायु का गुण कहेंगे। एवंच—वायु के अवयवभूत परमाणु, द्व्यणुकादिकों में जो सूक्ष्म शब्द रहता है, वहीं क्रमशः कार्यरूप त्रसरेणु आदि महावायु में शब्द को उत्पन्न करेगा। तब उस कार्यात्मक शब्द को 'कारणगुण-पूर्वक' कहना ही होगा। अतः हेतु में अकारणगुणपूर्वकत्व न होने से वह ( हेतु ) स्वरूपाऽसिद्धि दोष से दूषित हो जाता है। और वह शब्द, स्पर्शवान् वायु का विशेषगुण होने से 'विशेषगुणत्वाभाव' रूप साध्य का शब्द में 'बाध' भी है।

समा०—अयावदिति। पृथ्वी से उत्पन्न होनेवाले गन्धादिगुण यावद् द्रव्यभावी[1]

१. यावद्द्रव्यभावित्वं नाम यावद्द्रव्यस्थितिकालस्थितिकत्वम्। द्रव्यस्थिति-कालपर्यन्तं यस्य स्थितिः, असौ यावद्द्रव्यभावी। यथा पृथिव्या गन्धादिगुणा उत्पद्यमाना यावत् कार्यस्थायिनो यावद्द्रव्यभाविन इत्युच्यन्ते। शब्दस्तु न तथा,

रहते हैं, किन्तु 'शब्द' यावद् द्रव्यभावी नहीं रहता। वह तो धीरे धीरे नष्ट हो जाता है, किन्तु उसका आश्रयभूत आकाश का नाश नहीं होता। इसलिये पृथिव्यादि के गन्धादिगुणों से विपरीत धर्मवाला शब्द, यावद् द्रव्यभावी नहीं है, किन्तु अयावद् द्रव्यभावी होने से ( आश्रयनाशाऽजन्य नाशप्रतियोगी होने से अर्थात् त्रिक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी होने से ) वह ( शब्द ) वायु का गुण नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो गुण जिस अनित्य द्रव्य का होता है, उस द्रव्य का विनाश होने पर उस गुण का भी नाश हो जाता है'—यह नियम है। यदि हम शब्द को वायु का गुण मान लें तो वायु का विनाश होने पर शब्द का भी विनाश मानना पड़ेगा। इसलिये शब्द को वायु का गुण मानना ठीक नहीं है। अनुमान इस प्रकार होगा—'शब्दः, वायुविशेषगुणत्वाऽभाववान्, आश्रयनाशाऽजन्यनाशप्रतियोगित्वात् ज्ञानवत्'। अतः शब्द को आकाश का ही गुण मानना चाहिये। तब आकाश[1] के नित्य और निरवयव होने से उसमें रहनेवाला शब्द 'असमवायिकारण' से उत्पन्न नहीं होता, यह स्पष्ट हो जाता है॥ ४४॥

इत्याकाशे प्रमाणकथनम्।

---

किन्तु मन्दमन्दतरमन्दतमादितारतम्य-विशिष्टः शनैः शनैः विनष्टो भवति, अस्याश्रयो द्रव्यमाकाशस्तु न नश्यति।

१. 'शब्दसमवायिकारणम्'–आकाशः। 'पुंस्याकाशविहायसी' इस अमरवचन से 'आकाश' शब्द पुँल्लिङ्ग है। जो द्रव्य शब्द का समवायिकारण हो, उसे 'आकाश' कहते हैं। 'पृथ्वी' आदि के समान 'आकाश' अनित्य नहीं है, किन्तु वह नित्य, एक तथा विभु है। यद्यपि 'घटाकाशः' 'मठाकाशः' ये आकाश के भेद प्रतीत होते हैं, किन्तु वे वास्तविक न होकर उपाधिकृत हैं। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः'—यह आत्मा आकाश के समान सर्वगत ( विभु ) और नित्य है, इस श्रुति से भी आकाश का विभुत्व तथा नित्यत्व सिद्ध होता है। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगी विभुः'—जो द्रव्य सब मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग सम्बन्ध से रहता हो उसे विभु कहते हैं। 'परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वमूर्तत्वम्' अथवा 'क्रियाश्रयत्वं मूर्तत्वम्' पृथ्वी, जल, तेज, वायु, मन—इन पाँच द्रव्यों का नाम मूर्त है। परममहत् परिमाणवाले आकाश, काल, दिक् आत्मा हैं, उनमें न रहनेवाले परिमाण का नाम 'परिच्छिन्नपरिमाण' है। 'परिमाण' पृथ्वी आदि पाँच द्रव्यों में रहता है, तद्वत्त्व का इन्हीं पाँचों में होना ही इनमें 'मूर्तत्व' है। अथवा कर्मरूपक्रिया समवायसम्बन्ध से पृथ्वी आदि इन्हीं पाँचों में रहती है, अतः क्रियावत्त्वरूप मूर्तत्व भी इनमें है।

शंका—'आत्मन आकाशः संभूतः' इस श्रुति में आकाश की आत्मा से उत्पत्ति कही गई है, किन्तु अनित्य ( जन्य ) पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है, अतः आकाश भी अनित्य है, यह प्रतीत होता है।



समा०—उपर्युक्त श्रुति में 'संभूत' पद का अर्थ अभिव्यक्ति है। जैसे—मीमांसकों के मत में वर्णात्मक नित्य शब्द की कण्ठादि स्थानों से अभिव्यक्ति मानी गई है, वैसे ही हम भी अभिव्यक्ति मानते हैं।

उद्भूतरूप तथा स्पर्श के अभाव में 'आकाश' की प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्धि नहीं हो सकती। अतः उसके ( आकाश के ) अस्तित्व में अनुमान प्रमाण दिखाते हैं—'शब्दः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा रूपम्'। शब्दगुण, पृथ्वी आदि अष्ट ( आठ ) द्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य के आश्रित होने योग्य है। जैसे—रूपगुण, पृथ्वी आदि अष्टद्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य के आश्रित नहीं है, किन्तु अष्टद्रव्यान्तर्गत पृथ्वी, जल, तेज के ही आश्रित है। अब उपर्युक्त अनुमानगत प्रयुक्त हेतु में यदि 'अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति' न कहें तो 'रूपादि' भी द्रव्य के आश्रित हैं, उनमें व्यभिचार हो जायगा। यदि 'द्रव्याश्रितत्वात्' न कहें तो रूपत्वादि जातियों में व्यभिचार हो जायगा। अब अनुमान प्रमाण के द्वारा शब्द में द्रव्याश्रितत्व सिद्ध करते हैं—'शब्दः द्रव्यसमवेतः गुणत्वात् संयोगवत्'। अब पूर्वोक्त अनुमान में अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात्' यह हेतु 'विशेष्याऽसिद्धि' दोष से दूषित नहीं है, तथापि 'विशेषणाऽसिद्धिदोष हो सकता है। इस शंका को दूर करने के लिये अनुमान के द्वारा 'शब्द' में 'अष्टद्रव्यानाश्रितत्व' सिद्ध करते हैं। 'शब्दः अष्टद्रव्यानाश्रितः श्रोत्रग्राह्यत्वात् शब्दत्ववत्'। जैसे—'शब्दत्वजाति' श्रोत्रेन्द्रियजन्यज्ञान का विषय है, इस कारण पृथ्वी आदि अष्टद्रव्यों के आश्रित भी नहीं है, वैसे ही 'शब्द' को भी समझना चाहिए। अब पूर्वोक्त अनुमान में कोई दोष नहीं है।

शंका—'शब्द' को गुण मानने में क्या प्रमाण है?

समा०—अनुमान प्रमाण है। अनुमान—'शब्दो, गुणः, चक्षुर्ग्रहणाऽयोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात्, स्पर्शवत्।' 'चक्षुर्ग्रहणायोग्य' यह पद न दें तो 'घट आदि' में व्यभिचार होगा। यदि 'बहिरिन्द्रियग्राह्य' न कहें तो 'आत्मा' में व्यभिचार होगा। यदि 'जातिमत्त्वात्' न दें तो 'रसत्वादि' जातियों में व्यभिचार होगा।

शंका—'आकाश' में संख्यादि छह गुण माने गये हैं, किन्तु 'दधिधवलमाकाशम्' इस प्रतीति से 'रूप' को भी सातवाँ (सप्तम) गुण यदि मान लें तो क्या हानि है?

समा०—'जपाकुसुम' के सम्बन्ध से स्वच्छ 'स्फटिक' में 'लोहितः स्फटिकः' प्रतीति जिस प्रकार होती है, उसी प्रकार रूपरहित आकाश में सूर्य-चन्द्रनक्षत्रादि की प्रभा के सम्बन्ध से उसमें धवलता ( श्वेतत्व ) की भ्रम से प्रतीति होती है। एवं च 'दधिधवलमाकाशम्' यह प्रतीति जैसे औपाधिक है, वैसे ही 'नीलं नभः' यह प्रतीति भी औपाधिक है। भूगोलमध्यवर्ती 'सुमेरु' पर्वत के चार शिखर पूर्वादि चार दिशाओं में हैं। पूर्व दिशा में पद्मरागमयशृङ्ग ( शिखर ) है, दक्षिणदिशा में इन्द्रनीलमयशृंग है। पश्चिम दिशा में रजतमयशृंग और उत्तर दिशा में

तत्र शरीरस्य विषयस्य चाभावादिन्द्रियं दर्शयति—

शंका—आकाशनिरूपण के प्रसङ्ग में आकाशीय-शरीर तथा विषय का निरूपण करना छोड़कर इन्द्रिय-निरूपण क्यों किया जा रहा है? क्योंकि सर्वत्र पहले शरीर तथा विषय निरूपण करने के बाद ही इन्द्रिय-निरूपण करते आ रहे हैं। अतः यहाँ उस क्रम को क्यों त्यागा जा रहा है?

समा०—मुक्तावलीकार उत्तर देते हैं कि आकाशीय चेष्टाश्रय शरीर और उपभोगसाधन विषय के न होने से उसका निरूपण करना असम्भव है, इसलिये उन्हें छोड़कर 'इन्द्रिय' का निरूपण प्रस्तुत-किया जा रहा है। अर्थात् पूर्ववर्णित पृथ्वी आदि के समान आकाश के 'शरीर तथा विषय' ये दोनों भाग नहीं हैं। केवल 'इन्द्रिय'-संज्ञक एक ही भाग है।

**इन्द्रियं तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः ।**

आकाश के इन्द्रियसंज्ञक भाग का नाम 'श्रोत्र' है। 'श्रोत्र' का अर्थ कर्ण ( कान ) है। वह आकाशात्मक इन्द्रिय नित्य है, अनित्य नहीं है। 'श्रूयते अनेन इति श्रोत्रम्'=जिससे सुना जाता है उसे 'श्रोत्र' कहते हैं। श्रवणार्थक 'श्रु' धातु से 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' इस उणादिसूत्र के द्वारा 'करण' अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगा कर 'श्रोत्र' शब्द की निष्पत्ति की जाती है।

शंका—लाघवात् आकाश को 'एक' सिद्ध किया जा चुका है और श्रोत्रेन्द्रियाँ तो प्रत्येक जीव की भिन्न-भिन्न हैं, अतः वे अनेक हैं। तब उस श्रोत्रेन्द्रिय को आकाशात्मक ( आकाशरूप ) कैसे कहा जाय?

समा०—'एकः सन्नप्युपाधितः' कहते हुए कारिकाकार उत्तर दे रहे हैं—'आकाश' तो एक अर्थात् सजातीय-प्रतियोगिक-भेदरहित ही है, किन्तु कर्ण (श्रोत्र) पुरुष भेद से भिन्न है अर्थात् कर्णशष्कुली रूप उपाधि के भिन्न होने से वह (आकाश) भिन्न-भिन्न ( अनेक ) समझा जाता है अर्थात् आकाश की भिन्नता औपाधिक है। वैसे आकाश तो एक ही है। तत् तत् कर्णचर्मपुट के सम्बन्ध से एक ही आकाश में अनेक श्रोत्रेन्द्रियों का व्यवहार किया जाता है। अर्थात् देवदत्त के चर्मपुट के छिद्र

---

सुवर्णमयशृंग है। सुमेरु के दक्षिणदिशागत श्यामवर्णवाले 'इन्द्रनीलमयशृंग का इस भरतखण्ड के साथ सम्बन्ध है। अतः उस श्यामप्रभा का 'स्व-समवायिसंयोग' सम्बन्ध से सम्बन्ध होने के कारण श्यामरूप की आकाश में प्रतीति होती है। अन्य खण्डों में उन-उन शृंगों के सम्बन्ध से रक्त, पीत, श्वेत रूप की प्रतीति होती है, यह पतञ्जलि कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि पीलिया ( कामला ) दोष से युक्त नेत्रवाले को श्वेत शंख पीतवर्ण का दीखता है, वैसे ही नेत्रों में श्यामता होने कारण आकाश में श्याम ( नील ) रूप की प्रतीति होती है। यह श्यामता कपिलाक्षों को नहीं दीखती। अथवा आकाश पोल ( खाली ) है, उसमें नेत्रों की गति न जाने से कालापन दीखता है।



में स्थित आकाश देवदत्त की श्रोत्रेन्द्रिय है और चैत्र के चर्मपुट में स्थित आकाश चैत्र की श्रोत्रेन्द्रिय है, इस प्रकार अनेक श्रोत्रेन्द्रियों का व्यवहार किया जाता है। 'शष्कुलीव कर्णः' इति कर्णशष्कुली। 'शष्कुली पूरिका प्रोक्ता' इति निघण्टुः। कर्णशष्कुलीविवरावच्छिन्नमाकाशः श्रोत्रमित्यर्थः।

नन्वाकाशं लाघवादेकं सिद्धं श्रोत्रं तु पुरुषभेदेन भिन्नं कथमाकाशं स्यादिति चेत्तत्राह - एकः सन्नपीत्यादि। आकाश एक एव सन्नपि उपाधेः कर्णशष्कुल्यादेर्भेदाद् भिन्नं श्रोत्रात्मकं भवतीत्यर्थः।

इत्याकाशेन्द्रियनिरूपणम्।

इत्याकाश-ग्रन्थः।

शंका—आकाश को इन्द्रियरूप ( इन्द्रियात्मक ) स्वीकार करने पर उसे अनित्य कहना पड़ेगा। किन्तु 'आकाश' को तो विभु और नित्य कहा जाता है। आकाश की विभुता इसलिए है कि उसमें शब्द की सर्वत्र उपलब्धि कराने की योग्यता है, 'विभुत्वञ्च शब्दस्य सर्वत्रोपलम्भयोग्यतावत्त्वात्'। दूसरा कारण यह भी है कि 'मूर्तद्रव्यवृत्तिसंयोगवत्त्व' उसमें है। इसी कारण उसे नित्य भी माना जाता है। किन्तु अब उसे इन्द्रियरूप मानने पर अनित्य कहना होगा और आकाश को लाघवात् एक ही सिद्ध किया जाता है। क्योंकि घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक मानने पर अनेक कल्पनारूप गौरव स्वीकार करना होगा और उसे एक मान लेने पर ( एक कल्पना करने पर ) लाघव होगा। अतः आकाश एक ही है। ऐसी परिस्थिति में उस एक आकाश को पुरुषभेद से भिन्न श्रोत्रेन्द्रियरूप कैसे कह सकते हैं?

समा०—मुक्तावलीकार 'एकः सन्नपि' ग्रन्थ से समाधान कर रहे हैं—यद्यपि आकाश एक है तथापि कर्णशष्कुली की भिन्नता के कारण आकाश भिन्न-भिन्न ( अनेक ) होता हुआ श्रोत्ररूप समझा जाता है। तथा च 'श्रोत्रं, स्वानुयोगिवृत्तित्व—स्वप्रतियोगिवृत्तित्व-उभयसम्बन्धावच्छिन्नभेदवद्धर्मावच्छिन्नम्, स्वप्रतियोग्याश्रितत्वसम्बन्धेन पुरुषभेदवत्त्वात्' इस अनुमान से 'श्रोत्र' की भिन्नता ( अनेकता ) सिद्ध होती है यहाँ 'स्व' पद से 'चैत्रीयश्रोत्रभेद' लिया, उसका अनुयोगी 'मैत्रीयश्रोत्र' हुआ उसमें वृत्ति श्रोत्रत्व है, अतः तद्वृत्तित्व श्रोत्रत्व में गया, इस प्रकार उभयसम्बन्धावच्छिन्न ( उभयसम्बन्ध से युक्त ) भेदवद्धर्म 'श्रोत्रत्व', उससे अवच्छिन्न ( युक्त ) श्रोत्र ही होगा। क्योंकि वह स्व=पुरुषभेद उसके प्रतियोगी पुरुष में आश्रित है। अतः स्व-प्रतियोग्याश्रितत्व सम्बन्ध से पुरुषभेदवान् 'श्रोत्र' हुआ है। एवं च 'स्वप्रतियोगिकर्णशष्कुलीरूपविशेषणभेदप्रयोज्यविशिष्टभेदप्रतियोगि श्रोत्रम्'। 'स्व'=कर्ण शष्कुलीभेद तत्प्रतियोगी कर्णशष्कुलीरूपविशेषण का भेद, उससे प्रयुक्त ( उसके कारण होनेवाला ) श्रोत्र का विशिष्टभेद, उसका प्रतियोगी श्रोत्र हुआ। विभु का अर्थ व्यापक है अर्थात् 'अत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्व'।

'आत्मन आकाशः संभूतः'—( तै० उ० २।१।१ ) यह आकाशोत्पत्तिप्रतिपादकश्रुति, ब्रह्माण्डरूप उपाधिवशात् आकाशाभिव्यक्तिपरक समझनी चाहिये। अन्यथा परमाणुओं में भी अनित्यता प्राप्त होगी। वस्तुतः 'आत्मा और आकाश' में जन्य-जनकभाव मानना अनुमान विरुद्ध है। अतः उक्त श्रुति को अर्थवादरूप मानना चाहिए। आकाश का अपना कोई शरीर न रहने पर भी जीवों के अदृष्ट के अलौकिक माहात्म्य से उसकी इन्द्रिय है, और वह 'श्रोत्र' है। श्रोत्र का सरल लक्षण—'शब्दधीजनकमिन्द्रियं श्रोत्रम्'[1] समझना चाहिये। 'यदिन्द्रियं रूपादिषु मध्ये यद्गुणग्राहकं तदिन्द्रियं तद्गुणयुक्तम्' इस व्याप्ति के अनुसार शब्द को श्रोत्र का गुण मानने से 'शब्दगुणकत्वम् आकाशत्वम्' अर्थात् समवायसम्बन्ध से 'शब्दसमवायिकारणत्वम् आकाशत्वम्' इस आकाशलक्षण का लक्ष्य आकाश सिद्ध होता है।

नवीन नैयायिक शब्द का निमित्तकारण ईश्वर मानते हैं। अतः उसी को शब्द का समवायिकारण भी मान लेते हैं। एवञ्च उनके मत से ईश्वर ही श्रोत्र है। कुछ लोगों का कहना है कि मृदङ्गादि वाद्यों का ही वह ( शब्द ) गुण है, आकाश का नहीं। किन्तु मुक्तावलीकार ने शब्द को आकाश का ही गुण माना है।

इत्याकाशनिरूपणम्।

---

१—'शब्दधीजनकमिन्द्रियं श्रोत्रम्'—शब्दविषयकज्ञान का जनक जो इन्द्रिय है, उसे 'श्रोत्र' कहते हैं। 'शब्दधीजनक' न कहें तो चक्षुरादि इन्द्रियों में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि 'इन्द्रियम्' न कहें तो काल आदि में अतिव्याप्ति होगी।

शंका—'मन' तो समस्त ज्ञानों का जनक है, अतः वह शब्द-ज्ञान का भी जनक होगा, किन्तु वेदान्तियों ने 'मन' को तो इन्द्रिय नहीं माना है।

उत्तर—'मन' मनस्त्वरूप से सब ज्ञानों का जनक है, 'इन्द्रियत्व' रूप से नहीं। अथवा—'शब्दसमवायिकारणमिन्द्रियं श्रोत्रम्'—जो इन्द्रिय शब्द-गुण का समवायि कारण हो उसे 'श्रोत्र' इन्द्रिय कहते हैं। शंका—श्रोत्रेन्द्रिय में किस प्रकार से 'आकाशात्मकता' है? उत्तर—अनुमान प्रमाण के द्वारा उसे बताया जा सकता है। 'जो जो इन्द्रिय, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द इन पाँचों में से जिस-जिस गुण का ग्रहण करे, वह-वह इन्द्रिय उस-उस गुणवाली अवश्य होती है।' जैसे चक्षु, रसन, घ्राण त्वक् ये चारों इन्द्रियाँ यथाक्रम रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चारों गुणों का ग्रहण करती हैं। इस कारण चक्षुरादि चार इन्द्रियाँ क्रमशः उन रूपादिगुणों वाली समझी जाती हैं। वैसे ही 'श्रोत्रेन्द्रिय' भी 'शब्द' गुण का ग्रहण करती है, इस कारण 'श्रोत्रेन्द्रिय' भी 'शब्द' गुणवाली अवश्य होगी। 'वह शब्द' एक 'आकाश' में ही है। अतः यह श्रोत्रेन्द्रिय, आकाशरूप है।

नवीन नैयायिक ( रघुनाथ शिरोमणि ) तो आकाश, काल, दिक् तीनों का 'ईश्वर' में ही अन्तर्भाव करते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि यदि शब्द केवल



**जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ॥ ४५ ॥**

जन्यानाम्=उत्पन्न पदार्थों का, जनकः=उत्पादक ( निमित्त कारण ), (यः, सः) कालः 'कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः'। समस्त जन्य पदार्थों के आयु की संख्या करने से उसे काल कहते हैं। यह काल समस्त जन्य पदार्थों की उत्पत्ति के प्रति निमित्त कारण है, इस कारण यह काल 'कालिक' संज्ञक सम्बन्ध से उस उत्पत्ति का अधिकरण है अर्थात् संपूर्ण जगत् का आधार है। 'काल' को कार्यमात्र के प्रति समवायिकारण नहीं कह सकते। द्रव्य होने के कारण उसे असमवायिकारण भी नहीं कह सकते। इस कारण यहाँ 'जनक' पद का अर्थ 'निमित्त कारण' समझना चाहिये। न्याय की भाषा में काल का लक्षण इस प्रकार कहा जायगा—'कार्यत्वावच्छिन्नम्प्रति कालिकसम्बन्धावच्छेदेन निमित्तकारणत्वं—कालत्वम्।' अर्थात् 'कालिकसम्बन्धावच्छिन्नकार्यत्वावच्छिन्ना या कार्यता, तन्निरूपिता या तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणता, तादृशाधिकरणतया निमित्तकारणत्वं कालत्व'मिति काललक्षणम्। लक्षण में 'कालिकसम्बन्धावच्छिन्न' पद का निवेश करने से 'दिक्' में और 'अधिकरणत्वावच्छिन्न' कहने से अदृष्ट आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। वैशेषिक सूत्रकार ने भी कहा है—'नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालस्येति'—( वै. सू. २।२।९ ) आकाशादि नित्य पदार्थों में 'युगपज्जातः, चिरं जातः, क्षिप्रं जातः, इदानीं जातः, दिवा जातः, रात्रौ जातः' इत्यादि प्रत्यय के न होने से और घट-पटादि अनित्य ( कार्य ) पदार्थों में उक्त प्रत्यय के होने से अर्थात् कार्यमात्र के प्रति अन्वय-व्यतिरेकद्वारा जो कारण होता है उसे काल कहते हैं। एवञ्च 'कालः कालिकेन सर्ववान्' इस प्रतीति से सर्वाधिकरणत्वरूपेण 'कालनामक द्रव्य' की सिद्धि हो जाती है।

**कालं निरूपयति जन्यानामिति। तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह— जगतामिति। तथाहि 'इदानीं घट' इत्यादिप्रतीतिः सूर्यपरिस्पन्दादिकं यदा विषयीकरोति, यदा सूर्यपरिस्पन्दादिना घटादेः सम्बन्धो वाच्यः। स च सम्बन्धः संयोगादिर्न सम्भवतीति काल एव तत्सम्बन्धघटकः कल्प्यते। इत्थं च तस्याश्रयत्वमपि सम्यक् ॥ ४५ ॥**

---

आकाश का ही गुण होता तो 'शब्दसमवायिकारण' रूप से आकाश की सिद्धि होती किन्तु 'यह शब्द' मृदङ्ग, भेरी आदि वाद्यात्मक पृथ्वी का ही गुण है। वे पृथ्वीरूप वाद्यादि ही शब्द के 'समवायिकारण' हैं। किन्तु प्राचीन नैयायिक तो मृदङ्गादिवाद्यों को 'शब्द' का निमित्तकारण मानते हैं। लोक व्यवहार में भी 'यह शब्द मृदङ्ग का है तथा यह शब्द भेरी का है' ऐसी प्रतीति होती है। 'यह शब्द आकाश का है'—यह प्रतीति नहीं होती। अतः मृदङ्गादिवाद्यों को ही शब्द का समवायिकारण मानना चाहिये। परन्तु यह मत, मुक्तावलीकार को अभिमत नहीं है, क्योंकि उक्त मत 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' श्रुति के विरुद्ध है। वेद भी शब्द को आकाश का ही गुण बता रहा है।

'कालं निरूपयति' का शाब्दबोध इस प्रकार होगा—'कालनिष्ठविषयतानिरूपकं यत् लक्षण-स्वरूप-प्रामाण्यादिप्रकारकं ज्ञानं, तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् ग्रन्थ-कारः'। 'काल' के अस्तित्व में 'जगताम्' इत्यादि ग्रन्थ से अनुमान प्रमाण बताया गया है उससे सिद्ध हुआ कि 'वह काल' जगत् का आधार है। उसी अनुमान प्रमाण को 'तथाहि' ग्रन्थ से बता रहे हैं—'इदानीं घटः' = इस समय में घट है, यह प्रतीति ( ज्ञान ) सूर्य परिस्पन्द ( सूर्यगति ) रूप गतिक्रिया को विषय करती है, क्योंकि लोकव्यवहार में ऐसा ही देखा जाता है। उक्त प्रतीति के बल पर यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान काल में सूर्य की परिस्पन्दरूप गत्यात्मक क्रिया के साथ घट-पटादि कार्यरूप पदार्थों का ( जन्य पदार्थ मात्र का ) कोई सम्बन्ध अवश्य होगा। क्योंकि बिना सम्बन्ध के उक्त प्रतीति हो नहीं सकती। 'इदानीम्' का अर्थ सूर्य की चलनात्मक क्रिया ( गति ) है। उस क्रिया से उस प्रतीति के विषय ( घट आदि ) का कोई सम्बन्ध तो कहना ही होगा। वह सम्बन्ध 'संयोग' तो हो नहीं सकता, क्योंकि सूर्यक्रिया के साथ 'घट' का 'संयोग-सम्बन्ध' होना सम्भव नहीं। उसी तरह उसके साथ 'समवायसम्बन्ध' भी नहीं हो सकता, क्योंकि घट में सूर्यक्रिया का समवाय नहीं है। दोनों में 'स्वरूपसम्बन्ध' भी हो नहीं सकता। क्योंकि दोनों में से कोई किसी का स्वरूप नहीं है। अतः 'सूर्यक्रिया' और 'घट' दोनों में 'परम्परासम्बन्ध' कहना होगा। वह परम्परासम्बन्ध 'स्वाश्रयतपनसंयोगिसंयोग' है। यहाँ पर 'स्व' शब्द से सूर्यक्रिया को लेंगे, उसका 'आश्रय' तपन ( सूर्य ), उसका 'संयोगी' काल, उसका 'संयोग' घट में है। इस प्रकार परम्परा सम्बन्ध-घटक जो पदार्थ है वह 'काल' पदार्थ ही है, यह अनुमान किया जाता है। उक्त परम्परासम्बन्ध को 'स्वसमवायि संयुक्तसंयोग' शब्द से भी कह सकते हैं। 'स्व' से सूर्यक्रिया, उसका 'समवायि' सूर्य, उससे 'संयुक्त' काल, उसके साथ घटादि जन्यपदार्थों का संयोगसम्बन्ध रहता है, क्योंकि 'द्रव्यद्रव्ययोरेव संयोगः'—दो द्रव्यों का ही संयोगसम्बन्ध हुआ करता है, यह नियम है। 'इदानीं घटरूपमुत्पन्नम्' यहाँ पर रूपादिगुण के साथ काल का सम्बन्ध 'स्व-समवायिसंयुक्तसंयोगिसमवेतत्व' होगा। 'स्वं'—सूर्यक्रिया, तत्समवायी सूर्य, तत्संयुक्त काल, तत्संयोगी घट, तत्समवेतत्व रूप में है।

इस अनुमान प्रमाण के बल पर काल का अस्तित्व सिद्ध होने पर जगत् का आधार काल है यह बात समझ में आ जाती है। सूर्य की क्रिया के साथ घटपटादि जन्यपदार्थों का सम्बन्ध काल के द्वारा ही होता है। अतः कालपदार्थ को अवश्य स्वीकार करना होगा[1] ॥४५॥

१. 'विभुत्वे सति दिगसमवेत-परत्वाऽसमवायिकारणाधिकरणं कालः'—जो 'द्रव्य विभु होकर 'दिशा' में असमवेत जो 'परत्वादि', उसके असमवायिकारण घटादि के साथ काल का संयोगी का अधिकरण हो, वही 'काल' है—यह काल का लक्षण है। कनिष्ठ ( छोटे ) भाई की अपेक्षा ज्येष्ठ भाई में 'कालिक परत्व' है, उस 'परत्व' का



समवायिकारण 'ज्येष्ठभाई' है और ज्येष्ठ के साथ 'काल' का जो 'संयोगसम्बन्ध' है, वह उस 'परत्व' का असमवायिकारण है। वह 'दिशा' में नहीं रहता है। इस कारण पूर्वोक्त संयोग का 'वह काल' आधार है और विभु है। ज्येष्ठ भ्राता में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इसलिये 'विभुत्वे सति' यह पद दिया गया है। यदि 'दिगसमवेत' न कहें तो दिशा में दोष होगा। यदि 'परत्व' न कहें तो आत्मा में अतिव्याप्ति होगी।

अथवा—'अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः' = भूत-भविष्यत्-वर्तमान आदि जो व्यवहार, उसका हेतुभूत जो हो, उसे काल कहते हैं। यहाँ 'हेतु' शब्द से 'असा-धारणनिमित्तकारण' ही विवक्षित है, जो 'काल' में ही उपलब्ध होता है। 'अयं ज्येष्ठः परः, अयं कनिष्ठः अपरः' इस प्रत्यक्ष प्रतीति के बल से उस कालिक परत्व अपरत्व को अवश्य स्वीकार करना होगा। अतः यह अनुमान होता है कि 'ज्येष्ठ-कनिष्ठशरीरनिष्ठे परत्वाऽपरत्वे, असमवायिकारणजन्ये, जन्यगुणत्वात्, रूपवत्' = ज्येष्ठ शरीर में स्थित परत्वगुण तथा कनिष्ठ शरीर में स्थित अपरत्वगुण ये दोनों असमवायिकारण से उत्पन्न होने योग्य ( जन्य ) हैं, जन्यगुण होने से, जैसे—घट निष्ठ 'रूपगुण' जन्य होने से असमवायिकारण से जन्य होता है। उसी प्रकार ज्येष्ठ शरीर तथा कनिष्ठ शरीर के साथ जो काल का संयोग सम्बन्ध है, वह परत्व-अपरत्व का असमवायिकारण है, और उसका आश्रय 'काल' ही है। इस अनुमान में 'अन्य' पद यदि न दें तो परमाणुनिष्ठ रूपादि नित्यगुणों में व्यभिचार होगा। यदि 'गुण' पद न दें तो 'प्रध्वंसाभाव' में हेतु का व्यभिचार होगा।

कतिपय विद्वान् काल की सिद्धि में अनुमान इस प्रकार करते हैं—'तद्विशिष्टज्ञानं विशेषण-विशेष्योभयसम्बन्धघटकसापेक्षं, साक्षात्सम्बन्धाऽभावे सति विशिष्टज्ञानत्वात्, लोहितस्फटिक इति ज्ञानवत्'। जैसे—'यह व्यक्ति अमुकव्यक्ति की अपेक्षा बहुतर रविक्रियावाला है'—इस विशिष्टज्ञान से उस व्यक्ति में 'कालिकपरत्व' की उत्पत्ति होती है और 'यह अमुकव्यक्ति उस व्यक्ति की अपेक्षा अल्पतर रविक्रियावाला है'—इस विशिष्टज्ञान से उस व्यक्ति में कालिक अपरत्व की उत्पत्ति होती है। यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के बल पर उपर्युक्त अनुमान निष्पन्न किया गया है। यहाँ पर 'अयं शरीरादिरूपपिण्डो बहुतररविपरिस्पन्दवान्' इत्याकारककालिकपरत्वनिमित्त-विशिष्टज्ञानम् "तद्विशिष्टज्ञानम्" इति पक्षः पदार्थः। क्रियारूपं विशेषणं, पिण्डरूपं विशेष्यं, तदुभयसम्बन्ध-घटको यः कश्चन पदार्थः, तत्सापेक्षमिति साध्यपदानामर्थः। अत्र व्याप्तेराकार एवमवधेयः—यत् साक्षात्सम्बन्धाभावविशिष्टं विशिष्टज्ञानं, तत् विशेषणविशेष्योभयसम्बन्धघटकसापेक्षम् इति व्याप्तेराकारः।

यथा लोहितः स्फटिक इति ज्ञानम्। अत्र स्वभावतः शुक्लस्फटिको विशेष्यम्, लोहितरूपं विशेषणम् परन्तु लोहितरूपस्य साक्षात् सम्बन्धो नैवास्ति स्फटिके। संयोग-समवायश्चेति द्वावेव सम्बन्धौ साक्षात्सम्बन्धपदेनोच्येते। तत्र स्फटिके लौहित्यस्य न संयोगो नापि समवायः, तस्य जपापुष्पादिद्रव्यसमवेतत्वात्। जपा-

**परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ।**

'यह घट पर है' और 'यह घट अपर है' इस प्रकार की बुद्धि का 'हेतु'—असाधारण निमित्त 'काल' ही है। 'पर' का अर्थ है बड़ा, और 'अपर' का अर्थ है छोटा अर्थात् 'यह बड़ा है, यह छोटा है'—इस व्यवहार में 'काल' ही असाधारण निमित्त कारण है।

प्रमाणान्तरं दर्शयति—परापरत्वेति।

परत्वापरत्वबुद्धेरसाधारणं निमित्तं काल एव। परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयो लाघवादतिरिक्तः काल एकः कल्प्यत इति भावः।

नन्वेकस्य कालस्य सिद्धौ क्षणदिनमासवर्षादिसमयभेदो न स्यादत आह—

क्षणादिरिति। कालस्त्वेकोऽप्युपाधिभेदात्क्षणादिव्यवहारविषयः। उपाधिस्तु स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म, पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा, उत्तरसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा।

न चोत्तरसंयोगानन्तरं क्षणव्यवहारो न स्यादिति वाच्यं, कर्मान्तरस्यापि सत्त्वादिति। महाप्रलये क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति तदानायत्या ध्वंसेनोपपादनीय इति दिनादिव्यवहारस्तु तत्तत्क्षणकूटैरेवेति।

इति कालस्यैकत्वव्यवस्थापनम्।

इति कालग्रन्थः।

अन्य रीति से 'काल' की सिद्धि कर रहे हैं। अमुक व्यक्ति, 'अमुक व्यक्ति की अपेक्षा ज्येष्ठ किंवा कनिष्ठ है'—ऐसी प्रतीति जिससे होती है, वही 'काल' है। अर्थात् किसी एक शरीर से बड़ापन या किसी से छोटापन जिस असमवायिकारण-सम्बन्ध से प्राप्त होता है, उस सम्बन्ध के आश्रय को ही 'काल' कहते हैं। 'कालिकं परत्वं ज्येष्ठत्वं, कालिकाऽपरत्वं कनिष्ठत्वम्'। ज्येष्ठ में 'अयं परः' यह प्रत्यय होता है और कनिष्ठ में 'अयमपरः' यह प्रत्यय होता है। उस प्रत्यय का असाधारण निमित्तकारण काल ही है। अर्थात् 'कार्यत्वव्याप्यज्येष्ठत्वादिधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावान् कालः। ज्येष्ठभाई में 'परत्व' प्रत्यय और कनिष्ठभाई में 'अपरत्व' प्रत्यय जो होता है वह 'परत्वापरत्वगुणधीनिबन्धन' है। मूलकार ने 'परापरत्वधी' कहा और उसकी व्याख्या करते हुए 'परत्वापरत्वबुद्धेः' कहा है। यदि 'परत्वापरत्वयोः' इतना ही कहते तो भी कोई हानि नहीं थी। तब मूलकार ने 'परापरत्वधी' क्यों कहा? इसके समाधान में यह बताया जायगा कि 'कालिक परत्वापरत्व' में प्रमाण बताने के लिये 'परत्वापरत्वयोरसमवायी' यह ग्रन्थ दिया जा रहा है। 'अयं घटः परः' यहाँ पर 'घट' में 'परत्व' पैदा हुआ, उसका ( परत्व का ) समवायिकारण 'घट' हुआ, और असमवायिकारण 'घट-कालसंयोग' हुआ, उसका ( संयोग का ) आश्रय एक 'घट' होगा और दूसरा 'काल' होगा। उसी तरह 'अपरत्व' के असमवायिकारण संयोग का आश्रय भी 'काल' होगा। तब अनुमान इस प्रकार करेंगे—'कालिकपरत्वापरत्वे असमवायिकारणसंयोगजन्ये, भावत्वे सति कार्यत्वात् घटवत्' इति।

इस अनुमान से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'परत्व-अपरत्व असमवायिकारणजन्य हैं। इन दोनों ( परत्व-अपरत्व ) का असमवायिकारण-काल और व्यक्ति ( पिण्ड ) का संयोग ही है। उस संयोग का आश्रय 'काल' होने से यह कहा जाता है कि परत्व-अपरत्व के असमवायिकारणसंयोगाश्रयतया भी 'काल' की सिद्धि हो सकती है।

शंका—तादृशसंयोग के प्रति काल समवायिकारण भी है, तब सर्वत्र निमित्तकारणतया ( निमित्तकारण के रूप में ) काल का प्रथम लक्षण क्यों किया?

समा०—यद्यपि कार्यमात्र के प्रति 'काल' निमित्तकारण है, पर वह 'कालिक-सम्बन्ध' से है। और स्ववृत्तिद्वित्व संयोग आदि गुणों के प्रति द्रव्य होने के कारण वह 'समवायिकारण' समवायसम्बन्ध से है, अतः कोई विरोध नहीं है। काल का अस्तित्व जैसे अनुमान प्रमाण से सिद्ध है वैसे ही वह आगम ( श्रुति ) प्रमाण से भी सिद्ध है—"कालोऽमुं दिवमजनयत्, काल इमाः पृथिवीरुत" ( अथर्व० कां० १९।सू० ५३। मं० ५)।

शंका—अनुमान-आगम प्रमाणादि से यदि 'काल' एक सिद्ध होता है तो क्षण दिन, मास, वर्ष आदि समय का भेद कैसे हो सकेगा?

समा०—यद्यपि 'काल' एक है तथापि उपाधिभेद से क्षण आदि व्यवहार 'काल' में किया जाता है। 'समयभेद' का अर्थ 'समयव्यवहारभेद' है। समयव्यवहारभेद का स्वरूप—'अद्य गन्ता, श्व आगन्ता, परश्वः पठिता' इस प्रकार है। अब मूर्तद्रव्य क्रियारूप उपाधि को बताते हैं—'उपाधिस्तु' इति। क्षण की उपाधियाँ चार प्रकार से बताई गई हैं। जैसे—अवयवनाश के अधीन अवयवी का नाश करते चलिये—अर्थात् त्रसरेणुनाश के लिये द्व्यणुकनाश अपेक्षित है। अब द्व्यणुकनाश कैसे होता है? यह जब विचारते हैं तो समझ में आता है कि परमाणु का तो नाश

---

पुष्पस्य च स्फटिकेन सह संयोगः साक्षात्सम्बन्धी न तु लोहितस्य, परन्तु स्व-समवायिसंयोगरूपेण परम्परासम्बन्धेन लौहित्यं स्फटिके भासते। 'लोहितः स्फटिकः' इत्याकारकं विशिष्टज्ञानं साक्षात्सम्बन्धाभावे सति विशिष्टज्ञानत्वाद् विशेषण-विशेष्योभयसम्बन्धघटकं यद् जपापुष्पादिद्रव्यं तत्सापेक्षमेव। इत्थम्—'अयं ज्येष्ठः पिण्डः बहुतररविपरिस्पदवान् इति विशिष्टज्ञानमपि तत्त्वात् विशेषण-विशेष्योभयसम्बन्धघटकसापेक्षम्। बहुतररविपरिस्पन्दो विशेषणम्। शरीरादिपिण्डस्तु विशेष्यम्, परमुभयोः न साक्षात् सम्बन्धः, किन्तु स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगरूपपरम्परासम्बन्ध एव उभयसम्बन्धः। अत्र 'स्व' पदेन रविक्रियारूपविशेषणग्रहः तस्य समवायी सूर्यः, तत्संयुक्तः कालः, तस्य कालस्य संयोगः पिण्डेन सह वर्तत एवेति रीत्या रविक्रिया-पिण्डसम्बन्धघटकः पदार्थः काल इति सिद्धम्।

होगा नहीं, क्योंकि वह नित्य है। अतः द्वयणुकनाश के लिये १—प्रथम क्षण में क्रिया, २—द्वितीय क्षण में उन दोनों परमाणुओं में उस क्रिया के द्वारा विभाग ( दोनों परमाणुओं का पृथक् पृथक् होना ), ३—तृतीय क्षण में विभाग से उस पूर्वसंयोग का नाश होगा ( जिन दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक बना है ), ४—चतुर्थक्षण में उन दोनों परमाणुओं का किसी उत्तर देश के साथ संयोग होगा और द्वयणुक का नाश भी हो जायगा। ५—तब पञ्चमक्षण में क्रियानाश होगा। इस क्रम को ध्यान में रखते हुए ही ग्रन्थकार ने प्रथमक्षणोपाधि को बताने के लिये 'स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म' यह कहा है। अर्थात् 'स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्न कर्म प्रथमक्षणोपाधिः'। यहाँ पर 'स्व' शब्द से मूर्तद्रव्यनिष्ठ क्रिया को लेना है। क्रिया और कर्म दोनों शब्द पर्याय हैं। १—क्रिया, २—क्रियातोविभागः, ३—विभागात् पूर्वदेशसंयोगनाशः, ४—तत उत्तरदेशसंयोगः' यह नियम है। इस नियम के अनुसार मूर्तद्रव्यनिष्ठ जिस क्रिया से द्वितीयक्षण में 'विभाग' उत्पन्न कराना है, उस विभाग का प्रथमक्षण में प्रागभाव है। इस प्रकार यह क्रिया 'स्वजन्यविभागप्रागभावविशिष्ट' हुई, इस कारण वह क्रिया 'स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्ना' कही गई है। यही प्रथमक्षण की उपाधि है। अर्थात् क्रिया से होने वाले विभाग के प्रागभाव से विशिष्ट क्रिया के द्वारा ही काल में 'अयं प्रथमः क्षणः'—यह प्रथमक्षण है ऐसा व्यवहार होता है। तात्पर्य यह है—क्रियाविभाग और उसका प्रागभाव ये दो ही जिस काल में रहते हैं, उस काल को 'प्रथमक्षण' कहते हैं। 'क्रिया' तो काल की उपाधि है, इसलिये विभागप्रागभावविशिष्ट'-क्रियोपलक्षित जो काल हो, उसे आद्य ( प्रथम ) क्षण समझना चाहिये।

द्वितीयक्षणोपाधि को बताने के लिये 'पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागो वा' कहा गया है। मूर्तद्रव्य का पूर्वदेश के साथ जो संयोग है, उस संयोग से अवच्छिन्न जो क्रियाजन्य विभाग ( संयोगपूर्वकविभाग ), उसे द्वितीयक्षणोपाधि कहते हैं। अर्थात् 'पूर्वसंयोगावच्छिन्नविभागोपलक्षित काल' को द्वितीयक्षण समझना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि 'स्वजन्यविभागनाश्यपूर्वसंयोगविशिष्टस्वजन्यविभाग' ही द्वितीयक्षण है। 'स्व' शब्द से क्रिया, तज्जन्य विभाग अर्थात् घट आदि मूर्तद्रव्य के विभक्त-प्रत्यय में हेतुभूतगुण, उस ( विभाग ) से नाश्य जो पूर्वसंयोग, तद्विशिष्ट जो 'स्वजन्य' क्रियाजन्य विभाग।

तृतीयक्षणोपाधि को बताने के लिये 'पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नउत्तरसंयोगप्रागभाव' कहा गया है। पूर्वदेशवर्ती जो मूर्तद्रव्य का संयोग, तादृशसंयोगनाश ( ध्वंस ) सहित जो उत्तरदेशसंयोगप्रागभाव है, उसी को तृतीयक्षणोपाधि कहते हैं। अर्थात् प्रथमक्षण में होने वाली क्रिया के द्वारा द्वितीयक्षण में विभाग उत्पन्न होता है, उससे तृतीयक्षण में पूर्वदेशवृत्तिसंयोग का नाश होता है। उस तृतीय क्षण में ही चतुर्थक्षण में होनेवाले उत्तरदेशवर्ती संयोग का प्रागभाव भी रहता है। इस प्रकार 'पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नउत्तरसंयोगप्रागभाव' ही तृतीयक्षण का कल्पक होने से उसे तृतीयक्षणोपाधि कहा जाता है। अर्थात् 'पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्न उत्तरसंयोगप्रागभावोपलक्षित जो काल है, उसे तृतीयक्षण कहते हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है—प्रागभाव के प्रतियोगी का उत्पादक कारण-कलाप ( कारणसामग्री ) ही प्रागभाव का नाशक होता है। अतः चतुर्थक्षण में उत्पद्यमान उत्तरदेशसंयोग ही अपनी उत्पत्ति के क्षण में प्रागभाव को नष्ट करता है। उत्तरदेशसंयोगप्रागभाव तृतीयक्षण तक रहता है उससे अधिक उसकी स्थिरता नहीं है।



चतुर्थक्षणोपाधि को कहते हैं—'उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नं कर्म वा'। उत्तरदेशवर्ती संयोगविशिष्ट जो क्रिया, वही चतुर्थक्षणोपाधि है। निष्कर्ष यह है कि प्रथमक्षण में 'घट में क्रिया', द्वितीयक्षण में 'घट का पूर्वदेश से क्रियाजन्यविभाग' तृतीयक्षण में 'क्रियाजन्यविभाग से घट के पूर्वदेशवृत्तिसंयोग का नाश', तब चतुर्थक्षण में क्रिया के द्वारा घट का उत्तरदेशसंयोग। इस प्रकार उत्तरदेशसंयोग ही अपनी हेतुभूत क्रिया का नाशक है, अर्थात् पञ्चमक्षण में वह क्रिया नहीं रहती। चतुर्थक्षण में रहनेवाली, वही उत्तरदेशसंयोगात्मक विशेषणविशिष्टा क्रिया, चतुर्थक्षणोपाधि कही जाती है। निष्कर्ष यह है कि उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नक्रियोपलक्षित काल को चतुर्थक्षणा कहते हैं।

उदयनाचार्य कहते हैं—उत्पन्न द्रव्य जब तक अगुण ( गुण रहित ) रहता है, अथवा अन्त्यतन्तुसंयोग होने पर जबतक पट तैयार नहीं होता, अथवा कर्म ( क्रिया ) के उत्पन्न होने पर जब तक विभाग उत्पन्न नहीं होता, उतना काल क्षण है। अथवा कार्यरहित सामग्री ही क्षण है। किरणावलि में कहा है—

"क्षणद्वयं लवः प्रोक्तो निमेषस्तु लवद्वयम्।
निमेषाः पञ्चदश च काष्ठास्त्रिंशत्तु ताः कलाः॥" इति।

श्रीधराचार्य कहते हैं कि 'निमेष' का चतुर्थभाग क्षण है, 'दो क्षण' का लव होता है। अक्षिपक्ष्मोपलक्षित काल ( पलक के पतनोत्थान काल ) को निमेष कहते हैं। तात्पर्य यह है—प्रथमक्षण में परमाणु में क्रिया, द्वितीयक्षण में परमाणुद्वय में विभाग होता है, पश्चात् 'पूर्वसंयोगनाश' होता है। अतः 'विभाग, भी एक क्षण की उपाधि है। उसके अनन्तर तृतीयक्षण में पूर्वसंयोगनाश होता है, और चतुर्थक्षण में उन परमाणुद्वय का उत्तरदेश के साथ संयोग होता है, किन्तु तृतीयक्षण में ( पूर्वसंयोगनाशक्षण में ) उत्तरसंयोग का प्रागभाव, पूर्वसंयोगनाश से अवच्छिन्न ( समानाधिकरण ) होकर बैठा है। अतः पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभाव भी एक ही क्षण हुआ। अर्थात् उसे भी क्षण की उपाधि कहा जा सकता है। चतुर्थक्षण में परमाणुद्वय का 'उत्तरदेश के साथ संयोग' होता है और 'कर्म' भी चतुर्थक्षण में है, क्योंकि कर्म ( क्रिया ) का नाश तो पञ्चमक्षण में होगा, इसलिये चतुर्थक्षणमें कर्म, उत्तर-

संयोग से अवच्छिन्न है। अतः उत्तरसंयोगावच्छिन्नकर्म भी एक क्षणकी उपाधि बन गया।

शंका—न चेति। 'पञ्चमक्षण' में 'क्षण' शब्द का व्यवहार नहीं किया जा सकता, अर्थात् उत्तरसंयोग के बाद 'क्षण व्यवहार' कैसे बन सकेगा? क्योंकि चतुर्थ क्षण में ही क्रिया भी नष्ट हो जाती है। अर्थात् उत्तरसंयोग होने पर क्रिया नष्ट हो जाती है, तब परिचायक उपाधि कोई नहीं रहती।

समा०—कर्मान्तरस्यापी'ति। चतुर्थक्षण में क्रिया के नष्ट हो जाने पर भी पञ्चमक्षण में अन्य क्रिया होने लगती है, अतः पहले की तरह क्षणादि व्यवहार किया जा सकता है। अर्थात् पञ्चमक्षणमें पुनः दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है, वही क्रिया, प्रथमक्षण की उपाधि बन जायेगी। पहले की तरह चार क्षणों की कल्पना कर लेनी चाहिये। चतुर्थ-क्षण में क्रिया विनाश के अनन्तर मूर्तद्रव्यमें पुनः पञ्चमक्षण में क्षणव्यवहार की नियामिका दूसरी क्रिया होगी।

शंका—पूर्वोक्त 'क्षण-लक्षण' महाप्रलयात्मक क्षण में अव्याप्त होगा, क्योंकि महाप्रलय के समय समस्त भावकार्यों का नाश होने से क्रिया भी नष्ट हो जाती है। अतः महाप्रलय के समय उन क्षणादिकों की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी? अच्छा, महाप्रलय के समय 'क्षण' कल्पना यदि न की जाय तो क्या हानि है? उत्तर यह होगा कि महाप्रलय के समय यदि 'क्षणकल्पना' नहीं की जायेगी तो 'अध्वस्तक्षणयोगस्य क्षणयोगो जनिर्मता' इस उत्पत्तिलक्षणप्रतिपादक आचार्य-कारिका का मणिकारने जो अर्थ—'तदधिकरणक्षणावृत्तित्वव्याप्यस्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगिताकसमयवृत्तित्वात्मक-उत्पत्तिलक्षण अर्थ'—किया है, उसकी अव्याप्ति होगी, क्योंकि उस समय 'महाप्रलयाधिकरण-क्षण' अप्रसिद्ध है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार 'महाप्रलय' का विचार कर रहे हैं। अर्थात् महाप्रलय के समय 'क्षणव्यवहार' की उपपत्ति 'ध्वंस' के द्वारा करदेनी चाहिये। अर्थात् 'स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगिक-प्रतियोगिक-यावद्-ध्वंस एव उपाधिः, तद्विशिष्टसमयात्मकमहाप्रलय एव क्षणव्यवहारविषयः।' यहाँ पर 'स्व' शब्द से महाप्रलय का काल, उसमें रहनेवाले (वृत्ति) जो द्रव्यादि के यावत् ध्वंस उनके प्रतियोगी तत्तत् (प्रत्येक) भाव पदार्थ वे हैं प्रतियोगी जिन ध्वंसों के अर्थात् जितने भी भावपदार्थ हैं, उन सबका ध्वंस होता है। यह ध्वंस ही 'उपाधि' है, उस उपाधि से विशिष्ट जो समय, उस समय के लिये ही 'महाप्रलयात्मकक्षण' शब्द का व्यवहार किया जायेगा। यह मणिकार का मत है।

महाप्रलय का क्रम इस प्रकार है—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते।
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाऽव्यक्ते प्रलीयते
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्! निष्कले सम्प्रलीयते॥

वास्तव में क्षणादि व्यवहार, महाप्रलय में होता ही नहीं। क्योंकि महाप्रलय के समय



समस्त भावकार्यों का नाश हो जाता है, अतः क्रिया भी नष्ट हो जाती है। तब क्षणादिकों की उत्पत्ति कैसे होगी? इस आशङ्का का समाधान इस प्रकार होगा—महाप्रलयकालीन क्षणादि का व्यवहार पूर्वोक्त क्रियास्थानापन्न तत्तद् वस्तु का ध्वंस होता है और उस ध्वंस को निमित्त मानकर ही क्षणादि व्यवहार की उपपत्ति की जा सकती है। क्योंकि उस समय ध्वंस के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी अभिप्राय को नैयायिक इस प्रकार कहेंगे—उत्पत्तिलक्षणस्य क्षणाघटितस्यैव स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगिकालाऽवृत्तित्वविशिष्टस्ववृत्तित्वात्मकस्य तदुत्पत्तौ संभवः'—इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने 'यद्यस्ति तदा०' कहा है। तथा च—यत्समयवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वव्यापकतावच्छेदकं यदधिकरणक्षणवृत्तित्वसामान्याऽभाववत्वं तस्य तत्समयसम्बन्धः उत्पत्तिः। अर्थात्—स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वव्यापकतावच्छेदकाऽभाववत्वावच्छिन्न-निरूपित-प्रतियोगितावच्छेदकवृत्तित्वावच्छिन्न-निरूपकक्षणसामान्यवृत्तित्वसम्बन्धेन क्षणवत्त्वमुत्पत्तिः।

ग्रन्थकारने 'क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति' यहाँ 'यदि' पद के प्रयोग से यह अभिव्यक्त किया है कि नैयायिकों को भी मीमांसकों की तरह महाप्रलय का होना मान्य नहीं है। अतः सर्वकार्य-ध्वंसात्मक महाप्रलय में क्षणादि व्यवहार का प्रश्न ही नहीं रह जाता है। यदि उस समय भी क्षणादि व्यवहार करना अभीष्ट ही हो तो अगत्या पदार्थ-ध्वंस को ही क्षणात्मककाल की उपाधि समझनी चाहिये। अर्थात् महाप्रलयकालीन ध्वंस-प्रतियोगी घटपटादि पदार्थों के ध्वंस से विशिष्ट समय को 'क्षण' समझना चाहिये।

शंका—उपर्युक्त रीति से क्षणादि व्यवहार के सिद्ध हो जाने पर भी दिन, मास आदि का व्यवहार कैसे हो सकेगा?

समा०—क्षणकूट = तत्तत्क्षणसमूह के द्वारा लव, निमेष, काष्ठा, कला, मूहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग आदि का व्यवहार होता है।[1]

---

१. निमेषः—नेत्रपुटयोर्द्रागेव संयोजनवियोजनम् 'त्रिलव' इति यावत्।
कक्षः—त्रिनिमेषाः कक्षः।
काष्ठा—त्रिकक्षाः काष्ठा।
कला—त्रिंशत्काष्ठाः कला।
मुहुर्तः—त्रिंशत्कलाः मुहूर्तः।
दिवसः—त्रिंशन्मुहूर्ताः दिवसः।
पक्षः—पञ्चदशदिवसाः पक्षः।
मासः—द्वौ पक्षौ मासः।
ऋतुः—द्वौ मासौ ऋतुः।
अयनम्—ऋतुवस्त्रयः अयनम्।
संवत्सरः—अयने द्वे संवत्सरः। (अयनद्वितयं वर्षो मानुषोऽयमुदाहृतः)

सांख्यदर्शन ने अपने अभिमत पञ्चविंशति (२५) तत्त्वों के अतिरिक्त 'काल' पदार्थ को नहीं माना है। अन्यथा पञ्चविंशति तत्त्व प्रतिज्ञा का भंग हो जायेगा। जिन उपाधियों के द्वारा क्षण-दिन आदि भेद का स्वीकार इन्होंने किया है, उन उपाधियों को ही सांख्य ने 'काल' की संज्ञा दी है। क्योंकि वे उपाधियाँ ही अतीतादिव्यवहार में हेतुभूत हैं अतीतादि व्यवहार की हेतुभूत उपाधियों से विलक्षण 'काल' संज्ञक कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। योगभाष्यकार भी कहते हैं—"स खल्वयं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते।।" इस रीति से 'जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्'—(यो. सू. ३१ सा. पा.) तथा 'देशकालाकार-निमित्तापबन्धान्नखलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति' आदि स्थलों पर जो 'काल' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसे उपाधिनिबन्धन ही समझना चाहिये।

किन्तु योगवार्तिककार का कहना है कि "क्षणस्तु वस्तुपतितः, इस उत्तरभाष्य के अनुरोध से क्षणात्मक काल का स्वीकार करना ही चाहिए। अन्यथा क्रमिक परिणाम की उपपत्ति नहीं होगी। एवं च क्षण आदि सभी काल, समस्त वस्तु-परिणाम में हेतुभूत होते हैं।

---

सत्ययुगस्य वर्षाणि—अष्टाविंशति-सहस्राधिक-सप्तदशलक्षाणि।
त्रेतायुगस्य वर्षाणि—षण्णवतिसहस्राधिक-द्वादशलक्षाणि।
द्वापरयुगस्य वर्षाणि—चतुःषष्टिसहस्राधिक-अष्टलक्षाणि।
कलियुगस्य वर्षाणि—द्वात्रिंशत्सहस्राधिक-चतुर्लक्षाणि।
मिलित्वा चतुर्युगानां वर्षाणि—विंशतिसहस्राधिक-त्रिचत्वारिंशल्लक्षाणि।
मन्वन्तरम्—तादृशचतुर्युगानामेकसप्ततिः।
एकमन्वन्तरस्य वर्षाणि—विंशतिसहस्राधिक-सप्तषष्टिलक्षोत्तर-त्रिंशत्कोटयः।
ब्रह्मणः एकदिवसः—तादृशचतुर्दशमन्वन्तरकालः एक-कल्पः।

खण्डप्रलयः ( नैमित्तिकप्रलयः )—ब्रह्मणो दिवसान्ते महर्जनतपःसत्यलोकान् विहाय स्वर्गादि-पातालान्तानां दशलोकानां खण्डप्रलयो भवति।

नित्यप्रलयः—ब्रह्मणो लवनिमेषादिषु प्रलीयते अकस्मात् वस्तुजातमिति स उक्तः।

खण्डप्रलयः ( प्राकृतिकप्रलयः )—ब्रह्मणः शतवर्षाणां समाप्तौ अष्टावरणसहित ब्रह्माण्ड-प्रलयो भवति, सः खण्डप्रलयः।

सोऽयं महाविष्णोरेकदिवसात्मकः कालः। महाविष्णोः शतवर्षसमाप्तौ सर्वं भावकार्यं सृष्टिमयं प्रलीयते, सोऽयमात्यन्तिकप्रलयः महाप्रलय उच्यते।

देवताओं की कालगणना इस प्रकार होगी—

एष दैवस्त्वहोरात्रः तैः पक्षादि च पूर्ववत्।
दैववर्षसहस्राणि द्वादशैव चतुर्युगम्।
चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
रात्रिश्चैतावती तस्य ताभ्यां पक्षादिकल्पना।।



।। इति कालग्रन्थः ।।

## दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते ।। ४६ ।।

इदं दूरम्, इदमन्तिकम्, इस बुद्धि का असाधारण निमित्त 'दिक्' ही है। वह दिक् 'एक' अर्थात् सजातीय-प्रतियोगिकभेद-शून्य है। और 'नित्य' अर्थात् ध्वंसाऽप्रतियोगिनी तथा प्रागभावाऽप्रतियोगिनी है। 'दिक्पदजन्यबोधविषयत्वं दिशो-लक्षणम्'। यह 'दिक्' का लक्षण है।

दिशं निरूपयति—दूरान्तिकेति।

दूरत्वमन्तिकत्वं च दैशिकं परत्वमपरत्वं बोध्यम्। तद्बुद्धेरसाधारणं बीजं दिगेव। दैशिकपरत्वापरत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयतया लाघवादेका दिक् सिध्यतीति भावः ।।४६।।

।। इति दिशि प्रमाणकथनम् ।।

'दूर' अर्थात् देशमूलकपरत्व ( दैशिक परत्व ), और 'अन्तिक' अर्थात् देशमूलक अपरत्व ( दैशिक अपरत्व )। ये 'परत्व' और 'अपरत्व' दोनों 'गुण' पदार्थ हैं। 'संयुक्तसंयोगभूयस्त्वाश्रयत्वम्परत्वम्' और 'संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वाश्रयत्वमपरत्वम्'। इस परत्वाऽपरत्व का ज्ञान जिस असाधारण कारण से होता है, उसे दिक् कहते हैं। समीपदेशस्थित घटादि मूर्तद्रव्य की अपेक्षा दूर देश स्थित घटादिमूर्तद्रव्य में 'दैशिक परत्व' रहता है। उसी प्रकार दूरदेशस्थित-घटादिमूर्तद्रव्य की अपेक्षा समीपदेश-स्थित-घटादिमूर्तद्रव्य में 'दैशिक-अपरत्व' रहता है। ये दैशिकपरत्वाऽपरत्व, असमवायिकारणजन्य हैं। क्योंकि ये जन्यगुण हैं, घटनिष्ठरूप की तरह—'दैशिके परत्वाऽपरत्वे असमवायिकारणजन्ये जन्यगुणत्वात् घटनिष्ठरूपवत्।' 'यो यो जन्यगुणः स सर्वोऽपि असमवायिकारणजन्यः, यथा घटनिष्ठं रूपं जन्यगुणत्वात् कपालगतरूपाऽसमवायिकारणजन्यं भवति'। उसी तरह दूरत्व=परत्व, अंतिकत्व=अपरत्व-संज्ञक गुण भी जन्यगुण होने से असमवायिकारणजन्य होंगे। इस प्रकार जिस घटादिमूर्तपिण्ड में परत्वाऽपरत्व उत्पन्न होते हैं, उसके साथ जिस द्रव्य का असमवायिकारणरूप संयोग होता है, उसी द्रव्य को दिक् कहते हैं। अर्थात् 'दिशा-वस्तुनोः संयोग एव मूर्तपिण्डगत-परत्वाऽपरत्वयोः असमवायिकारणम्। यहाँ पर कारिकास्थ 'हेतु' शब्द का अर्थ 'बीज' किया है, अतः प्रकृत प्रसंग में 'बीज' का अर्थ प्रयोजक समझना चाहिए। एवं च 'दिक्' का लक्षण यह निष्पन्न हुआ—'दैशिक—विशेषणता—सम्बन्धावच्छिन्न—कार्यत्वावच्छिन्न—कार्यतानिरूपित—तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपित-तादात्म्य—सम्बन्धावच्छिन्नतया यत् निमित्तकारणं सा दिक्।

शंका—कारिकाकार ने 'दूरान्तिकादिधीहेतुः' कहा है, किन्तु यदि वे 'दूरान्तिकादिहेतुः' इतना ही कहते तब भी कोई हानि नहीं थी। तो 'धी' पद क्यों दिया ?

समा०—'धी' पद देने का अभिप्राय उनका यह है कि परत्वाऽपरत्व में प्रमाण प्रदर्शित किया जा सके। इसी अभिप्राय से 'दैशिकपरत्वाऽपरत्वयोः' ग्रन्थ दिया गया है। जैसे—स्रुघ्नपुर ( आगरे ) से कर्णपुर ( कानपुर ) की अपेक्षा वाराणसी में परत्व है, और वाराणसी की अपेक्षा कर्णपुर ( कानपुर ) में अपरत्व है। उसका समवायिकारण वाराणसी और कानपुर है और असमवायिकारण दिक्-कानपुर-संयोग तथा दिक्-वाराणसी-संयोग है। उसका आश्रय एक कानपुर होगा या वाराणसी होगा और दूसरा आश्रय दिक् ही होगी।

शंका—दिक्-पिण्डसंयोग के बजाय 'पृथ्वी-पिण्डसंयोग' को उसका असमवायिकारण क्यों न माना जाय ? उसे असमवायिकारण मान लेने पर 'दिक्' की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी।

समा०—पृथ्वी से असंयुक्त पदार्थ में भी दैशिक परत्वादि की उत्पत्ति होती है। अतः व्यभिचार होगा।

शंका—आकाश, काल, आत्मा, मन इनमें से किसी एक के साथ कानपुर के संयोग को ही उसका असमवायिकारण मान लें, दिक्संयोग की कल्पना करने की क्या आवश्यकता ?

समा०—आकाश, काल के साथ कानपुरसंयोग को असमवायिकारण मान लेने पर भी प्रत्येक जीवात्मा के साथ वैसा मानने में कोई विनिगमक नहीं है और आत्मा तथा मन तो अनन्त हैं। अतः उनके साथ अनन्त संयोग मानने होंगे, तब गौरव होगा। इसलिये लाघवात् एक अतिरिक्त दिक्संयोग की कल्पना करना उचित है। एवं च इस प्रकार भी अनुमान कर सकते हैं—'इदं दूरम्' 'इदमन्तिकम्' इति प्रत्ययः, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसम्बन्धप्रयुक्तः परत्वापरत्वहेतुकत्वात् कालिकपरत्ववत्। यहाँ पर सम्बन्ध के कारण जिस द्रव्य का प्रत्यय हो रहा है। वही दिक् है। दूरान्तिक और द्रव्य दोनों का सम्बन्ध 'स्वसमवायिसंयुक्तसंयोग' है। 'स्व' शब्द से बहुतर और अल्पतर संयोग, तत्समवायि मूर्तद्रव्य कानपुर आदि, तत्संयुक्त दिक्, तत्संयोग वाराणसी आदि में है ॥४६॥

॥ इति दिशि प्रमाणकथनम् ॥

## उपाधिभेदादेकाऽपि प्राच्यादिव्यपदेशभाक् ।

अब 'दिक्' एक ( सजातीयप्रतियोगिकभेदरहित ) रहने पर भी उपाधि (परिचायक ) भेद के कारण उसका प्राची, अवाची, उदीची इत्यादि प्रकार से व्यवहार किया जाता है।



**ननु यद्येकैव दिक् तदा प्राचीप्रतीच्यादिव्यवहारः कथमुपपद्यतामित्यत आह—**

**यत्पुरुषस्य उदयगिरिसन्निहिता या दिक् सा प्राची। एवमुदयगिरिव्यवहिता या दिक् सा प्रतीची। एवं यत्पुरुषस्य सुमेरुसन्निहिता या दिक् सोदीची। तद्व्यवहिता त्ववाची। 'सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः' इति नियमात्।**

शंका—दिक् ( दिशा ) एक पदार्थ है यह स्पष्ट हो चुका, किन्तु उस एक दिक् पदार्थ में पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर इत्यादि व्यवहार कैसे होंगे ?

समा०—दिक् ( दिशा ) पदार्थ एक होने पर भी वह अपनी उपाधि ( मूर्तद्रव्यरूप परिचायक ) भेद से पूर्वादि व्यवहार को प्राप्त होता है।

अब दिशा के व्यवहार में प्रमाण प्रदर्शित कर रहे हैं—'यत्पुरुषस्येति।' यहाँ 'पुरुष' पद मूर्तमात्र का उपलक्षक है। अवधिरूप पञ्चम्यर्थ में 'षष्ठी' विभक्ति है। 'दिक्' पद भी मूर्तमात्र का उपलक्षक है। एवं च—जिस मूर्तद्रव्य से उदयगिरि के समीप जो मूर्तद्रव्य हो, उससे वह प्राची ( पूर्व ) समझनी चाहिये। 'प्राक् अस्यामञ्चति सूर्यः इति प्राची' यह 'प्राची' शब्द की व्युत्पत्ति है। जैसे—काशी से गया अथवा प्रयाग से काशी। एवं च 'यदपेक्षया उदयगिरिसन्निहितं यन्मूर्तं सा ततः प्राची' उसी तरह 'यस्मात् उदयाचलविप्रकृष्टं यन्मूर्तं तत्तस्य प्रतीची'। प्रातिकूल्येन अस्यामञ्चति सूर्यः इति 'प्रतीची'। जैसे—गया से अथवा पाटलीपुत्र ( पटना ) से 'काशी'। यस्मात् सुमेरुसन्निकृष्टं यन्मूर्तं तत्तस्य 'उदीची'। उदग् अस्यामञ्चति सूर्यः इति 'उदीची'। जैसे—रामेश्वर से काशी। यस्मात् सुमेरुविप्रकृष्टं यन्मूर्तं तत्तस्य 'अवाची'। अवाग् अस्यामञ्चति सूर्यः इति अवाचि। जैसे—काशी से रामेश्वर। यदपेक्षया उदयगिरिसन्निहितत्वं च—यन्निष्ठोदयगिरि-संयुक्तसंयोगापेक्षया अल्पतरोदयगिरिसंयुक्तसंयोगवत्त्वम्। काशी से प्राच्या गया, यहाँ पर 'काशीनिष्ठ—उदयगिरिसंयुक्तसंयोगपर्याप्तसंख्याव्याप्यसंख्यापर्याप्त्यधिकरणोदयगिरिसंयुक्तसंयोगवन्मूर्तवृत्तिः गया, इत्यन्वयबोधः अर्थात् जिस पुरुष के लिये जो दिक् उदयाचल के समीप है, वह उसके लिये पूर्वदिक् है। और जो दिक् उदयाचल से दूर है, वह पश्चिम दिक् है। और जो दिक् सुमेरु के पास है, वह उस पुरुष के लिये उत्तर दिक् है और जो सुमेरु से दूर है वह उस पुरुष के लिये दक्षिण है। उसी तरह 'यतः पतति सा दिक् ऊर्ध्वा'। और 'यत्र पतति सा अधः'। इसी प्रकार विदिशाओं को भी जान लेना चाहिए। एवं च—'जन्यमात्रं क्रियामात्रं वा कालोपाधिः' और 'मूर्तमात्रन्तु दिगुपाधिः'। दीधितिकार का कहना है कि 'दिक् और काल' ईश्वर से पृथक नहीं हैं, किन्तु ईश्वर ही तत्तदुपाधि विशिष्ट होकर क्षण, दिन, प्राची, प्रतीची आदि व्यवहारों में निमित्त है। किन्तु इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि 'जीव' को ही उसमें निमित्त मान लिया जाय, किन्तु उसमें भी कोई विनिगमक नहीं है। 'एकपक्षपातिनि युक्ति' को विनिगमना कहते हैं।

उत्तर, दक्षिण के निर्णयार्थ 'सुमेरु' पर्वत को उपाधि के रूप में माना गया है, क्योंकि जम्बूद्वीप के भारत आदि जो नौ खण्ड ( वर्ष ) हैं, वे सब हमेशा सुमेरु पर्वत

के उत्तर भाग में ही रहते हैं। सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में कहा है कि 'भारतवर्षमिदं ह्युदगस्मात्, किन्नरवर्षमतो हरिवर्षम्। सिद्धपुराच्च तथा कुरु तस्माद् बिद्धि हिरण्मय-रम्यकवर्षे ॥—भारतवर्ष; किन्नरवर्ष, हरिवर्ष, कुरुवर्ष, हिरण्मयवर्ष, रम्यवर्ष, भद्राश्ववर्ष, केतुमालवर्ष, इलावृत्तवर्ष—ये नौ वर्ष हैं। वर्ष शब्द 'खण्ड' का बोधक है।

॥ इति दिश एकत्वव्यवस्थापनम् ॥

॥ इति दिग् ग्रन्थः ॥

## आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ॥४७॥

आत्मा—अतति गच्छति इति आत्मा—सर्वदेहव्यापि अर्थात् जीवात्मा। इन्द्रियाद्यधिष्ठाता—'आदि' पद से शरीर को लेना है। अधिष्ठाता—ज्ञान का सम्पादक। एवं च—आत्मा ( जीवात्मा ) ही चक्षुरादि इन्द्रियों में तथा शरीर में ज्ञान का अर्थात् चैतन्य का सम्पादक है।

आत्मानं निरूपयति—आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठातेति।

आत्मत्वजातिस्तु सुखदुःखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्धयति। ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव। अदृष्टादिरूपकारणाभावान्न सुखदुःखाद्युत्पत्तिः, नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यम्भाव इति नियमस्याप्रयोजकत्वात्।

परे त्वीश्वरे सा जातिर्नास्त्येव प्रमाणाभावात्। न च दशमद्रव्यत्वापत्तिः, ज्ञानवत्त्वेन विभजनादित्याहुः।

इन्द्रियादीति। इन्द्रियाणां शरीरस्य च परम्परया चैतन्यसम्पादकः।

यद्यप्यात्मनि 'अहं जाने, अहं सुखी' इत्यादि प्रत्यक्षविषयत्वमस्त्येव तथापि विप्रतिपन्नं प्रति प्रथमत एव शरीरादिभिन्नस्तत्प्रतीतिगोचर इति प्रतिपादयितुं न शक्यत इत्यतः प्रमाणान्तरं दर्शयति करणमिति। कुठारादीनां छिदादिकरणानां कर्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम्। एवं चक्षुरादीनां ज्ञानकरणानां फलोपधानमपि कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्तः कर्ता कल्प्यते ॥४७॥

॥ इति आत्मनि प्रमाणकथनम् ॥

अवसर संगति से 'आत्मा' का निरूपण कर रहे हैं। 'जीवात्मनिष्ठविषयतानिरूपकं यल्लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादिप्रकारकं ज्ञानं तदनुकुलव्यापारानुकूल-कृतिमान् ग्रन्थकारः इति शाब्दबोधः।'

आत्मा ( जीवात्मा ) इन्द्रियों का और शरीर का अधिष्ठाता अर्थात् 'जनकता'-संज्ञक परम्परासम्बन्ध से इन्द्रियों में ज्ञानवत्ता का सम्पादक तथा 'अवच्छेदकता'-संज्ञक परम्परासम्बन्ध से शरीर में ज्ञानवत्ता का सम्पादक है। अतः आत्मा का लक्षण यह हो सकता है—'इन्द्रियाद्यधिष्ठातृत्वम्' अथवा 'समवायेन ज्ञानाधिकरणत्वम्' आत्मनो लक्षणम्।

काल आदि भी कालिक आदि सम्बन्ध से ज्ञानाधिकरण होते हैं। अतः अतिव्याप्ति होगी अथवा विषयतासम्बन्ध से विषयों में ज्ञानवत्त्व होने से अतिव्याप्ति होगी



उसका वारण करने के लिए लक्षण में 'समवायेन' कहा गया है। भूतकाल में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'ज्ञान' पद दिया गया है। लक्षणगत 'ज्ञान' शब्द, इच्छा आदि का भी उपलक्षक हैं। अनुमान यह होगा—'इन्द्रियाणि शरीरं च, ज्ञात्राधिष्ठितम् अचेतनत्वे सति जनकत्व-अवच्छेदकत्व एतदन्यतर सम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वात्, वास्यादिवत्।' 'शरीर-इन्द्रिय' आदि अवच्छेदक हैं, और 'आत्मा' अवच्छेद्य है।

शंका— मुक्ति की अवस्था में आत्म-मनःसंयोग के न होने से ज्ञान नहीं है, अर्थात् ज्ञानाभाव है। अतः आत्मा में अव्याप्ति होगी।

समा०—उक्त अव्याप्ति के वारणार्थ 'ज्ञानसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्' ऐसा जातिघटित लक्षण कर देना चाहिये।

कारिकाकार ने आत्मा में प्रमाण बताने के लिये 'करणम्' कहा है। ज्ञान का करणभूत इन्द्रिय, जिस चेतन कर्ता से अधिष्ठित है, वही 'आत्मा' है। क्योंकि यह सामान्य व्याप्ति है—यत्-यत् करणं तत् तत् सकर्तृकं। यथा—वृक्षद्वैधीभावस्य करणं कुठारः कर्त्रा चेतनेन अधिष्ठितो दृश्यते। एवं च इन्द्रियाणि कर्त्राधिष्ठितानि अचेतनत्वे सति करणत्वात् कुठारवत्'—इस अनुमान से आत्मा सिद्ध हो जाता है।

यदि 'नित्यज्ञानवत्त्व' आत्मा का लक्षण करें तो जीवात्मा में अव्याप्ति होती है, और 'अनित्यज्ञानवत्त्व' आत्मा का लक्षण करें तो परमात्मा में अव्याप्ति होती है। यदि 'उभयविधज्ञानवत्त्व' लक्षण करें तो, ऐसा ज्ञानवत्त्व ही अप्रसिद्ध है। इसलिए 'स्वावच्छिन्नाधिकरणत्व सम्बन्ध से ज्ञानवत्त्व' लक्षण करना ही उचित है। अब 'आत्म' शब्द से आत्मत्व-विशिष्ट की उपस्थिति होती है। एवं च 'आत्मत्वजातिमत्त्वम् आत्मनो लक्षणम्' यह अर्थात् प्राप्त हो जाता है। तथापि 'आत्मत्वजाति' को भी प्रमाण से सिद्ध करना चाहिये, इसलिए मुक्तावलीकार 'आत्मत्वजातिस्तु' ग्रन्थ को उपस्थित कर रहे हैं। ऊपर बता चुके हैं—आत्मा इन्द्रिय, शरीर आदि का अधिष्ठाता है, क्योंकि करण सर्वदा सकर्तृक होता है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना आदि में से अन्यतम का समवायिकारण जब कि आत्मा है तो समवायिकारणतावच्छेदकतया आत्मत्व जाति की सिद्धि हो जाती है। अनुमान इस प्रकार होगा—समवायसम्बन्धावच्छिन्न—सुखत्वावच्छिन्नसुखनिष्ठकार्यतानिरूपित—तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नात्मनिष्ठकारणता, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, तन्तुनिष्ठकारणतावत् इति यः किञ्चिद्धर्मः स आत्मत्वम्। इसी प्रकार दुःख आदि को लेकर भी अनुमान कर लेना चाहिये। इसी प्रकार 'जीवेश्वरनिष्ठा या आत्मपदशक्यता, सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, शक्यतात्वात् पटनिष्ठपटपदशक्यतावत्'—इस प्रकार का शक्यतावच्छेदक 'आत्मत्व' ही सिद्ध होता है। अतः 'आत्मपदजन्यप्रतीतिविषयत्वम् आत्मत्वम्' यह लक्षण भी आत्मा का हो सकता है।

शंका—'आत्मत्व' जाति तो 'अहं सुखी' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध हो सकती है, उसे सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रमाण की क्या आवश्यकता है?

समा०—सकलात्मसाधारणतया प्रत्यक्ष का होना सम्भव न होने से सकल

आत्माओं में 'आत्मत्व' जाति की सिद्धि के लिये 'अनुमान' प्रमाण की आवश्यकता हुई, और अनुमान प्रमाण से उसे सिद्ध किया गया।

शंका—'आत्मन्' शब्द से आत्मा और परमात्मा ( ईश्वर ) दोनों समझे जाते हैं। तथापि परमेश्वर में सुख की उत्पत्ति न होने से सुखसमवायिकारणता 'परमेश्वर' में नहीं आ सकेगी, तब आत्मा, परमेश्वर-उभयसाधारणी 'आत्मत्वजाति' सिद्ध कैसी होगी ?

समा०—'कारणता' दो प्रकार की होती है—एक 'फलोपधायकतारूपकारणता' और दूसरी 'स्वरूपयोग्यतारूपकारणता'। परमेश्वर में फलोपधायकतारूपकारणता के न रहनेपर भी स्वरूपयोग्यतारूपकारणता तो रहती ही है। उस कारणता के अवच्छेदकरूप में आत्मत्वजाति की सिद्धि हो सकती है। भगवती श्रुति ने भी इसका समर्थन किया है—"आत्मा वा अरे दृष्टव्यः"—( बृहदा० २।४।५ ) इस श्रुति में परमेश्वर के लिये भी आत्मपद का व्यवहार किया गया है। अतः आत्मपदशक्यतावच्छेदकतया आत्मत्वजाति की सिद्धि परमेश्वर में हो जाती है।

शंका—यदि आत्मत्वजाति दोनों ( आत्मा और ईश्वर ) में साधारण है, तो ईश्वर में सुखादिकों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? अर्थात् जीव की तरह ईश्वर भी सुख-दुःखादिमान् होना चाहिये।

समा०—"अदृष्टादिरूपकारणाभावादिति।" सुख-दुःखादि के उपभोग में 'अदृष्ट' को ही हेतु ( कारण ) माना गया है। 'अदृष्ट' पद से धर्म-अधर्म कहे जाते हैं। और 'आदि' पद से सुख-दुःखादि के अवच्छेदक 'शरीर' को समझना चाहिये। ईश्वर में धर्माऽधर्मरूप अदृष्ट नहीं है, और न उसका शरीर ही है। अतः 'आत्मत्वजाति' के रहने पर भी उसमें ( ईश्वर में ) सुख-दुःखादि की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि यह नियम है कि प्रधान कारण के रहने पर भी जब तक सहकारिकारण न हो तब तक कार्य की उत्पत्ति नहीं हो पाती। 'प्रधाने कारणे सत्यपि सहकारिणमन्तरा कार्यं नोत्पद्यते' यह नियम है।

शंका—जैसे अरण्य-स्थित दण्ड में घटस्वरूपयोग्यता रहने से कभी न कभी 'घट' रूपी फल का होना असम्भव नहीं है, अर्थात् उससे कदाचित् 'घट' हो भी सकता है। उसी तरह ईश्वर में भी सुख-दुःखादि की स्वरूपयोग्यतारूप कारणता मानी गई है, और वह, ईश्वर की स्थिति नित्य रहने से सदा ही रहेगी। अतः उस में ( ईश्वर में ) कभी तो सुखःदुःख आदि कार्य की उत्पत्ति अवश्य ही होगी क्योंकि 'नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यंभावः'—यह नियम है। एवं च ईश्वर भी जीव के समान ही सुख-दुःखादिमान् होगा।

समा०—'नित्यस्येति।' 'नित्य परमात्मा में स्वरूपयोग्यतारूप सुख-दुःखादि समवायिकारणता के रहनेपर भी उसमें सुख-दुःखादिरूप फल की उत्पत्ति अवश्य होनी ही चाहिये—यह नियम व्यभिचरित है। उक्त नियम का जलपरमाणु में व्यभिचार दिखाई देता है। क्योंकि जलीयपरमाणु में स्नेह की स्वरूपयोग्यतारूप



कारणता के रहने पर भी स्नेहरूप फल की उत्पत्ति परमाणु में नहीं होती अपितु जन्यजल में ही स्नेह की उत्पत्ति होती है। अतः उक्त नियम का जलपरमाणु में व्यभिचार स्पष्ट है। एवं च—जलपरमाणु में स्नेह के नित्य होने से 'नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे, यह नियम अप्रयोजक है। अतः वास्तविक नियम यह है—'सकलकारणसमवधाने सति नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वे फलाऽवश्यंभावः। एवं च सकलकारणान्तर्गत अदृष्टादि भी आ जाते हैं, उन अदृष्टादि सहकारी कारणों के न रहने से परमेश्वर में सुख-दुःखादि फल ( कार्य ) की उत्पत्ति नहीं हो पाती। अतः जीव की तरह ईश्वर को भी सुख-दुःखादिमान् नहीं कह सकते।

शंका—ईश्वर में 'अदृष्ट' की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाती ?

समा०—अदृष्टरूप कार्य की उत्पत्ति में मिथ्याज्ञान (आत्मतत्त्वज्ञान-भिन्न ज्ञान) कारण है। ईश्वर में मिथ्याज्ञानरूप कारण के न रहने से अदृष्टरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

शंका—परे त्विति। सुख की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप से जो जाति सिद्ध होगी, वह 'जीवत्व' जाति ही होगी, 'आत्मत्व' जाति नहीं, क्योंकि 'आत्मत्व' धर्म अतिप्रसक्त है। और 'धर्म' वही अवच्छेदक माना जाता है जो अन्यून तथा अनतिरिक्त हो—'अन्यूनानतिरिक्तस्यैव धर्मस्य अवच्छेदकत्वात्' यह नियम है। यदि इस नियम को न माना जाय तो 'आत्मत्व' की तरह 'द्रव्यत्व' धर्म को भी उक्त समवायिकारणता का अवच्छेदक न माना जाय ? ऐसा कतिपय नवीन नैयायिक कहते हैं। 'आत्मत्व' धर्म अतिप्रसक्त है, अतः उसे अवच्छेदक मानने में कोई प्रमाण नहीं है। एवं च सुख-दुःखादि-समवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध जो आत्मत्वजाति, वह ईश्वर में नहीं है, क्योंकि उसके होने में कोई प्रमाण नहीं है।

किञ्च—'क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः' इस द्रव्यविभाजकवाक्य में 'आत्मपद' से केवल जीव का ही ग्रहण करें और ईश्वर का पृथक् निवेश करें तो ( उक्त नौ द्रव्यों में परमेश्वर का समावेश न हो पाने से ) उसे दसवाँ द्रव्य कहना होगा तब 'आत्मा' शब्द से ईश्वर का बोध नहीं हो सकेगा। और दूसरी बात यह भी है कि 'आत्मा वारे' इस श्रुति में आये हुए आत्मत्वजातिपद का कोई वाच्य नहीं बन पायगा।

समा०—'ज्ञानवत्त्वेन विभाजनादित्याहुरिति।' 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन' इस प्रकार विभाग करते समय हम यहाँ द्रव्यविभाजक धर्म आत्मत्व को न मानकर ज्ञानवत्त्व मान लेंगे। वह 'ज्ञानवत्त्व' समवायसम्बन्ध से ईश्वर में भी रहेगा। और हमें "आत्मा" पद से दोनों ( जीवात्मा-परमात्मा ) प्राप्त हो सकेंगे। तात्पर्य यह है कि सुखादिसमवायिकारणतावच्छेदकरूप जाति तो 'जीवत्व' होगी और विभाजकतावच्छेदक ज्ञानवत्त्व ही होगा। जिससे ईश्वर को दसवाँ द्रव्य मानने का प्रसंग भी नहीं आवेगा। क्योंकि नौ द्रव्यों में ही उसका समावेश हो जायगा। श्रुति में आया हुआ 'आत्म शब्द भी ज्ञानवत्त्वावच्छिन्न ज्ञानवान् को लक्षण से बता देगा। ग्रन्थकार ने 'आहु' पद का प्रयोग किया है। इससे

सूचित होता है कि यह समाधान ग्रन्थकार को सम्मत नहीं है। ग्रन्थकार यह बता रहे हैं कि पूर्वोक्त अनुमान प्रमाण से परमेश्वर में भी 'आत्मत्वजाति, के मानने में कोई बाधक नहीं है। अतः आत्मत्वावच्छिन्न में आत्मन् शब्द की शक्ति का त्याग कर ज्ञानावच्छिन्न में लक्षणा मानना और 'जीवत्व, रूप न्यून धर्म को अवच्छेदक मानना तथा ज्ञानवत्त्व को विभाजकतावच्छेदक मानना यह सब गौरवास्पद ही होगा।

लक्षण बता कर अब उसका ( आत्मा का ) स्वरूप बता रहे हैं–इन्द्रियादीति। मुक्तावलीकार 'इन्द्रियाणां शरीरस्य च' इत्यादि ग्रन्थ से 'इन्द्रियाद्यधिष्ठाता' इस मूल कारिका का व्याख्यान कर रहे हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की जनक हैं, अतः जनकताख्यपरम्परासम्बन्ध से इन्द्रियों में ज्ञान का ( चैतन्य का ) सम्पादन आत्मा करता है। उसी प्रकार अवच्छेदकता-सम्बन्ध से ज्ञान के प्रति शरीर साधन होता है। अतः अवच्छेदकताख्यपरम्परासम्बन्ध से शरीर में ज्ञान ( चैतन्य ) का सम्पादन आत्मा ही करता है।

एवञ्च 'इन्द्रियाणां शरीरस्य च' ग्रन्थ के द्वारा ग्रन्थकार ने अनुमानप्रमाण से आत्मा को प्रदर्शित किया है। अनुमान इस प्रकार होगा–—-इन्द्रियाणि ज्ञात्रधिष्ठितानि, अचेतनत्वे सति जनकतासम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वात्।' 'शरीरं ज्ञात्रधिष्ठितम्, अचेतनत्वे सति अवच्छेदकतासम्बन्धेन ज्ञानवत्त्वात्।' जैसे जपापुष्प स्वसंयुक्तस्फटिकमणि में स्वच्छत्वविशिष्टसामीप्यादिसम्बन्ध से लौहित्यवत्त्व समर्पण करता है उसी तरह इन्द्रियाँ तथा शरीर यथाक्रम जनकता और अवच्छेदकता सम्बन्ध से आत्मा में ही ज्ञानवत्व का होना बताती हैं। क्योंकि अचेतन हमेशा चेतनाधिष्ठित होकर ही कार्य कर पाता है। इस व्याप्ति के अनुसार अचेतन इन्द्रियों में तथा अचेतन शरीर में जो चैतन्य की प्रतीति होती है वह परम्परया अर्थात् इन्द्रियों में जनकता (करणता) सम्बन्ध से और शरीर में अवच्छेदकता सम्बन्ध से होती है, क्योंकि इन्द्रियाँ और शरीर दोनों जड ( अचेतन ) हैं, उनमें चैतन्य का सम्पादन आत्मा के द्वारा ही समझना चाहिए।

शंका–यद्यपि 'अहं जाने अहं सुखी' अर्थात् 'सुखवानहम्, ज्ञानवानहम्' इस प्रकार से आत्मा का मानसप्रत्यक्ष सभी को होता है। तब आत्मा तो मानसप्रत्यक्ष का विषय है। अतः आत्मा में स्वमानसप्रत्यक्ष ही प्रमाण है। एवं च आत्मा तो प्रत्यक्षप्रमाण से ही सिद्ध है। उसकी सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

समा०–—'तथापि विप्रतिपन्नम्प्रति' ग्रन्थ से समाधान दे रहे हैं–कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं, जिनके निर्णय न्यायसिद्धान्त के प्रतिकूल ( विरुद्ध ) हैं। जैसे चार्वाक-दर्शनकार 'शरीरमेवात्मा, इन्द्रियाण्येवात्मा, मन एवात्मा'—एक चार्वाक शरीर को ही आत्मा कहते हैं, दूसरे चार्वाक इन्द्रियों को ही आत्मा बताते हैं, तीसरे चार्वाक मन को ही आत्मा समझते हैं। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न चार्वाकों के प्रति, तथा 'क्षणिकविज्ञान' को ही आत्मा समझने वाले बौद्ध के प्रति, तथा 'नित्यविज्ञान' को ही 'आत्मा' कहने वाले अद्वैत वेदान्तियों के प्रति सर्वप्रथम 'अहं जाने' इत्यादि प्रतीति



का विषय 'शरीरादि से भिन्न आत्मा है' यह आप नहीं बता सकते, क्योंकि उपर्युक्तवादी शरीर आदि को ही आत्मा समझ बैठे हैं। इसलिए 'शरीरादि' से भिन्न आत्मा है' यह बताने वाला प्रमाणान्तर ( अनुमान ) बताना आवश्यक है। अर्थात् हम नैयायिक पहले ही कह देना चाहते हैं कि आत्मा, शरीर-इन्द्रिय-मन-क्षणिक-विज्ञान-नित्यविज्ञानरूप नहीं है, अपितु इन सबसे भिन्न है। वह तो 'सुखवाहनम्', 'दुखवाहनम्', 'ज्ञानवाहनम्' इन प्रतीतियों का विषय है। एवं च—'सुखादिनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित-अहन्त्वावच्छिन्न-विशेष्यतावान् चेतनात्मा ही है' यह बात प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा नहीं बताई जा सकती। 'सुखवानहम्' इत्यादि प्रतीति यद्यपि सभी को होती है, तथापि चार्वाक मत के अनुसार 'अहन्त्वावच्छिन्न विशेष्यता' 'शरीर' में रहेगी। अन्य नास्तिकों के मतानुसार 'इन्द्रिय और मन' में रहेगी। बौद्धों के मतानुसार 'क्षणिकविज्ञान' में और अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार 'नित्य-विज्ञान' में रहेगी। किन्तु 'आत्मा' उन सबसे भिन्न है—यह बताने के लिये अनुमान-प्रमाण का आश्रय करना पड़ रहा है। इसी अभिप्राय को करणमिति' ग्रन्थ से बता रहे हैं। मूलकारिका में 'करणं हि सकर्तृकम्' कहा गया है। करणम्= साधकतम अर्थात् जो क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक हो। हि= निश्चय। सकर्तृकम्= कर्त्रा सह वर्तमानम्, कर्ता से युक्त। तात्पर्य यह है कि जो-जो करण होता है, वह कभी भी कर्ता के बिना नहीं होता—यह निश्चित है।

**वास्यादीनां छिदादिकरणानां कर्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम्। एवं चक्षुरादीनां ज्ञानकरणानां फलोपधानमपि कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्तः कर्ता कल्प्यते।**

( जैसे ) अचेतन वासी ( बसूला ) तथा कुठार ( कुल्हाड़ी ) ये सब लकड़ी के काटने ( छेदनक्रिया ) में सहायक ( करण ) होते हैं, किन्तु उनका सहायक बन पाना किसी चेतनकर्ता के बिना संभव नहीं है। वैसे ही ज्ञानोत्पत्तिक्रिया में जड़ चक्षुरिन्द्रिय आदि भी सहायक ( करण ) होते हैं, किन्तु उनका भी सहायक ( करण ) बन पाना चेतन 'कर्ता' के बिना नहीं हो सकता। अर्थात् अचेतन ( जड़ ) करणों से फलोत्पत्ति तभी हो सकती है, जब वे किसी चेतन कर्ता का आश्रय (सहारा) अनुमान के द्वारा लेते हैं। अतः अचेतनों से भिन्न चेतन आत्मा का कर्ता के रूप में अनुमान किया जाता है। अनुमान इस प्रकार होगा–'इन्द्रियं सकर्तृकम्, फलोपधानात्मक-कारणत्वघटितकारणत्वात्, छेदनफलोपधायकवास्यादिवत्।' 'चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि रूपाद्युपलब्धौ सकर्तृकाणि करणत्वात् छिदादिक्रियासाधकतमकुठारादिवत्' ॥ ४७ ॥

॥ इति आत्मनि प्रमाणकथनम् ॥

**शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।**
**तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ॥ ४८ ॥**

चार्वाक का अपना मत है कि 'चैतन्य ( ज्ञान ) समवायसम्बन्ध से शरीर का गुण है।' शरीर और ज्ञान दोनों में कार्य-कारणभाव के प्रति उनका सिद्धान्त है कि 'समवायेन ज्ञानम्प्रति शरीरं कारणम्'। परन्तु उनका उपर्युक्त कथन उचित नहीं है क्योंकि प्राणहीन शरीरों ( शवों ) में व्यभिचार दिखाई देता है। अर्थात् शरीरात्मक कारण के रहते हुए भी ज्ञान रूप कार्य वहाँ नहीं हो पाता। अतः शरीर और ज्ञान (चैतन्य) का कार्य-कारणभाव मानने में 'अन्वय-व्यभिचार' दोष होता है।

ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह—शरीरस्येति।

ननु चैतन्यं ज्ञानादिकमेव, मुक्तात्मनां त्वन्मत इव मृतशरीराणामपि तदभावे का क्षतिः, प्राणाभावेन ज्ञानाभावस्य सिद्धेरिति चेन्न, शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरे स्मरणानुपपत्तेः, शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात्।

न च पूर्वशरीरोत्पन्नसंस्कारेण द्वितीयशरीरे संस्कार उत्पद्यत इति वाच्यम्, अनन्तसंस्कारकल्पने गौरवात्।

शंका—चार्वाक, नैयायिक से कहता है कि आपने चक्षुरादि इन्द्रियरूप करणों के कर्ता को ही 'आत्मा' कहा है। तब 'स्थूलोऽहं' कृशोऽहम्' 'करोमि' आदि प्रतीति के होते रहने से स्थूलता, कृशता और क्रियानुकूलकृति तो शरीर में ही प्रत्यक्ष दिखाई देती है। अतः 'अहंपरविषयता' को भी शरीर में ही मान लेना उचित है। एवं च—कृति की कारणभूत इच्छा और इच्छा का कारणभूत ज्ञान भी 'शरीर' ही है। इससे चार्वाक का मत स्पष्ट हो जाता है कि 'शरीर ही आत्मा है।' इस प्रकार चार्वाक के मत को ग्रन्थकार ने 'ननु शरीरस्यैव' ग्रन्थ से सूचित किया है। चार्वाक की शङ्का का आशय यह है कि 'समवायेन ज्ञानं प्रति शरीरं कारणम्' यहाँ पर आपने ( नैयायिक ने ) जैसे मृत शरीर में व्यभिचार दिखाया, वैसे ही न्यायमत में भी 'समवायेन ज्ञानं प्रति आत्मा ( चेतनः ) कारणम्' इस कार्य-कारणभाव का 'मुक्तात्मा' में ज्ञान के न होने से अन्वयव्यभिचार है। उसका निराकरण करने के लिये यदि नैयायिक कहे कि 'समवायेन ज्ञानं प्रति शरीर-विशिष्ट-मनःसंयोगावच्छिन्नात्मनः कारणत्वम्', तो हम चार्वाक भी 'समवायेन ज्ञानं प्रति प्राणविशिष्टशरीरं कारणम्' कहकर आपके दिये हुए व्यभिचार का वारण कर सकते हैं। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि 'शरीर ही आत्मा है' यह हम चार्वाकों का सिद्धान्त है।

अथवा—'चैतन्यं' का अर्थ चेतनत्व ( आत्मत्व ) है, तत्र उसमें 'ज्ञानादिकमेव' अर्थात् ज्ञानेच्छाधिकरणत्व ही है। 'ज्ञानादिकम्' का अर्थ ज्ञानवत्त्व ( ज्ञानविशिष्टत्व ) नहीं है। जिससे मृतशरीर में व्यभिचार दिखाया जा सके। एवं च—नैयायिक के मत के अनुसार मुक्तात्मा से ज्ञान के न रहने पर भी ज्ञानाधिकरणत्व तो रहता ही है। उस कारण आत्मा में 'इतरभेदसाधक ज्ञानाधिकरणत्व' हेतु, जैसे स्वरूपासिद्ध



नहीं हो पाता वैसे ही मुझ चार्वाक के मत में भी मृतशरीरों में ज्ञान का अभाव रहने पर भी ज्ञानाधिकरणत्व के रहने से स्वरूपसिद्धि आदि कोई दोष नहीं दिया जा सकता।

अथवा—'चैतन्य' का अर्थ ज्ञान, इच्छा कृति है। वह ज्ञान, इच्छा, कृति नैयायिक के सिद्धान्तानुसार मुक्तात्मा में नहीं रहती, क्योंकि नैयायिक के सिद्धान्त में मुक्त आत्मा जड़ होती है। उसी प्रकार चार्वाक भी कह सकता है कि मृतशरीर-रूपी आत्मा में चैतन्य नहीं है। नैयायिक चार्वाक से पूछता है कि तुम बताओ कि अपने उपर्युक्त कथन के अनुसार मृत शरीर में ज्ञान क्यों नहीं होता चार्वाक उत्तर देता है—'प्राणाभावेन' इति। ज्ञान होने में जो अनेक कारण हैं उनमें से एक कारण 'प्राण' भी है, उस प्राण के न होने से ज्ञान नहीं होता। अर्थात् मृतशरीर में प्राणा-भावप्रयुक्त—ज्ञानाभाव है। निष्कर्ष यह है नैयायिक भी यही कहता है कि जिस आत्मा से प्राण का सम्बन्ध है, उसी से ज्ञान का सम्बन्ध है। अर्थात् जिस आत्मा में प्राण नहीं, उसमें ज्ञान भी नहीं है। इसलिए मुक्तात्मा में प्राणाभाव से ज्ञानाभाव की सिद्धि की जाती है। उसी प्रकार हम चार्वाक भी यही उत्तर देंगे कि मृतशरीररूपी आत्मा में प्राण के न होने से ज्ञानाभाव की सिद्धि हो जाती है। इसलिये शरीर को 'आत्मा' स्वीकार करने में नैयायिक के द्वारा प्रदर्शित किये गये व्यभिचार आदि दोष व्यर्थ हैं।

चार्वाक के द्वारा इस प्रकार उत्तर पाने पर नैयायिक अन्यान्य दूषणों को दिखा-कर चार्वाक सिद्धान्त का खण्डन करता है—'शरीरस्येति'। नैयायिक बताता है कि शरीर को चेतन ( आत्मा ) स्वीकार करने पर शैशव अवस्था में देखे हुए पदार्थों ( वस्तुओं )का बुढ़ापे में स्मरण नहीं हो सकेगा। क्योंकि शरीर तो अवयवों के उपचय ( बृद्धि ) तथा अपचय ( ह्रास ) के कारण उत्पाद विनाशशाली है अर्थात् बचपन ( शैशवावस्था ) में जो शरीर था, वह वृद्धावस्था ( बुढ़ापे ) में नहीं रहा अर्थात् प्रत्येक अवस्था में अन्य-अन्य शरीर उत्पन्न होता गया। अतः शैशव अवस्था में अनुभव किये गये पदार्थों का युवावस्था या वृद्धावस्था में स्मरण नहीं बनेगा, अर्थात् अनुपपन्न होगा। लेकिन स्मरण तो सभी को होता है, चार्वाक को भी होता है। अतः शरीर से अतिरिक्त आत्मा, जो अनुभवजन्य संस्कारों का आश्रय है, सिद्ध होता है।

चार्वाक अपने मत में स्मरण की उपपत्ति लगाता है—'न चेति'। चार्वाक कहता है—पूर्वशरीर में उत्पन्न हुए संस्कार अग्रिम शरीरों में संस्कारों को उत्पन्न करेंगे, जिससे स्मरणानुपपत्ति दोष नहीं बनेगा। क्योंकि पूर्वानुभवजन्य संस्कार, 'स्वजन्य-संस्कार-प्रयोज्य-संस्कारवत्त्व' सम्बन्ध से उत्तरोत्तर शरीरों में होते रहते हैं। यहाँ पर 'स्व' शब्द से पूर्वशरीरस्थ अनुभव लेना है। अतः सभी अवस्थाओं में स्मरण हो सकता है। इसलिए शरीर ही आत्मा है।

नैयायिक कहता है—चार्वाक की युक्ति (उपपत्ति) ठीक नहीं है। क्योंकि अनन्त

संस्कारों की कल्पना करने में कल्पना-प्रयुक्त-गौरव होगा। तथापि चार्वाक यदि कहे कि आपका दिया हुआ 'अनन्तसंस्कार-कल्पना-प्रयुक्त-गौरव'-दोष इसलिए नहीं माना जायगा कि वह फलमुख है। 'फलमुख-गौरवं न दोषाय' यह नियम है—फलं= कार्य-कारणभाव का ज्ञान, तन्मुखं—उसके अधीन, गौरवं—गौरवज्ञान। कार्य-कारण-भावज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होने वाला गौरवज्ञान, कारणता के निश्चय करने में प्रतिबन्धक नहीं हुआ करता। विशिष्टज्ञानत्वेनरूपेण विशिष्टज्ञानत्व-धर्मिकगौरवज्ञान ही कारणता के निश्चय में प्रतिबन्धक ( विरोधी ) होता है। विशिष्टज्ञानत्वनिष्ठ गौरव का अर्थ होगा—'यत्किञ्चिदनुमित्यव्यवहित-पूर्वकालावच्छेदेन अवश्यकल्पनीय-स्वाश्रयकत्वम्। यहाँ 'स्व' शब्द से गौरव को लेना है, तदाश्रय होगा 'परामर्श', तत्कत्वगौरव 'विशिष्टज्ञानत्व' में आवेगा। एवं च विशिष्टज्ञानत्वेन-रूपेण विशिष्ट-ज्ञान को कारण मान लेने पर उसकी उपपत्ति के लिये दो ज्ञानों के बाद होने वाली अनुमिति के पूर्व विशिष्टज्ञान की कल्पना करनी होगी, तदनन्तर गौरवज्ञान होगा। एवं च कार्य-कारणभाव के निर्णय से पूर्व गौरव का निर्णय न हो पाने से उत्तर-कालिक गौरवज्ञान, अपने से पूर्व उत्पन्न होनेवाले कारणता के निर्णय का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। अतः इस प्रकार का 'गौरव' दोषावह नहीं माना जाता।

इसी नियम का उपपादन अन्य प्रकार से भी किया जाता है जैसे—फलं मुखं प्रधानं यस्य तत्र यद्गौरवं तद्दोषावहं न भवति।

यथा वह्निमान् धूमादित्यत्र विशृङ्खलतया व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानस्य सत्वेऽपि विशिष्टज्ञानकल्पने न गौरवम्।

इसलिये दूसरा दूषण दे रहे हैं। शरीर को यदि आत्मा मानेंगे तो उत्पन्न हुए बालक की प्रथम स्तन्यपान में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि 'इदं स्तन्यपानं मदिष्टस्य ( जीवनस्य ) साधनम्'—यह स्तन्य ( दुग्ध ) पान मेरे इष्ट ( जीवन ) का साधन है—यह स्मरणात्मकज्ञान ही इच्छाद्वारा मातृ-स्तन्य-पान में बालक की प्रवृत्ति का कारण है। प्रथम स्तन्यपान से पूर्व, स्तन्यपान का अनुभव बालक के शरीर ने नहीं किया था। दुग्धपान प्रवृत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में अपनी इष्ट-साधनता का स्मारक 'इदं मदिष्टसाधनम्' इत्याकारक अनुभवात्मकसहकारिकारण शरीरात्मक आत्मा में नहीं है। एवं च कौन-सा वह अनुभव है, जो संस्कार को उत्पन्न कराकर इष्टसाधनताज्ञानात्मक स्मृति को उत्पन्न करायेगा, और प्रवृत्ति करायेगा? कहना होगा कि कोई अनुभव नहीं है। इसलिये मानना होगा कि पूर्व-जन्म के शरीर में अनुभव किये हुए दुग्धपान के दृढ़तर संस्कार से युक्त आत्मा है, जिसे इस जन्म में स्मरण हो रहा है। अतः वह ( आत्मा ) शरीर से भिन्न ही है। इस कारण शरीर को आत्मा नहीं मान सकते।

हमारे ( नैयायिक के ) मत में—नवजात शिशु की प्रथम स्तन्यपान में प्रवृत्ति का होना उपपन्न होता है। नैयायिकों के मतानुसार तो 'आत्मा' नित्य है। अतः वह शरीर आदि से भिन्न है। जिस आत्मा ने पूर्वजन्म में माता के स्तनपान का



जो अनुभव ( स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम् ) लिया था, उससे आहित ( उत्पन्न ) संस्कार से दूसरे जन्म में पैदा होने पर प्रथम स्तन्यपान-प्रवृत्ति के अव्यवहित पूर्व-क्षण में 'स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम्' इस प्रकार स्तन्यपाननिष्ठ अपनी इष्टसाधनता का स्मरण हो आता है, उस स्मरण से इच्छा होती है, तब बालक की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् स्मृति-अनुभव-साधारण इष्टसाधनता का ज्ञान होने पर ही प्रवृत्ति होती है। अतः आत्मा, शरीर से भिन्न ही है। जो आत्मा पूर्वजन्म के शरीर में था और जिसने स्तनपान में इष्टसाधनता का अनुभव प्राप्त किया था, वही आत्मा अब पुनः इस जन्म के शरीर में प्राप्त ( संयुक्त ) होकर, जन्मान्तरीय अनुभव के संस्कार के कारण स्तन्यपान में इष्टसाधनता का स्मरण करता है और प्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है। तथापि उस पर चार्वाक की पुनः आपत्ति है।

चार्वाक की आपत्ति—'न च जन्मान्तरानुभूतमिति।' यदि नैयायिक के मता-नुसार आत्मा नित्य है तो उसने पूर्वजन्म में वाद-विवाद, युद्ध-कलह, काम-संभोगादि कितनी ही बातों का अनुभव किया होगा, उन सभी का स्मरण उसे ( बालक को ) इस जन्म में होना चाहिये, क्योंकि उन सभी अनुभवों से उत्पन्न हुए सभी संस्कार उस बालक की आत्मा में विद्यमान हैं।

नैयायिक उक्त आपत्ति का समाधान करता है—उद्बोधकाभावादिति' संस्कारों के विद्यमान रहने पर भी वे ( संस्कार ) शैशवावस्था में अनुद्बुद्धरूप में हैं। वाद-विवाद, युद्ध-कलह, काम-संभोगादि संस्कारों का उद्बोधक यौवन का शरीर है, बाल्यावस्था का शरीर नहीं। स्मृति के प्रति उद्बुद्ध-संस्कार ही कारण होते हैं। अतः बचपन में कामभोगादि-स्मरण की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

प्रश्न—इष्टसाधनता के स्मारक संस्कार का बचपन में उद्बोधक कौन है?

उत्तर—'अत्रेति।' 'स्तन्यपानं मम इष्टसाधनम्'—इत्याकारक इष्टसाधनता-स्मारक संस्कार के प्रति जीवनादृष्ट अर्थात् शरीर में प्राणस्थिति ( जीवन ) के प्रयोजकरूप धर्माधर्मरूप अदृष्ट को ही उद्बोधक ( इष्टसाधनतास्मारकसंस्कारोद्-बोधक ) अनायत्या ( अगतिकगति होकर ) मानना पड़ता है। अन्यथा बालक का जीवन ही असंभव हो जायगा। अनुमान इस प्रकार किया जायगा—'बालात्मा, स्तन्यपानेष्टसाधनतास्मारकसंस्कारोद्बोधकाऽदृष्टवान्, स्तन्यपानप्रवृत्तिमत्त्वात्, मद्वत्'। एवं च नैयायिक ने आत्मा को शरीर से अतिरिक्त सिद्ध कर दिखाया। अब वह आत्मा की 'नित्यता' को सिद्ध करता है—'इत्थञ्चेति।' इस रीति से संसार के अनादि होने के कारण आत्मा का भी अनादित्व सिद्ध है और अनादि भावपदार्थ का नाश नहीं होता, इस कारण आत्मा की नित्यता भी सिद्ध हो जाती है। 'अनादि' पदार्थ का परिष्कार यह करना चाहिये 'स्वाश्रयाऽनधिकरण-कालकभिन्न धर्मवत्त्वम्।' यहाँ पर 'स्व' पद से जनन-मरणान्यतरत्वरूप संसारत्व का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि कालमात्र, जनन-मरणान्यतराश्रय होता है। अतः 'स्व' पद से घटादिनिष्ठतत्तद्व्यक्तित्व को लेना चाहिये। तादृशस्वाश्रयाऽनधिकरणकालक जो-जो

'स्व' अर्थात् तत्तद्-व्यक्तित्वादि, तत्तद्व्यक्तिभेदकूटवत्त्व जनन-मरणान्यतरत्वरूप संसारत्व में विद्यमान होने से तद्वत्व को लेकर संसार को अनादि समझना चाहिये। शरीर के जनन-मरण जब अनादि हैं तब उसके कारणभूत अदृष्ट को भी अनादि कहना होगा। इसके अनादित्व का परिष्कार इस प्रकार होगा—'स्वाश्रयप्रागभावाधिकरणस्वाश्रयानधिकरणकालकभिन्न-धर्मवत्त्वम्।' यहाँ पर 'स्व' से अदृष्टत्व का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि काल सर्वदा ही अदृष्ट का अधिकरण होता है। अतः 'स्व' पद से घटगततत्तद्व्यक्तित्व को लेना, तदाश्रयतद्घटप्रागभावाधिकरण और तद्व्यक्तित्वाश्रयतद्घटानधिकरण जो काल, तादृशकालक जो-जो 'स्व' अर्थात् तद्व्यक्तित्वादि, तद्भिन्न धर्म 'अदृष्टत्व', तद्वत्त्व अदृष्ट में रहेगा। इस प्रकार अदृष्ट का अनादित्व सिद्ध होने पर 'आत्मा' का भी अनादित्व कहना चाहिये। आत्मा का अनादित्व उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार नहीं समझना, क्योंकि आत्मनिष्ठ तद्व्यक्तित्व के आश्रय का अनधिकरण काल अप्रसिद्ध है। बल्कि उसे प्राग-भावाऽप्रतियोगित्व'-रूप समझना चाहिये। क्योंकि 'आत्मा' अनादि भावपदार्थ है। उसका नाश होना संभव नहीं। अतः उसका नित्यत्व ( ध्वंसाऽप्रतियोगित्व ) भी सिद्ध है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'आत्मा नित्यः अनादित्वे सति भावत्वात्।' उसमें विद्यमान संस्कार की अनादिता का परिष्कार—'स्वाश्रयप्रागभावाधिकरणकालकभिन्न-धर्मवत्त्वम्'—यहाँ पर 'स्व' पद से संस्कारनिष्ठ तद्व्यक्तित्व, तदाश्रयतत्संस्कार-प्रागभावाधिकरण-कालक जो-जो 'स्व' अर्थात् संस्कारगत तत्तद्व्यक्तित्व, तद्भिन्नधर्म 'भावनात्व' ( संस्कारत्व ) होगा, तद्वत्त्व संस्कार में आने से संस्कार की अनादिता सिद्ध हो जाती है। 'यो-यो जन्यो भावः स सर्वोऽपि विनाशी' यह व्याप्ति है। आत्मा में 'जन्यभावत्व' रूप हेतु के न होने से उसके विनाश की कल्पना नहीं की जा सकती। भगवती श्रुति भी उसकी अविनाशिता को बता रही है—"अविनाशीवारेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा"—( वृहदा. अ. ६। ब्रा. ५। कं. १४ )।

॥ इति शरीरात्मवादि-चार्वाकमतखण्डनम् ॥

चार्वाक के मत का संक्षेप इस प्रकार है–

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलाऽनिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः॥
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी॥
अङ्गनालिङ्गनाजन्यं सुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादिव्यथाजन्य दुःखं निरय उच्यते॥
लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते॥



यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥
अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः॥
न स्वर्गो नाऽपवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम्॥
स्वर्गस्थिता यदि तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामिह कस्मान्न दीयते॥
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः।
त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्त-भाण्ड-निशाचराः।
जर्फरी-तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥

चार भूत ही वास्तविक तत्त्व हैं, देह ही आत्मा है, चार भूतों के मिलन से मदशक्ति के समान चैतन्य पैदा होता है, और उनके विनष्ट होने पर वह ( चैतन्य ) स्वयं ही नष्ट हो जाता है। न कोई परलोक है, न कोई पुण्य-पाप है, जिसका फल भोगना पड़े, क्योंकि देह से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। प्रत्यक्ष मात्र ही एक प्रमाण है। अङ्गनालिङ्गनादि से उत्पद्यमान सुख ही पुरुषार्थ है और मरण ( मरना) ही मोक्ष है। स्वार्थलोलुप, लोकसुखवञ्चक लोगों ने ही बहुवित्तव्यय और आयाससाध्य अग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठान में जनता को प्रेरित किया है। वेद प्रमाण नहीं हैं। इस चार्वाक मत के प्रवर्तक बृहस्पति हैं। इस बृहस्पति को ही कुछ लोग देवगुरु समझते हैं, परन्तु यह देवगुरु न होकर कोई अन्य ही व्यक्ति है। इस मत के प्रवर्तक का 'चार्वाक' नाम अन्वर्थक ( सार्थक ) है 'चारुः' लोकसम्मतः 'वाक्' वाक्यं यस्य सः 'चार्वाकः'—यह चार्वाक शब्द की निरुक्ति है। इसी का दूसरा नाम 'लौकायतिक' भी है। लोके आयतं ( विस्तीर्ण—प्रसिद्धम् ) यत् प्रत्यक्षम्प्रमाणं तल्लोकायतम्, तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लोकायतम्। 'तदधीते तद्वेद'—(०।२।५९ ) इस सूत्र के अधिकार में 'ऋतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्–( ४।२।६० ) इस सूत्र से उक्थादि गण के अन्तर्गत लोकायत शब्द से 'ठक्' प्रत्यय किया गया है। लोकायतमधीते वेद वेति लौकायतिकः।

॥ इति चार्वाक-मत संक्षेप ॥

**तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः ॥**

पूर्वोक्त अड़तालीसवीं कारिका के उत्तरार्ध का अर्थ करते हैं।

यदि चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों को आत्मा मान लिया जाय तो किसी रोगादि के कारण चक्षुरादि इन्द्रिय के नष्ट होने पर पूर्व दृष्टवस्तु का स्मरण नहीं होना चाहिये, किन्तु होता है। अतः चक्षुरादि इन्द्रियों को आत्मा नहीं मान सकते। यहाँ पर 'तथात्व' = चैतन्य, 'उपघात' = विनाश और कारिकागत 'चेत्'[१] शब्द से प्राणात्मवादी चार्वाक के मत का खण्डन भी सूचित कर रहे हैं।

---

१. प्राणात्मवादी चार्वाक का कथन है कि 'प्राण' तीनों अवस्थाओं ( जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ) में विद्यमान रहता है, अतः उसे ( प्राण को ) ही 'आत्मा' कहना चाहिये। अथवा 'जिसके रहने पर देह को जीवित कहते हैं और जिसके न रहने पर उसे ( देह को ) मृत कहते हैं-यह जीवात्मा का लक्षण 'प्राण' में घटित भी होता है। अतः 'प्राण' को ही आत्मा कहना चाहिये। तथा—'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते' इस श्रुति में भी प्राणरूप जीवात्मा से परित्यक्त हुए देह में मरणव्यवहार किया गया है। अतः 'प्राण' ही आत्मा है। अथवा—'प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरन्तरं यदयमात्मा'—इति श्रुति ने पुत्रादि समस्त पदार्थों से भी बढ़कर जो प्रियतम हो, उसे ही 'आत्मा' कहा है। ऐसी प्रियतमता 'प्राण' में ही पायी जाती है। अतः 'प्राण' ही आत्मा है। अथवा—'अन्योऽन्तरात्मा प्राणमयः' यह श्रुति 'प्राण' को ही आत्मा बता रही है। 'मातेव पुत्रं रक्षस्व' इस श्रुति ने भी जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है, वैसे ही इन्द्रियादि संघात का रक्षक 'प्राण' को ही बताया है। अतः 'प्राण' ही आत्मा है।

नैयायिक उक्त मत का अनुमानप्रमाण से खण्डन करता है तथाहि—'प्राणः अनात्मा वायुत्वात् बाह्यवायुवत्' जैसे बाह्य वायु में अनात्मता रहती है, वैसे ही आभ्यन्तर प्राणवायु में भी अनात्मता रहती है, इस कारण वह 'प्राण' भी अनात्मा ही है। व्याकरण की दृष्टि से 'जीव' प्राणधारणे धातु से 'क' प्रत्यय लगाकर 'जीव' शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः 'जीव' शब्द का अर्थ हुआ 'प्राणों को धारण करने वाला'। इस कारण भी आधार और आधेय में भेद रहना आवश्यक है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आत्मा 'प्राण' से भिन्न ही है। किं च—'हमारा श्वास चलता है' इस अनुभव से भी श्वासात्मक प्राण से भिन्न ही आत्मा है। अथवा—प्राणवायु का स्पर्श भी प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। इस कारण घट आदि के तुल्य स्पर्शवाले और सावयव एवं उत्पत्ति-विनाशशील प्राणरूप आत्मा को अनित्य कहना होगा। अथवा—इस शरीर का जीवन भी केवल प्राण के अधीन नहीं है, बल्कि प्राण के धारक जीवात्मा के ही अधीन है। इसी बात को श्रुति कह रही है—'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।' लोगों का जीवन प्राण तथा आपान से नहीं, किन्तु जीवात्मा से ही है।



ननु चक्षुरादीनामेव ज्ञानादिकं प्रति करणत्वं कर्तृत्वं चास्तु, विरोधे साधकाभावादत आह—तथात्वमिति। तथात्वं चैतन्यमित्यर्थः। उपघाते—नाशे सति, अर्थाच्चक्षुरादीनामेव। कथमिति। पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरणं न स्यात्, अनुभवितुरभावात्। अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासम्भवात्। अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारणभावादिति भावः॥ ४८॥

॥ इति इन्द्रियात्मवादिमत-खण्डनम् ॥

किसी एकदेशी चार्वाक की आशंका को मुक्तावलीकार 'ननु'—ग्रन्थ से प्रकट कर रहे हैं।

'करण' का अर्थ है साधकतम और उसका जो भाव उसे 'करणत्व' कहते हैं। उसी तरह 'कर्तृत्वम्' = क्रियानुकूलकृतिमत्त्वम्। करणत्व और कर्तृत्व ये दोनों ही धर्म, चक्षुरादि इन्द्रियों के ही हैं। अतएव 'काणोऽहं जानामि' ऐसा अहम् प्रत्यय होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'इन्द्रियाँ' ही आत्म-पदार्थ है। इन्द्रियों के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।

चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण ये सभी समवाय, सम्बन्ध से ज्ञान, इच्छा, कृति, भावना आदि के प्रति करण कहलाते हैं। व्यापाराविष्ट हुए कारण को 'करण' कहते हैं 'व्यापारवत्त्वे सति कारणत्वम्'। इस प्रकार का 'करणत्व' चक्षुरादि इन्द्रियों में है। क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ चक्षुःसंयोगादिरूप व्यापार वाली हैं और उनमें चाक्षुषज्ञानाऽव्यवहितपूर्वकालवृत्तित्व भी है। अत एव कृत्याश्रयत्वरूप कर्तृत्व भी उनमें है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'चक्षुरादीनि, कर्तॄणि, करणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्।

चार्वाक—चक्षुरादि इन्द्रियों को ही ज्ञानादि कार्य के प्रति करण और कर्ता क्यों न कहें। अर्थात् करणत्व एवं कर्तृत्व दोनों धर्म, चक्षुरादि इन्द्रियों के ही क्यों न मान लिये जाँय? अतः तदतिरिक्त आत्मा को स्वीकार करना व्यर्थ है।

प्रश्न—( नैयायिक का ) कर्ता और करण में जो भेदेन व्यवहार किया जाता है, वह उपपन्न नहीं हो सकेगा। क्योंकि करणत्व और कर्तृत्व दोनों का स्वभाव परस्पर विरुद्ध है। अतः एक ही वस्तु में करणत्व और कर्तृत्व कैसे संभव हो सकेगा?

---

अथ च—प्राणात्मवादी ने प्राणों में सर्वाधिक प्रिततमता को जो बताया है, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि अत्यन्त दुःखी हुआ व्यक्ति जीवात्मा के सुखार्थ विषादिका भक्षण कर प्राणों को भी त्याग देता है। 'अहं क्षुधापिपासावान्' इस अनुभव को 'नीलं तमः' की तरह भ्रम ही समझना चाहिये। अथवा—'अन्योऽन्तरात्मा प्राणमयः' इस श्रुति ने प्राणात्मवादी के भ्रमात्मक मत का अनुवाद किया है, अतः यह श्रुति, पूर्वपक्षरूप है। किञ्च प्राण के संवाद को भी प्राणाभिमानी देवता विषयक समझना चाहिये। एवञ्च प्राणात्मवादी चार्वाक का मत नितान्त अनुचित है।

उत्तर—( चार्वाक का ) 'विरोधे साधकाभावात्' इति । करणत्व और कर्तृत्व भिन्नाधिकरण ही हों, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियाँ करण एवं कर्ता नहीं हो सकतीं—इस कथन में कोई प्रमाण ( साधक युक्ति ) नहीं है । जहाँ प्रमाणाऽसहिष्णुत्व हो ( प्रमाण की कसौटी पर न कसा जा सके ) वहाँ विरोध ( इदं विरुद्धम् ) की प्रतीति हुआ करती है, किन्तु जहाँ प्रमाण के द्वारा ( सप्रमाण ) कोई बात जानी जाती है, वहाँ विरोध की प्रतीति नहीं हुआ करती । जैसे—जैनदार्शनिक एक ही वस्तु को 'सत् और असत्' दोनों मानते हैं ।

नैयायिक के द्वारा खण्डन—'तथात्वम्' इति । यदि चैतन्य को इन्द्रियों का धर्म मान लिया जाय अर्थात् इन्द्रियों में ही क्रियानुकूलकृतिमत्त्व ( कर्तृत्व ) माना जाय तो इन्द्रियों का रोगादि से उपघात ( विनाश ) होने पर पूर्वानुभूतपदार्थ की स्मृति कैसे हो पायगी ? क्योंकि 'अनुभवितुः अभावात्' । स्मृतिज्ञान का अधिकरण आत्मा ( चक्षुरादि इन्द्रिय ) तो नष्ट हो चुका । जिस चक्षुरिन्द्रिय ने पहले वस्तु का साक्षात्कार ( प्रत्यक्ष ) किया था, उस चक्षुरिन्द्रिय का तो रोगादि के कारण अब विनाश हो गया है । अतः अनुभव करने वाले चक्षु के न होने से उस वस्तु का अब स्मरण नहीं होना चाहिये । अन्य कोई देखे और अन्य कोई याद करे यह संभव नहीं । सभी जानते हैं कि किसी ने अपनी आँखों से अपने माता-पिता आदि परिजनों को या अन्य वस्तुओं को देखा है, किन्तु कालान्तर से रोगादि के कारण अन्धा हो जाने पर भी उसे अपने माता-पिता आदि परिजनों की या अन्य वस्तुओं की याद आया करती है । तात्पर्य यह है कि अनुभविता को ही याद ( स्मृति ) हुआ करती है, क्योंकि अनुभव और स्मरण ( स्मृति ) का सामानाधिकरण्य ( एक ही आत्मा में समवायसम्बन्धावच्छिन्न होकर दोनों का रहना ) होने से उनका कार्य-कारणभाव रहता है, अर्थात् अनुभव संस्कार के द्वारा कारण है और स्मरण ( स्मृति ) उसका कार्य है । अभिप्राय यह है कि 'जहाँ अनुभव, वहीं स्मरण' यह नियम है ।

किञ्च—इन्द्रियों में भी क्या प्रत्येक इन्द्रिय में भिन्न-भिन्न 'चेतनत्व' ( प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा ) है, या समस्त इन्द्रियों में मिलकर ( सामूहिक रूप से ) एक चेतनत्व ( आत्मा ) है ? प्रथम पक्ष लें तो प्रत्येक इन्द्रिय के स्वतन्त्र रहने पर कदाचित् उन इन्द्रियों में वैमत्य भी हो सकता है, तब उनमें परस्पर विपरीत दिशा की ओर क्रियाओं के होने पर उन इन्द्रियों से अधिष्ठित हुए शरीर के विदीर्ण होने का प्रसंग आवेगा ।

यदि द्वितीय पक्ष को लें तो श्रोत्र के नष्ट होने पर भी चक्षु से शब्द का प्रत्यक्ष होने का प्रसंग प्राप्त होगा । अथवा किसी रूप आदि की प्रतीति ही न हो सकेगी, क्योंकि आत्मा तो नष्ट हो चुका है । 'मृतोऽयम्'—यह मर गया है, ऐसी अबाधित प्रतीति सबको सर्वत्र होने लगेगी ।



यदि प्रत्येक इन्द्रिय को अलग-अलग पूर्णस्वतन्त्र आत्मा के रूप में न कहें तो उससे तो यही अच्छा होगा कि जिसके अधीन ( परतंत्र ) ये इन्द्रियाँ होंगी उसे ही आत्मा कहा जाय और उसे इन्द्रिय से पृथक् कहना होगा । रूपादि विषयों में अपनी इच्छानुसार वह इन्द्रियों का प्रवर्तक होगा, जैसे बढई अपनी इच्छानुसार कुठार का प्रवर्तक रहता है । इन्द्रियों को आत्मा सिद्ध करने के लिए 'अहं काणः' यह प्रतीति जो प्रदर्शित की थी, उसे 'मम देहः'—मेरा देह, इस प्रतीति की तरह 'मम इन्द्रियम्'– मेरी इन्द्रिय, इस बाधक प्रत्यय के विद्यमान होने से भाक्त (लाक्षणिक) ही समझना चाहिये । एवं च 'अहं नेत्रेण पश्यामि' इत्याकारक व्यवहार से नेत्रात्मक उपकरण से भिन्न अहंविषय आत्मा है, यह स्पष्ट हो जाता है । अतः इन्द्रियात्मवादी चार्वाक का मत ( इन्द्रिय ही आत्मा है ) ठीक नहीं है ॥ ४८ ॥

॥ इति इन्द्रियात्मवादखण्डनम् ॥

## मनोऽपि[1] न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षन्तदा भवेत् ।

मनोऽपीति ।'मन' भी, न तथा—चेतन नहीं है । तदा—मन को यदि चेतन (आत्मा) कहें तो उसका ( मनका ) अणुपरिमाण होने से उसके ( मनोरूप आत्मा

१. 'मन' इन्द्रिय को आत्मा माननेवाले चार्वाक के मत का निरूपण कर रहे हैं । जैसे—स्वप्न में चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों के विरत होने पर 'मन' के ही समस्त व्यवहार चलते रहते हैं । 'मन' से सम्बन्ध होने के पश्चात् ही उन चाक्षुषादिज्ञानों की उत्पत्ति होती है, इस कारण इन्द्रियसमुदाय में एक 'मन' इन्द्रिय ही स्वतंत्र इन्द्रिय है । अथवा—'कामः संकल्पो विचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इस श्रुति में इच्छा, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय इन सबको 'मन' का ही धर्म माना है । इस कारण 'मन' को ही आत्मा मानना चाहिये । तथा 'मन एवास्यात्मा अन्योन्तर आत्मा मनोमयः' श्रुति ने भी 'मन' को ही आत्मा कहा है । तथा 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इस स्मृति ने भी 'मन' को ही बन्ध-मोक्ष का कारण कहा है इसलिए 'मन' ही आत्मा है, यह समझ में आता है ।

उक्त मत का खण्डन—तुम चार्वाकों का 'मन' इन्द्रिय संज्ञक आत्मा अणु परिमाणवाला है या देहतुल्य मध्यम परिमाणवाला है ? यदि 'अणुत्व' पक्ष को वह स्वीकार करता है तो मनोरूप आत्मा के ज्ञान, सुख-दुःख आदि धर्मों को प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि चाक्षुष आदि छः प्रकार के प्रत्यक्षों में 'महत्त्व' (महत्परिमाण) को ही कारण माना गया है । किन्तु वह 'महत्परिमाण' मनमें नहीं है । इस कारण मन के ज्ञान, सुखादि धर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होगा, किन्तु 'अहं जानामि', 'अहं सुखी' इत्यादि ज्ञान का सभी को प्रत्यक्ष होता है । तथा मनोरूप आत्मा को अणुपरिमाण वाला मानने पर समस्तशरीरव्यापि-सुख-दुःखादिकों का अनुभव नहीं होगा । अतः 'अणुत्व' पक्ष का स्वीकार चार्वाक के मत में नहीं बन पा रहा है ।

के ) ज्ञानादि गुणों का, अनध्यक्षम्—अप्रत्यक्ष होने लगेगा । क्योंकि प्रत्यक्ष का प्रयोजक महत् परिमाण हुआ करता है ।

ननु चक्षुरादीनां चैतन्यं मास्तु मनसस्तु नित्यस्य चैतन्यं स्यादत आह—मनोऽपीति । न तथा—न चेतनम् । ज्ञानादीति । मनसोऽणुत्वात्प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वान्मनसि ज्ञानसुखादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यर्थः । यथा मनसोऽणुत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यते ।

॥ इति मनस आत्मवादखण्डनम् ॥

मन को आत्मा कहनेवाला चार्वाक शङ्का कर रहा है—'ननु इति । किसी कारण से इन्द्रियों का उपघात ( नाश ) होनेपर स्मरणानुपपत्तिरूप दोष दिखा कर चक्षुरादि इन्द्रियों को नैयायिक यदि 'आत्मा' नहीं मानता है तो न माने, किन्तु ध्वंसाऽप्रतियोगि अर्थात् नित्य 'मन' इन्द्रिय को आत्मा कह सकते हैं । क्योंकि यहाँ पर 'नाशे सति स्मरणानुपपत्ति' रूप दोष नहीं दिया जा सकता । अतः 'मन' इन्द्रिय ही ज्ञान आदि के प्रति करण भी है और कर्ता भी । अनुमान प्रयोग—'मनः कर्तृ, मानसत्वावच्छिन्नकरणत्वात् ।' नैयायिक भी 'नित्यं मनः' कहकर 'मन' इन्द्रिय को नित्य कहते हैं । और आत्मा वही है जो नित्य हो । अतः 'मन' को आत्मा मान लेने में कोई अनौचित्य नहीं है । इन्द्रियात्मवादपक्ष में कृतविप्रणाशादि दोष की तरह यहाँ कोई दोष भी नहीं होगा ।

नैयायिक समाधान देता है—'न तथा' इति । जैसे 'इन्द्रिय' चेतन नहीं, वैसे ही 'मन' भी चेतन नहीं है । उक्त कथन में हेतु देते हैं—'ज्ञानादी'ति । ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुणों का 'जाने, इच्छामि' इत्याकारक प्रत्यक्ष नहीं होगा । उसी

---

ऊपर कहे हुए इस ( मनोरूप आत्मा, देह के तुल्य मध्यम-परिमाण वाला है ) द्वितीय पक्ष को भी वह नहीं अपना सकेगा । क्योंकि मध्यम परिमाणवाले मन का एक ही काल में चक्षुरादि समस्त इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध विद्यमान होने से एक ही समय में समस्त ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे । किञ्च 'मन' को स्वतन्त्र कहना भी असंगत है, क्योंकि वैराग्य आदि के द्वारा मन का निरोध, योग में किया जाता है, वह निरोध करनेवाला आत्मा, 'मन' से भिन्न ही कहना होगा । अथवा—'हमारा 'मन' स्थिर है तथा नहीं है' इस अनुभव के अनुरोध से भी 'मन' से भिन्न ही आत्मा सिद्ध होता है । अथवा—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इस श्रुति में 'मन' को आत्मसाक्षात्कार का कारण कहा गया है । इसलिए दर्शनरूप क्रिया का कर्मरूप वह आत्मा भी उस कारणरूप 'मन' से पृथक् ही सिद्ध होता है ।

किञ्च—'कामः संकल्पः' इस श्रुति में कामादि धर्मों को मनोजन्य बताया गया है । अतः इच्छा आदि धर्मों का उपादान कारण ही वह [ मन ] सिद्ध होता है । एवं च मन आत्मवादी चार्वाक का मत नितान्त असंगत है ।



को स्पष्ट कर रहे हैं—'मनसोऽणुत्वात् इति । क्योंकि 'मन' का परमअणु परिमाण है । और प्रत्यक्ष में तो 'महत्त्व' महत्परिमाण कारण होता है 'मन' के अणुत्व का निरूपण आगे 'मनोनिरूपण' में किया जायगा । मन का महत्परिमाण न होने से 'मन' का ही प्रत्यक्ष नहीं होगा तब मनोरूप आत्मा कहनेवाले के मत में तत्समवेत (मनोरूप आत्मा में समवेत) ज्ञान सुखादिकों का भी मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा ।

किञ्च—'मनसा अहं जानामि' इस प्रयोग से 'मन' का ज्ञानकरणत्व तो सिद्ध होता है, किन्तु ज्ञानकर्तृत्व नहीं । 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस नियम के अनुसार 'कर्तृत्व' तो स्वातन्त्र्यनियत है । 'स्वातन्त्र्य' का अर्थ है—'स्वच्छन्दानुरोधेन साध्यसिद्धचनुगुणोपकरणसम्पादनसामर्थ्यम्'—अपनी इच्छा के अनुसार साध्यसिद्धि के अनुरूप उपकरण-सम्पादन का सामर्थ्य होना । किन्तु 'करणत्व' पारतन्त्र्यनियत होता है । पारतन्त्र्य का अर्थ है—'पराधिष्ठानाधीनं व्यापारत्वम्'—अन्य अधिष्ठान के अधीन व्यापार का होना । 'मन' के होने में ही क्या प्रमाण है ? यह जिज्ञासा हो तो यह सूत्र 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्'—[ न्या. सू. १।१।१६ ] प्रमाण है । 'मन' यह अणुद्रव्य है और ज्ञान, सुख आदि उसके गुण हैं । एवं च 'मन' इन्द्रिय, ज्ञान का कर्ता नहीं है, किन्तु उन ज्ञानादिकों का कर्ता 'मन' से भिन्न कोई अन्य ही है, जिसे 'आत्मा' कहा जाता है ।

॥ इति मनस आत्मवादखण्डनम् ॥

नन्वस्तु विज्ञानमेवाऽऽत्मा, तस्य स्वप्रकाशरूपत्वाच्चेतनत्वम्, ज्ञानसुखादिकं तु तस्यैवाऽऽकारविशेषः । तस्यापि भावत्वादेव क्षणिकत्वं, पूर्वपूर्वविज्ञानस्योत्तरोत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् । सुषुप्तावप्यालयविज्ञानधारानिराबाधैव, मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्व-पूर्वविज्ञानजनितसंस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने सङ्क्रान्तत्वान्नानुपपत्तिः स्मरणादेरिति चेत्—

न, तस्य जगद्विषयकत्वे सर्वज्ञत्वापत्तिः । यत्किञ्चिद्विषयकत्वे विनिगमनाविरहः । सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च ज्ञानस्य सविषयत्वात् ।

क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध शंका कर रहा है—'ननु' इति । योगाचार बौद्ध कह रहा है कि इन्द्रिय, प्राण और मन को 'आत्मा' न मानना ठीक ही है, किन्तु क्षणिक ( बौद्धों के अनुसार द्वितीयक्षण वृत्तिध्वंस प्रतियोगित्व ) 'विज्ञान' अर्थात् प्रवृत्ति, आलयरूपउभयविध विज्ञान को आत्मा मानने में कोई आपत्ति नहीं है । अतः प्रवृत्ति-आलयउभयविधक्षणिकविज्ञान को 'आत्मा' मान लेना चाहिये, क्योंकि वह विज्ञान भी स्वप्रकाशरूप होने से चेतन है । ज्ञान, सुख आदि उस विज्ञान के ही आकार विशेष हैं । इनके मत के अनुसार यद्यपि सभी कुछ विज्ञान-रूप है तथापि इस समय आत्मनिरूपण प्रस्तुत होने से 'विज्ञानमात्मा' विज्ञान को आत्मा कह रहे हैं । वह विज्ञान भी भावरूप होने से क्षणिक है । पूर्व पूर्व विज्ञान, उत्तरोत्तरविज्ञान में कारण होता है । अतः सुषुप्ति अवस्था में भी आलयविज्ञान की

धारा निर्बाध बनी रहती है। जैसे कस्तूरी की सुगन्ध सौ वस्त्रों की गड्डी में भी पहली पड़त से लेकर अन्तिम पड़त तक क्रमशः सङ्क्रान्त होती जाती है, वैसे ही पूर्व-पूर्व-विज्ञान उत्तरोत्तरविज्ञान में स्वानुभवजन्य संस्कारों को उत्पन्न करता रहता है। इस कारण स्मरणानुपपत्तिरूप दोष (जैसे चार्वाक के मत में दिया था) भी यहाँ नहीं है। अभिप्राय यह है कि इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब विज्ञान-स्वरूप ही हैं। अर्थात् विज्ञान के सिवाय अन्य कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं है, क्योंकि 'यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्र तत्र ज्ञानत्वम्' अर्थात् ज्ञानत्व, प्रमेयत्व का व्यापक है। अतः सभी कुछ विज्ञानरूप है।

यह विज्ञान, प्रवृत्तिविज्ञान तथा आलयविज्ञान के भेद से दो प्रकार का है। 'अयं घटः, अयं पटः' इत्यादि बाह्यपदार्थों के ज्ञान को अर्थात् सविषयकविज्ञान को 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहते हैं। वह जाग्रत्, स्वप्न और अर्धसुषुप्ति में रहता है। और 'अहम्-अहम्—मैं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान को अर्थात् निर्विषयकविज्ञान को 'आलय-विज्ञान' कहते हैं। वह गाढ़ सुषुप्ति में रहता है। 'आलयविज्ञान' और प्रवृत्तिविज्ञान-रूप उभयविधविज्ञान की संज्ञा 'आत्मा' है। अर्थात् इसी आलयविज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञानरूप उभयविध विज्ञान को 'आत्मा' शब्द से लोग कहा करते हैं।

शंका—बुद्धि का ही नामांतर 'विज्ञान' है, अतः उसे चेतन (आत्मा) कैसे कह सकते हैं? क्योंकि बुद्धि तो जड़ है, उसमें चेतनता का होना असंभव है। इस लिये विज्ञान को आत्मा नहीं कह सकते। दूसरी बात यह है कि आत्मा (चैतन्य) तो ज्ञान का अधिकरण हुआ करता है, किन्तु ज्ञान, अन्य ज्ञान का आधार (अधि-करण नहीं बनता। अतः ज्ञानाधिकरणात्मक चैतन्य (आत्मत्व) विज्ञान में कैसे उपपन्न होगा?

समा०—उस क्षणिकविज्ञान को स्व-पर के व्यवहार करने में अपने से किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् वह (प्रवृति तथा आलय) उभयविज्ञान (आत्मा) स्वतः प्रकाश (स्वयं प्रकाश) है। क्योंकि उस विज्ञान का विषय उस से भिन्न नहीं है, अर्थात् स्वाऽभिन्नज्ञानविषयता ही उस विज्ञान में है। इस कारण उसमें (विज्ञान में) जड़ता नहीं है अपितु उसमें चेतनत्व ही है। अतः वही ज्ञान का कर्ता (चेतन) है,

शंका—आत्मा को यदि क्षणिकविज्ञानरूप कहें तो उसमें सुख-दुःख आदि की समवायिकारणता नहीं बन पायगी। यदि कहें कि ज्ञान की उत्पत्ति के क्षण में ही सुखादि की उत्पत्ति होती है, तो सुख दुःखादि की उत्पत्ति के पूर्व विज्ञान की स्थिति न रहने से उसमें कारणता ही नहीं बन सकेगी। यदि ज्ञानोत्पत्ति के द्वितीय क्षण में सुखादि की उत्पत्ति मानी जाय तो सुखादि की उत्पत्ति के समय ज्ञान का ही नाश हो जाने से उसमें समवायिकारणत्व नहीं बन सकता कार्यकाल में समवायिकारण की स्थिति रहने से ही वह, कार्य का हेतु (कारण) कहलाता है। अतः क्षणिकविज्ञान को आत्मा कैसे कहा जाय?



समा०—'अहं जानामि, अहं सुखी' आदि अनेक आकारवाला विज्ञान ही ज्ञान, सुखादि के आकार में भासित होता है। यद्यपि विज्ञान, निर्विशेष (सभी से अभिन्न) है, तथापि संवृति (संवृणोति आत्मनोरूपमिति संवृतिः अविद्या) के कारण उस निर्वि-शेष विज्ञान के विशिष्ट आकार भासित होते हैं। 'तदभिन्नत्वे सत्यपि तद्भिन्नत्वेन भासमानत्वम्'—निर्विशेषविज्ञान से अभिन्न होकर भी उससे भिन्न भासित होना ही आकारों की विशेषता है। एवं च ज्ञान, सुख आदि में कार्यकारणभाव की प्रसक्ति नहीं हो पाती, क्योंकि वे आत्मा से भिन्न नहीं हैं।

ज्ञान, सुख-दुःख आदि सभी आत्मा के गुण हैं। वे सब उस क्षणिकविज्ञानरूप आत्मा के ही आकार हैं। जैसे नैयायिक के मत में 'घटविषयकज्ञान' का आकार 'अयं घटः' यह घट है—होता है, वैसे ही सुख-दुःखादि भी 'विज्ञान' के आकार हैं।

शंका—ज्ञान, सुखादि को यदि आत्मा का ही आकारविशेष कहेंगे तो बौद्धों के मत में आत्मा में विकारता प्राप्त होगी और उसके प्राप्त होने से उसे (आत्मा को) अनित्य कहना होगा।

समा०—'तस्यापीति।' जो पदार्थ (वस्तु) भाव (सत्) रूप होता है, वह क्षणिक होता है—'यत् सत् (वस्तु) तत् क्षणिकम्' यह नियम (व्याप्ति) है। तद-नुसार यह विज्ञान भी भावरूप वस्तु होने से क्षणिक है। बौद्धमतानुसार 'क्षणिक' का अर्थ 'द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व' है। अर्थात् प्रतिक्षण एक-एक विज्ञान उत्पन्न होता है और वह दूसरे (द्वितीय) क्षण में ही नष्ट हो जाता है, तथा दूसरे क्षण में दूसरा विज्ञान उत्पन्न होता है, वह तीसरे अर्थात् उससे दूसरे क्षण में नष्ट होता है। इस प्रकार पूर्व पूर्व विज्ञान की उत्तरोत्तरविज्ञानोत्पत्ति के द्वारा अखण्डधारा का प्रवाह बहता रहता है। एवञ्च—पूर्व क्षण में उत्पन्न हुआ। वह विज्ञान, अपने दूसरे क्षण में दूसरे विज्ञान को उत्पन्न करके अपने आप नष्ट हो जाता है। इस कारण पूर्व-पूर्व का विज्ञान उत्तर उत्तर के विज्ञान के प्रति कारण होता है, इस प्रकार से उनमें कार्य-कारण-भाव माना जाता है। एवञ्च 'क्षणिकविज्ञान' भावपदार्थ होने से उसमें क्षणिकत्व और अनित्यत्व हम बौद्ध मानते ही हैं।

शंका—पूर्व उत्पन्न विज्ञान का तो विनाश हो जाता है, क्योंकि बौद्धों ने उसे भावपदार्थ होने के कारण क्षणिक माना है। तब विज्ञानान्तर (अन्य विज्ञान) का कोई उत्पादक न होने से सुषुप्तिअवस्था में आत्मा नहीं है, कहना होगा। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति और मरण में कोई अन्तर (भेद) नहीं रहेगा।

समा०—गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में भी 'आलय विज्ञान की धारा चलती ही रहती है इस कारण सुषुप्त को मृत नहीं कह सकते अर्थात् सुषुप्ति को मरण नहीं कहा जाता। अतः सुषुप्तिकाल में भी 'विज्ञानरूप आत्मा' का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। एवं च क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है।

तात्पर्य यह है कि हमारे (बौद्धों के) मत में कार्य कारण का सामानाधिकरण्य ही होना चाहिये, यह कोई नियम नहीं है। हमारे मत (बौद्धसिद्धान्त) में तो 'कारण'

वही होता है जो कार्य के पूर्व रहे—'कारणत्वं तु कार्यपूर्ववृत्तित्वमात्रम्' अतः पूर्व-पूर्व विज्ञान, अव्यवहित उत्तरविज्ञान के प्रति कारण ( हेतु ) होता है अर्थात् प्रवृत्ति-विज्ञान, आलयविज्ञान के प्रति हेतु होता है। अतः गाढ़निद्रा के आरम्भ में प्रवृत्ति-विज्ञान के द्वारा आलयविज्ञान की उत्पत्ति होने से 'अहम्' इस आलयविज्ञान की अखण्डधारा चलती रहती है। इसलिये सुषुप्ति अवस्था में आत्मा नहीं है, यह नहीं कह सकते, बल्कि उस अवस्था में भी आत्मा का अस्तित्व रहता ही है।

शंका—विज्ञान को क्षणिक मानने पर, तदाश्रित संस्कारों को भी क्षणिक मानना होगा तब कालान्तर में स्मरण ( स्मृति ) का होना नहीं बन पायेगा।

समा०—'विज्ञान' क्षणिक वस्तु है, वह पूर्वक्षण में उत्पन्न होकर, दूसरे क्षण में नष्ट होता है, किन्तु वह अपना संस्कार छोड़ जाता है, वह संस्कार, पूर्वविज्ञान के दूसरे क्षण में उत्पन्न होनेवाले दूसरे विज्ञान के आश्रय से रहता है। उसी को दृष्टान्त के द्वारा समझा रहे हैं–'मृगमदवासनेति।' कस्तूरी को किसी एक कपड़े की तह में रख दिया जाय, फिर उस कपड़े की तह पर अन्यान्य कपड़ों की अनेक तहें लगाते चले जाँय तो भी उस कस्तूरी की सुगन्धि का संस्कार ( वासना ) उन सभी कपड़ों में चलता ( संक्रान्त होता ) जाता है। और सभी कपड़े सुगन्धित हो जाते हैं। वैसे प्रत्येक ज्ञान के संस्कार से संस्कृत अग्रिम-अग्रिम ज्ञान होते जाते हैं। उस वैज्ञानिक संस्कार के कारण स्मरण ( स्मृति ) का होना भी संभव हो जाता है। अर्थात् चार्वाक के मत में इन्द्रिय, प्राण, मन को आत्मा मानने पर स्मरण का होना संभव नहीं हो पाता था यानी 'स्मरणानुपपत्ति' रूप दोष दिया गया था, वह दोष हमारे विज्ञानात्मा के पक्ष में नहीं दिया जा सकता। अतः सार्वदिक् क्षणिकविज्ञान ही आत्मा है और वही ज्ञान का कर्ता ( चेतन ) है।

उपर्युक्त ( योगाचार बौद्ध ) मत का नैयायिक खण्डन करते हैं—'न' इति। योगाचार बौद्ध से नैयायिक से पूछता है कि तुम ( बौद्ध ) यह बताओ—तुम्हारा ( बौद्ध का ) विज्ञानरूप आत्मा सम्पूर्ण जगत् को विषय करता है, या किसी एक वस्तु को विषय करता है? यदि तुम्हारा विज्ञान ( आत्मा ) सम्पूर्ण जगत् को विषय करता हो तो वह ( विज्ञान ) सम्पूर्ण जगद्विषयक हुआ, तब सभी मनुष्यों को सर्वत्र क्यों न कहा जाय? किन्तु कोई भी मनुष्य सर्वज्ञ तो है नहीं। अब यदि दूसरे पक्ष की दृष्टि से विचार करें कि 'विज्ञान' केवल यत्किञ्चित् अर्थात् घट-पट आदि किसी एक ही वस्तु ( पदार्थ ) को विषय करता है अर्थात् यत्किञ्चित् पदार्थ विषयक वह विज्ञान है, तो इस कथन में विनिगमनाविरह ( किसी एक पक्ष की प्रतिपादक युक्ति का अभाव ) है। क्योंकि तुम्हारे ( बौद्ध के सिद्धान्त के अनुसार बाह्यपदार्थ तो कोई है ही नहीं, तब कैसे कह सकते हैं कि अमुक ज्ञान घट-विषयक है और अमुक ज्ञान पटविषयक है, क्योंकि जब कोई बाह्यपदार्थ है ही नहीं, तब आपका ज्ञान, किसी भी पदार्थ को अपना विषय बना सकता है। अनेक पदार्थों में से किसी एक ही पदार्थ को अपना विषय बनाने में कोई युक्ति नहीं है। बाह्यपदार्थों ( विषयों ) का अस्तित्व न होने के कारण सभी पदार्थ, ज्ञान के विषय हो सकते हैं। ज्ञान का एक ही विषय क्यों बने? एक ही विषय बनने में आपके ( बौद्ध के ) पास क्या विनिगमना ( निर्णायक युक्ति ) है? अर्थात् कोई युक्ति नहीं है। जब कि कोई बाह्यपदार्थ है ही नहीं, तो एक विशेष समय में एक विशेष पदार्थ ( घट-पट आदि ) का ही अनुभव क्यों होता है? किसी दूसरे पदार्थ का अनुभव क्यों नहीं होता? अतः योगाचार बौद्ध का विज्ञानवाद मानना उचित नहीं है।



विज्ञानवाद के न मान सकने में दूसरा कारण यह भी है कि बौद्धसिद्धान्त के अनुसार सुषुप्ति अवस्था में भी 'आलयविज्ञान' रहता है। अतः उस अवस्था ( सुषुप्तिअवस्था ) में भी विषय स्फुरण होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान ( विज्ञान ) सविषयक होता है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में किसी भी घट-पटादि बाह्यपदार्थ का ज्ञान नहीं होता। उस अवस्था में तो केवल 'अहम्'='मैं' के ज्ञान की धारा बहती रहती है, इसी का नाम 'आलयविज्ञान' है। ज्ञान, निर्विषयक कभी नहीं होता, वह हमेशा सविषयक होता है—यह नियम है। तब उस समय भी घट-पटादि बाह्य विषयों का ज्ञान क्यों नहीं होता? अतः विज्ञानवाद को मानना ठीक नहीं है।

तदानीं निराकारा चित्सन्ततिरनुवर्तत इति चेन्न, तस्याः स्वप्रकाशत्वे प्रमाणाभावात्। अन्यथा घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्तिः।

न चेष्टापत्तिर्विज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनोऽभावादिति वाच्यं, घटादेरनुभूयमानस्यापलपितुमशक्यत्वात्।

आकारविशेष एवायं विज्ञानस्येति चेत्, किमयमाकारोऽतिरिच्यते विज्ञानात्? तर्हि समायातं विज्ञानव्यतिरिक्तेन। नातिरिच्यते चेत्, तर्हि समूहालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात्। स्वरूपतो विज्ञानस्याऽविशेषात्।

अपोहरूपो नीलत्वादिर्विज्ञानधर्म इति चेन्न, नीलत्वादीनां विरुद्धानामेकस्मिन्नसमावेशात्। इतरथा विरोधावधारणस्यैव दुरुपपादत्वात्, न वा वासनासङ्क्रमः सम्भवति, मातृपुत्रयोरपि वासनासङ्क्रमप्रसङ्गात्।

न चोपादानोपादेयभावो नियामक इति वाच्यम्, वासनायाः सङ्क्रमासम्भवात्।

उत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेव सङ्क्रम इति चेन्न, तदुत्पादकाभावात्। चितामेवोत्पादकत्वे संस्कारानन्त्यप्रसङ्गः। क्षणिकविज्ञानेऽतिशयविशेषः कल्प्यत इति चेन्न, मानाभावात्कल्पनागौरवाच्च।

इति क्षणिकविज्ञानात्मवादिबौद्धमतखण्डनम्।

विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध उपर्युक्त कथन पर नैयायिक से कह सकता है कि हमारे मत में सुषुप्ति में निराकार ( विषयाकाररहित अर्थात् निर्विषयिणी ) चित्-सन्तति ( क्षणिक ज्ञान-धारा अर्थात् आलयविज्ञान धारा ) चलती रहती है। अतः उस समय घट—पटादि बाह्य विषयों का ज्ञान क्यों नहीं होता? यह प्रश्न ही नहीं उठता।

नैयायिक उत्तर देता है—सुषुप्तिकाल में उस आलय-विज्ञान-धारा ( निर्विषयक चित्सन्तति ) को स्वप्रकाश मानने में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि ज्ञान हमेशा विषयिता से व्याप्य होता है 'ज्ञानत्वस्य विषयिताव्याप्यत्वात्', यह नियम है। अन्यथा अर्थात् बिना प्रमाण के ही निर्विषय को भी 'ज्ञान' कहा जाय यानि जिस ज्ञान का कभी किसी को अनुभव नहीं होता, उस ज्ञान को यदि स्वयंप्रकाश कहें तो घट-पट आदि जडपदार्थों को भी स्वयं प्रकाश क्यों नहीं कहते ? क्योंकि घट-पटादि जडपदार्थ भी निर्विषय हैं। जैसे—ज्ञान के विषय घट-पट आदि हैं और 'ज्ञान' स्वयं विषयी होता है। घट-पट आदि का तो कोई विषय नहीं होता। यदि घट-पट आदि का भी कोई विषय होता तो घट-पटादि को विषयी कहा जाता। इसलिये घट-पट आदि बाह्य जडपदार्थों को निर्विषय कहा जाता है। ज्ञान, इच्छा, कृति, भावना, द्वेष ये पाँच पदार्थ सविषय कहे जाते हैं, इनके अतिरिक्त सभी पदार्थ निर्विषय कहे जाते हैं। निर्विषय को भी यदि 'ज्ञान' कहें तो निर्विषय घट-पटादि जडपदार्थों को भी 'ज्ञानरूप' कहना पड़ेगा।

बौद्ध कहता है—हमारे मत में सभी प्रमेय पदार्थ, विज्ञानरूप हैं, अतः घट-पटादि प्रमेय पदार्थों का ज्ञानरूप होना हमें इष्ट ही है। क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त ( भिन्न ) तो कोई वस्तु ( पदार्थ ) है ही नहीं। अतः घट-पटादि सभी प्रमेय-पदार्थ विज्ञान से अभिन्न ( विज्ञानरूप ) ही हैं, इस कारण यह तो हमारे सिद्धान्त के अनुकूल ही है। एवं च—'ज्ञान' स्वयं प्रकाश ही है। घट-पटादि पदार्थों को स्वयं प्रकाश मानना हमें अभीष्ट है।

नैयायिक कहता है—घट-पट आदि पदार्थों का अनुभव ( ज्ञान ) होना एक अलग बात है और उस अनुभव ( ज्ञान ) का विषय होना एक अलग बात है। घट-पटादि पदार्थ उस अनुभव ( ज्ञान ) के विषय हुआ करते हैं, अतः घट-पटादि में अनुभूत होने वाली ज्ञान-विषयता तो उन घट-पटादि का स्वरूप ही है यह सभी मानते हैं। घट-पटादि पदार्थों को अनुभूयमान पदार्थ कहा जाता है, यह सर्व-प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्धि का अपलाप आप कैसे कर सकते हैं? एवञ्च—घट-पटादि पदार्थों में ज्ञानविषयता का अनुभव सभी को होता है, अतः ज्ञान और उसके विषय घट पटादि पदार्थ ये दोनों नितान्त भिन्न हैं यह स्पष्ट हो जाता है।

बौद्ध कहता है—हम घट-पटादि पदार्थों के स्वरूप का अपलाप नहीं कर रहे हैं। हमारे कथन का तात्पर्य यह है कि बाह्य आकार ( रूप ) में दृश्यमान घट-पटादि पदार्थ, क्षणिकविज्ञान ( ज्ञान ) के ही विशेष आकार ( स्वरूप विशेष ) हैं। जैसे—पट, तन्तुओं का ही स्वरूपविशेष है। उस पट की सत्ता, तन्तुओं की सत्ता के अतिरिक्त नहीं है। अतः हम घट-पटादि पदार्थों के स्वरूप का अपलाप नहीं कर रहे हैं, बल्कि वे घट-पटादि के रूप में दृश्यमान बाह्य पदार्थ, विज्ञान से अतिरिक्त नहीं हैं, विज्ञान के ही विशेष आकार हैं, इतना ही कह रहे हैं।



तब नैयायिक उससे पूछता है—'किमयमिति।' घट-पटादि पदार्थों का आकार यदि विज्ञान का ही आकार है तो यह बताओ कि विज्ञान का यह घट-पटाद्याकार विशेष, विज्ञान के स्वरूप से भिन्न है या अभिन्न ? यदि अनुभूयमान ( दृश्यमान ) घट-पटाद्याकारविशेष, विज्ञान के स्वरूप ( आकार ) से भिन्न कहो तो विज्ञान से अतिरिक्त ( भिन्न ) घट-पटादि पदार्थों को आपने मान लिया। तब तो 'विज्ञान व्यतिरिक्तो घटः' इस न्यायमत ( हमारे मत ) में आप आ गये। अर्थात् हमारे मत में और आपके मत में कोई भेद ही नहीं रहा। इस प्रकार हमारे ( नैयायिकों के ) मत का अनुसरण करने पर 'सर्वं विज्ञानम्' इस तुम्हारी ( बौद्ध की ) प्रतिज्ञा का भंग हो गया, क्योंकि बौद्ध के मत में विज्ञान के बिना ( अतिरिक्त ) दूसरी वस्तु ही नहीं है। और विज्ञान की सत्ता से भिन्न बाह्यपदार्थ की सत्ता आपने स्वीकार कर ली यह कहना होगा।

दूसरे पक्ष में भी नैयायिक दोष दे रहा है—नातिरिच्यते चेत्तर्हीति।' यदि घट-पटादि बाह्य पदार्थों का आकार; विज्ञानस्वरूप ( विज्ञान का आकार ) ही है, तो विज्ञान तथा बाह्यपदार्थ दोनों का आकार एक ही है, यह कहना होगा। अर्थात् घट-पटादि बाह्यपदार्थ विज्ञान से अतिरिक्त नहीं हैं। ऐसी स्थिति में जब 'इमे नीलपीते' इत्याकारक समूहालम्बनात्मकज्ञान ( एक ज्ञान ) में नीलाकार-विज्ञान, पीताकार हो जाना चाहिये, क्योंकि नील और पीत दोनों, विज्ञान के ही आकार हैं। विज्ञान में स्वरूपतः तो कोई भेद है ही नहीं, अर्थात् जो नीलाकारविज्ञान है वही पीताकारविज्ञान है। 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' यह नियम है। अर्थात् नील-रूपाकारात्मक-विज्ञानाभिन्नस्य पीताकारस्य नीलाभिन्नत्वम्। इस नियम के अनुसार 'नील' पीतस्वरूप तथा 'पीत' नीलस्वरूप होने लगेगा, क्योंकि बौद्ध के मत में नील तथा पीत दोनों, विज्ञान के ही आकार माने गये हैं। 'नानाविशेष्यतानिरूपित-नानाप्रकारताशालिज्ञानं—समूहालम्बनम्' अर्थात् जिस एक ज्ञान में अनेक पदार्थ स्वतन्त्ररूप से ( विशेषण-विशेष्यभाव के बिना ) भासते हैं, उसे समूहालम्बनात्मक-ज्ञान कहते हैं। एवञ्च ज्ञान का आकार, ज्ञान से भिन्न न होने से ज्ञान में स्व-रूपतः कोई भेद हो ही नहीं सकता। यदि क्रमशः पहिले व बाद दो ज्ञान हों तो किसी तरह उनमें मान भी लिया जाय, परन्तु नील और पीत का जो ज्ञान एक साथ और एक ही ज्ञान के रूप में हो रहा है, उस एक ही ज्ञानव्यक्ति में भेद ( भिन्नता ) कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? अतः नील में भी पीत प्रत्यय होना चाहिये और उसे यथार्थ भी कहना होगा। अर्थात् 'इमे नीलपीते' की जगह 'इमे नीले' इतना ही अथवा 'इमे पीते' इतना ही ज्ञान होगा। क्योंकि 'स्व-रूपतो विज्ञानस्येति'। विज्ञान का आकार ( स्वरूप ) विज्ञान से भिन्न नहीं ( एक ही ) है। अतः समूहालम्बनात्मक धारावाहिक ज्ञान में नील और पीत का ज्ञान जो एक साथ और एक ही ज्ञान के रूप में हो रहा है उसमें [ एक ही ज्ञान व्यक्ति में ] भेद ( अन्तर ) कैसे हो सकेगा ?

बौद्ध कहता है–'अपोहरूप इति'। हमारे सिद्धान्त के अनुसार नील-पीत आदि बाह्य-पदार्थ का कोई अस्तित्व न होने से उसमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। अर्थात् नीलाकार से पीताकार अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है। तथापि हम ( बौद्ध ) नीलत्व, पीतत्व आदि धर्म ( जाति ) को 'अपोह' ( अतद्व्यावृत्ति ) के रूप में मानते हैं। ( अपोह्यते व्यावर्त्यते इति अपोहः ) वह 'अपोह' हमारे मत में 'ज्ञान' का ही धर्म है। इस कारण नील और पीत में भिन्नता हो जायगी। अर्थात् 'नील' ( नीलात्मक विज्ञान ) में अतद्व्यावृत्तिरूप ( अनील-व्यावृत्तिरूप ) नीलत्वधर्म और 'पीत' ( पीतात्मक विज्ञान ) में अपीतव्यावृत्तिरूप पीतत्व धर्म रहता है। उन भिन्न-भिन्न नीलत्व-पीतत्व धर्मों के कारण ही नील और पीत में भेद प्रतीति की उपपत्ति हो जायगी, तात्पर्य यह है कि बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार घट-पट आदि में रहनेवाली घटत्व-पटत्व आदि जातियों ( धर्मों ) का वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है। अर्थात् 'जाति' कोई भावात्मक वस्तु नहीं है। नैयायिकों ने जैसे समस्त घटों पर रहनेवाला 'घटत्व' संज्ञक एक सामान्य ( जाति ) वास्तविकरूप में माना है, वैसा बौद्ध नहीं मानते। उनका कहना है कि घट-पट आदि सभी पदार्थ अपने से अतिरिक्त पदार्थों से भिन्न हैं अर्थात् घट में अघट का ( घटातिरिक्त सभी का ) भेद है। इस प्रकार की स्वातिरिक्त से व्यावृत्ति को ही अतद्व्यावृत्ति यानी अपोह कहते हैं। यह अघटों का भेद ही घटों में सामान्य की प्रतीति कराता है। अर्थात् घटों में कोई भावात्मक ( भावरूप ) सामान्य नहीं है, किन्तु अघटों से भिन्न रहना ही निषेधात्मक सामान्य है। अतः सामान्य पदार्थ काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। इस रीति से अपोह ( अतद्व्यावृत्ति ) को ज्ञान का धर्म कह सकते हैं, उसी के बल पर ज्ञान में रहनेवाले नील, पीत आदि आकारों में भेद होता है। अतः कोई दोष नहीं है।

नैयायिक—वह धर्म भी तुम्हारे ( बौद्ध ) मत में विज्ञानरूप ही है, विज्ञान से उसका ( धर्म का ) भेद नहीं है। इस कारण उन धर्मों की भी एकता है तथा 'नीलत्व' और 'पीतत्व' ये ( नीलात्मक-पीतात्मक विज्ञान के ) धर्म भी शशशृङ्ग के समान मिथ्या हैं। अतः उनके बल पर सद्वस्तु विज्ञान का भेद होना सम्भव नहीं, तब नील और पीत में भेद की प्रतीति कैसे होगी ?

किञ्च—एक विज्ञानरूप धर्मी में नीलत्व, पीतत्व ये परस्पर विरुद्ध ( असमानाधिकरण अर्थात् परस्पराऽभावव्याप्त ) धर्म कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में किसी भी बाह्य पदार्थ का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं है। दो विरुद्ध धर्मों के रहने के लिये दो भिन्न-भिन्न धर्मी पदार्थ मानने होंगे। बाह्यपदार्थवादी नैयायिक नील, पीत आदि भिन्न-भिन्न दो धर्मी पदार्थों का अस्तित्व मानता है। अतः बाह्यपदार्थवादी नैयायिक के मत में तो दो विरुद्ध धर्म ( नीलत्व, पीतत्व ) दो भिन्न-भिन्न बाह्य धर्मी पदार्थों में रह सकते हैं। किन्तु बाह्यपदार्थ को न मानने वाला बौद्ध, नैयायिकों के समान नहीं कह सकता, क्योंकि उसके मत में



बाह्यपदार्थ है ही नहीं, तब एक ही ज्ञान में नीलत्व, पीतत्वादि दो विरुद्ध धर्म एक साथ कैसे रह सकते हैं ? विरुद्ध धर्मों का भी सामानाधिकरण्य ( एक अधिकरण में रहना ) यदि मान लिया जाय तो 'नीलत्व-पीतत्वे विरुद्धे' इत्याकारक अभ्रान्तानुभवरूप विरोधावधारण ही नहीं बन पायेगा। जल में उष्णता शीतलता रूप विरुद्ध धर्मों की एक ही समय में एक साथ ही प्रतीति होने लगेगी। अतः बाह्यपदार्थ का अस्तित्व अर्थात् बाह्यपदार्थ का स्वरूप ( आकार ) विज्ञान से भिन्न मानना ही चाहिये।

इस रीति से यह सिद्ध हुआ कि नीलत्व-पीतत्वादि धर्मवाले पदार्थ, विज्ञान से भिन्न हैं। तथा ज्ञान हमेशा सविषय होता है, सुषुप्ति में उस सविषय ज्ञान का होना कदापि सम्भव नहीं है। अतः आत्मा को विज्ञान से अतिरिक्त ही स्वीकार करना होगा।

शंका—( बौद्ध की ) नैयायिक ने विरुद्धधर्मों के सामानाधिकरण्य नहीं हो सकने की बात कही, किन्तु समूहालम्बनात्मक ज्ञान में तो नीलत्व-पीतत्व आदि विरुद्ध धर्मों को नहीं माना जाता अपितु चित्रत्व या चित्त्व धर्म को ही माना जाता है। अतः विरोधावधारण की दुरुपपादतारूप दोष नहीं हो पाता।

उक्त आशंका को ध्यान में रखकर ही नैयायिक इस समय बौद्ध प्रदर्शित वासनासंक्रम का खण्डन कर रहा है–'न वा वासनासङ्क्रम' इति। बौद्ध ने कहा था कि 'कस्तूरी' ( मृगमद ) की वासना ( गन्ध-संस्कार ) संक्रमण के समान पूर्व-पूर्व विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में वासना का संक्रमण करता है। संक्रमण करने के कारण मेरे ( बौद्ध के ) मत में विज्ञानात्मा के अनित्य तथा क्षणिक रहने पर भी स्मरणानुपपत्तिरूप दोष नहीं है, किन्तु यह सम्भव नहीं। क्योंकि पूर्वआलयविज्ञान, उत्तरआलयविज्ञान का हेतु ( कारण ) होने से पूर्वआलयविज्ञान की वासना, उत्तरआलयविज्ञान में यदि जा सकती है तो माता ( मातृरूपविज्ञान ) की वासना ( संस्कार ) उसके ( माता के अपने ) पुत्र ( पुत्ररूपविज्ञान ) में भी संक्रमित ( संचरित ) होनी चाहिए। क्योंकि मातृरूपविज्ञान भी, पुत्ररूपविज्ञान का हेतु है। एवञ्च मातृनिष्ठ-संस्कार का संक्रमण पुत्र में होने लगेगा। किन्तु संक्रमणापत्ति को बौद्ध भी स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि माता के द्वारा अनुभूतपदार्थों का स्मरण माता को ही होता है, पुत्र को नहीं। वासना-संक्रमण को मानने पर तो मात्रनुभूत बातों का स्मरण पुत्र को भी होने लगेगा, किन्तु होता नहीं। क्योंकि 'वासना' तो 'आत्मा' का धर्म ( गुण ) है, अतः वह जिस आत्मा ( धर्मी ) का धर्म है, उस धर्मी का त्यागकर अन्यत्र जाने में समर्थ नहीं है। मृगमद ( कस्तूरी ) के संक्रमण में भी उसके परमाणु ही अदृष्टवशात् दूसरी-दूसरी पर्तों में संयुक्त होते जाते हैं। बौद्ध इस रहस्य से अपरिचित प्रतीत हो रहा है। अर्थात् पदार्थ के स्वभाव से परिचित नहीं है।

बौद्ध—उपादान कारण के द्वारा अनुभूत जो हो, उसी का स्मरण उपादेय

( कार्य ) को हुआ करता है—यह नियम है। माता और पुत्र में उपादानोपादेय भाव नहीं है, क्योंकि माता तो पुत्र के प्रति निमित्तकारण होती है। अतः मातृदृष्ट या अनुभूत वस्तु का पुत्र को स्मरण नहीं हो पाता। विज्ञान की स्थिति ऐसी नहीं है। पूर्व-विज्ञान तो उत्तरविज्ञान का उपादानकारण है और उत्तर-विज्ञान, उसका उपादेय है। अतः पूर्वविज्ञान के संस्कार उत्तर-विज्ञान में आते हैं।[1]

नैयायिक—उत्तरविज्ञान में पूर्वविज्ञान की वासना ( संस्कार ) का संक्रम ( संचार ) होना असंभव है, क्योंकि बौद्धों का सिद्धान्त है कि 'सर्वं क्षणिकम्' इस नियम के अनुसार पूर्वविज्ञान भी क्षणिक होने से पूर्णतया नष्ट हो जाता है अर्थात् वह ( पूर्वविज्ञान ) अपना कोई यत् किञ्चित् अंश भी छोड़ता नहीं, जिसका संक्रमण ( संचार ) उत्तरविज्ञान में हो पाये। अतः पूर्वविज्ञान का उत्तरविज्ञान में वासना समर्पण करना सर्वथा असम्भव है।

बौद्ध—हमारे मत में उपादान का अर्थ समवायिकारण नहीं है 'न उपानदानत्वं नाम समवायिकारणत्वम्।' क्योंकि भिन्न काल में स्थित दो क्षणिकविज्ञानव्यक्तियों में समवायिकारणता का होना सम्भव नहीं, किन्तु 'असहकृतं कारणमुपादानकारणम्'। उत्तरकालीनज्ञानव्यक्ति के प्रति केवल ( अकेले ) पूर्वज्ञानव्यक्ति को ही हम कारण मानते हैं। माता, पुत्र के प्रति असहकृत कारण नहीं है, शुक्र आदि भी पुत्र के प्रति सहकारि कारण होते हैं। अथवा—'उपादानत्वं नाम 'कार्याऽव्यवहितप्राग्वृत्तित्वे सति कार्यसजातीयत्वम्'। 'कार्यसजातीयत्वं च कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वम्'। बौद्ध मत में आत्मत्वावच्छिन्नम्प्रति आत्मत्वेनैव उपादानतया उत्तरकालीन—आलयविज्ञान-म्प्रति पूर्वकालीन-आलयविज्ञानमुपादानं भवति। ऐसा उपादानत्व पुत्र के प्रति माता का नहीं है। क्योंकि पुत्रत्व और मातृत्व भिन्न-भिन्न धर्म हैं। एवञ्च उक्तप्रकार का उपादानोपादेयभाव ही कारणगुणों के कार्यगुणवृत्तित्व में नियामक होता है। अतः मातृसंस्कारों का पुत्र में सङ्क्रमण नहीं हो पाता।

नैयायिक—वासना संक्रमण में 'उपादानोपादेयभाव' को नियामक नहीं कह सकते। क्योंकि 'वासनायाः संक्रमासंभवात्' इति। 'वासना' तो गुणपदार्थ है, वह भावनात्मक संस्काररूप है। गुण होने से उसमें गुण, क्रिया नहीं रह सकती 'गुणे गुणक्रिययोरभावात्'। एवं च उत्तर-विज्ञान में गमनात्मक संक्रमणक्रिया का होना कदापि सम्भव नहीं है।

बौद्ध—उत्तरस्मिन्निति। 'संक्रम' का अर्थ 'गमनक्रिया' नहीं है, किन्तु 'उत्पत्ति' है। अर्थात् उत्तरविज्ञान में पूर्वविज्ञान की वासना की उत्पत्ति का होना ही 'संक्रम' है। एवं च उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति के समय में ही पूर्व-आलयविज्ञान-स्थितसंस्कार से उत्तर-आलयविज्ञान में संस्कार भी उत्पन्न होता है। बौद्ध का अभिप्राय यह नहीं है कि पूर्वविज्ञान की वासना ही उत्तरविज्ञान में संक्रमित होती है, अपितु पूर्वविज्ञान की वासना ( संस्कार ) अग्रिमविज्ञान में नये सिरे से उत्पन्न होती है। इस उत्पत्ति को ही 'संक्रम' या 'संचार' कहते हैं। अतः नैयायिक जो



समझ रहा है कि 'पूर्वविज्ञान की वासना ही उत्तरविज्ञान में संक्रमित ( संचरित ) हो जाती है'—वह हमारा ( बौद्ध का ) अभिप्राय नहीं है। यदि नैयायिक इस पर कहे कि उत्तर-अलयविज्ञान और संस्कार ( वासना ) दोनों एककालीन होने से उनमें आधाराऽऽधेयभाव कैसे बन सकेगा? तो उसपर बौद्धका कहना है कि दोनों (उत्तरा-लयविज्ञान और वासना ) के एककालीन होनेपर भी उनमें आधाराऽऽधेयाभाव हम मानते हैं। अतः संस्कारसंक्रम की अनुपपत्ति नहीं है।

नैयायिक—'तदुत्पादकाभावादिति।' बौद्ध ने जो यह कहा था कि 'उत्तर-विज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही 'वासना' की उत्पत्ति उसमें (उत्तरविज्ञान में ) होती है. उस उत्पत्ति का ही नाम 'संक्रम' है।' किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पादक के बिना किसी की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। पूर्वविज्ञान तो नष्ट हो ही चुका है, अतः वह अपनी वासना को उत्तरविज्ञान में कैसे उत्पन्न करेगा? क्योंकि उसकी उत्पत्ति के क्षण में पूर्वविज्ञान विद्यमान ही नहीं है। यदि पूर्वविज्ञान की सत्ता ( विद्यमानता ) उस दूसरे क्षण में भी मानी जाय तो उसमें अधिकक्षणा-वस्थायित्व मानना होगा, जिससे 'विज्ञानं क्षणिकम्' इसे बौद्ध सिद्धान्त का भंग हो जायगा। एवञ्च वासनासंक्रमण के निरूपण करने में बौद्ध समर्थ नहीं है।

बौद्ध—'चितामेवेति।' पूर्वविज्ञान भले ही उत्तरविज्ञान में वासना ( संस्कार ) को पैदा न करे, किन्तु ज्ञानत्वेनरूपेण ज्ञान, संस्कार का उत्पादक ( हेतु ) होने से 'चित्' ( ज्ञान ) को ही हम उसका ( वासना का ) उत्पादक मानते हैं। अर्थात् उत्तरोत्तर उत्पद्यमान विज्ञान स्वयं (स्वतः) ही वासना (संस्कार) को उत्पन्न करेगा।

नैयायिक—'संस्कारानन्त्य ( तदानन्त्य ) प्रसङ्गः' इति। प्रतिक्षण में उत्पन्न हुआ ज्ञान भिन्न-भिन्न होने से उसका अन्त नहीं है, अर्थात् ज्ञान, अनन्त है। अतः उन अनन्त ज्ञानों से उत्पन्न होनेवाले संस्कार ( वासना ) भी अनन्त होंगे। अर्थात् अनन्त संस्कारों की कल्पना करनी पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि नैयायिक प्रत्येक अनुभव का एक संस्कार मानते हैं, किन्तु बौद्ध को प्रत्येक अनुभव के अनन्त संस्कार मानने पड़ेंगे क्योंकि प्रत्येक ज्ञान के साथ तत्तत् पूर्ववर्ती प्रत्येक अनुभव के संस्कार बार-बार उत्पन्न होंगे।

---

१. शंका—ज्ञान, सुख, संस्कार आदि को यदि आत्मा से भिन्न नहीं मानेंगे तो 'अहं सुखी' 'अहं संस्कारी' इत्याकारक सभी के अनुभव में आनेवाले सुख संस्करा-धिकरणत्वागाहिप्रत्यय की उपपत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि अभेद रहने पर आधा-राधेय भाव का बनना सम्भव नहीं है।

समा०—आधार और आधेय की अभिन्नता ( एकता-तादात्म्य ) रहने पर भी आधारतावच्छेदक धर्म और आधेयतावच्छेदक धर्म में तो भेद ( भिन्नता ) अवश्य ही रहेगा, तब उसी भेद को आधाराधेयभाव का नियामक मान लेंगे। 'तादात्म्य' को तादात्म्यत्वेन-रूपेण अधिकरणता का नियामक न कह सकने पर भी स्वरूपत्वेन उसे अधिकरणता का नियामक कह सकते हैं।

बौद्ध—विज्ञान तो क्षणिक है, उस क्षणिक विज्ञान में एक प्रकार की शक्ति है। अर्थात् जिस ज्ञान व्यक्ति के अनन्तर स्मरण उत्पन्न होता है, उस स्मरण के हेतुभूत संस्कार को उत्पन्न करनेवाली शक्ति की कल्पना पूर्वज्ञान-व्यक्ति में ही करते हैं, समस्तज्ञानव्यक्तियों में नहीं। अर्थात् 'प्रत्येक ज्ञान के साथ प्रत्येक संस्कार की बार-बार उत्पत्ति होती है'—यह हम नहीं कह रहे हैं, बल्कि जिस ज्ञान के बाद स्मरण होता है, उस स्मरण से पहले होनेवाले ज्ञान में एक विशेष प्रकार की शक्ति ( अतिशय ) की कल्पना हम करते हैं। वही शक्ति ( अतिशय ) स्मरण का कारण बनती है। अतः अनन्त विज्ञानों में अनन्त संस्कार मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती, और स्मरण की भी उपपत्ति ठीक लग जाती है।

नैयायिक—स्मरण से पूर्व के विज्ञान में इस प्रकार की विशेषशक्ति (अतिशय) मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इसपर बौद्ध कदाचित् यह कहे कि ज्ञानव्यक्ति के भेद से अनन्तसंस्कारों की कल्पना करने की आवश्यकता के न होने का लाघव ही शक्ति के होने में प्रमाण है, तो दूसरा दोष देते हैं—'कल्पनागौरवाच्चे'ति। अतिशय ( शक्ति ) के मानने में कल्पनागौरव इस प्रकार होगा—जब जब स्मरण होगा तब-तब पूर्वविज्ञान में अतिशय ( शक्ति ) की कल्पना करनी होगी, फिर उस शक्ति का नाश, पुनः उसकी उत्पत्ति इस प्रकार से अनन्त अतिशयरूप शक्तियों को मानना होगा। अभिप्राय यह है कि शक्ति भी भावपदार्थ होने से वह क्षणिक है। अतः अनन्तशक्ति उसके प्रागभाव आदि की कल्पना करने से गौरव होने के कारण लाघव नहीं है। एवं च क्षणिकविज्ञान को किसी प्रकार से भी 'आत्मा' नहीं कह सकते। अतः 'स एवायम्' यह प्रत्यभिज्ञा आपामर होने से ज्ञानाधिकरण नित्य आत्मा का स्वीकार करना ही उचित है।

**एतेन क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्यं प्रत्युक्तं गौरवादतिशये मानाभावाच्च। बीजादावपि सहकारिसमवधानासमवधानाभ्यामेवोपपत्तेः, कुर्वद्रूपत्वाकल्पनात्।**

इति शरीरात्मवादिमतखण्डनम्।

**बा० प्रि०**—बौद्धसम्प्रदाय के ही कुछ विद्वान् क्षणिक शरीर को ही चेतन ( आत्मा ) अर्थात् 'क्षणिकशरीरेष्वेव चैतन्यम्' चेतनता क्षणिकशरीरों का धर्म है ऐसा मानते हैं, किन्तु पूर्वोक्त दो दोषों ( प्रमाणाभाव तथा गौरव ) के कारण उनका पक्ष भी खण्डित हो जाता है। ये बौद्धैकदेशीविद्वान् क्षणिक शरीर में ही चैतन्य ( ज्ञान ) मानते हैं, और चार्वाक भी चैतन्य को शरीर का ही धर्म मानते हैं। तथापि दोनों में भेद इतना ही है बौद्ध, शरीर को क्षणिक मानकर उसमें 'चैतन्य' मान रहा है। किन्तु चार्वाक शरीर को क्षणिक नहीं मानता। अब नैयायिक 'गौरवात् अतिशये मानाभावाच्च' कहकर बौद्धैकदेशीविद्वानों के मत का खण्डन कर रहा है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील शरीर में नवीन-नवीन संस्कारों के पैदा होने से अनन्त संस्कारों की कल्पना करने का गौरव होगा। यही दोष, ज्ञान



को उत्पादक मानने पर दिया गया था। इस पर बौद्ध ने कहा था कि हम प्रतिक्षण पैदा होनेवाले शरीर में बार-बार संस्कारों की उत्पत्ति न मानकर केवल स्मरण से अव्यवहित पूर्वक्षण के शरीर में ही विशेष अतिशय ( शक्ति ) का उत्पन्न होना मानते हैं, जिससे अनन्तसंस्कारों की कल्पना करने का गौरव नहीं होगा। उस पर नैयायिक ने उत्तर दिया था कि स्मरण से अव्यवहित पूर्वक्षण के क्षणिकशरीर में विशेष अतिशय ( शक्ति ) को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। क्षणिकविज्ञानवादी का कहना था कि "क्षणिक विज्ञान ही आत्मा तथा ज्ञान का कर्ता है"। उस पक्ष को छोड़ इसके बदले "क्षणिक शरीर को ही आत्मा तथा ज्ञान का कर्ता" इस पक्ष ने माना है। किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं है। इसके मानने में भी वैसा ही महान् गौरव है। जैसे देवदत्त ने कभी पहले यज्ञदत्त को देखा था। वही यज्ञदत्त कुछ समय के पश्चात् उस देवदत्त से मिला। उस समय देवदत्त को 'वही यह यज्ञदत्त है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान ( ऐक्य-विषयकज्ञान ) उत्पन्न होता है। किन्तु उपर्युक्त पक्ष में यह प्रत्यभिज्ञा हो नहीं पायेगी, क्योंकि पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञान में 'वह यज्ञदत्त यही है' ऐसे दोनों ज्ञान एक नहीं होंगे। क्योंकि शरीर के क्षणिक होने से आत्मस्वरूपी अनन्त शरीरों की कल्पना करनी होगी, और जिस समय प्रत्यभिज्ञान होगा, उस समय वह पूर्व का शरीर तो नष्ट हो जाने के कारण रहेगा नहीं। एवं च पूर्व के शरीरस्वरूपी आत्मा के न होने से प्रत्यभिज्ञान होने की अनुपपत्ति ( असिद्धि ) होगी। वह अनुपपत्ति न हो तथा प्रत्यभिज्ञान की उपपत्ति हो सके इसलिये इस क्षणिक शरीर में क्षणिक तथा अनन्त शक्तियाँ और उनके प्रागभाव तथा ध्वंस आदि की कल्पना बौद्धों को करनी होगी, उससे महान् गौरव होगा। इतना ही नहीं, किन्तु तादृश क्षणिक तथा अनन्त शक्तियों की कल्पना करने में कोई प्रमाण भी नहीं है।

इस पर बौद्ध अपने वासनासङ्क्रमवाद के साधनार्थ एक तर्क उपस्थित कर रहा है। वह कहता है—खेत में बोया हुआ बीज ही अंकुर को पैदा कर पाता है। कुशूल ( कुठले ) में रखा हुआ बीज नहीं। अंकुर को उत्पन्न करनेवाले बीज में 'कुर्वद्रूपता' नामक धर्म रहता है। वही धर्म, अंकुर को उत्पन्न करता है। वह 'कुर्वद्रूपता' धर्म अंकुरोत्पत्ति का प्रयोजक धर्म है। इस धर्म के योग से अंकुर के उत्पन्न होने की व्यवस्था होती है यह बात तो तुम्हें भी मान्य है। 'कुर्वद्रूपता' का अर्थ है—'कुर्वत् फलोन्मुखं रूपं यस्य, तस्य भावः "कुर्वद्रूपत्वम्" कुर्वद्रूपता इत्यर्थः। अंकुरोपधायकक्षणिकबीजव्यक्तिमात्रवृत्तिर्बीजत्वव्याप्यो जातिविशेषः'। अर्थात् फल को उत्पन्न करता हुआ 'रूप' है जिसका, उसे 'कुर्वद्रूप' कहते हैं, उसका भाव 'कुर्वद्रूपता' कहा जाता है। एवं च अंकुरत्वावच्छिन्न अंकुर के प्रति कुर्वद्रूपत्वेन बीज कारण होता है। सामान्यरूपेण ( बीजत्वेनरूपेण ) बीज, अंकुर के प्रति कारण नहीं है। यह 'कुर्वद्रूपता' अंकुरजननयोग्यजातिविशेषरूप है। वह जातिविशेष, फलोपधायक क्षेत्रस्थबीज में ही रहता है, कुशूलस्थबीज में नहीं। क्योंकि उसमें

( कुर्वद्रूपत्व में ) फलोपधायक-क्षणिक-समर्थबीजमात्रवृत्तित्वे सति बीजत्वव्याप्यत्व रहता है। अर्थात् 'यत्र यत्र कुर्वद्रूपत्वं तत्र तत्र बीजत्वम्' यह समझा जाता है। बौद्धसिद्धान्त में जो जो भावपदार्थ हैं, वे सभी क्षणिक माने जाते हैं। पदार्थ का भावत्व क्या है ? अर्थक्रियाक्षमता ही भावत्व है। स्वकार्योत्पत्ति में समर्थ होना ही अर्थक्रियाक्षमता है। उसीको पदार्थ की सत्ता कहते हैं। एवं च अंकुरोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणवर्तिक्षेत्रस्थ बीज ही अंकुरोत्पत्ति में समर्थ होता है। उसीतरह पूर्वक्षण में स्थित शरीर या ज्ञान में किसी अतिशय ( शक्ति ) की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर भी हम स्मरण से पूर्वक्षण में स्थित शरीर या विज्ञान में 'कुर्वद्रूपता' धर्म को मान लेंगे, उस धर्म के कारण स्मरण हो रहा है। अर्थात् क्षणिक विज्ञान भी उत्तरविज्ञान में कुर्वद्रूपत्वेनैवधर्मेण संस्कारोत्पादक होता है कहेंगे। उसी प्रकार क्षणिकशरीर भी उत्तरोत्तरशरीरनिष्ठसंस्कार का उत्पादक 'कुर्वद्रूपत्व' धर्म के द्वारा ही होता है। ऐसा मानने से अनन्त शक्तिकल्पनारूप गौरव आदि दोष नहीं हो पायेगा। दृष्टान्त में दिये गये बीज के साथ कुर्वद्रूपता की जैसी समव्याप्ति है, वैसी ही विज्ञान के साथ भी कुर्वद्रूपता की समव्याप्ति है। 'यत्र यत्र कार्यजनकत्वं तत्र तत्र कुर्वद्रूपत्वम्, यत्र-यत्र कुर्वद्रूपत्वं तत्र-तत्र कार्यजनकत्वम्'—यह समव्याप्ति का आकार है।

नैयायिक—यह जो आपने कहा था कि 'अंकुरोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणवर्तिक्षेत्रस्थ-बीज ही अंकुरोत्पत्ति का कारण होता है' वह ठीक नहीं है, क्योंकि आपका 'कुर्वद्रूपता' का सिद्धान्त ही भ्रमपूर्ण है। अंकुरोत्पत्ति में 'बीज' अपने सामान्यरूप से ही कारण होता है, 'कुर्वद्रूपता' संज्ञक धर्म के कारण नहीं। कुशूलस्थित बीज से अंकुर न होने का कारण यह है कि उसे सहकारिकारणों की उपलब्धि नहीं हो पाई। क्षेत्रस्थ बीज को पृथ्वी, जल, तेज, वायु संयोगरूप सहकारिकारणों का सन्निध्य प्राप्त हो जाने से वह अंकुरोत्पादन में समर्थ हो गया। यदि उन सहकारिकारणों की उपलब्धि ( सान्निध्य ) न होती तो उस बीज से भी अंकुरोत्पत्ति कभी भी न हुई होती। कुशूलस्थबीज तथा क्षेत्रस्थबीज वस्तुतः एक ही हैं। बौद्ध का यह भ्रम है कि कुशूलस्थबीज भिन्न हैं और क्षेत्रस्थबीज भिन्न हैं, तथा क्षेत्रस्थ-बीज में ही 'कुर्वद्रूपता' रहती है। अंकुरोत्पत्ति के प्रति कुर्वद्रूपत्वेन बीज में कारणकल्पना करना व्यर्थ है। उसीतरह क्षणिक विज्ञान या क्षणिक शरीर को कुर्वद्रूपत्वेन कारण समझना भी व्यर्थ है, क्योंकि संस्कार का कारण 'अनुभव' ही सर्वमान्य है। अतः क्षणिकवाद का आधारभूत 'कुर्वद्रूपता'वाद बौद्धों का भ्रम है। एवं च वासनासंक्रम की अनुपपत्ति वैसी ही स्थिर रही। इस प्रकार विज्ञानवाद का खण्डन हो जाता है।

॥ इति क्षणिकविज्ञानवादियोगाचारमतखण्डनम् ॥

बौद्धों के सम्बन्ध में निम्नलिखित इतिहास ज्ञातव्य है—भगवान् बुद्ध ( सुगत ) उपदेशक हैं और वे एक ही हैं। तथापि उनके माध्यमिक, योगाचार,



सौत्रान्तिक और वैभाषिक नाम के चार शिष्य हैं, जो भावनाभेद से भिन्न-भिन्न विचार रखते हैं। भगवान् बुद्ध के शिष्य होने के नाते इन चारों को बौद्ध कहते हैं। उनमें मुख्य माध्यमिक सर्वशून्यतावादी है। इस माध्यमिक शिष्य को परिपक्व चित्तवाला तथा मुख्य अधिकारी जानकर भगवान् बुद्ध ने इसे शून्यवाद का उपदेश दिया। इस कारण यह शिष्य शून्यवादी माध्यमिक नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका मत संक्षेप में इस प्रकार है—

'यत् सत् तत् विनश्यति'—जो सत् होता है। वह नष्ट होता है। अतः 'सर्वं शून्यं शून्यमिति विभावनीयम्'—अतः सर्वत्र शून्यं की भावना करनी चाहिये। अत एव कहा गया है—

"परिव्राट्कामुकशुनामेकस्यामप्रमदातनौ ।
कुणपः कामिनी भक्ष्य इति तिस्रो विकल्पनाः ॥"

इस कारण १—"सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्"। २—"सर्वं दुःखं दुःखम्"। ३—"सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणं"। ४—"सर्वं शून्यं शून्यम्" इन चार भावनाओं के बलपर समस्त वासनाओं की निवृत्ति हो जाने से परनिर्वाणरूप 'शून्यतत्त्व' को प्राप्त किया जाता है। उससे हम कृतार्थ हैं अब हमें उपदेश्य नाम की कोई वस्तु नहीं रही।

दूसरे योगाचार शिष्य को किञ्चित् परिपक्वचित्तवाला जानकर भगवान् बुद्ध ने उसे शून्यरूप तत्त्व में प्रवेश पाने के हेतु प्रथमतः क्षणिकविज्ञानवाद का उपदेश किया। इस कारण यह शिष्य क्षणिकविज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका मत संक्षेप में इस प्रकार है—स्वयम्प्रकाशविज्ञान का स्वीकार अवश्य करना चाहिये। अन्यथा जगदान्ध्यप्रसंग होगा। विज्ञान के सम्बन्ध में कहा जाता है कि—

'तद् स्यादालयविज्ञानं यद् भवेदहमास्पदम् ।
तद् स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ॥'

ग्राह्य-ग्राहक-संवित्ति में वस्तुतः अभेद होनेपर भी एकचन्द्र में द्वित्वावभास के समान पृथगवभास का भ्रम हुआ करता है। एवं च भावनाचतुष्टय के बल से विविध-विषयाकार-विवर्जित शुद्धक्षणिकविज्ञानोदयस्वरूपमोक्ष की प्राप्ति होने पर ही कृतार्थता प्राप्त होती है। भगवान् बुद्ध ने अपने तीसरे सौत्रान्तिक शिष्य को तथा चौथे वैभाषिक शिष्य को आन्तर विज्ञान से भिन्न बाह्य घटादि पदार्थों में उनका अभिनिवेश जानकर उन दोनों के अभिप्राय के अनुसार बाह्य अर्थ का उपदेश किया। इन दोनों शिष्यों में भेद इतना ही है कि सौत्रान्तिक तो बाह्य अर्थों को अनुमेय ( अनुमितिज्ञान का विषय ) मानता है, और वैभाषिक उन बाह्य अर्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानता है। सौत्रान्तिक बौद्ध का मत संक्षेप में इस प्रकार है—घट-पटादि बाह्य पदार्थ सब हैं ही, किन्तु उन सबका प्रत्यक्ष नहीं होता। वे सब बाह्यपदार्थ अनुमेय ही हैं। जैसे भाषा से देश का अथवा सम्भ्रम से स्नेह का

अनुमान किया जाता है, वैसे ही ज्ञानाकार से ज्ञेय का अनुमान ही किया जाता है। अर्थात् ज्ञानाकारानुमेयक्षणिकबाह्यार्थ ही आत्मा है। दुःख, दुःखायतन और दुःख-साधन का निरोधकर विमलज्ञान का उदय होना ही मुक्ति है। वैभाषिक बौद्ध का मत संक्षेप में इस प्रकार है—ग्राह्य और अध्यवसेय भेद से पदार्थ दो प्रकार के हैं। उनमें ग्राह्यग्राहक निर्विकल्परूपग्रहण अर्थात् ज्ञान ही कल्पनापोढ़ होने से अभ्रान्त प्रत्यक्ष है और वही प्रमाण है, और अध्यवसाय तो सविकल्परूप है अर्थात् अनुमान कल्पनारूप होने से अप्रमाण है। सौत्रान्तिक और वैभाषिक में इतना ही भेद है कि सौत्रान्तिक 'बाह्यानुमेयपदार्थवादी' है और वैभाषिक 'बाह्यप्रत्यक्षार्थवादी' है।

उपर्युक्त बौद्धों को माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक आदि नाम कैसे प्राप्त हुए? इसका भी इतिहास है, जो ज्ञातव्य है—शिष्यों को 'योग' और 'आचार' दोनों का अनुष्ठान करना चाहिए। उनमें अप्राप्त की प्राप्ति के लिये जो पर्यनुयोग उसे 'योग' कहते हैं, और गुरु की उक्ति का स्वीकार कर लेना 'आचार' है। गुरु की उक्ति का अङ्गीकार कर लेने के कारण तो वह 'उत्तम' है, किन्तु प्रश्न (पर्यनुयोग) न करने के कारण 'अधम' भी है। अतः ऐसे एक शिष्य को 'माध्यमिक' नाम प्राप्त हुआ। इनका सिद्धान्त नागार्जुन की 'माध्यमिक-कारिका' में इस प्रकार बताया गया है—चार संभावित कोटियों (सत् नहीं, असत् नहीं, सत् और असत् दोनों नहीं, और दोनों से भिन्न भी नहीं) की अपेक्षा विलक्षण जो 'शून्य तत्त्व' है, उसी को माध्यमिकों ने अपना परम-तत्त्व माना है।

'न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
• चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥'
—( माध्य० कारि० १-७ )

माध्यमिक साहित्य का यह विकास, ब्राह्मण-बौद्ध पण्डितों के तार्किक बुद्धि का परमोत्कर्ष है। शून्यवाद के सिद्धान्त का उपपादन, माध्यमिककारिका, प्रज्ञापारमिता, रत्नकरण्ड आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

दूसरे शिष्य ने भगवान् बुद्ध के द्वारा उक्त भावनाचतुष्टय और बाह्यार्थशून्यता का अंगीकार कर आन्तर-शून्यता का भी अंगीकार कर लिया, किन्तु क्यों, कैसे? यह प्रश्न मन में न उठने के कारण दूसरे बौद्ध को 'योगाचार' नाम प्राप्त हुआ।

तीसरा शिष्य 'सौत्रान्तिक' है। इसने सूत्र का अन्त (रहस्य) पूछा। इसलिये भगवान् बुद्ध ने उससे कहा कि 'तुमने सूत्र का अन्त पूछा' अतः तुम सौत्रान्तिक हो।

चौथा शिष्य वैभाषिक है। इसने अपने मन में यह सोचा कि भगवान् ने 'माध्यमिक' को तो गन्धादि बाह्यविषय और रूपस्कन्धादि आन्तरविषयों के विद्यमान रहने पर भी, उनके प्रति अनास्था कराने के लिये 'सर्वं शून्यम्' का उपदेश किया और 'विज्ञानमेव एकं सत्'—विज्ञान ही एकमात्र सत् है—ऐसा उपदेश 'योगाचार' को किया, और 'उभयं सत्यम्'—दोनों सत्य हैं—यह उपदेश सौत्रान्तिक को किया। अर्थात् तत्तत् शिष्यों की बुद्धि को देखते हुए भगवान् ने परस्पर



विरुद्ध उपदेश उन्हें किये। अतः 'सेयं विरुद्धा भगवतो भाषा' इस प्रकार कहने वाले शिष्य को 'वैभाषिक' नाम प्राप्त हुआ। भगवान् बुद्ध के द्वारा किये गये सभी उपदेश भिन्न-भिन्न शिष्यों की भिन्न-भिन्न बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न से प्रतीत होते हैं, तथापि भिक्षुपादप्रसरन्याय से सभी का पर्यवसान सर्वशून्यता में ही समझना चाहिए।

१—वैभाषिक 'बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी' है। २—सौत्रान्तिक 'बाह्यार्थानुमेयवादी' है। ३—योगाचार 'विज्ञानवादी' है। ४—माध्यमिक 'शून्यवादी' है।

मानमेयोदयकार ने उक्त चारों बौद्धों के मतों को एक ही पद्य में इस प्रकार बता दिया है—

"मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अन्योऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥"

वैभाषिक—'हीनयान' का अनुयायी है, यह संसार और निर्वाण दोनों को सत्य मानता है। माध्यमिक, सौत्रान्तिक और योगाचार ये तीनों 'महायान' के अनुयायी हैं। उनमें माध्यमिक—संसार तथा निर्वाण दोनों को असत्य मानता है। सौत्रान्तिक—संसार को सत्य किन्तु निर्वाण को असत्य मानता है। योगाचार—संसार को असत्य किन्तु निर्वाण को सत्य मानता है।

इति बौद्धमत-संक्षेपः

अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा, अविनाशीवाऽरेऽयमात्मा सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादिश्रुतेरिति चेत्? न तस्य सविषयकत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात्। निर्विषयकस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्सविषयकत्वस्याप्यननुभवात्। अतो ज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम्।

'सत्यं ज्ञानमि'ति हि ब्रह्मपरं जीवे तु नोपयुज्यते। ज्ञानाज्ञानसुखित्वादिभिर्जीवानां भेदसिद्धौ सुतरामीश्वरभेदः। अन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिः। योऽपीश्वराभेदबोधको वेदः सोऽपि तदभेदेन तदीयत्वं प्रतिपादयन् स्तौति, अभेदभावनयैव यतितव्यमिति वदति। अत एव 'सर्वं एवात्मनि समर्पिताः' इति श्रूयते। मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायत, इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वेन नाशायोगात्। भेदनाशेऽपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येव। न च द्वित्वमपि नश्यतीति वाच्यं, तव निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यत्वाभावेऽपि सत्यस्वरूपं तदितिवद् द्वित्वाभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मकौ ताविति सुवचत्वात्। मित्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वमिति चेदेकत्वाभावो व्यक्तिद्वयात्मको द्वित्वमित्यप्युच्यताम्।

अब नित्यविज्ञानात्मवादी अद्वैतवेदान्ती अपना मत उपस्थित कर रहे हैं—

क्षणिकविज्ञानात्मवादी ( विज्ञान स्वतःप्रकाश होने से चेतन है और वह विद्युत के समान भावरूप होने से क्षणिक है। जिस पदार्थ का अपने उत्पत्तिक्षण से उत्तरक्षण में सम्बन्ध नहीं होता उसे क्षणिक कहते हैं। उस क्षणिकविज्ञान को ही आत्मा समझने वाले ) योगाचार बौद्ध के क्षणिकविज्ञानात्मवाद को स्वीकार करने में अनन्त-शक्ति तत्प्रागभाव-ध्वंस आदि अनेक कल्पनारूप गौरवदोष प्राप्त हो रहा था, इस कारण 'आत्मतत्त्व' को क्षणिकविज्ञानरूप नहीं माना जा सकता, यह कहकर नैया-यिक ने योगाचार बौद्ध को परास्त किया, वह ठीक ही किया। हम वेदान्ती भी गौरवादिदोष-पराहत हुए योगाचार के मत को उचित नहीं मानते। किन्तु, नित्य अर्थात् त्रिकालाबाध्य, एकरस यानी प्रागभाव—ध्वंसाऽप्रतियोगी, जो विज्ञान अर्थात् स्वप्रकाशचैतन्य, जो श्रुतिप्रसिद्ध है, उसे ही आत्मतत्त्व के रूप में मान लिया जाय। अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही 'आत्मा' है, उसके अतिरिक्त किसी को भी 'आत्मा' नहीं कहा जा सकता। हम वेदान्ती अपने इस कथन में बृहदारण्यक-श्रुति को प्रमाणरूप में दे रहे हैं—'अविनाशीति।' योगीश्वर याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी 'गार्गी' को सम्बोधित कर रहे हैं—'अरे' इति। हे गार्गि ! 'अयम्' अर्थात् वेदान्तविचार में प्रस्तूयमान यह, 'आत्मा' अर्थात् चेतन, 'अविनाशी' है, अर्थात् नाशाऽप्रतियोगी यानि त्रिकालाऽबाधित है,—( बृहदा० ब्रा० ५, मं० १४ )। इसी बात का समर्थन तैत्तिरीयश्रुति भी कर रही है—"सत्यं ज्ञानम्" इति—(तैत्ति० आ० व०। अनु० १) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—सत्यम् अर्थात् त्रिकाला-बाध्य, 'ज्ञानम्' अर्थात् चित्स्वभाव, 'अनन्तम्' अर्थात् त्रिविध ( देश, काल, वस्तु ) परिच्छेदरहित यानि व्यापक, 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मा है। क्योंकि 'बृहत्वाद् बृंहण-त्वाच्च आत्मा ब्रह्मेति गीयते' ऐसा कहा गया है। इस तैत्तिरीयश्रुति में सत्य आदि तीन पद स्वरूपलक्षणपरक हैं। 'सत्य' पद से मिथ्या की व्यावृत्ति, ज्ञान पद से जड़ की व्यावृत्ति और 'अनन्त' पद से परिच्छिन्न की व्यावृत्ति की गई है। 'इत्यादि श्रुतेः' यहाँ 'आदि' पद से 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों को समझना चाहिये। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य ने ब्रह्म का स्वरूपलक्षण बताया है। इस वाक्य में 'ब्रह्म' पद लक्ष्यपरक है और सत्य आदि तीनों पद स्वरूप-लक्षणपरक हैं। यहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म के ही ये सत्यादि विशेषण बताये गये हैं। इन तीनों पदों से जब ब्रह्म को विशेषित किया जाता है, तब सत्यादि के विरुद्ध असत्य, जाड्य, परिच्छिन्न पदार्थों से जो व्यावृत्त हो वही 'ब्रह्म' है, यह स्पष्ट हो जाता है। जैसे—नीलमुत्पलम्, रक्तमुत्पलम् इत्यादि वाक्यप्रयोग करने पर अन्य व्यक्तियों से व्यावृत्त हुआ 'उत्पल' है, ऐसा समझ में आता है, उसी तरह जो असत्यादि अन्य पदार्थों से व्यावृत्त हुआ जाना जाता है, वही 'ब्रह्म' है। इस प्रकार से व्यावृत्त हुए सच्चिदेकतान परिपूर्ण 'ब्रह्मस्वरूप' का ज्ञान होता है। व्यावृत्ति का ज्ञान यदि न हो तो अनृतादि से व्यावृत्ति न हो सकने से 'ब्रह्म' का ज्ञान नहीं हो पायेगा। व्यावृत्ति भी ब्रह्मस्वरूप से भिन्न न होने के कारण निर्वि-



शेष अद्वैतवाद की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। वही 'ब्रह्म' उपाधिवशात् 'जीवभाव' को प्राप्त होता है। नाना उपाधियों के कारण नाना जीव होते हैं। उपाधि भी माया और अविद्या के भेद से दो प्रकार की मानी गयी है। जब 'चैतन्य' मायोपाधि से युक्त होता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं और 'चैतन्य' अविद्योपाधि से युक्त होता है तब उसे 'जीव' कहते हैं। संसार का कारण अविद्या ही है। इस अविद्या का विनाश विद्या से होता है। 'तत्त्वमसि' आदि महा-वाक्योपदेश से होने वाली 'अहम्ब्रह्मास्मि' इत्याकारा अखण्डाकारवृत्ति को ही 'विद्या' कहते हैं। विद्या के द्वारा अविद्या का नाश होने पर जीव के ब्रह्मस्वरूप का आविर्भाव होना ही 'मोक्ष' है। यह अद्वैतवेदान्तियों का सिद्धान्त है। समस्त-पुरुषदोषों से रहित भगवती श्रुति ही स्वयं होकर आत्मा को नित्यविज्ञानस्वरूप बता रही है, वहाँ उसके बारे में और क्या सोचना-विचारना शेष रह जाता है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती ने अपना विचार जब उपस्थित किया, तब सिद्धान्ती ( नैयायिक ) उन्हें उत्तर देता है—"न" इति। 'आत्मतत्त्व' को नित्यविज्ञान-स्वरूप मानने वाले वेदान्ती से नैयायिक पूछता है।

**नैयायिक**—आप ( वेदान्ती ) यह बतावें कि आत्मा को आप नित्यविज्ञान-स्वरूप कहते हैं, या परमेश्वर को नित्यविज्ञानस्वरूप कह रहे हैं? यदि आप आत्मा को नित्यविज्ञानस्वरूप कहते हों तो, क्षणिकविज्ञानात्मवाद के खण्डन करते समय हम कह चुके हैं कि 'तस्य सविषयकत्वाऽसंभवः' अर्थात् विज्ञानात्मा का सविषयक होना कभी संभव नहीं है। उसके सविषयक न होने से 'आत्मा' नित्यविज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है—वेदान्तियों का अभिमत नित्यविज्ञान, सविषयक है या निर्विषयक? यदि सविषयक कहें तो उसका विषय क्या है? यदि समस्त जगत् को उस ज्ञान का विषय कहें तो सभी को सर्वज्ञ होना चाहिये। यत्किञ्चित् वस्तु को यदि उस ज्ञान का विषय कहें तो सुषुप्ति में भी रूपादि विषयों का भान होना चाहिये, किन्तु होता नहीं है। अतः आत्मा को नित्यविज्ञानस्वरूप नहीं कह सकते।

यदि द्वितीयपक्ष अर्थात् नित्यविज्ञानरूप आत्मा को निर्विषयक मानते हैं अर्थात् आत्मस्वरूपी विज्ञान में कोई भी विषय नहीं आ सकता, तो वैसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। ज्ञानत्व में विषयिता की व्याप्यता रहती है। अब व्यापकी-भूतविषयिता को न मानने पर ज्ञानत्व की भी सिद्धि नहीं हो पायगी। अभिप्राय यह है कि 'विषयनिरूप्यं हि ज्ञानम्' यह एक नियम है। अतः संसार में कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता यानी वह ( ज्ञान ) किसी न किसी वस्तु को विषय न करे यह संभव नहीं। अभिप्राय यह है कि ज्ञान, विषय को प्रकाशित करता है, अर्थात् ज्ञान, विषय का प्रकाशक है और घटादिविषय, ज्ञान के द्वारा प्रकाश्य हैं। विषय, ज्ञान का निरूपण करता है। अतः विषय को ज्ञान का निरूपक कहते हैं और ज्ञान

विषय के द्वारा निरूप्य होता है। इस रीति से ज्ञान और विषय का प्रकाश्य-प्रकाशकभाव, निरूप्य-निरूपकभावसंबंध हुआ करता है। इसी अभिप्राय का उपपादन "सविषयत्वस्याप्यननुभवात्" के द्वारा किया जा रहा है। मुक्तावलीकार कहते हैं कि यदि कोई यह आशंका करे कि जीव ( आत्मा ) में जगद्विषयकत्व नहीं है और न नियतयत्किंचिद्विषयकत्व ही है, बल्कि जिस जीव में यद्विषयकत्व का अनुभव हो उस जीव में तद्विषयकत्व अर्थात् जिस जिस वस्तु को जो जो आत्मा ग्रहण करता है उस उस विज्ञानस्वरूप आत्मा को तत्तद्विषयकत्व मान लिया जाय। इस आशंका पर 'सविषयकत्वस्याप्यननुभवात्' से समाधान दे रहे हैं-–'घटस्य ज्ञानम्'–घट का ज्ञान—यह अनुभव तो सभी को होता है, इस कारण 'ज्ञान' को घटादिविषयक सभी ने माना है, किन्तु "घटस्य आत्मा" यह अनुभव आज तक किसी को नहीं हुआ है, इसलिये 'नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मा' को सविषयक नहीं कहा जा सकता। अत एव 'जीवात्मा' विज्ञानस्वरूप न होकर विज्ञान से भिन्न ( ज्ञानेच्छादिगुणभेदवान् ) और नित्य ( ध्वंस-प्रागभावाप्रतियोगी ) सिद्ध होता है। एवञ्च ज्ञानेच्छादिगुणों के अधिकरणरूप में ही आत्मा को स्वीकार कर लेना चाहिये। वेदान्ती शंका करता है कि यदि तुम ( नैयायिक ) आत्मा को ज्ञान का अधिकरण कहोगे तो आत्मा को विज्ञानस्वरूप कहने वाली श्रुति से विरोध होगा।

नैयायिक—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति सत्य-ज्ञान-अनन्तपदों में ब्रह्मपद का सामानाधिकरण्य प्रदर्शित करती हुई ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन कर रही है, जीवस्वरूप का प्रतिपादन नहीं।

वेदान्ती—शंका करता है कि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से जीव की एकता ( तादात्म्य, अभेद ) होने से जीव भी ज्ञानस्वरूप हैं।

नैयायिक—'ज्ञानाऽज्ञानसुखित्वादि०' ग्रन्थ से जीव-ब्रह्म में भेद सिद्ध कर वेदान्ती की शंका का समाधान कर रहे हैं। कितने ही जीव, जिस समय ज्ञान या सुख का अनुभव करते हैं, उसी समय अन्य कितने ही जीव, अज्ञान का तथा दुःख का अनुभव करते हैं। एवं च ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख आदि भिन्न-भिन्न धर्मों से जीवों में परस्पर भेद स्पष्ट है। अर्थात् 'जीव' अनेक हैं किन्तु 'परमेश्वर' एक है, अनेक नहीं। अतः वहीं अनेक जीवरूप कैसे होगा? क्योंकि एकत्व और अनेकत्व का परस्पर विरोध है। एवं च 'जीव' 'परमेश्वर' से भिन्न तथा अनेक है, यह सहजसिद्ध होता है। सुख-दुःख के अनुभव तथा अनित्यज्ञान से युक्त हुए असंख्य ( नाना अनेक ) जीवात्माओं के साथ, नित्यज्ञानसम्पन्न सदा सुखी परमेश्वर का ऐक्य ( तादात्म्य ) होना कदापि संभव नहीं। इस कारण 'जीव' तथा परमेश्वर अर्थात् 'ब्रह्म' का परस्पर 'भेद' ही सिद्ध है, ऐक्य नहीं। जीव और ईश ( ब्रह्म ) के परस्पर भेद का अनुमान इस प्रकार होगा—'जीवेशौ, परस्परं



भिन्नौ, विरुद्धधर्माक्रान्तत्वात्, दहन-तुहिनवत्"। अभिप्राय यह है—'ईश्वर' तो सर्वज्ञ, सर्ववित्, सर्वशक्तिमान्, नियामक, नित्यमुक्त है, और 'जीव' अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, दुःखी, नियाम्य है, ऐसी परिस्थिति में विरुद्ध धर्मवाले जीवेश्वर में अभेद होना कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि विरुद्ध धर्माध्यास का ही नामान्तर तो भेद है।

वेदान्ती—तार्किक-प्रदर्शित अनुमान के द्वारा जीवेश में परस्पर भेद सिद्ध हो जाने पर भी परमेश्वर ने स्वयं 'ममैवांशो जीवलोके' इस भगवद्गीतावाक्य के द्वारा 'जीव' को 'ईश्वरांश' बताया है। अतः 'जीव' को परमेश्वर से अभिन्न ही स्वीकार करना चाहिये, दोनों को अभिन्न ( एक ) मानने पर 'जीवों' ( आत्माओं ) की विज्ञानरूपता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि परमेश्वर 'ज्ञान'-रूप है।

नैयायिक—उक्त अभेद का खण्डन करने के लिये 'अन्यथेति' ग्रन्थ को उपस्थित कर रहा है। नैयायिक कहता है कि यदि वेदान्ती जीव और ईश्वर ( ब्रह्म ) में भेद न मानें अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा को एक ही मानें तो अमुक जीव, संसारी (बद्ध) है तथा अमुकजीव मुक्त है, यह व्यवस्था नहीं बन सकेगी, क्योंकि बद्ध-मुक्तात्मा एवं जीव-परमात्मा दोनों एक हैं। वेदान्तियों के मत सभी तो ब्रह्मरूप हैं।

यदि यह कहें कि तत्तद् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के एक होने पर भी किसी व्यक्तिविशेष के अन्तःकरण का नाश होने पर उसके अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को हम 'मुक्त' कहेंगे और जिसके अन्तःकरण का नाश नहीं हुआ, उसके अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को हम 'बद्ध' कहेंगे, जिससे बद्ध-मुक्त की व्यवस्था में कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। इस पर नैयायिक कहता है कि वेदान्ती के उपर्युक्त कथनानुसार—बद्ध-मुक्त की व्यवस्था बन जाने पर भी मोक्ष के हेतु प्रयत्नानुष्ठान की विफलता तो बनी ही रहेगी। क्योंकि एक अन्तःकरण के नाश होने पर भी अन्तःकरणान्तर से अवच्छिन्न स्वात्मा से दुःखोत्पत्ति अवश्य ही होगी, तब प्रयत्नानुष्ठान के फलस्वरूप निर्दुःखत्व का होना कभी संभव ही नहीं होगा। यदि यह कहें कि ये सुखःदुःखादि-धर्म अन्तःकरण के ही हैं, चैतन्य के नहीं, तो मोक्ष के लिये प्रयास करना नितान्त व्यर्थ होगा, क्योंकि आत्मा तो नित्यमुक्त ही है। यदि कहें कि भ्रमनिवृत्ति के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है, किन्तु यह कथन भी ठीक न होगा, क्योंकि अन्तःकरणान्तर से अवच्छिन्न हुए आत्मा में भ्रम का होना पुनरपि अनिवार्य है, तब मुक्ति के लिये प्रयत्न करना निरर्थक ही होगा। अतः जीव और ब्रह्म में भेद स्वीकार करना ही होगा।

वेदान्ती—जीव और ब्रह्म में यदि परस्पर भेद कहेंगे तो 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इन अभेद प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होगा। क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य—अखण्डार्थपरक हैं। इसी का उपपादन 'योऽपीति' ग्रन्थ से कर रहे हैं—परब्रह्म के साथ जीवात्मा के अभेद का प्रतिपादन करनेवाले 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य

का अर्थ वेदान्तियों के मतानुसार इस प्रकार किया जाता है। 'तत्' अर्थात् परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य ( सर्वज्ञत्वविशिष्ट आत्मा ), 'त्वम्' अर्थात् अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (अल्पज्ञत्वविशिष्ट देवदत्तात्मा) 'असि' अर्थात् भेदाभाव यानी एकता। पञ्चदशीकार कहते हैं—"एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्"। एवञ्च जहदजहल्लक्षणा ( भागत्यागलक्षणा ) के द्वारा विरुद्ध अंश ( परोक्षत्व–अपरोक्षत्वादिविशिष्ट अंश ) का त्यागकर अविरुद्ध अंश अर्थात् अखण्ड चैतन्य मात्र का बोधन कराया जाता है। संक्षेप में अभिप्राय यह है कि छान्दोग्योपनिषद् के उद्दालक—श्वेतकेतु की कथा के प्रसंग में 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य नौ बार आया है। इस वाक्य में 'तत्, त्वम्, असि' ये तीन पद हैं। इनमें 'तत्' पद का वाच्य ( मुख्य ) अर्थ परोक्षत्वादिधर्मविशिष्ट 'अन्तर्यामी ईश्वर' है। 'त्वम्' पद का वाच्य (मुख्य) अर्थ अपरोक्षत्वादिधर्मविशिष्ट पुण्य–पापकर्ता नियाम्य जीव है। 'तत्–त्वम्' दोनों पद, समानविभक्तिक हैं, अतः अभेदान्वय के योग्य हैं। परन्तु दोनों पदों के विशिष्ट वाच्यार्थों की एकता होना संभव नहीं, क्योंकि तत्-पदवाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर की त्वम्पदवाच्य अल्पत्वादिविशिष्ट जीव के साथ एक्य अर्थात् तादात्म्य कभी हो ही नहीं सकता और वेदवाक्य को सत्यार्थद्योतक होने के कारण अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता, उसका प्रामाण्य तो विश्वप्रसिद्ध है। अतः उन दोनों वाच्यार्थों में एकता सिद्ध करने के लिये चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म में दोनों पदों ( तत् और त्वम् ) की जहदजहल्लक्षणा करते हैं। उस लक्षणा के द्वारा 'अद्वितीय ब्रह्म' लक्षित किया जाता है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्तियों ने 'तत्त्वमसि' वाक्य को अभेद प्रतिपादक बताया है।

नैयायिक—दो पदों में लक्षणा करने की अपेक्षा पूर्वपद में ही लक्षणा करके अर्थ-निर्वाह करने में लाघव होगा। ईश्वर के साथ जीव का अभेदप्रतिपादन करनेवाले वेद ने जहाँ कहीं 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा ब्रह्म और जीव का अभेद बताया है, उस ( अभेदप्रतिपादन ) का तात्पर्य यही है कि समस्त जीव ( आत्माएँ ), ब्रह्म ( ईश्वर ) के सम्बन्धी हैं, यानी वे सब आत्माएँ ईश्वर पर आश्रित हैं। अर्थात् 'तत्त्वमसि' में तस्य त्वम् असि विग्रह समझना चाहिये।

वेद में आये हुए ऐसे वाक्यों को 'अर्थवाद' वाक्य कहते हैं। 'तस्य त्वम्' ऐसा विग्रह करने पर 'तत्' पद की तत्सम्बन्धी में लक्षणा हो जाती है। वेदान्तियों की दृष्टि से 'तत्—त्वम्'=वह परमात्मा ही 'तू'=जीव है। यह अभेद भाव प्रदर्शित किया जाता है, किन्तु वह वास्तविक न होकर आपाततः भासित होता है। वस्तुतः ( भेद रहते हुए भी अभेद प्रतिपादन का प्रयोजन 'जीवात्मा' के अधिकार का महत्त्व बताना ही है। अर्थात् 'तत्त्वमसि' वाक्य में स्वामि-सेवक भाव सम्बन्ध को अभेदरूप से बताकर जीव की प्रशंसा की है। अर्थात् अभेद भावना से परमात्मा में जीव को प्रेमभक्ति करनी चाहिये, यह उपदेश दिया गया



है। अनेक विद्वानों ने जीव-ईश के अनेक प्रकार के सम्बन्ध बताये हैं। कुछ लोग 'चैतन्याख्य सम्बन्ध', कुछ लोग 'ज्ञानसजातीयज्ञानादिमत्त्व सम्बन्ध', कुछ लोग 'मोक्षस्थितिकत्व सम्बन्ध', कुछ लोग 'नियाम्य-नियामकभावसम्बन्ध' मानते हैं। 'त्वम्' पद अल्पज्ञात्मपरक है और 'असि' पद वर्तमान अस्तित्व का बोधन कर रहा है। एवं च महावाक्य का शाब्दबोध इस प्रकार होगा—'परमेश्वरज्ञानादिसजातीयज्ञानादिमदस्तितावान्'। तात्पर्य यह है कि—चैतन्य के अथवा ज्ञान आदि के कारण 'तू' ( जीव ) परमेश्वर के समान है। एवं च 'जीव' परमात्मा से भिन्न है। ऐसा मानने पर जीव तथा प्राण आदि सभी कुछ परमात्मा के चरणारविन्द में समर्पित है। अर्थात् विद्वान् अपने पुत्ररूप आत्मा को तथा शरीररूप आत्मा को और मुख्य आत्मा को ईश्वर के चरणों पर अर्पित करे, क्योंकि जीवादिक परमात्मा के अधीन हैं—ऐसा उपनिषदादि ग्रन्थों में कहा गया है, वह भी यथार्थ हो जाता है। अर्थात् यदि दोनों में भेद न हो तो समर्पण कौन किसे करेगा? अनेक ग्रन्थों में कहा हुआ उपर्युक्त कथन सब व्यर्थ होगा। अभेद प्रतिपादक वाक्य ईश्वर की उपासना करने के निमित्त ही कहे गये हैं। ईश्वर की उपासना करते समय अभेद भावना रखना आवश्यक है। एवं च तदीय होने के कारण उसके साथ अभेद का प्रतिपादन किया गया है, वह अभेद-प्रतिपादन वास्तविक रूप में नहीं है। जैसे—कोई पिता अपने पुत्र के विषय में कहता है—'यह देवदत्त मेरी आत्मा है' देवदत्त और उसके पिता दोनों वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न हैं तथापि स्वजन्य-जनकत्वसम्बन्ध से ( उपचार से ) आत्मपद द्वारा अभेद व्यवहार किया जाता है। उसी प्रकार उत्पादक होने के कारण पितृस्थानापन्न ईश्वर का पुत्रस्थानापन्न जीवों के साथ तदीय होने के कारण ( नियाम्य=नियामकभावादि सम्बन्ध से सम्बन्धित होने के कारण ) अभेद का प्रतिपादन औपचारिक रूप से किया गया है, वास्तविक रूप से नहीं। मुक्तावलीकार ने 'स्तौति' पद-प्रयोग के द्वारा सूचित किया है कि वास्तविक भेद के रहते हुए भी 'यजमानः प्रस्तरः'[1] 'आदित्यो यूपः' इत्यादि अभेदबोधक अनेक

१. पूर्वमीमांसा के प्रथमाध्याय के चतुर्थपाद के तेरहवें अधिकरण की 'तत्सिद्धि पेटिका' में यह विचार किया गया है कि 'यजमानः प्रस्तरः' यह गुणविधि है या अर्थवाद है? पूर्वपक्षी ने कहा कि यह गुणविधि है, क्योंकि जघन्य प्रस्तर पद लक्षित प्रस्तरकार्य स्रुग्धारण को उद्देश्य कर अधिकरणत्वेन रूपेण यजमान का विधान किया गया है। तब सिद्धान्ती कहता है कि यहाँ पर प्रत्यक्ष विधि का श्रवण नहीं है, अतः "प्रस्तरमुत्तरम्बर्हिषः सादयति" इस अन्यविधि के साथ एकवाक्यता होने से उपर्युक्त वाक्य को अर्थवाद मानना ही उचित है। यजमान पद गौणी वृत्ति के द्वारा प्रस्तर का स्तावक है। प्रकृत इष्टि में चार दर्भ मुष्टियाँ काटी जाती हैं। मन्त्रसंस्कृत हुई प्रथम दर्भ-मुष्टि पर 'जुहू' रखी

वाक्य वेद में उपलब्ध होते हैं। इन वाक्यों में जैसे उपचार ( गौणीलक्षणा ) किया गया है, वैसे ही प्रकृत में जीव और ईश्वर में अभेद बताने वाले 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदवाक्य भी जीव का ईश्वर से अभेद बताकर जीवात्मा में ईश्वर का सम्बन्ध बताते हुए जीव की स्तुति करते हैं। अतः मुमुक्षुओं के लिये अभेदोपासना का प्रतिपादन करने से ही इन अभेद बोधक वाक्यों का तात्पर्य है। 'अभेदभावनयैव यतितव्यमिति वदति'—यहाँ 'भावना' का अर्थ 'उपासना' है। अर्थात् चित्त का विजातीयप्रत्ययानन्तरित-समानाकार-प्रत्यय-प्रवाह ही भावना है, जिसे 'निदिध्यासन' भी कहते हैं। इस प्रकार की अभेदोपासना ( भावना ) का अनुष्ठान करने के लिये भगवती श्रुति मुमुक्षुओं से कह रही है। निरतिशयानन्दरूप ब्रह्म में परानुरक्तिसम्पादनार्थ अभेदोपासना करने के लिये ये अभेदबोधक वाक्य हैं। अपने इस अभिप्राय की पुष्टि में भगवतीश्रुति को प्रमाणरूप में उपस्थित कर रहे हैं—"अतएव" इति। परमेश्वर में पराऽनुरक्ति-सम्पादनार्थं अभेदबोधक वाक्यों का तात्पर्य होने से ही भगवतीश्रुति का यह कथन है कि 'सभी जीव, आत्मा में अर्थात् परब्रह्म में समर्पित हैं, यानी वे कहते हैं कि 'हे भगवान् परमेश्वर ! हम, तुम्हारे हैं'। इस प्रकार उन्होंने अपने को ब्रह्म के प्रति अर्पण कर दिया है। एवं च जीवों को जब परमेश्वर से भिन्न माना जाय तभी तो उनकी यह शरणागति उत्पन्न हो सकेगी। अभेद मानने पर यह श्रुत्युक्त शरणागति नहीं बन सकेगी।

दूसरी बात यह भी है कि जीव-ब्रह्म का अभेद मानने पर सेव्य-सेवकभाव प्रतिपादक श्रुत्यर्थ को अप्रमाण कहना होगा, क्योंकि एक व्यक्ति में सेव्य-सेवक-भाव बन नहीं सकता। अतः जीव-ब्रह्म में भेद मानना ही होगा।

शंका—वेदान्ती कहता है—'मोक्षदशायामिति।' ब्रह्मातिरिक्त (ब्रह्म से भिन्न) सभी कुछ मिथ्या है, अतः 'अन्योन्याभाव' ( भेद ) भी मिथ्या है। तथा च अज्ञान-काल में भेद के रहने पर भी मोक्षकाल में ( तत्त्वज्ञानाऽव्यवहित उत्तर क्षण में ) मिथ्या ज्ञान के निवृत्त होने पर तो जीवात्माओं का ब्रह्म के साथ अभेद रहेगा ही। क्योंकि 'अज्ञान निवृत्तौ' यहाँ पर 'नञ्' का अर्थ 'विरोधी' है, जैसे 'असुर' में नञ् का अर्थ विरोधी माना जाता है। अतः जीव-ब्रह्म में अभेद ( ऐक्य ) होता है।

समा०—नैयायिक कहता है कि जीव ब्रह्म में अभेद ( ऐक्य ) प्रतिपादन की प्रक्रिया ठीक नहीं है। तथापि—'तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान-जन्य संस्कार का नाश, उससे स्मरण की अनुत्पत्ति, उससे रागादि की अनुत्पत्ति, उससे धर्माधर्म की अनुत्पत्ति उससे सुखादि की अनुत्पत्ति होने पर जीव-ईश्वर दोनों समान धर्मवाले हो जाने से अभेद सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि उसके होने में कोई बाधक नहीं है' यह अभेद प्रति-

---

जाती है जो प्रथम दर्भ-मुष्टि विधृति-संज्ञक उदग्र दो दर्भों पर रखी जाती है, उसे 'प्रस्तर' कहते हैं।



पादक प्रक्रिया वेदान्तियों की इसलिये उचित नहीं प्रतीत हो रही है, क्योंकि 'भेदस्य नित्यत्वेन नाशाऽसंभवात्।' हम नैयायिकों के मत में ( जीव-ईश्वर का भेद घट-पट के भेद के समान अन्योन्याभावरूप है, और वह नित्य ( ध्वंस का अप्रतियोगी ) है अतः उसका नाश होना संभव नहीं है।

वेदान्ती—जैसे नवीन नैयायिकों के मत में अन्योन्याभाव 'पृथक्त्व' गुणरूप होने से उसे अनित्य कहा जाता है, वह अन्योन्याभावरूप ( अभावरूप ) नहीं है और उस गुण का नाश होता है। उसी प्रकार हम वेदान्ती भी भेद को अन्योन्याभावरूप न मानकर 'पृथक्त्व' गुण मानेंगे। उस गुण के अनित्य होने के कारण उसका नाश भी संभव है। तब भेद ( पृथक्त्व ) के न रहने से अनियत अपेक्षाबुद्धि जन्य जीवगत अनेक पृथक्त्व रूप भेद के न रहने से ) मोक्षकाल में 'अभेद' रहेगा ही। अतः जीव-ब्रह्म के अभेद में कोई बाधा नहीं है। नैयायिक—'भेदनाशेऽपि' इति। वेदान्तिसम्मत अनियत अपेक्षाबुद्धिजन्य जीवगत अनेक 'पृथक्त्व' रूप 'भेद' के नष्ट होने पर भी 'दो व्यक्ति' तो बने ही रहेंगे। अर्थात् जीवव्यक्ति और ब्रह्मव्यक्ति, इन दो व्यक्तियों की स्थिति तो बनी ही रहेगी। तस्मात् जीव और ब्रह्म की भिन्नता ही है, ऐक्य नहीं। तात्पर्य यह है कि जैसे अपेक्षाबुद्धि के नष्ट होने पर यद्यपि 'द्वित्व' का नाश हो जाता है, तथापि दो व्यक्ति ( व्यक्तिद्वय ) तो रहते ही हैं, वैसे ही कारणीभूत अनियता-पेक्षाबुद्धि के नाश होने पर अज्ञान का नाश यद्यपि हो जाता है, तथापि व्यक्तिद्वय की स्थिति में कोई अन्तर नहीं हो पाता। अतः भेद तो सदा स्थिर रहता है।

वेदान्ती—'न च द्वित्वमपीति।' 'द्वित्व' भी ब्रह्म से भिन्न होने के कारण मिथ्या है अतः अपेक्षाबुद्धि के नष्ट होने से 'द्वित्व' का भी नाश हो जाता है, तब विशेषण के अभाव में विशिष्ट व्यक्तिद्वय की स्थिति कैसे हो सकेगी ?

नैयायिक—दो पदार्थों में 'अयमेकः, अयमेकः'—यह एक है, यह एक है—इस रीति से प्रतीत होने वाली अपेक्षा बुद्धि से 'द्वित्व' गुण ( धर्म ) पैदा होता है। उसका ( द्वित्व का ) नाश मान लेने पर भी एक-एक करके प्रतीत होने वाले वे दोनों पदार्थ व्यक्तिद्वय ही कहलायेंगे। वे दोनों व्यक्ति एक नहीं समझे जायेंगे। जैसे वेदान्तियों के मत में, भेद के भय से ब्रह्म में सत्यत्व, ज्ञातत्वादिधर्म नहीं माने जाते, अतएव निर्धर्मक, निर्विशेष ब्रह्म का स्वीकार किया जाता है।

ऐसे निर्धर्मक ब्रह्म में भी अर्थात् उसमें सत्यत्व, ज्ञानत्व, नित्यत्वादि धर्मों के न रहने पर भी उसे ( ब्रह्म को ) सत्यस्वरूप स्वीकार करते हैं। उसी तरह अपेक्षा-बुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश होता है, अतः द्वित्व के न रहने पर भी दोनों ( जीव-परमात्मा ) पृथक् पृथक् व्यक्ति हैं यह सरलता से कहा जा सकता है। एवं च दोनों ( जीव-ब्रह्म ) की एकता नहीं है।

वेदान्ती—'मिथ्यात्वाभाव' इति। निर्धर्मक का अर्थ है 'स्वभिन्न-धर्म-शून्यत्वम्' वेदान्तियों के मत में 'अभाव' को अधिकरणात्मक ( अधिकरणस्वरूप ) माना जाता

है। अतः मिथ्यात्वाऽभाव का अधिकरण सत्यत्व होने से मिथ्यात्वाभाव 'सत्यत्व' हुआ वह सत्यत्व, ब्रह्मात्मक ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतः ब्रह्म में 'सत्य' का व्यवहार करना उचित ही है, किन्तु नैयायिक का व्यवहार ( व्यक्तिद्वय का व्यवहार ) उचित नहीं है, क्योंकि द्वित्व के नष्ट होने से द्वित्व का तो वहाँ अभाव है और एकत्वाभाव को वे ( नैयायिक ) अधिकरणस्वरूप नहीं मानते। अतः व्यक्तिद्वय का व्यवहार हो ही नहीं सकता। हमारे मत में ( वेदान्तियों के मत में ) 'मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वम्'—तत्र अर्थात् ब्रह्म में, जो मिथ्यात्वाभाव (स्वाधिकरणनिष्ठ-अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वाऽभाव ) है, वह अधिकरणात्मक है अर्थात् ब्रह्मात्मक है। अतः वही ( ब्रह्म ही ) सत्यत्व के व्यवहार का विषय होता है।

नैयायिक—'एकत्वाभाव' इति। प्रत्येक में एकत्व रहता है, जीव-ब्रह्मात्मक दो व्यक्तियों में तो 'एकत्व' नहीं है। अतः व्यक्तिद्वय साधारण ( दो व्यक्तियों में समानरूप से रहनेवाला ) जो एकत्वाऽभाव है, वह व्यक्तिद्वयात्मक ( व्यक्तिद्वय-स्वरूप ) हुआ, क्योंकि ( वेदान्ती के मतानुसार ) अभाव को अधिकरणात्मक मानने में कोई आपत्ति नहीं है और लाघव भी है। अतः अधिकरणात्मक ( व्यक्ति-द्वयात्मक ) जो एकत्वाभाव है, वही 'द्वित्व' व्यवहार का विषय होता है। अर्थात् उसे ही हम द्वित्व' कहते हैं। एवं च जीव-ब्रह्म ये दो हैं, एक नहीं हैं। इसलिये उनमें भेद व्यवहार करना हमारा उचित ही है।

'मोक्षदशायामज्ञान-निवृत्तौ' से लेकर 'द्वित्वमित्यप्युच्यताम्' तक के प्रघट्टक का सरलार्थ यह है कि वेदान्तमत के अनुसार यदि कहा जाय कि मोक्षकाल में जीव का अज्ञान नष्ट हो जाने से ब्रह्म के साथ जीव का अभेद ( ऐक्य ) होता है, तो नैयायिक के मतानुसार यह भी कहा जा सकता है कि घट-पट के भेद की तरह जीव-ब्रह्म का भेद, अन्योन्याभावरूप है और उसके नित्य होने से उसका नाश भी नहीं होगा। अतः जीव-ब्रह्म का भेद तो नित्य ही है। इस पर कदाचित् वेदान्ती यह कह दे कि 'भेद' को हम अन्योन्याभावरूप स्वीकार न कर उसे 'पृथक्त्व' के रूप में स्वीकार करेंगे, तब 'पृथक्त्व' तो गुणपदार्थ है अतः उसका नाश भी हो सकता है। उस स्थिति में जीव-ब्रह्म की एकता हो सकती है। इस पर नैयायिक भी कह सकता है कि 'भेद' को पृथक्त्व ( गुण ) के रूप में स्वीकार करने पर भी तथा उसके नष्ट हो जाने पर भी 'दो व्यक्ति' नष्ट नहीं हो सकते, वे तो विद्यमान रहेंगे ही। अतः जीव-ब्रह्म में भेद तो स्थिर बना ही रहा। इस पर कदाचित् वेदान्ती यह कहे कि 'दो व्यक्तियों' में रहनेवाले 'द्वित्व' धर्म का भी नाश हो जाता है। जब द्वित्व नहीं रहेगा तो एकत्व ( ऐक्य ) सिद्ध हो जायेगा। इस पर नैयायिक भी कह सकता है कि 'द्वित्व' धर्म का नाश स्वीकार करने पर भी 'दोनों व्यक्तियों को एक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दो वस्तुओं में 'द्वित्व' धर्म ( गुण ) रहता है, वह ( द्वित्व ) अपेक्षा बुद्धि ( अयमेकः, अयमेकः यह एक है, यह एक है, इत्याकारक ) से पैदा होता है। यदि उस द्वित्व को नष्ट हुआ भी कहें तब भी एक-एक करके प्रतीत होनेवाली दो वस्तुएँ दो व्यक्ति ही कहलायेंगी, एक नहीं। जब व्यक्तियाँ दो रहेंगी, तब उन्हें एक कैसे कहा जायगा ? अतः जीव और ब्रह्म दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियाँ हैं, दोनों एक नहीं हैं। वेदान्तीगण ब्रह्म को निर्धर्मक ( धर्म-रहित ) मानते हैं, अतः सत्यत्वादि धर्म, उसमें नहीं रह सकते तथापि वे ब्रह्म को 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहते हुए सत्यरूप कहते हैं। उसी तरह द्वित्व धर्म के न रहने पर भी दो व्यक्तियों की द्विरूपता तो रहेगी ही। अतः द्विरूपता का अपलाप करके एकरूपता कहना उचित नहीं है। इस पर ब्रह्म को सत्यरूप कहनेवाला वेदान्ती 'सत्य' की परिभाषा यदि करे कि 'अधिकरण' ( ब्रह्म ) में वर्तमान ( विद्यमान ) जो मिथ्यात्वाऽभाव ( मिथ्यात्व का अभाव ) है, उसी को 'सत्य' कहते हैं। यानी 'सत्यत्व' कोई भावरूप धर्म नहीं, बल्कि वह अभावरूप है। जब 'सत्यत्व' धर्म, अभावात्मक हुआ तब शेष बचा रहा केवल भावरूप धर्मी ब्रह्म। एवञ्च अद्वैत ( अभेद ) की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है।



इस पर नैयायिक कहेगा कि वेदान्तियों के पारिभाषिक सत्यत्व के समान हमारा 'द्वित्व' धर्म भी दो व्यक्तियों ( व्यक्तिद्वय ) में रहनेवाला जो एकत्वाऽभाव, तद्रूप है, अर्थात् एकत्वाभाव ही 'द्वित्व' है, यह आपको मानना चाहिये। तब यह अभावात्मक 'द्वित्व धर्म' जीव-ब्रह्म में हमेशा ही स्थिर रहेगा। एवं च द्वित्व धर्म के रहते हुए आपकी अद्वैत ( अभेद ) सिद्धि कैसे हो सकती है ?

प्रत्येकमेकत्वेऽपि पृथ्वी-जलयोर्न गन्ध इतिवदुभयं नैकमित्यस्य सर्वजनसिद्धत्वात्। योऽपि तदानीमभेदप्रतिपादको वेदः सोऽपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति, सम्पदाधिक्ये 'पुरोहितोऽयं राजा संवृत्त' इतिवत्। अत एव 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति श्रूयते। ईश्वरोऽपि न ज्ञानसुखात्मा किन्तु ज्ञानाद्याश्रयः 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादौ विज्ञानपदेन ज्ञानाश्रय एवोक्तः 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्याद्यनुरोधात्। आनन्दमित्यस्याप्यानन्दवदित्यर्थः। अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययात्। अन्यथा पुँल्लिङ्गत्वापत्तिः। आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते, भाराद्यपगमे सुखी संवृत्तोऽहमितिवत् दुःखाभावेन सुखित्वप्रत्ययवत्। अस्तु वा तस्मिन्नानन्दो न त्वसावानन्दः, 'असुखम्' इति श्रुतेः। न विद्यते सुखं यस्येति कुतो नार्थं इति चेत् ? न, क्लिष्टकल्पनापत्तेः, प्रकरणविरोधादानन्दमित्यत्र मत्वर्थीयाच्प्रत्ययविरोधाच्चेति सङ्क्षेपः।

इति नित्यविज्ञानात्मवादिवेदान्तिमतखण्डनम्।

'द्वित्व' धर्म दो व्यक्तियों में पैदा होता है, यह सभी जानते हैं। यदि हम उन दो व्यक्तियों को एक-एक करके कहें तो उनमें से प्रत्येक में, 'एकत्व' धर्म रहेगा, किन्तु दोनों व्यक्तियों को मिलाकर कहना चाहें तो उन्हें 'दो' ही कहना होगा, क्योंकि दोनों एक नहीं हैं। जैसे पृथ्वी में ही 'गन्ध' रहता है, लेकिन यदि

कोई पूछे कि पृथ्वी जल दोनों में गन्ध है ? तो उत्तर में कहना होगा कि 'दोनों' में गन्ध नहीं है। वैसे ही जब हम दो व्यक्तियों को इकट्ठा देखते हैं तब उनमें हम 'एकत्वाऽभाव' का अनुभव करते हैं. वह अनुभूयमान एकत्वाभाव ही 'द्वित्व' है। एवं च जीव और ब्रह्म में भावात्मक 'द्वित्व' धर्म भले ही न रहें किन्तु अभावात्मक 'द्वित्व' धर्म को तो अभावात्मक सत्यत्व के समान जीव और ब्रह्म में मानना ही होगा। इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर 'प्रत्येकमेकत्वेऽपि' मूल ग्रन्थ को पढ़ा जाय तो समझने में कष्ट नहीं होगा।

वेदान्ती—एक एक व्यक्ति में 'एकत्व' धर्म रहता है, तब उसमें एकत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अन्योन्याभावात्मक 'द्वित्व' धर्म कैसे रहेगा ? क्योंकि अन्योन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक के साथ विरोध रहता है।

नैयायिक—'प्रत्येकमेकत्वेऽपीति।' जीव में एकत्व है और ब्रह्म ( परमेश्वर ) में भी एकत्व है। दोनों में से प्रत्येक में एकत्व के रहने पर भी 'उभयं, नैकम्'—ये दो हैं, एक ( एकत्ववत् ) नहीं है—यह अनुभव सभी को होता है। अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों को मिलाकर देखने में 'द्वौ' ( दो ) यही व्यवहार किया जायगा। इसी बात को दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं—पृथिवीजलयोर्न गन्ध इति वदिति। अकेली पृथिवी में गन्ध के विद्यमान रहने पर भी 'पृथ्वीजलयोर्न गन्धः' पृथ्वी-जल दोनों में गन्ध नहीं है, यह प्रतीति होती है इसलिये पृथ्वी-जलोभयत्वात्मक-व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकगन्धात्यन्ताऽभाव को जैसे स्वीकार किया जाता है, वैसे ही 'द्वौ नैकम्' इस प्रतीति से द्वित्वात्मकव्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगिताक एकत्ववदन्योन्याभाव के स्वीकार करने में भी कोई हानि नहीं है।

वेदान्ती—जीव ब्रह्म का भेद मानने पर मोक्ष के समय जीव, ब्रह्म के अभेद ( ऐक्य ) का प्रतिपादन करने वाली 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' श्रुति कहाँ चरितार्थ होगी ? श्रुति स्पष्टरूप से कह रही है 'ब्रह्मविद्' ब्रह्मविषयक निदिध्यासन करनेवाला, 'ब्रह्मैव' ब्रह्मरूप 'भवति' हो जाता है।

नैयायिक—'योऽपि तदानीमिति'। तदानीम् अर्थात् मोक्षकाल में वेदान्ती के कथनानुसार जीव-ब्रह्म के ऐक्य ( अभेद ) का प्रतिपादन करने वाली 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' श्रुति का तात्पर्य अभेदप्रतिपादन में नहीं है। वह श्रुति ( वेद-वाक्य ) तो मोक्ष के समय जीवात्मा में निर्दुःखत्व निर्द्वेषत्व, ( दुःखराहित्य, द्वेषराहित्य ) आदि के होने से 'ब्रह्म' के साथ उसकी ( जीव की ) समानता (सादृश्य) को बताती है, अभेद को नहीं। मुक्तावलीकार ने 'निर्दुःखत्वादिना साम्यम्प्रतिपादयति' कहा है। उक्त वाक्य में तृतीया विभक्ति का अर्थ होगा 'अभेद' और उसका 'साम्य' से अन्वय होगा, तब उपर्युक्त अर्थ ( निर्दुःखत्व-निर्द्वेषत्वादिरूप समानता ) सम्पन्न होगा। नैयायिक उक्त श्रुति का अर्थ इस प्रकार करता है—ब्रह्मविद्=ब्रह्मविषयकतत्त्वज्ञानवान् 'ब्रह्मैव' ब्रह्मसमानो मोक्षस्थितिको भवति।



अतः प्रतीयमान जो अभेदार्थ है, वद वास्तविक नहीं है, अपितु साम्यपरक अर्थ ही वास्तविक है। साम्यबोधन के तात्पर्य से अभेद का प्रतिपादन लोकव्यवहार में भी किया जाता है 'सम्पदाधिक्ये इति'। जैसे—किसी राजपुरोहित कर्मकाण्डी ब्राह्मण के पास हाथी, घोड़ा, मोटर, सुवर्ण-रजतादि द्रव्य सम्पत्ति के अत्यधिक होने पर लोग कहते हैं कि 'यह पुरोहित कर्मकाण्डी ब्राह्मण तो राजा ही हो गया' ( पुरोहितोऽयं राजा संवृत्तः )। इस वाक्य में अभेदार्थबोधक-'प्रथमा' विभक्ति का प्रयोग, साम्यार्थबोधन के तात्पर्य से किया गया है। अत एव पुरोहितोऽयं राजा संवृत्तः' वाक्य सुननेवाले को 'सम्पदाधिक्यप्रयोज्यराजसाम्यः पुरोहितः' यही अर्थबोध होता है। 'राजा से अभिन्न पुरोहित है' यह अर्थबोध नहीं होता। उसी तरह 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' यहाँ पर भी 'ब्रह्मसमानो भवति'—ब्रह्म के तुल्य हो जाता है—अर्थ का ही बोध होता है। अत एव अर्थात् 'ब्रह्मविद्' श्रुति के द्वारा साम्य का प्रतिपादन किये जाने के कारण ही भगवती श्रुति बता रही है—'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।' 'निरञ्जनः' = निर्दुःख हुआ मुक्त व्यक्ति ( अञ्जन = मिथ्या ज्ञान, उससे रहित मुक्त व्यक्ति ), 'परमम्'=निर्दुःखत्वात्मक अनुभवरूप, 'साम्यम्' मोक्षाख्य समानता को 'उपैति'=प्राप्त होता है। इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म-जीवात्मा के भेद की ही सिद्धि होती है, क्योंकि इन दोनों में जो भेद है वह साम्य से व्याप्य ( यत्र यत्र ब्रह्म-जीवात्मनोर्भेदः, तत्र तत्र साम्यम् ) है। एवं च जीव-ब्रह्म का भेद ही स्पष्ट हो रहा है।

'निरञ्जनः' श्रुति का अर्थ वेदान्तियों के मत से इस प्रकार किया जाता है। 'निरञ्जन'=अविद्यारहित होता हुआ, 'परमम्' = ब्रह्मस्वरूपात्मक 'साम्यम्' सामानाधिकरण्यप्रयुक्त ऐक्य का, 'उपैति' = अनुभव करता है। उपर्युक्त ऊहापोह के द्वारा आत्ममात्र ( समस्त आत्माओं ) की विज्ञानरूपता का खण्डन करने के पश्चात् अब पूर्वोक्त द्वितीय पक्ष ( ब्रह्म=परमेश्वर की विज्ञानरूपता ) का भी खण्डन कर रहे हैं—'ईश्वरोऽपीति।' यहाँ 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि जैसे 'जीव' ज्ञान—सुखस्वरूप नहीं है, वैसे ही परमेश्वर ( ब्रह्म ) भी ज्ञान-सुखस्वरूप नहीं है बल्कि 'आत्मा' तो ज्ञान, सुखादि का समवायसम्बन्ध से आश्रय ( अधिकरण ) है। अर्थात् 'आत्मा' ज्ञान का अधिकरण, सुख का अधिकरण है, ज्ञानरूप नहीं।

वेदान्ती—यदि 'आत्मा' को ज्ञानरूप न मानकर ज्ञानाधिकरण माना जाय तो "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"—( बृहदा० ५।९।७ ) श्रुति से विरोध होगा, क्योंकि यह श्रुति 'ब्रह्म' को विज्ञान से अभिन्न ( ज्ञानरूप ) बता रही है। अतः ब्रह्म ( परमेश्वर ) को ज्ञान का आश्रय ( अधिकरण ) कैसे कहें ?

नैयायिक—'नित्यमिति'। उक्त श्रुति का अर्थ इस प्रकार है—'नित्यम्'= प्रागभाव-ध्वंस'का अप्रतियोगी, 'विज्ञानम्'=समवाय सम्बन्ध से नित्य ज्ञान का

अधिकरण, 'आनन्दम्'=दुःखत्वावच्छिन्नाऽभाववत्, परब्रह्म है। श्रुतिगत 'विज्ञान' पद से 'ज्ञानाश्रय' समझना चाहिये, क्योंकि 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु से 'करणाधिकरणयोश्च'—( पा० सू० ३।३।११७ ) सूत्र के द्वारा 'अधिकरण' के अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर 'विज्ञान' पद निष्पन्न हुआ है, और वह धर्म-धर्मिभावपरक है। अतः 'विज्ञानमस्ति अस्मिन् इति विज्ञानम्' अर्थात् विज्ञानाश्रयं ब्रह्म, यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसलिये ज्ञानाधिकरण ही 'ब्रह्म' है, ज्ञानरूप नहीं।

वेदान्ती—'विज्ञायते इति विज्ञानम्'—इस अर्थ को बताने के लिये 'वि' पूर्वक 'ज्ञा' धातु से 'स्वार्थ' में 'ल्युट्' प्रत्यय क्यों न किया जाय ?

नैयायिक—'विज्ञान' पद में स्वार्थे ल्युट् ( भावार्थक ल्युट् ) करने पर 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'—( मु० उ० १।९ ) श्रुति से विरोध होगा, और उस विरोध का परिहार नहीं हो पायगा। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' श्रुति में 'सर्वज्ञ' और 'सर्ववित्' पदों को देखकर पुनरुक्ति की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि—मुण्डक श्रुति में प्रयुक्त 'विद्' धातु का अर्थ 'विशेष ज्ञान' है, और 'ज्ञा' धातु का अर्थ 'सामान्य ज्ञान' है। अतः उक्त श्रुतिगत 'यत्'—'तत्' पदों का व्यत्यास करके 'यो यद्विषयकविशेषज्ञानवान्, स तद्विषयक-सामान्यज्ञानवान्'—जो जिस विषय का विशेषज्ञान रखता है, वह उस विषय का 'सामान्यज्ञानवान्' भी अवश्य रखता है। इस प्रकार अर्थ करने से आपाततः प्रतीयमान पुनरुक्ति नहीं हो पाती। मुण्डक श्रुति के आगे 'इत्याद्यनुरोधात्' कहा गया है। यहाँ 'आदि' पद से 'यस्य ज्ञानमयं तपः' श्रुति को भी सूचित किया है। 'यस्य' जिस परमेश्वर का 'तपः' उत्कृष्टतम तेज 'ज्ञानमयम्' नित्यज्ञान-सुखादि की प्रचुरता से पूर्ण है। यहाँ 'प्राचुर्य' अर्थ में 'मयट्' प्रत्यय किया गया है। एवञ्च परमेश्वर ( ब्रह्म ) में नित्यज्ञान सुखादि की प्रचुरता है। तात्पर्य यह है कि 'नित्यं विज्ञानम्' श्रुति के 'विज्ञान' पद में भावार्थक ( स्वार्थ ) ल्युट् प्रत्यय करने पर 'यः सर्वज्ञः' श्रुति से विरोध उपस्थित होता है, जिसे दूर नहीं किया जा सकता, इसलिए अधिकरणार्थक ल्युडन्त 'विज्ञान' पद की ही यहाँ कल्पना करनी चाहिये।

वेदान्ती—नैयायिकों के कथानुसार 'ज्ञान' और 'ब्रह्म' में गुण-गुणिभाव मानने पर 'विज्ञानमानन्दं' ब्रह्म श्रुति में प्रयुक्त 'आनन्द' पद की क्या व्यवस्था होगी ?

नैयायिक—'आनन्दमिति।' "अर्श आदिभ्योऽच्"—( पा० सू० ५।२।१२७ ) सूत्र से मतुबर्थक 'अच्' प्रत्यय से निष्पन्न हुआ नपुंसकलिङ्ग 'आनन्द' पद है। 'आनन्दः अस्यास्तीति' व्युत्पत्तिः। इसलिये 'आनन्दम्' का भी अर्थ 'आनन्दवत्' समझना चाहिए। 'आनन्दम्' का 'आनन्दवत्' अर्थ न करने पर सुखार्थक आनन्द शब्द का प्रयोग 'स्यादानन्दथुरानन्द' कोशानुसार पुंल्लिङ्ग में होना चाहिये था। मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर ही 'आनन्द' शब्द का नपुंसकलिंग में प्रयोग हो सकेगा, अन्यथा नहीं। इसलिये 'आनन्दवत्' अर्थ ही किया गया है।

वेदान्ती—नैयायिकों के मतानुसार परमेश्वर में आनन्दरूपगुण तो है नहीं, तब उसमें 'आनन्दवत्त्व' मानना तो अपसिद्धान्त होगा। अतः आनन्द का आनन्दवत् अर्थ



करना उचित नहीं, क्योंकि सुख का अपर पर्याय ही तो आनन्द है और वह पुण्य का फल है। ईश्वर में पुण्य का होना संभव नहीं, क्योंकि विहित क्रिया-जन्य धर्म को पुण्य कहते हैं, विहितक्रिया यागादि ही हैं। ईश्वर को यागानुष्ठान का अधिकार ही नहीं तो, यागानुष्ठातृत्व उसमें कैसे संभव होगा ? जब अनुष्ठाता वह नहीं तो पुण्यजन्य-सुखफल का भागी भी वह नहीं होगा।

नैयायिक—'आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते' इति। दुःखाऽभाव को प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर 'ईश्वर' में आनन्द शब्द का प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि आनन्द शब्द, लक्षणा वृत्ति से दुःखाभाववान् का बोधक होता है। अर्थात् 'आनन्दं=दुःखाभाववान् इत्यर्थः'। यहाँ पर 'आनन्द शब्द' का अर्थ 'समवायेनआनन्दवान्' नहीं है। ऐसा करने पर अपसिद्धान्त का दोष नहीं होगा। इसी बात को दृष्टान्त देकर समझाते हैं—'भाराद्यपगमे इति।' भार ( बोझा ) वहन ( ढोने ) के बाद उसे ( भार को ) उतार देने पर अपनी पूर्वस्थिति में प्राप्त हुआ ( भाररहित हुआ ) व्यक्ति अपने को 'मैं सुखी हुआ' 'सुखी संवृत्तोऽहम्'—इतना ही समझता है। वह यह नहीं कहता कि अब 'मैं पहले से अधिक सुख का अनुभव कर रहा हूँ।' दुःखाभाव के रहने से सुखित्व प्रत्यय का केवल वह अनुभव करता है। उसी तरह श्रुतिगत 'आनन्दम्' का अर्थ आनन्दवत्-सुखवत् ब्रह्म समझना चाहिए। यदि वेदान्ती कहे कि 'सम्भवति मुख्येऽर्थे-जघन्यवृत्तिकल्पनमन्याय्यम्'—मुख्यार्थ के संभव रहते लक्षणावृत्ति के द्वारा अन्यार्थ की कल्पना करना उचित नहीं है। उस पर हमारा ( नैयायिक का ) कहना यह है कि 'अस्तु वा तस्मिन्' इति। परमेश्वर ( ब्रह्म ) में नित्य ज्ञान की तरह नित्य सुख भी यदि रहता हो, तो भले ही रहे, हमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु उस परमेश्वर ( ब्रह्म ) को हम आनन्दरूप नहीं मान सकते, उसे आनन्द से तो भिन्न ही मानना होगा। एवञ्च आनन्द और ब्रह्म में अभेद नहीं है। अभेद न मानने में प्रमाण श्रुति है—'असुखम्' इति। 'असुखम्' में 'न सुखम्=असुखम्'—यह नञ् तत्पुरुष समास है। श्रुतिघटक 'नञ्' सुखभेदपरक है। अतः नञ् शब्द यहाँ पर परमेश्वर से सुख का भेद बोधन कर रहा है। तथा च 'सुखभिन्नः अर्थात् सुखाधिकरणः परमात्मा' यह अर्थ 'असुखम्' का है। इस श्रुतिप्रमाण से यह स्पष्ट हो रहा है कि परमेश्वर ( ब्रह्म ) आनन्दरूप नहीं है।

वेदान्ती—'न विद्यते' इति। 'असुखम्'—में 'न विद्यते सुखं यस्य' ऐसा बहुव्रीहि समास करना चाहिए, 'तत्पुरुष' नहीं। बहुव्रीहि करने पर यह अर्थ होगा कि 'जिसमें सुख समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहता। अर्थात् यत्समवेततया सुखमप्रसिद्धम्'। तथा च—'ईश्वरः ( ब्रह्म ) सुखवान्' यह अप्रसिद्ध अर्थ है। अतः 'सुखमेवेश्वरः' परमेश्वर सुखरूप है, यही अर्थ उचित है, जो बहुव्रीहि समास से उपलब्ध होता है, उसे क्यों नहीं स्वीकार करते ?

**नैयायिक—'क्लिष्टकल्पनापत्तेः'** इति। वेदान्ती के द्वारा प्रदर्शित बहुव्रीहि के द्वारा परमेश्वर को सुखरूप ( आनन्दरूप ) कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा करने में क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। अर्थात् बहुव्रीहि करने पर नञ् को लक्षणा करनी पड़ेगी। बहुव्रीहिसमास अन्यपदार्थप्रधान हुआ करता है। अतः नञ् की अन्यपदार्थ में लक्षणा करना ही क्लिष्ट कल्पना है। ऐसी क्लिष्ट कल्पना 'तत्पुरुष' में नहीं करनी पड़ती।

**वेदान्ती**—नञ्तत्पुरुष में भी 'असुख' पद और 'ब्रह्म' पद दोनों में एकधर्मिबोधकत्वरूप समानाधिकरण्य' का अनुभव सभी को होता है। अन्यथा 'असुख' पद और 'ब्रह्म' पद दोनों की तुल्य ( समान ) वचनता उपपन्न नहीं हो सकेगी। अतः 'नञ्' की अभाववान् में लक्षणा करना तत्पुरुष में आवश्यक है। एवञ्च वेदान्ती के समान नैयायिक को भी लक्षणारूप क्लिष्ट कल्पना तो तुल्य ही है। इसलिये अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि करना ही उचित है, जिससे ब्रह्म को सुखरूप माना जा सकता है।

**नैयायिक—'प्रकरणविरोधात्'** इति। बृहदारण्यक के शरीरभेदाद्यर्थक 'अशरीरम्....अस्थूलम्....असुखम्' श्रुतिघटक 'असुख' शब्द का 'सुखाभाववत्' अर्थ करना संभव न होने से सर्वत्र 'नञ् तत्पुरुष' ही किया गया है। अतः समानप्रवाहपतित 'असुख' पद में भी प्रकरणानुरोधेन उसी को ( तत्पुरुष को ) ही करना ठीक प्रतीत हो रहा है, बहुव्रीहि करना ठीक नहीं। किञ्च—बहुव्रीहि करने पर एक अन्य विरोध भी होगा—'आनन्दमित्यत्र' इति। सुखार्थक आनन्द शब्द का तो नित्य पुंल्लिङ्ग में प्रयोग करने का नियम है। और मत्वर्थीय अच् प्रत्यय बिना लगाये नपुंसकलिङ्ग में उसका ( आनन्दशब्द का ) प्रयोग हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में श्रुतिगत 'आनन्दम्' प्रयोग की असाधुता होगी, यह एक दोष है। दूसरी बात यह है—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' यह श्रुति तो 'ब्रह्म' और 'आनन्द' में स्पष्टतया भेद का प्रतिपादन कर रही है। गुण-गुणी का भेद माननेवाले नैयायिकों के पक्ष में ही ये सब श्रुतियाँ उपपन्न हो पाती हैं। अभेदवादी वेदान्तियों के पक्ष में नहीं।

अद्वैत वेदान्तियों के सिद्धान्तों का संक्षिप्त संग्रह—

**अद्वैत ब्रह्म ही** पारमार्थिक सत्य है, जो सच्चिदानन्दस्वरूप है। उससे भिन्न ( अतिरिक्त ) प्रतीयमान होनेवाला समस्त प्रपञ्च शुक्ति-रजत की तरह या मरु-मरीचिका की तरह मिथ्या है अर्थात् भ्रान्तिविलास है। जहाँ जिसका अत्यन्ताभाव हो, वहीं पर उसकी प्रतीति होने को मिथ्या कहते हैं। मिथ्यात्वञ्च यत्र यस्यात्यन्ताभावः तत्रैव तस्य प्रतीयमानत्वम्।' मिथ्या को ही प्रतिभास भी कहते हैं। वही अद्वितीय ब्रह्म उपाधिवशात् जीवभाव को प्राप्त हुआ सा लगता है। उपाधियों के अनेक होने से जीव भी अनेक होते हैं। जैसे घट-मठ आदि उपाधियों



की भिन्नता होने से आकाश के एक होने पर भी उसमें नानात्व का व्यवहार ( अनेकता का व्यवहार ) लोग किया करते हैं। माया और अविद्या के भेद से उपाधि के दो भेद हैं। मायोपाधिक चैतन्य को ईश्वर कहते हैं और अविद्योपाधिक चैतन्य को जीव कहते हैं। राग द्वेषात्मक प्रबन्धानुपाती संसार को बन्ध कहते हैं। उस बन्ध का निदान ( कारण ) अविद्या है। जीव में स्व ( ब्रह्म ) स्वरूप का आविर्भाव होना ही मोक्ष है। तत्त्वमसि आदि महावाक्य से उत्पन्न होनेवाली "अहम् ब्रह्मास्मि" इस प्रकार की अखण्डाकार वृत्ति को ब्रह्मविद्या कहते हैं। यह ब्रह्मविद्या ही उपर्युक्त बन्ध का समूल विनाश कर देती है। बन्ध का समूल विनाश हो जाता है, इसलिये मोक्ष को ही परम-पुरुषार्थ कहते हैं। भगवती श्रुति कहती है—

> यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधौतम्।
> तद्वदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥
> यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
> अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः॥
>
> — ( श्वेता० उप० २।१४, १५ )

**एतेन प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किन्तु चेतनः। कार्यकारणयोरभेदात् कार्यनाशे सति कार्यरूपतया तन्नाशोऽपि न स्यादित्यकारणत्वं तस्य। बुद्धिगतचैतन्याभिमानान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनम्। बुद्धिश्च प्रकृतेः परिणामः। सैव महत्तत्त्वम्, अन्तःकरणमित्युच्यते। तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां पुरुषस्य संसारापवर्गौ। तस्या एवेन्द्रियप्रणालिकया परिणतिर्ज्ञानरूपा घटादिना सम्बन्धः। पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो बुद्धौ चैतन्याभिमानश्च भेदाग्रहात्। ममेदं कर्तव्यमिति। मदंशः पुरुषोपरागो बुद्धेः स्वच्छतया तत्प्रतिबिम्बादतात्त्विको दर्पणस्येव मुखोपरागः। इदमिति विषयोपरागः, इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेदस्तात्त्विको निःश्वासाभिहतदर्पणस्येव मलिनिमा। कर्तव्यमिति व्यापारांशः। तेनांशत्रयवती बुद्धिस्तत्परिणामेन ज्ञानेन पुरुषस्यातात्त्विकः सम्बन्धो दर्पणमलिनिम्नेव मुखस्योपलब्धिरुच्यते। ज्ञानवत्सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा अपि बुद्धेरेव कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीतेः। न च बुद्धिश्चेतना परिणामित्वादिदिति मतमपास्तम्।**

'एतेन' पद का सम्बन्ध 'इतिमतमपास्तम्' के साथ समझना चाहिए। 'एतेन' इति। इससे अर्थात् पूर्वोक्त अनेक युक्तियों के द्वारा आत्मा में ज्ञान की अधिकरणता सिद्ध कर देने से और अग्रिम वक्ष्यमाण ग्रन्थ से 'मतमपास्तम्' अर्थात् सांख्य-मत का निरसन हो गया समझना चाहिए। सांख्यदर्शन का अपना सिद्धान्त है—'प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः, किन्तु चेतनः०" इति। प्रकृति अर्थात् सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूल प्रकृति ही समस्त विश्व की कर्त्री ( उपादान कारण ) है। यहाँ पर प्रकृति में जो कर्तृत्व बताया गया है, उसे अनुकूल कृति-

मत्त्व के रूप में नहीं समझना। अर्थात् प्रकृति में किसी प्रकार की कृति रहने से वह कर्त्री नहीं कही जा रही है। अनुकूल कृतिमत्त्वरूप कर्तृत्व तो प्रकृति की कार्यरूप बुद्धि में माना गया है। अर्थात् वह अन्तःकरण का धर्म है। प्रकृति में कर्तृत्व तो केवल कर्तृभूतबुद्धयात्मक अन्तःकरण का कारणस्वरूप है। यह पारिभाषिक कर्तृत्व 'प्रकृति' में समझना चाहिए। 'अकार्यावस्थोपलक्षितत्वे सति गुणसामान्यत्वम्प्रकृतित्वम्'—यह प्रकृति का लक्षण है। सत्त्वरजस्तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति के सम्बन्ध में ब्रह्मवैवर्तगत प्रकृतिखण्ड के प्रथमाध्याय में तथा देवीभागवतगत नवम स्कन्ध के प्रथमाध्याय में—

"प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥
गुणे प्रकृष्टसत्त्वे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतौ।
मध्यमे रजसि कृश्च तिः शब्दस्तमसि स्मृतः॥

सत्त्वरजस्तमोगुण का स्वरूप सांख्यकारिकाकार ने यह बताया है—

"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥'

सांख्यदर्शन में पंचविशति ( पच्चीस ) तत्त्व बताये गये हैं—१ प्रकृति ( मूल प्रकृति ), २ महत्तत्त्व ( बुद्धि या अन्तःकरण ), ३ अहंकार, ४ पंचतन्मात्रा ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ), ५ पञ्चज्ञानेन्द्रिय ( श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ), ६ पञ्च कर्मेन्द्रिय ( वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ), ७ पंचभूत ( आकाश, वायु; अग्नि, जल, पृथ्वी ), ८ पुरुष और ९ मन इन्हीं पंचविशति तत्त्वों का संग्राहक एक श्लोक भी है—

"प्रकृतिर्बुद्ध्यहङ्कारौ तन्मात्रैकादशेन्द्रियम्।
भूतानि चेति सामान्याच्चतुर्विंशतिरेव ते॥
पञ्चविंशतिः पुरुषः॥"

इन तत्त्वों में प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन ( उभयेन्द्रिय )—सोलह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इन सोलह तत्त्वों में जो पञ्चतन्मात्रासंज्ञकत्व है, उससे पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। ये चौबीस तत्त्व हैं, और पच्चीसवाँ तत्त्व 'पुरुष' है।

इन पच्चीस तत्त्वों के केवल-प्रकृति ( कारण ), केवल विकृति ( कार्य ), उभय ( प्रकृति-विकृति ), और अनुभय ( न प्रकृति और न विकृति ) ये चार भेद किये गये हैं। क्योंकि 'प्रकृति तत्त्व' ( मूलप्रकृति तत्त्व ) विकृति नहीं है अर्थात् किसी का विकार ( कार्य ) नहीं है, यानि किसी से भी पैदा ( उत्पन्न ) नहीं होता। अभिप्राय यह है कि केवल प्रकृति, मूल प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त—ये सब



प्रकृति के ही नामान्तर हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और उभयात्मक ( ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भी ) मन और पञ्चभूत—ये सोलह ( १६ ) तत्त्व, विकार ( कार्य ) ही हैं अर्थात् ये सोलह तत्त्व किसी भी अन्य तत्त्व के कारण नहीं हैं, यानि इनसे कोई भी तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा—ये सात ( ७ ) तत्त्व, प्रकृति भी ( कारण अर्थात् अन्य तत्त्व के उत्पादक भी ) हैं और विकृति भी ( कार्य अर्थात् अपने कारणभूत तत्त्व से ये स्वयं उत्पन्न भी ) होते हैं, यानि ये सात तत्त्व उभयरूप ( प्रकृति-विकृतिरूप ) हैं, और पुरुषतत्त्व न प्रकृति है और न विकृति ही है। अर्थात् यह न किसी का कारण है और न किसी का कार्य ही है, यानि न कोई इसका उत्पादक है और न यह स्वयं किसी से उत्पन्न हुआ है। इसलिये पुरुषतत्त्व अनुभयरूप ( न किसी का प्रकृति है और न किसी का विकृति ) है। उपर्युक्त चौबीस तत्त्व जड़ हैं और पचीसवाँ तत्त्व ( पुरुष ) चेतन है, तथापि वह कर्ता नहीं है। वह केवल साक्षीमात्र है। इसी अभिप्राय को एक कारिका के द्वारा श्रीमदीश्वरकृष्ण ने व्यक्त किया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

॥ इति सांख्यमतसंक्षेपः॥

शंका—मुक्तावलीकार ने 'किन्तु चेतनः' कहा है, इससे यह प्रतीत हो रहा है कि न्याय-वैशेषिक के तुल्य सांख्यदर्शन भी 'पुरुष' को ज्ञानवान् ( ज्ञानाधिकरण ) मानता है, ऐसी स्थिति में न्याय वैशेषिक के द्वारा सांख्यमत का निराकरण कैसे किया जा सकेगा?

समा०—सांख्यदर्शन ने 'पुरुष' ( चेतन ) को ज्ञानरूप माना है, ज्ञानवान् नहीं। चेतन से भिन्न ( अतिरिक्त ) यदि वह ( सांख्य ) ज्ञान को मानें तो उसके परिगणित पच्चीस तत्त्वों की अपेक्षा उसे ( ज्ञान को ) एक अधिक तत्त्व मानना पड़ेगा। इस कारण सांख्य चेतन ( पुरुष ) को ज्ञानरूप ही मानता है, ज्ञानाधिकरण नहीं। किन्तु नैयायिक पुरुष को ज्ञानाधिकरण मानता है।

सांख्य—पुरुष में 'कृतिमत्त्वरूप कर्तृत्व' है, ऐसा नैयायिक कहते हैं। किन्तु वह ठीक नहीं—'पुरुषस्त्विवति'। पुरुष अर्थात् जीव ( चेतन ) अपरिणामी है। सूत्रकार ने भी कहा है—'निर्गुणत्वान्नचिद्धर्मा'—( सां० सू० १।९४७ )। जीव को पुरुष इसलिए कहते हैं कि वह 'पुरि = शरीर में, शेते = व्याप्त है।' उसी पुरुष को चेतन भी कहते हैं। वह पुरुष पुष्कर पत्र ( कमल पत्र ) की तरह निर्लेप—असंग अर्थात् कृति, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि लेपों से रहित है, यानि हमेशा शुद्ध है। निर्लिप्तत्वं नाम—'वास्तविकसुखदुःखादिसंयोगानधिकरणत्वम्।'

कुछ लोग दूसरे ढंग से कहते हैं—अनुयोगितासम्बन्धेन विजातीय ( सुखादि ) संयोगवत्त्वं लिप्तत्वम्, तद्भिन्नत्वमलिप्तत्वम् । वैजात्यञ्चात्र अम्भसा लिप्तम्, भस्मना लिप्तम्, तैलेन लिप्तं शरीरमित्याद्यनुगतप्रतीतिसिद्धनोदनत्वव्याप्यजातिविशेषरूपम्बोध्यम् । श्रुति भी उसकी असंगता को बता रही है—असङ्गो ह्ययं पुरुषः—( "बृ० उप० ६ । ३।१६ ) । पुरुष की निर्लिप्तता में अनुमान इस प्रकार करेंगे—'पुरुषः लिप्तत्वाभाववान् चेतनत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा प्रकृतिः ।' जैसे कमलपत्र जल में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है वैसे ही पुरुष कर्तृत्वादि धर्मों का आश्रय नहीं होता है । गीता भी कहती है—"लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा"—( भग० गी० ] । इससे एक अन्य अनुमान भी होता है—'पुरुषः कर्तृत्वादिधर्माभाववान् कारणत्वाभावात् यन्नैवं तन्नैवम्, यथा प्रकृतिः ।' सांख्य के अनुसार 'चेतनत्वं न ज्ञानाश्रयत्वम्, ज्ञानस्य पुरुषे अभावात् ।' 'किन्तु चेतनः' इस अनुगतप्रतीति से चेतनपदशक्यतावच्छेदकतया सिद्ध-जातिविशेषत्वं चेतनत्वम्' उसी को 'आत्मत्व' भी कहते हैं । यह पुरुष चेतन होकर भी जगत् का कर्ता नहीं होता । इसमें दृष्टान्त पद्म-पत्र का दिया गया है । तथा हि—पुष्करपलाश ( कमल का पत्ता ) पानी में रहकर भी उस पानी से जैसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही यह पुरुष जगत् के कर्तृत्वादि धर्मों से लिप्त नहीं होता, अर्थात् जगत् की निर्मिति नहीं लगता । 'जो किसी भी कार्य के प्रति कारण नहीं होता, वह उन कार्यों का कर्ता भी नहीं होता ।' इस नियम के अनुसार 'पुरुष' जगत् के प्रति कारण नहीं है तो वह उसका ( जगत् का ) कर्ता भी नहीं है — यह अनुमान फलित होता है ।

यदि उक्त नियम को ( जगत् के प्रति कारण न होने से जगत् का कर्ता भी नहीं हो सकता ) स्वीकार न करें और पुरुष को जगत् के प्रति कारण ( जगत् का उत्पादक ) मानें तो सांख्यदर्शन के अनुसार कार्य-कारण दोनों में भेद न होने से ( कार्य तथा कारण के एक होने से ) जगत् रूप कार्य का नाश होने पर पुरुष के कार्यरूप होने से उसका ( पुरुष का ) भी नाश हो जायेगा । इसलिए पुरुष को किसी भी कार्य का कारण नहीं माना जाता । भाव यह है कि—सांख्य के मत में कार्य का अपने उपादान कारण के साथ अभेद ( तादात्म्यसम्बन्ध ) होने से घट-पटादि का नाश होने पर कार्यरूपतया अर्थात् घटा-पटादि कार्य से अभिन्न होने के कारण उपादानकारणरूप कपाल का भी जैसे नाश होता है, उसी तरह तन्नाशोऽपि अर्थात् आत्मा का भी नाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा । ( 'तन्नाशो न स्यात्' ऐसा पाठ यदि हो तो पुरुष का नाश न हो अर्थ करना चाहिये ), इति—इस कारण 'अकारणत्वं = कारणत्वाऽनधिकरणत्वं तस्य' । पुरुष में जगत् के प्रति अकर्तृत्व का स्वीकार करना चाहिए, यह सांख्य का कहना है । तथा च—नाशाऽप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व की अनुपपत्ति होने से पुरुष को जगत् का कारण नहीं मानना चाहिए ।



किञ्च—जगत् के प्रति यदि पुरुष को कारण कहा जाय तो धर्मपरिणाम—लक्षणपरिणाम—अवस्थापरिणामों में से किसी एक परिणाम का आश्रय उसे अवश्य ही कहना होगा और उसे आश्रय कहने पर श्रुति तथा युक्ति से सिद्ध जो उसकी कूटस्थता है, वह नहीं बन सकेगी । धर्म, लक्षण और अवस्था के भेद से 'परिणाम' तीन प्रकार का होता है । योग सूत्रकार कहते हैं—

"एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था परिणामा व्याख्याताः ॥

( पा० यो० सू० पा० २ सू० १३ )

मृत्तिका ( मिट्टी ) रूप धर्मी का जो घटाकार परिणाम है उसे धर्मपरिणाम कहते हैं । उसी घट के द्वारा अनागत अध्वा का त्याग कर वर्तमान अध्वा का स्वीकार करना और उसे भी त्याग कर अतीत अध्वा का स्वीकार करना लक्षण परिणाम है । ( अध्वा = काल, अनागत = भविष्य, अतीत = भूत ) । उसी घट का नवीन-प्राचीन के भेद से प्रतिक्षण जो परिक्षय होता रहता है, उसे अवस्थापरिणाम कहते हैं । अतः सभी पदार्थों का प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है । एक 'चितिशक्ति' पदार्थ ही ऐसा है, जिसका परिणाम कभी नहीं होता ।

प्रकृति से महत्तत्त्व का होना धर्मपरिणाम है । सांख्य में परिणाम की परिभाषा इस प्रकार है—अवस्थितस्य वस्तुनः पूर्वावस्थापरित्यागेन ( पूर्वधर्मनिवृत्तौ ) धर्मान्तरोत्पत्तिः—परिणामः । किन्तु नैयायिक 'विनाश' को ही "परिणाम' कहते हैं ।

शंका—सांख्य ऐसे अपरिणामी ( निर्विशेष ) पुरुष को क्यों स्वीकार कर रहा है ? अर्थात् ऐसे पुरुष के स्वीकार करने में क्या प्रमाण है । ऐसे पुरुष का स्वीकार करना व्यर्थ है ।

समा०—'बुद्धिगत इति ।' यदि हम 'पुरुष' का स्वीकार न करें तो प्रकृति का साक्षात् कार्य ( परिणाम ), जड़ अन्तःकरणस्वरूप 'बुद्धि' है, उसमें होने वाला ( बुद्धिवर्ती ), 'चेतनोऽहम्' इस आकार का जो 'चैतन्याभिमान' अर्थात् बुद्धि को यह ज्ञान ( भान ) होना कि 'मैं चेतन हूँ' वह नहीं बन पायगा । अतः उपर्युक्त अभिमान की सिद्धि के लिये सांख्य को 'पुरुष' तत्त्व का स्वीकार करना पड़ता है । सर्वत्र प्रसिद्ध चैतन्यस्वरूप पुरुष से संयुक्त हुई बुद्धि में चैतन्याभिमान का आरोप तभी संभव हो पाता है । सांख्यदर्शन के इस सिद्धान्त को कभी भूलना नहीं चाहिए कि प्रकृति का प्रथम परिणाम बुद्धि है, 'प्रकृति' जड़ है, अतः उसकी कार्यरूप बुद्धि का जड़ होना भी स्वाभाविक है । क्योंकि उपादेय सदा उपादान से अनुविद्ध रहता है । जैसे घट, मृत्तिका से अनुविद्ध होने के कारण वह भी मृत्तिकारूप ही है । किन्तु उसमें ( बुद्धि में ) ज्ञान-इच्छादि धर्मों की उपलब्धि होने से चैतन्य की भी प्रतीति होती है । किन्तु वह प्रतीति तभी सम्भव हो सकती है जब कि चेतनस्वभाव—पुरुष का उसके साथ सम्बन्ध माना जाय, अन्यथा नहीं हो सकती । आरोप्यमाण पदार्थ कहीं प्रसिद्ध रहना चाहिए, तभी उसका आरोप हो

सकता है। अतएव प्रसिद्ध चैतन्य का बुद्धि में आरोप किया जाता है। जैसे 'रक्तः स्फटिकः' इस प्रतीति में जपाकुमुम के सम्बन्ध से ही स्फटिक में लौहित्य की प्रतीति होती है। वैसे ही बुद्धि में पुरुष के उपराग ( सम्बन्ध ) के कारण चैतन्य की प्रतीति होती है।

शंका—उस बुद्धि का स्वरूप क्या है, जिसमें पुरुषोपराग के कारण 'मैं चेतन हूँ', इस प्रकार चैतन्य की प्रतीति होती है।

समा० बुद्धिश्चेति। त्रिगुणसाम्यावस्थारूप 'प्रकृति' का जो प्रथम ( साक्षात् ) कार्य ( परिणाम ) है, अर्थात् प्रकृति की एक अवस्था विशेष है उसी को 'बुद्धि' कहते हैं, उसी के 'महत्तत्त्व' 'अन्तःकरण' ये नामान्तर हैं। जैसे स्फटिक में जपा-कुसुम के सम्बन्ध से रक्तिमा और जपाकुसुम के हटा लेने पर उसमें श्वेतिमा होती है, वैसे ही उस बुद्धि के सत्त्व ( पुरुष के साथ संयोग ) से पुरुष ( जीव ) को संसार ( बन्ध ) प्राप्त होता है, और बुद्धि के असत्त्व ( पुरुष के साथ वियोग यानी संयोगाऽभाव ) से पुरुष को अपवर्ग अर्थात् आत्यन्तिक दुःखध्वंसात्मक मोक्ष प्राप्त होता है। "तस्या एव" इति। 'तस्याः' पद का "परिणतिः" पद के साथ सम्बन्ध है। उस अन्तःकरणरूप बुद्धि का ही ज्ञानवृत्त्यात्मक परिणाम ( परिणति ), अर्थात् चक्षुरिन्द्रियात्मकनालिका के द्वारा घट-पटादि-विषयों के साथ विषयाकारा-त्मक जो सम्बन्ध ( परिणति-परिणाम ) है, वह सम्बन्ध ( परिणाम ) ज्ञानरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं। विषय के आकार से आकारित जो इन्द्रियवृत्तिरूप ज्ञान है, वह बुद्धि का ही धर्म है, आत्मा का नहीं। उसी तरह इच्छा, कृति, सुख, दुःख आदि भी बुद्धि के ही परिणाम हैं, इसलिये कर्त्री, भोक्त्री, सुख-दुःख की दात्री बुद्धि ही है।

शंका—यदि पुरुष कर्त्ता, भोक्ता ( कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म पुरुष के ) नहीं हैं, तो पुरुष को 'अहं करोमि' यह प्रतीति क्यों होती है ?

समा०—इन्द्रियरूप नालिका के द्वारा पदार्थ ( वस्तु ) सन्निकर्ष सम्बन्ध होने के पश्चात् उत्पन्न होने वाली 'अयं घटः' इस आकार की चित्तवृत्ति ही 'प्रमाण' हैं, और उससे उत्पन्न होने वाला जो 'घटमहं जानामि' इत्याकारक बोध ( अनुभव, प्रमा ) है, वह उसका 'फल' है, और वह प्रमा ( अनुभव ) रूप फल, बुद्धि में वर्तमान रहने पर भी बुद्धि में पड़े हुए प्रतिबिम्बित आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध ( स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्व सम्बन्ध ) से रहता है, इसलिए उस प्रमा ( बोध ) रूपी फल को 'पौरुषेय' कहा जाता है। एवञ्च बुद्धि के कर्तृत्वादि धर्म पुरुष में भी औपाधिक रूप से रहते हैं—ऐसा कहा जाता है। अतः बुद्धि और पुरुष के भेदाऽ-ग्रहमूलक ( अभेदज्ञानमूलक ) 'पुरुषः कर्ता, भोक्ता' यह अनुभव होता है, किन्तु उसे ( अनुभव को ) भ्रमात्मक ही समझना चाहिए। क्योंकि वह ( पुरुष ) तो असंग है, उसमें कर्तृत्वादि धर्मों का होना कदापि सम्भव नहीं। सांख्यवादी के इस



अभिप्राय को मुक्तावलीकार 'पुरुषे कर्तृत्वाभिमानो' इस ग्रन्थ से बता रहे हैं। अर्थात् 'अहं करोमि' इस प्रकार पुरुषगत जो कर्तृत्वाभिमान ( कर्तृत्वप्रकारक-अभिमान अर्थात् 'अहम्' प्रत्यय ) और प्रकृति के प्रथम परिणामरूप महत्तत्त्वापर-पर्याय बुद्धि को 'अहं ( बुद्धिः ) चेतना' इस प्रकार का जो अभिमान, इन दोनों में भेद ( विवेक ) का ग्रहण न हो पाने से ( बुद्धि और पुरुष का कोई संसर्ग नहीं है यह ज्ञान न होने से ) पुरुषगत चैतन्य की बुद्धि में और बुद्धिगत कर्तृत्व की पुरुष में प्रतीति होती है। अतः पुरुष को कर्तृत्वाभिमान होता रहता है। अर्थात् बुद्धिगत कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्मों की पुरुष में और चैतन्य की प्रतीति बुद्धि में होती रहती है।

नैयायिक—"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्"—( न्या० सू० १।१।१५ ) इस सूत्र के अनुसार बुद्धि और उपलब्धिरूप ज्ञान ( प्रत्यय-प्रतीति ) में कोई भेद नहीं मानता अर्थात् ज्ञान को बुद्धि का पर्याय मानता है। किन्तु सांख्यवादी बुद्धि से उपलब्धि ( ज्ञान ) को भिन्न मानता है। इसी अभिप्राय को बताने के लिए बुद्धि के तीन अंशों को वह प्रदर्शित कर रहा है—'ममेदम्' इति। 'मम इदं कर्तव्यम्' यह प्रतीति सभी को हुआ करती है। इस प्रतीति में न्यायदर्शन के अनुसार 'मम' अंश से स्वामित्व, 'इदम्' अंश से विषयत्व, 'कर्तव्यम्' अंश से व्यापार ( क्रिया ) भासित होता है। इसमें 'स्वामित्व' आत्मा का वास्तविक है, 'विषयत्व' विषय का वास्तविक है, और क्रिया ( व्यापार ) विषयस्था वास्तविक है। ये सभी, ज्ञान में विषयतया भासित होते हैं। इसलिए इसे भ्रम नहीं कह सकते। किन्तु सांख्य का कथन है कि 'मम इदं कर्तव्यम्' में तीन अंश हैं, एक 'मम' दूसरा 'इदम्', तीसरा 'कर्तव्यम्'। उनमें 'मम' अंश पुरुष का है, क्योंकि बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। अर्थात् 'पुरुषचैतन्य' की बुद्धि में प्रतीति होती है। अर्थात् बुद्धि और पुरुष में भेद का ग्रहण न हो पाने से दोनों में एकत्व का अभिमान होता है। अस्मच्छाब्दार्थभूत पुरुष का सम्बन्ध 'मम' इस षष्ठीविभक्ति से ज्ञात होता है। किन्तु वह प्रतिबिम्ब ( बुद्धिगत चैतन्य की प्रतीति ) वास्तविक नहीं है, अपितु दर्पणस्थित प्रतिबिम्ब की तरह मिथ्या है। जैसे—दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब से दर्पण में कोई परिवर्तन नहीं होता है और न उस प्रतिबिम्ब से बिम्ब ( मुख आदि ) में ही कोई परिवर्तन होता है, अतः वह प्रतिबिम्ब जैसे मिथ्या ( वास्तविक नहीं ) है वैसे ही बुद्धि में पड़ा हुआ पुरुष-चैतन्य का प्रतिबिम्ब छाया भी मिथ्या है। 'पुरुषोपराग' का अर्थ 'पुरुष-सम्बन्ध' है। जैसे दर्पण का मुखसम्बन्ध। 'मम' इस प्रथम अंश की यह व्याख्या हुई।

अब दूसरा अंश 'विषय' का है। क्योंकि विषय के आकार में बुद्धि ही परि-णत होती है, यानी बुद्धि का चक्षुरादि-इन्द्रिय के द्वारा विषय के साथ सम्बन्ध

होता है और वह सम्बन्ध उपराग मिथ्या नहीं है, अपितु निःश्वास से अभिहत दर्पण से मलिनिमा के सम्बन्ध के समान सत्य है। अर्थात् दर्पण पर फूक मार कर निकलने वाली भाँप से दर्पण के साथ मलिनिमा का सम्बन्ध जैसे सत्य है, वैसे ही बुद्धि का विषय के साथ जो सम्बन्ध विषयाकार परिणाम है, वह भी सत्य है।

तीसरा अंश 'कर्तव्यम्' है, इसका अर्थ है कि किसी विषय की ओर प्रवृत्ति होना, यानी उस विषय के लिये यत्न करना या चेष्टा करना। यह 'कर्तव्य' व्यापार अंश है। यह भी बुद्धि का ही धर्म है। जैसे निःश्वास से निकलने वाली भाँप से दर्पण में जो मलिनिमा आ जाती है, वह मलिनिमा दोष उस दर्पण पर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल पाती, क्योंकि दर्पण को पोंछने पर पुनः वह पूर्ववत् स्वच्छ निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार बुद्धि में उत्पन्न होनेवाले घट-पट आदि विषयों के ज्ञान से वस्तुतः पुरुष का कोई सम्बन्ध नहीं है, पुरुष तो बिलकुल स्वच्छ है। उस ज्ञान से तो बुद्धि का सम्बन्ध है। ज्ञान बुद्धि का धर्म है, उसी तरह सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म भी बुद्धि के ही धर्म (परिणाम) हैं, क्योंकि कृति (प्रयत्न) के अधिकरण में ही ये सब उसी के साथ रहते हैं। अर्थात् जहाँ ज्ञान वहीं इच्छा और जहाँ इच्छा वहीं कृति होती है।

शंका—बुद्धि में चैतन्य का अनुभव सभी को होता है, अतः तदनुरोधेन बुद्धि में ही चैतन्य को क्यों न माना जाय? पुरुष में चैतन्य की कल्पना क्यों की जाय।

समा०—"न च बुद्धिरिति।" 'न च बुद्धिः चेतना, परिणामित्वात्'—इसमें 'बुद्धि' पक्ष है, 'न च चेतना' यह साध्य है और 'परिणामित्वात्' यह हेतु है। अर्थात् 'बुद्धिः चेतनत्वाभाववती परिणामित्वात् (अनित्यवात्) घटवत्' यह अनुमान का आकार सांख्य के मत में होगा।

कृत्यदृष्टभोगानामिव चैतन्यस्यापि सामाधिकरण्यप्रतीतेस्तद्भिन्ने मानाभावाच्च। चेतनोऽहं करोमीति प्रतीतिश्चैतन्यांशे भ्रम इति चेत्कृत्यंशे किं नेष्यते। अन्यथा बुद्धेर्नित्यत्वे मोक्षाभावोऽनित्यत्वे तत्पूर्वमसंसारापत्तिः।

नन्वचेतनायाः प्रकृतेः कार्यत्वाद् बुद्धेरचैतन्यं कार्यकारणयोस्तादात्म्यादितिचेन्न, असिद्धेः। कर्तुर्जन्यत्वे मानाभावात्। वीतरागजन्मादर्शनादनादित्वम्, अनादिभावस्य नाशासम्भवान्नित्यत्वम्। तत्किं प्रकृत्यादिकल्पनेन।

न च—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (गी० ३।२७) इत्यनेन विरोध इति वाच्यम्, प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्यैरिच्छादिभिः कर्ताहमेवेत्यस्य तदर्थत्वात्। 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः' इत्यादिवदता भगवता प्रकटीकृतोऽयमुपरिष्टादाशय इति सङ्क्षेपः।

इति सांख्यमतखण्डनम्।



किन्तु इस सांख्यमत का नैयायिक के द्वारा खण्डन किया गया है, क्योंकि 'कृत्यदृष्टभोगानामिवेति'। कृति (प्रयत्न), अदृष्ट (धर्माधर्म), भोग (सुख दुःखान्यतरसाक्षात्कार) की तरह चैतन्य (ज्ञान) की भी 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रकार समानाधिकरण्य से प्रतीति होती है। कृति अपने अधिकरण में ही अदृष्ट को पैदा करती है, और वह अदृष्ट अपने अधिकरण में ही भोग को पैदा करता है। एवं च कृति-अदृष्ट-भोग ये सब अपने अधिकरण 'आत्मा' में होते हैं। वैसे ही आत्मा में कृति और चैतन्य (ज्ञान) भी भासित होता है, क्योंकि कर्त्ता से भिन्न किसी चेतन के होने में कोई प्रमाण नहीं है।

कुसुमाञ्जलिकार कहते हैं—

"कर्तृधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव नः।
अन्यथानपवर्गः स्यादसंचारोऽथवा ध्रुवः॥"

शंका—सांख्यवादी कहता है "चेतनोऽहं करोमीति"। चेतनोऽहं करोमि' इस प्रतीति में तीन अंश हैं, एक—चैतन्यांश (ज्ञानस्वरूपांश), दूसरा अस्मदंश, और तीसरा—कृत्यंश। उनमें अस्मदंश और कृत्यंश तो बुद्धि के वास्तविक हैं लेकिन चेतनत्वांश तो बुद्धि में पुरुष (चेतन) का प्रतिबिम्ब पड़ने से उपसंक्रान्त (प्रतिफलित) हुआ है, इसलिये वह वास्तविक नहीं है। एवं च चेतनत्व से रहित (शून्य) बुद्धि में चेतनत्वप्रकारक ज्ञानांश जो भासित होता है, वह भ्रम है।

अभिप्राय यह है—यद्यपि बुद्धि की जड़ता स्वाभाविक है तथापि चेतनपुरुष के सम्बन्ध से उसके प्रतिबिम्ब को वह ग्रहण कर लेती है। प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेने के कारण वह (बुद्धि) 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रकार मिथ्या अभिमान करने लगती है। अतः चैतन्य (ज्ञान) को कृति आदि के समानाधिकरण नहीं कहा जा सकता। अर्थात् ज्ञान और कृति आदि एकाधिकरणवृत्ति नहीं है।

समा०—नैयायिक कहता है कि, 'कृत्यंशेऽपि किं नेष्यते" इति। न्यायवादी के मतानुसार 'चेतनोऽहं करोमि' में चैतन्यांश (चेतनत्वांश), अस्मदंश और कृत्यंश ये तीनों वस्तुतः जीव के ही हैं। अतः जैसे चैतन्यांश (ज्ञानस्वरूपांश) और अहमंश (अस्मदंश) में भ्रम का स्वीकार सांख्य ने किया है, उसी तरह बुद्धि में कृत्यंश (प्रयत्नांश) का भी भ्रम है, यह क्यों नहीं वह स्वीकार करता? उसे भी भ्रम कहने में क्या हानि है? यदि सांख्यवादी बुद्धि में कृति का भ्रम नहीं स्वीकार करता तो चैतन्य के भ्रम का भी वह स्वीकार न करे। तथा च उपर्युक्त तीनों अंशों की प्रतीति वस्तुतः आत्मा में ही होती है, यह मान लेना चाहिए। पहले जो अनुमान 'पुरुषः कर्तृत्वाऽभाववान् कारणत्वाऽभावात्' किया था उसका बाधक 'बुद्धिः कर्तृत्वाभाववती जन्यधर्मत्वात्' यह अनुमान किया जा रहा है। इसलिए (आत्मा में कर्तृत्व होने के कारण) सुखादि धर्मों को भी उसी में मानना चाहिए। एवं च ज्ञान (उपलब्धि) के अतिरिक्त (पृथक्-भिन्न) बुद्धि नामक किसी द्रव्य के होने में कोई प्रमाण नहीं है।

नैया०––उपलब्धि के अतिरिक्त बुद्धि का स्वीकार करने में बाधक भी है–– 'अन्यथेति ।' यदि पुरुष और कर्ता में भेद माना जाय, अर्थात् अतिरिक्त द्रव्यात्मक बुद्धि का स्वीकार किया जाय तो सांख्यवादी बतावे कि 'बुद्धि' नित्य है या अनित्य ? यदि बुद्धि को नित्य कहें तो बुद्धि और पुरुष का सम्बन्ध हमेशा ही रहने से पुरुष की भी मुक्ति नहीं होगी । क्योंकि बुद्धि को वे नित्य मान रहे हैं । ऐसी स्थिति में आत्मा का कभी मोक्ष ही नहीं हो पायेगा । क्योंकि 'बुद्धि का जब तक सम्बन्ध रहता है तब तक मोक्ष नहीं होता है' यह सांख्य का सिद्धान्त है ।

यदि बुद्धि को अनित्य कहते हैं तो बुद्धि की उत्पत्ति के पूर्व बुद्ध्याश्रित एवं बुद्धिजनक अदृष्ट के ही न रहने से बुद्धि की उत्पत्ति ही नहीं होगी और उसके न होने पर संसार की भी उत्पत्ति नहीं होगी । अर्थात् जब बुद्धि उत्पन्न होगी तभी पुरुष के साथ उसका संयोग ( सम्बन्ध ) होगा और संयोग होने पर ही संसार होगा । एवं च जब तक बुद्धि उत्पन्न नहीं होगी, तब तक पुरुष के साथ उसका संयोग ( सम्बन्ध ) होना सम्भव नहीं और संयोग न होने पर संसार की उत्पत्ति नहीं होगी । अतः अनित्यत्व-पक्ष में असंसारापत्ति होगी ।

सांख्यवादी—'नन्वचेतनाया' इति । बुद्धि को अनित्य मानने पर भी उस ( बुद्धि ) की उत्पत्ति के पूर्व असंसारापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कल्पान्तर (अन्य कल्प') में नित्य प्रकृतिरूप कारण से अन्य बुद्धि का उत्पादन होता है, उसके पूर्व-कल्प में भी अन्य बुद्धि का उत्पादन होता है । इस रीति से संसार का प्रवाह अनादि-काल से चलता आ रहा है । बुद्धि अपने मूलकारण जड़ प्रकृति का कार्य है, इसी-लिए वह स्वयं भी जड़ ( अचेतन ) है । उसमें ( बुद्धि में ) चैतन्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि कार्य-कारण का तादात्म्य ( एकता ) माना जाता है । एवं च नित्य प्रकृति की अनादिता के कारण तत्प्रयुक्त बुद्धि आदि कार्य के द्वारा संसार की भी अनादिता सिद्ध हो जाती है और प्रकृति के जड़ होने से बुद्धि आदि कार्यों की भी जड़ता सिद्ध हो जाती है । इसलिए चैतन्य को बुद्धि नहीं कह सकते । यदि चैतन्य ही बुद्धि होती तो उसमें कृति आदि की समानाधिकरणता ( एकाधिकरणवृत्तित्व ) रहने से वह आत्मा में समवेत होती । अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा–संसारः अनादिः अनादिकारणप्रयुक्तिप्रयुक्तत्वात् ।' 'बुद्धिः जडा (अचेतना) प्रकृतिजन्यत्वात् ।'

नैयायिक—'असिद्धेः' इति । सांख्यवादी के द्वारा प्रदर्शित दोनों अनुमानों में जो 'हेतु' दिया गया है उसमें 'असिद्धि' दोष होने से वह सद्धेतु नहीं है, किन्तु हेत्वाभास है । अर्थात् मूल प्रकृति के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है और उसके न होने से 'प्रयुक्तिप्रयुक्तत्व' और 'प्रयुक्तिजन्यत्व' ये दोनों हेतु असिद्ध हैं ।

सांख्यवादी––'बुद्धिः जन्या कृत्यादिपरिणामवत्त्वात्' इस अनुमान से बुद्धि में जन्यत्व सिद्ध होता है और 'बुद्धिः स्वसमाननित्यकारणवती जन्यत्वात्' इस अनुमान से प्रकृति में बुद्धि की कारणता सिद्ध हो जाने से 'मूलप्रकृति' का अस्तित्व सिद्ध होता है ।



नैयायिक—'कर्तुर्जन्यत्वे मानाभावात्' इति । कृतिमान् ( कर्तृपदार्थ ) अनित्यत्व ( जन्यत्व ) में अर्थात् कर्ता को अनित्य मानने में कोई प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि नित्यत्व से कर्तृत्व व्याप्त होता है अर्थात्–'यत्र कर्तृत्वं तत्र नित्यत्वम्' यानि जो कर्ता होता है वह नित्य होता है । तथा च––'बुद्धिः जन्या कृत्यादि-परिणामत्त्वात्' यह अनुमान, विरुद्ध––व्यभिचारी दोष से दूषित है । अतः नित्य कर्ता 'आत्मा' ही हो सकता है, 'बुद्धि' को नित्य कर्ता के रूप में नहीं माना जा सकता । कर्तृत्व में नित्यत्व की व्याप्यता कहने में कर्ता के अनादित्व का प्रतिपादक न्यायसूत्र "वीतरागजन्मादर्शनात्"––( न्या० सू० अ० ३, आ० १, सू० २५ ) भी प्रमाण है । वीत हुआ है ( नष्ट हुआ है ) राग ( मिथ्याज्ञानजन्यवासना ) जिसका, उस पुरुष के जन्म–( संसरण ) अदर्शनात् ( नहीं दिखाई देने से )–का अभाव हो जाता है । क्योंकि सराग पुरुष का ही जन्म होता है । निष्कर्ष यह निकलता है कि जो कृतिमान् ( कर्ता ) है, वही बचपन में ( बाल्यावस्था ) में इष्टसाधनताज्ञान के बिना स्तन्य ( दूध ) पान में प्रवृत्त नहीं होता, अपितु स्तन्यपान मेरे इष्ट ( जीवन ) का साधन है यह समझकर ही वह प्रवृत्त होता है । उस बालक को होने वाला वह इष्ट-साधनता-ज्ञान, ( दुग्ध-पान मेरे जीवन का साधन है–यह ज्ञान ) स्मरणात्मक ( स्मृतिरूप ) है, उस स्मरणात्मक ज्ञान ( स्मरण ) को 'संस्कार' की अपेक्षा होती है और 'संस्कार' को 'अनुभव' की अपेक्षा रहती है, और वह अनुभव पूर्वजन्म में ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि वर्तमानजन्म में सद्यः उत्पन्न हुए बालक को अभी अनुभव होने की कोई बात ही नहीं है । एवञ्च पूर्वजन्म सिद्ध होता है । इसी प्रकार पहली-पहली ( प्रथम-प्रथम ) प्रवृत्ति के अनुरोध से पूर्व जन्म की सिद्धि हो जाने से जन्म-प्रवाह की भी अनादिता माननी होगी और जन्म-प्रवाह के अनादि होने से 'पुरुष' की भी अनादिता ( उत्पत्त्यप्रतियोगित्व ) यानि पुरुष भी अनादि है–यह स्पष्ट हो जाता है । तब अनादि भावपदार्थरूप पुरुष का नाश होना सम्भव न होने से वह (अनादि पुरुष ) नित्य है, यह स्वीकार करना ही होगा । तथा च 'प्रकृति, महत्तत्व' आदि कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

सांख्यवादी––"न चे"ति । प्रकृति के अस्तित्व में स्मृतिप्रमाण ( शब्द प्रमाण ) दे रहा है–

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ।।"

( गीता, अ० ३, श्लोक २७ )

उक्त गीतावाक्य का अर्थ सांख्यवादी इस प्रकार करता है––

'प्रकृते'=प्रधानके 'गुणैः'=सत्त्व, रजस् और तमस् संज्ञक गुणों ( कर्ताओं ) के द्वारा 'क्रियमाणानि'=किये जाने वाले 'कर्माणि'=शुभाशुभ कर्मों के 'सर्वशः'= सब प्रकार से 'अहंकारविमूढात्मा'='अहंकर्ता' इस प्रकार अहंकार के कारण मोहित

हुआ आत्मा कर्ता न होता हुआ भी अपने को कर्ता समझता है। इस गीतावाक्य के साथ प्रकृति को न माननेवाले न्यायमत का ( पुरुषनिष्ठकर्तृत्ववादी का ) विरोध स्पष्ट है।

नैयायिक—उक्त गीतावाक्य का अर्थ अपने मत से प्रदर्शित करते हुए सांख्य-प्रदर्शित विरोध का परिहार करता है—"प्रकृते"रिति। उक्त गीतावाक्य में 'प्रकृति' शब्द का अर्थ 'प्रधान' नहीं है, अपितु 'धर्माधर्माख्य अदृष्ट' है और 'गुण' शब्द का अर्थ 'अदृष्टजन्यइच्छा आदि' है। कार्यमात्र के प्रति आठ साधारण कारण होते हैं। वे आठ कारण ये हैं—ईश्वर, उसका ज्ञान, यत्न, इच्छा, काल, अदृष्ट, दिक् और अभाव। ( प्रागभाव और प्रतिबन्धकाऽभाव )। उक्त—साधारण कारणों से अतिरिक्त जो कारण हैं, वे विशेष कारण हैं। ये साधारण और विशेष कारण मिलकर ही समस्त कार्यों को किया करते हैं। उन कार्यों का 'अहमेक एव कर्त्ता' मैं अकेला ही करने वाला कर्त्ता हूँ—इस प्रकार 'अहङ्कारेण विमूढः' अज्ञानावच्छिन्न आत्मा अपने को मानता है, किन्तु उसका इस प्रकार मानना ( समझना ) केवल भ्रम है। एवं च 'अहमेक एव कर्त्ता' इस वाक्य से आत्मा में स्वतन्त्र कर्तृत्वाऽभाव का ही प्रतिपादन किया गया है, कर्तृत्वसामान्याभाव का नहीं।

तथा च—अदृष्टादि की अपेक्षा बिना किये केवल आत्मा को कर्त्ता जो मानता है, वह मूढ ही है, यह अभिप्राय है। नैयायिक के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का बोधक गीता का अगला वाक्य दिया जा रहा है—"तत्रैवमिति"

"अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्" ॥
(गीता. अ. १८, श्लो. १४ )

"शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥"
( गीता. अ. ८, श्लो. १५ )

अधिष्ठान ( शरीर ), विज्ञानात्मा कर्ता, बाह्य और अवान्तर भेद से विभक्त इन्द्रियाँ, अनेक ( दश ) प्रकार के वायु के व्यापार ( प्राण आदि और नाग आदि ) तथा पाँचवाँ दैव—ये पाँच कर्म की उत्पत्ति के कारण हैं ॥१४॥ शरीर वाणी और मन से जिस कर्म का पुरुष आरम्भ करता है, वह चाहे विहित हो या प्रतिषिद्ध हो, उसके उक्त पाँच ही हेतु हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार पाँचों का कर्तृत्व बताकर—

"तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥"
—( गीता, अ. १८, श्लोक १६ )



उक्त रीति से अधिष्ठान आदि पाँच ही सम्पूर्ण कर्मों के उत्पादक हैं, ऐसा—निष्कर्ष निकलने पर जो पुरुष, अकर्ता, शुद्ध आत्मा को कर्ता मानता है, वह आत्म-तत्त्वज्ञान से शून्य होने के कारण दुर्मति है, अतः वह आत्मा को नहीं जानता।१६।

उक्त वाक्य के द्वारा आत्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व का ही निषेध किया है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मा में कर्तृत्व है यह आशय प्रकट किया है। अतः पुरुष में ही कर्तृत्व मानना चाहिये।

शंका—पुरुष में कर्म की कारणता न होने से उसमें कर्तृत्व कैसे हो सकता है ?

समा०—कर्तृत्व न मानने पर उसका स्वरूप ही असिद्ध होगा।

शंका—इस प्रकार कार्य-कारण का अभेद मानने पर पुरुष का विनाश होगा।

समा०—कार्य-कारण का अभेद मानने में कोई प्रमाण नहीं है। एवं च आत्मा के बिना अचेतन ( जड ) प्रकृति, जगत् की कर्त्री नहीं हो सकती। इस प्रकार सांख्य-मत का संक्षेप से ही खण्डन किया गया है[1]।

॥ इति सांख्यमतखण्डनम् ॥

---

१. छात्रों के बुद्धिवैशद्यर्थ सरल एवं सुबोध रीति से सांख्यदर्शन का सिद्धान्त एवं उसका नैयायिकों के द्वारा खण्डन पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं—

( चेतन ) पुरुष, १ प्रधान, २ महत्तत्व ( बुद्धि ), ३ अहंकार, ४ शब्द ५ स्पर्श, ६ रूप, ७ रस, ८ गन्ध—ये पञ्चतन्मात्रा,, ९ आकाश, १० वायु, ११ तेज १२ जल, १३ पृथ्वी—ये पञ्चमहाभूत, १४ श्रोत्र, १६ त्वक्, १६ चक्षु, १७ रसनं, १८ घ्राण ये पञ्चज्ञानेन्द्रिय, १९ वाक्, २० पाणि, २१ पाद, २२ उपस्थ, २३ पायु—ये कर्मेन्द्रिय, २४ मन—ये उभयेन्द्रिय, दोनों को मिलाकर ग्यारह इन्द्रियाँ हैं।—ये ही पच्चीस (२५) तत्व सांख्यदर्शन के हैं। 'तत्व' का अर्थ पदार्थ है। ये तत्व १ केवल प्रकृति (कारण), २ प्रकृति-विकृति (कारण,कार्य), ३ केवल विकृति (कार्य), ४ अप्रकृति (अकारण) तथा अविकृति (अकार्य) के भेद से चार प्रकार के हैं। यहाँ उपादानकारण का नाम 'प्रकृति' है और कार्य का नाम 'विकृति' है।

सत्व, रज, तम नामक गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रधान ( प्रकृति ) है। वह 'प्रधान' एक, अनादि तथा किसी की विकृति नहीं है। प्रधान से महत्तत्व उत्पन्न होता है। महत्तत्व को ही बुद्धि तथा अन्तःकरण भी कहते हैं। उससे अहंकार की उत्पत्ति होती है। वह महत्तत्व, अहंकार की प्रकृति है तथा प्रधान की विकृति है। अहंकार से पंचतन्मात्रा तथा एकादश इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं, अतः अहंकार तन्मात्रा और इन्द्रियों की प्रकृति है और महत्तत्व की विकृति है। पंचतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। अतः तन्मात्रा, पञ्चमहाभूतों की प्रकृति है तथा अहंकार की विकृति है। इस रीति से महत्तत्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा इन सप्ततत्वों

के प्रकृति-विकृति दोनों रूप हैं। पञ्चमहाभूत, एकादशेन्द्रिय—ये १६ तत्व पञ्चतन्मात्रा तथा अहंकार के केवल विकृतिरूप हैं तथा ये किसी कार्य के प्रकृति नहीं होते।

प्रश्न—पृथ्वी आदि पंचभूतों के गो-वृक्ष आदि तथा इनके भी दुग्ध-बीज आदि पुनः इनके भी दधि-अंकुर आदि विकार प्रत्यक्ष दीखते ही हैं, अतः ये भी प्रकृति हो गये, तब इन्हें भी प्रकृति न कहकर केवल विकृति क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—जैसे पृथ्वी आदिकों में स्थूलता तथा इन्द्रियग्राह्यता धर्म रहते हैं वैसे ही उन गो-वृक्षादिकों में भी स्थूलता, इन्द्रियग्राह्यता धर्म हैं, इस कारण वे सब पृथ्वी आदि के ही रूपान्तर हैं। यहाँ 'प्रकृति' शब्द से 'अन्यतत्त्व' की उपादान-कारणता विवक्षित है, कार्यमात्र की कारणता नहीं। 'पुरुष' तो न किसी का प्रकृति है और न किसी का विकृति है। कोई 'पुरुष' बद्ध है और कोई मुक्त है, ऐसा अनुभव होने से वह पुरुष ( आत्मा ) अनेक है, एक नहीं है। 'पुरुष' चेतन, नित्य और पद्मपत्र ( कमलपत्र ) की तरह निर्लेप है तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्मों का आश्रय भी नहीं है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'पुरुषः कर्तृत्वाऽभाववान् कारणत्वाभाववत्वात् यन्नैवं तन्नैवम् यथा बुद्धिः।' बुद्धि—कर्तृत्व तथा कारणत्वधर्मवाली है, किन्तु 'पुरुष' वैसा नहीं है। इस कारण पुरुष में कर्तृत्व का अभाव होने से भोक्तृत्व भी नहीं हो सकता। जहाँ कहीं सांख्यदर्शन ने 'आत्मा' को भोक्ता कहा है, वहाँ बुद्धिनिष्ठ 'भोक्तृत्व' का ही उस पर आरोप उसने किया है। यदि 'पुरुष' को घटादि कार्य का उपादान माना जायेगा तो उन कार्यों का नाश होने पर 'चेतन पुरुष' का भी नाश होने लगेगा। किन्तु भगवती गीता ने 'अज आत्मा' को 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' कहकर नित्य बताया है। उस निर्विकार चेतन पुरुष में अनुमान प्रमाण भी है। यथा—'चेतनोऽहं करोमि'—चेतनरूप मैं कर्ता हूँ—। इससे चेतनता ( चैतन्य ) धर्म का आश्रय पुरुष है, यह स्पष्ट है। किन्तु 'बुद्धि' जड़ है। यद्यपि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्यया च विमुच्यते' इस प्रमाण से जीवात्मा को ही बन्ध-मोक्ष का भागी कहा गया है, तथापि उसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि, चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा बाह्य घटादि के देश में प्राप्त होती है, तब उसका ( बुद्धि का ) 'अयं घटः' इस रूप में घटादि-विषयाकार परिणाम होता है। इन परिणाम को ही 'वृत्तिज्ञान' कहते हैं। इस वृत्तिज्ञान के सम्बन्ध ( स्वाकार-ज्ञानपरिणामिबुद्ध्याऽगृहीतभेदकत्व ) से वह विषय, उस 'पुरुष' में रहता है। 'मम १, इदम् २, कर्तव्यम् ३, इस प्रतीति से उस बुद्धि में 'पुरुष' का सम्बन्ध तथा 'घटादि विषयों' का सम्बन्ध और 'वृत्तिज्ञानरूप व्यापार' का सम्बन्ध—ये तीन सम्बन्ध तीन अंशों ( 'मम' अंश पुरुष का, दूसरा अंश विषय का, तीसरा अंश व्यापार का है ) में प्रतीत होते हैं।

नैयायिक—( शंका ) जैसे 'कृति' के साथ सुख दुःखादिकों का सामानाधिकरण्य होने से वे ( सुखदुःखादि ) बुद्धि के धर्म कहलाते हैं, वैसे ही चेतनत्व ( चैतन्य ) धर्म



का भी ( ज्ञान का भी ) 'कृति' के साथ सामानाधिकरण्य होने से उसको ( चैतन्य को ) भी बुद्धि का ही धर्म क्यों नहीं माना जाता ?

सांख्य ( समा० ) - बुद्धि परिणामिनी है, इस कारण उसे चेतन नहीं कह सकते। यदि परिणामी वस्तु ( पदार्थ ) भी चेतन होने लगे तो मृत्तिका आदि पदार्थों को भी चेतन कहना चाहिए। 'बुद्धिः न चेतना परिणामित्वात् मृद्वत्' इस अनुमान से बुद्धि में अचेतनरूपता ( जडरूपता ) ही स्पष्ट होती है। 'चेतनोऽहं करोमि' यह प्रतीति बुद्धि को होती है, वह लोहितस्फटिक के समान भ्रान्ति ही है। अर्थात् पुरुष को 'मैं कर्ता हूँ' और बुद्धि को 'मैं चेतन हूँ' यह अभिमान जो होता है, उसका कारण यह है कि बुद्धि और पुरुष में भिन्नता का ज्ञान नहीं हो पाता।

नैयायिक—उपर्युक्त सांख्यवादी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे कृति, अदृष्ट, भोग तीनों का सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है, वैसे ही 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रतीति में भी चेतनता तथा कृति का सामानाधिकरण्य प्रतीत हो ही रहा है। क्योंकि चेतनता ( चैतन्य ) 'ज्ञान' से अलग कोई वस्तु नहीं है, और जो चेतन होता है वही कर्ता भी होता है। क्योंकि 'चेतनोऽहं करोमि' यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति ( अनुभव ) के बल पर चेतन का ही कर्तृत्व सिद्ध हो रहा है। कर्ता से भिन्न 'चेतन' मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

सांख्यवादी 'चेतनोऽहं करोमि' इस प्रतीति को चैतन्यांश में भ्रम मानता है—क्योंकि चेतन तो 'पुरुष' है, तब नैयायिक उससे ( सांख्यवादी से ) कहता है कि कृति ( कर्तृत्व ) अंश में भी तुम भ्रम क्यों नहीं मानते ? अर्थात् कर्तृत्व ( कृति ) को भी चेतन पुरुष का ही धर्म मान लो। जो चेतन होता है वही कर्ता होता है। चेतन होना द्रव्य का ही स्वभाव है, 'बुद्धि' द्रव्य नहीं है, वह तो ज्ञानरूप है। किञ्च—सांख्यवादी का यह अनुमान 'बुद्धिः न चेतना परिणामित्वात् मृद्वत्' भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'बुद्धिः कर्तृत्वाऽभाववती जन्यत्वात् घटवत्'—जैसे 'घट' जन्य होने से कर्तृत्वाऽभाव वाला है, वैसे ही बुद्धि भी जन्य होने से कर्तृत्व के अभाव वाली होगी इस अनुमान के बल पर पूर्वोक्त 'चेतनोऽहं करोमि' इत्याकारक अनुभव को भी कृति अंश में भ्रमरूप मानना ही उचित है। सांख्यवादी बुद्धि को अतिरिक्त द्रव्य मानकर उसके ( बुद्धि के ) सत्त्व ( होने ) असत्त्व ( न होने ) से पुरुष को संसार और मोक्ष बताता है। किन्तु हम ( नैयायिक ), सांख्यवादी से पूछते हैं कि तुम्हारी कर्तारूप, द्रव्यात्मिका बुद्धि, नित्य है या अनित्य ? यदि सांख्यवादी उसे नित्य कहता है तो बुद्धि के सत्त्वाधीन यह संसार पुरुष को सर्वदा बना रहेगा, कभी मोक्ष का प्रसंग ही नहीं आवेगा, अब कोई मुमुक्षु मोक्षार्थ यत्न भी क्यों करेगा ? अर्थात् कोई भी मुमुक्षु मोक्षार्थ यत्न नहीं करेगा।

यदि बुद्धि को अनित्य कहता है तो बुद्धि की उत्पत्ति से पूर्व, पुरुष को संसार नहीं होना चाहिए । यदि सांख्यवादी इसमें इष्टापत्ति माने तो वह संभव नहीं, क्योंकि बुद्धि की उत्पत्ति के पूर्व जो पुरुष असंसारी थे, वे ही बुद्धि की उत्पत्ति के अनन्तर संसारी हो जायेंगे तथा मुक्त हुए पुरुष भी पुनः संसारी होने लगेंगे। और बुद्धि की उत्पत्ति से पूर्व पुण्य-पापरूप अदृष्ट का अथवा अदृष्टजनक विहित-निषिद्ध क्रिया का भी अभाव होगा । अतः बुद्धि में कर्तृत्व नहीं है, किन्तु चेतन आत्मा में ही कर्तृत्व है । किञ्च—बुद्धि में जो चेतनपुरुष का प्रतिबिम्बरूप अतात्त्विक सम्बन्ध माना है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि रूपवान् पदार्थ में ही रूपवान् पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ा करता है, इस कारण रूपरहित बुद्धि में रूपरहित पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ना भी संभव नहीं है ।

किञ्च—सांख्यवादी प्रधान ( प्रकृति ) को चेतना से रहित ( जड़ ) मानता है किन्तु उसे चेतन पुरुष के आश्रित नहीं मानता । ऐसी परिस्थिति में जड़ प्रधान, महदादि कार्यों को कैसे उत्पन्न करेगा ? लोक व्यवहार में तो मृत्तिका, सुवर्ण आदि अचेतन पदार्थ, कुलाल, स्वर्णकार आदि चेतन के आश्रित होकर घट, सुवर्णालंकारादि कार्यों की उत्पत्ति करने में प्रवृत्त होते हैं ।

सांख्यवादी—जैसे 'दुग्ध' अचेतन होकर भी वत्सविवृद्धि के निमित्त गौ के स्तन से स्वयं अपने आप प्रवृत्त होता है, वैसे ही 'अचेतन प्रधान' भी पुरुष के भोग-अपवर्ग ( मोक्ष ) के निमित्त स्वयं प्रवृत्त होता है, उसे किसी चेतन के आश्रित होने की आवश्यकता नहीं है ।

नैयायिक—अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति में चेतन गौ का स्नेहरूप व्यापार तथा चेतन वत्स का चूसना ( चोषण ) रूप व्यापार ही कारण है ।

सांख्यवादी—''प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥' इस गीतावचन से प्रधान में ही 'कर्तृत्व' सिद्ध होता है और चेतन पुरुष में कर्तृत्व का अभाव सिद्ध होता है ।

नैयायिक—उक्त गीतावाक्य में 'प्रकृति' शब्द से पुण्य-पापरूपी अदृष्ट लिया गया है, उसी तरह तज्जन्य इच्छादि गुणों को भी समझना चाहिये । यदि ऐसा न माना जाय तो—''अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥'' ''शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः । न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥'' ''तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥'' —इन अठारहवें अध्याय के श्लोकों से विरोध होगा । सुख-दुःख के भोग का आयतन तथा नेत्रादि करणों का आश्रय जो शरीर है, उसी को अधिष्ठान कहते हैं । इच्छादि गुणों वाले आत्मा को कर्ता तथा चक्षुरादि इन्द्रियों को 'करण' कहा गया है । प्राणादिकों का नाम 'चेष्टा' है । पुण्य पापरूप अदृष्ट का नाम 'दैव' है । यह 'जीवात्मा, शरीर, मन, वाणी से



**धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः ॥ ४९ ॥**

( १ ) अध्यक्षः=प्रत्यक्षः, ( २ ) विशेषगुणयोगतः=विशेषगुणसम्बन्धात् ।

जीवात्मा, पुण्य-पाप का आश्रय है, इस कारण—पुण्य-पाप दोनों आत्मा में उत्पन्न होते हैं, एवं सुख-दुःखादि विशेष गुणों के सम्बन्ध से आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है ।

धर्माधर्माश्रय इति । आत्मेत्यनुषज्यते । शरीरस्य तदाश्रयत्वे देहान्तरकृत-कर्मणां देहान्तरेण भोगानुपपत्तेः ।

विशेषगुणयोगत इति । योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानसुखादेः सम्बन्धेनात्मनः प्रत्यक्षत्वं सम्भवति, न त्वन्यथा, अहं जाने अहं करोमीत्यादिप्रतीतेः ॥४९॥

॥ इत्यात्मनि प्रमाणकथनम् ॥

यह आत्मा धर्माधर्म का आश्रय अर्थात् समवायेन अधिकरण है । धर्माधर्म का आश्रय, 'शरीर' को ही क्यों न माना जाय ? ऐसी शंका यदि कोई करे तो 'शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः' इस प्रमाण से पुण्य-पाप का आश्रय 'शरीर' नहीं है', यह पहले कह चुके हैं, तथापि छात्रों को पुनः स्मरण दिलाने के लिये दुबारा कह रहे हैं कि ''शरीरस्येति ।'' शरीर को ही पुण्य-पाप का यदि आश्रय मानें तो पूर्वजन्म के शरीर से उत्पन्न होने वाले ( किये गये ) कर्मों के फल का उपभोग दूसरे शरीर में भी—होने लगेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं । तथा च कृतविप्रणाश और अकृताभ्यागम का प्रसंग प्राप्त होगा । भाष्यकार ने

---

जिन-जिन विहित-निषिद्ध कर्मों को करता है, उन कर्मों के अधिष्ठानादि पाँच ही कारण होते हैं । इन पाँचों के होने पर भी जो अविवेकी पुरुष केवल 'आत्मा' को ही कारण मानता है, वह दुर्मति असम्यग्दर्शी है । उक्त गीतावाक्यों से भी चेतनकर्ता ही सिद्ध होता है । अतः जड प्रकृति को कर्त्री नहीं मान सकते ।

॥ इति सांख्यमतमण्डनन्तत्खण्डनञ्च ॥

१. अभिप्राय यह है—पुण्य-पाप ये दोनों आत्मा के गुण हैं, यह सिद्धान्त है । जो आत्मा, जिस शरीर से पुण्य-पाप करता है उस शरीर के नाश होने पर भी वही आत्मा दूसरे शरीर में जाकर पुण्य-पाप का फल भोगता है, यह सर्वसम्मत है । अब पुण्य-पाप को शरीर का गुण कहा जाय तो, उन पुण्य-पापों का कर्ता जो शरीर होगा उसके नष्ट होने से अर्थात् पुण्य-पाप के फल का भोक्ता उस शरीर के अभाव में उस फल को कौन भोगेगा ? यदि जन्मान्तरीय दूसरे शरीर से उसे भोगा जायगा कहें, तो यह कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि एक के किये हुए कर्म ( पुण्य-पाप ) का फल दूसरे को भोगना संभव नहीं । जिसने जो कर्म किया है, उस कर्म का फल उसे ही भोगना होता है, यह सर्वसम्मत है ।

अतः आत्मा को ही उन कर्मों का कर्ता तथा आश्रय मानना उचित है ।

इसी अभिप्राय को 'शरीरदाहे पातकाभावात्'—( न्या. सू. ३।१।४ ) सूत्र के भाष्य में अच्छी तरह स्पष्ट किया है। "विशेषगुणयोगत" इति। मानसप्रत्यक्ष-योग्य ज्ञान, सुख-दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि विशेष गुणों के समवायसम्बन्ध से आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। "नत्वन्यथेति" विशेष गुणसम्बन्ध[1] के बिना आत्मा का मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उस मानस प्रत्यक्ष प्रतीति का आकार यह है—'अहं जाने' मैं ज्ञानवान् हूँ, 'अहं सुखी, अहं दुःखी, अहमिच्छामि, अहं द्वेष्मि, अहं प्रयते, अहं करोमि।' इत्याकारक प्रतीतियों से ज्ञानकर्तृत्व का आश्रय होने से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् मैं ज्ञानवान् हूँ, सुखी हूँ—इत्याद्याकारक जो प्रतीति होती है, वह तत्तद्गुणनिष्ठप्रकारतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नात्मनिष्ठविशेष्यताक होती है। इस प्रकार प्रतीति होना ही मानस-प्रत्यक्ष है। इस प्रतीति (मानस प्रत्यक्ष) में विशेष्यतया आत्मा विषय रहता है ॥४९॥

**प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथीः ।**
**अहङ्कारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः ॥ ५० ॥**
**विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान् ।**

जैसे रथ के चलने से यह ज्ञात होता है कि इस रथ में अवश्य सारथि होगा, उसी प्रकार दूसरे पुरुष के शरीर की चेष्टा से उसके ( दूसरे के ) शरीर में भी आत्मा अवश्य होगा, यह अनुमान होता है।

यह 'आत्मा' अहङ्कार का आश्रय है और उसका मानसप्रत्यक्ष होता है।

प्रवृत्त्येति अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते। प्रवृत्तिरत्र चेष्टा। ज्ञानेच्छायत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वाच्चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यत्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्मानुमीयत इति भावः।

अत्र दृष्टान्तमाह—रथेति। यद्यपि रथकर्म चेष्टा न भवति, तथापि तेन कर्मणा सारथिर्यथाऽनुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्मानुमीयते इति भावः।

॥ इति परदेहादौ आत्मनि प्रमाणकथनम् ॥

---

१. १ ज्ञान, २ सुख, ३ दुःख, ४ इच्छा, ५ द्वेष, ६ प्रयत्न इन छहों को आत्म-विशेषगुण माना जाता है। इनमें से किसी एक गुण के सम्बन्ध से आत्मा का मानसप्रत्यक्ष होता है। अर्थात् मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं इच्छावान् हूँ, मैं द्वेषवान् हूँ, मैं प्रयत्नवान् हूँ, इस प्रकार ज्ञानादि गुणों के सम्बन्ध से ही आत्मा का मानसप्रत्यक्ष होता है। यद्यपि धर्म, अधर्म, भावनाख्यसंस्कार ये तीनों भी आत्मा के ही विशेषगुण हैं, तथापि ये तीनों गुण प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं। अर्थात् मैं धर्मी हूँ, मैं अधर्मी हूँ, मैं संस्कारी हूँ—इस रीति से जीवात्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु शास्त्रप्रमाण से ये तीन जीवात्मा के गुण हैं, ऐसा माना जाता है। अथवा कार्यरूप हेतु से इन तीनों का अर्थात् सुखरूप कार्य से धर्म का, दुःखरूप कार्य से अधर्म का, स्मृतिरूप कार्य से संस्कारों का अनुमान होता है।



अहङ्कारस्येति। अहङ्कारोऽहमितिप्रत्ययस्तस्याश्रयो विषयः आत्मा, न शरीरादिरिति भावः।

मन इति। मनोभिन्नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षाविषयो मानसप्रत्यक्षविषयश्चेत्यर्थः। रूपाद्यभावेनेन्द्रियान्तरायोग्यत्वात् ॥ ५० ॥

यद्यपि प्रत्येक को अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष है, तथापि दूसरे के शरीर में वैसा प्रत्यक्ष किसी को नहीं हो पाता, अतः अन्यशरीर में उस आत्मा का ज्ञान अनुमान से करना सरल रहता है, इसलिये 'अयमात्मेति'। परकीय शरीर आदि की प्रवृत्तिजन्य चेष्टा से उसके ( परकीय ) शरीर में 'आत्मा' है, ऐसा अनुमान किया जाता है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'परकीयशरीरम् अवच्छेदकतासम्बन्धेन प्रयत्नवत् चेष्टावत्त्वात् मच्छरीरवत्' इस अनुमान से समझ में आ जाता है कि जो प्रवृत्ति का आश्रय है वह चेतन है, शरीर नहीं, शरीर में प्रवृत्ति नहीं रहती, वह तो आत्मा में रहती है। 'परदेहादौ' यहाँ 'आदि पद से वीणा आदि का परिग्रह किया गया है ऐसी प्राचीन प्रभाकार का कथन है। अनुमानप्रयोग—'परकीयवीणातन्त्री' स्वप्रयोज्याभिघाताख्यसंयोगसम्बन्धेन प्रयत्नवती, अवच्छेदकतासम्बन्धेन पञ्चमादिस्वरवत्त्वात्, अस्मदीयताल्वोष्ठादिवत्' इस प्रयोग से भी प्रयत्नवान् आत्मा ही सिद्ध होता है। परकीय प्रवृत्ति आदि धर्म अतीन्द्रिय होने से उसका ( हेतु का ) ज्ञान होना सम्भव नहीं, तब तो 'हेतु' में स्वरूपासिद्धि दोष आ जायेगा। इसलिए कहा गया है "प्रवृत्तिरत्र चेष्टे"ति। अर्थात् एतद्वाक्यघटक-प्रवृत्ति पद का लक्ष्यार्थ 'चेष्टा' है। तथा च—'देवदत्तशरीरं चेतनाधिष्ठितम् प्रवृत्तिमत्त्वात् रथवत्' यह अनुमान देवदत्त शरीर में चेतनाधिष्ठितत्व सिद्ध कर देगा। हिताऽहितप्राप्तिपरिहारानुकूलक्रिया को 'चेष्टा' कहते हैं। मुक्तावलीकार ने 'ज्ञानेच्छायत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वात्' कहा है। यहाँ 'उक्तप्राय' का अभिप्राय यह है कि 'शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः' के द्वारा चार्वाकमत का खण्डन करते समय यह सिद्ध कर दिया था कि ज्ञानेच्छाप्रयत्नादिधर्म, देह में नहीं रहते, यानि शरीर में उनका अभाव है। वहाँ पर इच्छा आदि के अभाव को कण्ठतः न कहने के कारण प्रायः पद दिया है। चेष्टा को प्रवृत्तिज्ञान का जनक तभी कह सकते हैं, जब चेष्टा और प्रवृत्ति दोनों में कार्य-कारणभाव हो। अतः "चेष्टायाश्चेति"। 'प्रवृत्ति' ( प्रयत्न ) का कार्य 'चेष्टा' है, अतः कार्यरूप चेष्टा के द्वारा कारणरूप प्रयत्न ( प्रवृत्ति ) का अनुमान किया जा सकता है, और उससे परकीय शरीर में आत्माधिष्ठितत्व का अनुमान किया जाता है—'परकीयशरीरम् आत्माधिष्ठितं तद्गुण-प्रयत्नवत्त्वात्'। इस रीति से जड शरीर का अधिष्ठाता प्रयत्नवान् चेतन आत्मा सिद्ध होता है। इसमें दृष्टान्त देते हैं—"रथेती"ति। 'रथः प्रयत्नवत्सारथ्यधिष्ठितः, अनुकूलक्रियावत्त्वात्' इस अनुमान से जिस प्रकार रथ, सारथि से अधिष्ठित ज्ञात होता है, वैसे ही शरीर को भी चेतन से अधिष्ठित समझना

चाहिए। उपर्युक्त अनुमान में 'अनुकूलक्रियावत्त्वात्' न कहकर यदि 'चेष्टा'-वत्त्वात्' कहें तो वह 'स्वरूपासिद्ध' हेतु ( हेत्वाभास ) कहलायेगा। क्योंकि रथ की ( में ) गति ( गमनक्रिया ), हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूलक्रियात्मकचेष्टा-स्वरूप नहीं है, अतः पक्ष ( रथ ) में 'चेष्टावत्त्व' हेतु के न रहने से 'स्वरूपासिद्धि' दोष हो जायगा। इसीलिये ऊपर कहा था कि 'प्रवृत्ति' पद लक्षणा के द्वारा प्रवृत्तिजन्यगमनात्मकक्रिया को बताता है। एवं च दृष्टान्त में गत्यात्मक ( चलनात्मक ) रथक्रिया ( कर्म ) रूपी चेष्टा से सारथी का अनुमान किया जाता है[1]। इस दृष्टान्त के अनुसार चेष्टारूप कर्म से अन्यदीय देह में आत्मा का अनुमान किया जाता है। यदि कहे कि जड़ रथ में इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारानुकूलव्यापाररूप चेष्टा के न रहने से 'दृष्टान्ताऽसिद्धि' दोष है, तो उसके निवारण के लिये उत्तर-देशसंयोगयोग्यक्रिया' को चेष्टा पद से विवक्षित किया गया है, यह समझना चाहिये। क्योंकि दृष्टान्त सार्वदेशिक नहीं हुआ करता है, वह तो किसी एक देश में चरितार्थ होता है।

"अहङ्कारस्येति।" 'अहम्' इत्याकारक प्रत्यय को 'अहङ्कार' कहते हैं। 'अहम्' इस प्रतीति ( प्रत्यय ) का विषय 'आत्मा' ही है। अर्थात् 'आत्मा' में ही कर्तृत्व होने से 'अहम्' इस शब्द से बोध्य भी 'आत्मा' ही होगा। इसी अभिप्राय को "न शरीरादिः" कहकर स्पष्ट किया गया है। 'अहम्' इस प्रतीति के विषय 'शरीर, इन्द्रिय, मन, विज्ञान आदि' नहीं हैं। "मनोभिन्नेन्द्रिय" इति। 'आत्मा' का प्रत्यक्ष, मन के अतिरिक्त ( मन से भिन्न ) इन्द्रियों से नहीं होता। अर्थात् मनोभिन्न चक्षुरादि इन्द्रियों से उसका ( आत्मा का ) प्रत्यक्ष नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मनोभिन्नचक्षुरादीन्द्रियजन्यप्रत्यक्षनिरूपितलौकिकविषयताशून्यत्वे सति मानसत्वावच्छिन्ननिरूपितलौकिकविषयतावान् यह आत्मा है।

---

१. शंका—यद्यपि अपने-अपने शरीर में सभी को जीवात्मा का प्रत्यक्ष होता है, तथापि अन्य शरीरस्थित जीवात्मा का मानसप्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे देवदत्त को यज्ञदत्त की आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता।

समा०—अन्य शरीर में चेष्टारूप हेतु से जीवात्मा का अनुमान किया जाता है। तथा हि—'इदं शरीरं चेतनाधिष्ठितं चेष्टावत्त्वात् रथवत्'।

शंका – हितप्राप्ति के निमित्त जो क्रिया होती है, उसे 'चेष्टा' कहते हैं। ऐसी चेष्टा, चेतनप्राणि में ही हो सकती है, जड़रथादिकों में नहीं। अतः रथ का दृष्टान्त असिद्ध है।

समा०—यद्यपि रथादि जडपदार्थों में हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूलक्रिया-रूप चेष्टा का होना संभव नहीं है, तथापि रथव्यापार से सारथि का जैसे अनुमान होता है, वैसे ही प्रयत्नजनित चेष्टारूप कर्म से परशरीरस्थ आत्मा का भी अनुमान किया जा सकता है। तथा च 'प्रवृत्तिमत्त्व' का तात्पर्य 'उत्तरदेशसंयोगयोग्यक्रियावत्त्व' में ही समझना चाहिये।



शंका—चक्षुरादि इन्द्रियों से उसका ज्ञान क्यों नहीं होता ?

समा०—'रूपाद्यभावेनेति।' मन से भिन्न चक्षुरादि सभी इन्द्रिय रूपरसादि-विशिष्ट पदार्थों का ही ज्ञान कराते हैं। 'आत्मा' में रूप-रस आदि गुण न होने से वह चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं है, क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्षादि में समवायेन रूपादि कारण होते हैं ॥ ५० ॥

यह जीवात्मा विभु ( व्यापक ) है तथा १ बुद्धि, २ सुख, ३ दुःख, ४ इच्छा, ५ द्वेष, ६ प्रयत्न, ७ धर्म, ८ अधर्म, ९ संस्कार ( भावना ), १० संख्या, ११ परिमाण, १२ पृथक्त्व, १३ संयोग और १४ विभाग आदि चतुर्दश गुणों, वाला है।

**'विभुरिति' विभुत्वं परममहत्त्ववत्त्वम्। तच्च पूर्वमुक्तमपि स्पष्टार्थमुक्तम्। बुद्ध्यादीति। बुद्धिसुखदुःखेच्छादयश्चतुर्दश गुणाः पूर्वमुक्ता वेदितव्याः।**

॥ इत्यात्मस्वरूपकथनम् ॥

शंका—प्रत्यक्ष होने में रूपादि को कारण बताया है, 'विभुत्व' को तो कारण नहीं बताया गया है और 'आत्मा' तो विभु है तथा रूपादि का उसमें अभाव है। तब उसका बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष कैसे होगा ?

समा०—'विभु' शब्द की परममहत्परिमाण में लक्षणा करनी चाहिये। तब अर्थ होगा—'समवायसंबंध से परममहत्परिमाणवाला'। विभुत्व का अर्थ 'परम-महत्त्व' है, यह पहले ( का. २६, ३२–३३ ) कह चुके हैं, तथापि स्पष्टता के लिये ( स्मरणार्थ ) पुनः कहा गया है, अतः इसे पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये। अथवा 'विभुत्वम्' का अर्थ व्यापकत्वम् अर्थात् अत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्व समझ लीजिए। 'बुद्ध्यादीति।' आत्मा के चौदह गुणों के नाम ये हैं बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग। इन चौदह गुणों को 'बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा। धर्माधर्मौ गुणाश्चैते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश ॥' इस बत्तीसवीं कारिका के द्वारा पहले बता दिया गया है।

आजकल के कतिपय आधुनिक लोग न्यायसिद्धान्तमुक्तावली को कपोलकल्पित कह देते हैं, परन्तु उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि मुक्तावली के सिद्धान्त सूत्रकार ऋषि के सिद्धान्तों के आधार पर ही किये गये हैं। तथा हि—आत्मवाद के सिद्धान्त के सम्बन्ध में वैशेषिक सूत्रकार महर्षि कणाद कहते हैं—"प्राणापान-निमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि"। ( वै० सू० अ० ३। आ० २। सू० ४ )

॥ इति प्रत्यक्षखण्डे द्रव्य-निरूपणपरिच्छेदः ॥

इति बालप्रियासनाथायां मुक्तावल्यामात्मस्वरूपनिरूपणात्मिका
द्वितीयप्रकरणलक्षणा तृतीया मुक्ता ॥

## अथ प्रत्यक्षखण्डे बुद्धिनिरूपणं नाम तृतीयं प्रकरणम्

**बुद्धिस्तु द्विविधा मता ।**
**अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ॥ ५१ ॥**
**प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे ।**

ऊपर कह चुके हैं कि परम-महत्परिमाणवाला ( विभुपरिमाणवाला ) आत्मा बुद्धि ( ज्ञान ) आदि गुणवाला है। प्रसंगप्राप्त बुद्धि ( ज्ञान ) के भेद बताने के लिए "बुद्धिस्तु द्विविधा मता" कहा गया है। बुद्धि ( ज्ञान ) दो प्रकार की मानी गई है एक 'अनुभूति' और दूसरी 'स्मृति'। उनमें 'अनुभूति' ( अनुभव ) चार प्रकार की होती है। तथा हि प्रत्यक्षप्रमिति, अनुमिति, उपमिति और शब्दजा ( शाब्दबोध )।

अत्रैव प्रसङ्गाद् बुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति। बुद्धिस्त्विति। द्वैविध्यं व्युत्पादयति—अनुभूतिरिति। अनुभूतिश्चतुर्विधेति। एतासां चतसृणां करणानि चत्वारि–'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानी'ति सूत्रोक्तानि वेदितव्यानि ॥५१॥

शंका—आत्मनिरूपण के बाद 'मनोनिरूपण' करना चाहिए था, क्योंकि कारिकाकार ने प्रारम्भ में ही तीसरी कारिका 'क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्-देहिनो मनः द्रव्याणि' के द्वारा आत्मा ( देहि ) के अनन्तर 'मन' का परिगणन किया है। किन्तु मनोनिरूपण न करते हुए 'बुद्धि' संज्ञक गुण का निरूपण क्यों किया जा रहा है?

समा०—"अत्रैव प्रसङ्गादिति।" आत्मनिरूपण के अनन्तर ही बुद्धिनिरूपण करना प्रसङ्गतः प्राप्त हुआ है। अर्थात् प्रसङ्गसंगति से बुद्धिनिरूपण किया जा रहा है। 'स्मृतस्य उपेक्षाऽनर्हत्वम्प्रसङ्गः,—स्मृत हुए की उपेक्षा न करने को 'प्रसङ्ग' कहते हैं। 'आत्मा' में समवायसम्बन्ध से 'बुद्धि' गुण रहता है। अतः 'आत्मनिष्ठसमवायावच्छिन्नवृत्तित्व सम्बन्ध' से बुद्धि का स्मरण हो आने से बुद्धि का निरूपण किया जा रहा है। बुद्धेः 'कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति' कहकर ग्रन्थकार यह बताना चाह रहे हैं कि आगे चलकर १२६ वीं कारिका "अप्रमा च प्रमा चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते" के द्वारा बुद्धि ( ज्ञान ) के 'प्रमा' और 'अप्रमा' के रूप में दो ही भेद बताये हैं उसके अन्य धर्मों के द्वारा अन्य भेद नहीं बताये हैं इसलिये 'कतिपयम्' कहा गया है। 'कतिपय' का अर्थ ईषत् है और 'प्रपञ्च' शब्द का अर्थ 'धर्म' है। ईषत् का धर्म के साथ अभेदान्वय है। 'दर्शयति' का अर्थ ज्ञानजनकशब्दानुकूल कृतिमान् है। धर्म का ज्ञान के साथ अन्वय है। 'बुद्धेः' की षष्ठीविभक्ति का अर्थ विशेष्यत्व है। एवञ्च 'बुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति' इस सम्पूर्ण वाक्य का शाब्दबोध यह होगा—'बुद्धिविशेष्यक-ईषदभिन्न-अवान्तर



धर्मप्रकारज्ञानजनकशब्दानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकारः। इस प्रकार बुद्धि की द्विविधता को बताया 'अनुभूतिरिति।' 'अनुभूतिश्चतुर्विधेति।' उनमें से अनुभूति चार प्रकार की है। इन चारों अनुभूतियों ( बुद्धियों-ज्ञानों ) के कारण १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ शब्द हैं। 'एतासामिति।' इन प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति शाब्दबोध संज्ञक चारों ज्ञानों के साधन ( करण ) अर्थात् व्यापारविशिष्ट कारण भी चार हैं, जिन्हें न्यायसूत्रकार ने बताया है—"प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि"—( न्या० सू० १।१।३ )। अर्थात् प्रत्यक्षप्रमिति का कारण यानी षड्विधसन्निकर्षादिव्यापार से युक्त करण ( इन्द्रिय ) को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं। अनुमितिरूप प्रमिति का परामर्शात्मक व्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण ( साधन ) को अनुमानप्रमाण कहते हैं यानि अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्—जिससे अनुमिति की जाती है उस व्याप्तिज्ञान को अनुमान कहते हैं। उपमिति रूप प्रमिति का उपदिष्टवाक्यार्थस्मरणात्मकव्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण ( साधन ) को उपमान कहते हैं, यानि उपमीयते अनेन इति उपमानम् अर्थात् सादृश्यज्ञान को उपमान कहते हैं। शाब्दबोधात्मक प्रमिति का पदार्थस्मरणात्मक व्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण को शब्द ( पदज्ञान ) प्रमाण कहते हैं। ( विषयं ) प्रति गतमक्षम्प्रत्यक्षम्=प्रतिगमकम्' इन्द्रियम् इस व्युत्पत्ति से व्युत्पन्न 'प्रत्यक्ष' शब्द, 'प्रत्यक्षप्रमा के करण इन्द्रिय' का बोधन करता है, तादृश इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमारूप अनुभूति' कहते हैं। उसी प्रकार 'अनुमीयते अनेनेति अनुमानम् = अनुमितिकरणं' उससे जन्य ( उत्पन्न ) ज्ञान को 'अनुमितिप्रमारूप द्वितीय अनुभूति' कहते हैं। 'उपमीयते अनेन इति उपमानम्=उपमितिकरणम्' उससे जन्य (उत्पन्न) ज्ञान को 'उपमितिप्रमारूप तृतीय अनुभूति' कहते हैं। 'शब्दयते = प्रतिपाद्यते अर्थः अनेन इति शब्दः=शाब्दीप्रमाकरणम्' उससे जन्य ज्ञान को 'शब्दजा=शाब्दीप्रमा-रूप अनुभूति' कहते हैं। इस प्रकार चतुर्विध अनुभूतियों के करण ( साधन ) भी चार ही हैं। यही पक्ष महर्षि गौतम को मान्य है ॥ ५१ ॥

प्रमाणों की तथा उनसे होने वाली अनुभूतियों की संख्या के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मतों को भी जान लेना चाहिए—

चार्वाक—प्रत्यक्षात्मक अनुभूति को ही मानते हैं, किन्तु तत्त्वोपप्लव के मत में उसे भी नहीं माना है। कणाद ( वैशेषिक ) सुगत ( बौद्ध ) और जैन प्रत्यक्षात्मक और अनुमित्यात्मक अनुभूति को ही मानते हैं। सांख्य-योग और न्यायैकदेशी—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द अनुभूति को ही मानते हैं। भाष्यानुसारी नैयायिक—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द और उपमिति अनुभूति को ही मानते हैं। प्राभाकार—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द, उपमिति और अर्थापत्ति अनुभूति को मानते हैं। भाट्ट और वेदाती—प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द, उपमिति, अर्थापत्ति और अनुपलब्धिरूप अनुभूति को मानते हैं। पौराणिक—उक्त अनुभूतियों के साथ

सम्भव, ऐतिह्यरूप अनुभूति को भी मानते हैं। तान्त्रिक--उक्त अनुभूतियों के साथ चेष्टा को भी मानते हैं।

प्रत्यक्षेति। इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। यद्यपि मनोरूपेन्द्रियजन्यं सर्वमेव ज्ञानं, तथापीन्द्रित्वेन रूपेणेन्द्रियाणां यत्र ज्ञाने कारणत्वं तत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितम्। ईश्वरप्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति ( गौतम ) इति तथैवोक्तत्वात्।

अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्य, उपमितौ सादृश्यज्ञानस्य, शाब्दबोधे पदज्ञानस्य, स्मृतावनुभवस्य कारणत्वात्तत्र तत्र नातिव्याप्तिः। इदं लक्षणमीश्वरप्रत्यक्षसाधारणम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। यद्यपि परामर्शप्रत्यक्षादिकं परामर्शजन्यं तथापि परामर्शजन्यं हेत्वविषयकं यज्ज्ञानं तदेवानुमितिः। न च कादाचित्कहेतुविषयकानुमिताव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

अथवा व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः। एवं सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानमुपमितिः। पदज्ञानकरणकं ज्ञानं शाब्दबोधः।

वस्तुतो यां काञ्चिदनुमितिव्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्तिप्रत्यक्षावृत्तिजातिमत्त्वमनुमितित्वम् एवं यत्किञ्चित्प्रत्यक्षादिकमादाय तद्व्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्त्वं प्रत्यक्षत्वादिकं वाच्यमिति।

॥ इति प्रत्यक्षादिप्रमाणलक्षणकथनम् ॥

परन्तु ग्रन्थकार अनुभूति की चातुर्विधा को ही स्वीकार कर रहे हैं। अनुभूति ( प्रमा ) के चतुर्विध होने से उनके प्रमाण भी चार ही हैं। उपरिप्रदर्शित अनुभूतियों के अतिरिक्त अनुभूतियों ( प्रमाओं ) का ग्रन्थकारसम्मत चार अनुभूतियों ( अनुभवों ) में ही अन्तर्भाव हो जाता है। ग्रन्थकार ने स्वयं १४० वीं से लेकर १४४ वीं कारिका 'व्यतिरेकव्याप्तिबुद्ध्या चरितार्था हि सा यतः' के द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दात्मक चार प्रकार के अनुभवों का अन्तर्भाव करके दिखाया है। 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रमा और प्रमाण दोनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है, किन्तु उसके आगे प्रमा और प्रमाण के बोधक भिन्न-भिन्न शब्द हैं। अनुमिति, उपमिति और शाब्दी ये शब्द 'प्रमा' ( अनुभव-अनुभूति ) के बोधक हैं, और अनुमान, उपमान, और शब्द--ये प्रमाणों के बोधक शब्द हैं।

उपर्युक्त चार प्रकार की प्रमाओं में से प्रथमोपस्थित 'प्रत्यक्षप्रमा' को मुक्तावलीकार बता रहे हैं--"इन्द्रियजन्यमिति।" 'इन्द्रियजन्यत्वे सति ज्ञानत्वं' प्रत्यक्षप्रमाया लक्षणम्। इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'प्रत्यक्षप्रमा' कहते हैं। उक्त लक्षण में 'ज्ञान' पद का निवेश इसलिये किया है कि चक्षुरादि इन्द्रियगत रूपादि भी चक्षुरादि इन्द्रिय जन्य हैं, अतः इन्द्रियवृत्ति रूप आदि में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। उस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये उस



पद का ( ज्ञान पद का ) निवेश आवश्यक है। यदि 'ज्ञानम्प्रत्यक्षम्' इतना ही लक्षण का आकार रखें तो 'अनुमिति' आदि प्रमाओं में अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'इन्द्रियजन्यत्वे सति' इस विशेषण पद का निवेश किया गया है।

शंका--'इन्द्रियजन्यत्वे सति ज्ञानत्वम्' 'प्रत्यक्षम्' इस प्रकार प्रत्यक्ष लक्षण करने पर भी अनुमिति आदि प्रमाओं में अतिव्याप्ति दूर नहीं हो रही है, क्योंकि मनोरूप इन्द्रिय से सभी प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दादिज्ञान उत्पन्न होते हैं। ज्ञानत्वावच्छिन्न यावत् 'ज्ञान' के प्रति ( जन्यज्ञानसामान्य के प्रति ) आत्मा के साथ मनःसंयोग कारण माना गया है। अतः प्रत्यक्ष लक्षण की अनुमिति आदि प्रमाओं में अतिव्याप्ति हो रही है, इस आशंका को 'यद्यपि' ग्रन्थ से बताया गया है।

समा०--'तथापी'ति--'प्रत्यक्ष' तो इन्द्रिय जन्य ज्ञान को ही कहते हैं। सभी ज्ञान यद्यपि मनोरूप इन्द्रिय से जन्य हैं, तथापि इन्द्रियत्व रूप से इन्द्रिय जिस ज्ञान में करण हो वही ज्ञान 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है। अभिप्राय यह है कि 'मन' में दो धर्म रहते हैं--एक 'मनस्त्व' और दूसरा 'इन्द्रियत्व'। उनमें से ज्ञानत्वावच्छिन्न ज्ञान के प्रति मन को मनस्त्वावच्छिन्नतया कारणता होती है अर्थात् मन मनस्त्व धर्म से कारण होता है और प्रत्यक्षप्रमामात्र के प्रति मन को इन्द्रियत्वावच्छिन्नतया कारणता होती है अर्थात् इन्द्रियत्वधर्म से 'मन' कारण होता है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी प्रत्यक्षप्रमा के प्रति अपने इन्द्रियत्व धर्म से ही कारण होती हैं। एवञ्च कहना होगा कि प्रत्यक्षप्रमितिनिरूपितकारणता का अवच्छेदक धर्म 'इन्द्रियत्व' है। अतः इन्द्रियत्वेन रूपेण यानि इन्द्रियत्व धर्म से चक्षुरादि इन्द्रियों को जिस ज्ञान में ( प्रत्यक्षप्रमात्मक ज्ञान में ) व्यापारवत्असाधारणतारूप करणत्व रहता है उसी ज्ञान को प्रत्यक्षप्रमिति ( प्रत्यक्षप्रमा ) कहते हैं। मन को ज्ञानमात्र के प्रति जो कारणता है वह वैसी नहीं है। अनुमित्यादिसकलसाधारणज्ञान के प्रति मन को मनस्त्वेन रूपेण ( मनस्त्व धर्म से ) कारणता होती है इन्द्रियत्वेन रूपेण ( इन्द्रियत्व धर्म से ) नहीं। मन को सुखादिसाक्षात्कार करने ( सुखादि का प्रत्यक्ष करने ) में ही इन्द्रियत्वेन रूपेण ( इन्द्रियत्व धर्म से ) कारणता होती है, अन्यत्र नहीं। तथा च ज्ञानमात्र के प्रति 'मन' को साधारण कारण कहा जाता है और चक्षुरादि इन्द्रियों को तत्तद्रूपादिप्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति असाधारण कारण कहा जाता है। अतः 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्ष लक्षण का अर्थ यह हुआ कि इन्द्रियत्वावच्छिन्न--व्यापारसम्बन्धावच्छिन्न--जनकतानिरूपितजन्यतावज्ज्ञानत्वम्।' अनुमिति आदि ज्ञानों में इन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यता नहीं है, अपितु व्याप्तिज्ञानत्वाच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यता है। इसलिये उक्त प्रत्यक्षलक्षण की अनुमित्यादि ज्ञानों में अतिव्याप्ति नहीं है।

कुछ लोग "इन्द्रियत्वेन" का अर्थ इन्द्रियत्वव्याप्य चक्षुष्ट्व, घ्राणत्व आदि धर्म से

करते हैं यानि प्रत्यक्षप्रमा ( ज्ञान ) के प्रति इन्द्रियों को इन्द्रियत्वव्याप्य चक्षुष्ट्वघ्राणत्वादि धर्मेण कारण कहते हैं अतः वे लोग प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार करते हैं—"चक्षुष्ट्व-घ्राणत्वाद्यन्यतमावच्छिन्नव्यापारसम्बन्धावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतानिरूपितसमवायातिरिक्तसम्बन्धानवच्छिन्नावच्छेदकताश्रयजातिमत्त्वम्प्रत्यक्षत्वम् ।"

शंका—ईश्वर में समवायसम्बन्ध से रहने वाली ( समवेत ) नित्यज्ञानरूप जो प्रत्यक्षप्रमा, वह तो नित्य है, इसलिये उसे इन्द्रियजन्य नहीं कह सकते, अतः ईश्वरसमवेत प्रत्यक्षप्रमा में आपके प्रत्यक्षलक्षण की अव्याप्ति हो रही है।

समा०—"ईश्वरप्रत्यक्षन्तु न लक्ष्यमिति ।" 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानम् प्रत्यक्षम्' इस प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य 'ईश्वरप्रत्यक्ष' नहीं है, अर्थात् ईश्वरसमवेतनित्यप्रमा, उक्त प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य नहीं है, अपितु उस प्रत्यक्षलक्षण का लक्ष्य तो 'जीव का जन्य प्रत्यक्ष' है, अतः अव्याप्ति नहीं है। हमारी उक्ति की पुष्टि सूत्रकार के सूत्र से भी हो रही है। 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'—( न्या० सू० १।१।४ ) इन्द्रियस्य=चक्षुरादिइन्द्रिय का, अर्थेन=घटपटादिपदार्थ के साथ, सन्निकर्षात्=संयोगादि छह प्रकार के व्यापार ( सम्बन्ध ) से उत्पन्नम्=उत्पन्न हुआ जो अव्यभिचारि ज्ञान, उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। अव्यभिचारि पद का अर्थ—भ्रमभिन्न है। यदि सूत्रकार अपने सूत्र में 'अव्यभिचारि' पद न रखते तो 'शुक्तौ इदं रजतम्' इत्याकारक होने वाले भ्रमात्मक शुक्ति-रजतज्ञान में भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यता होने से प्रत्यक्षलक्षण की उसमें अतिव्याप्ति हो जाती, उसके निवारणार्थ उन्होंने सूत्र में 'अव्यभिचारि' पद दिया है तथा च 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं भ्रमभिन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न एवं भ्रमभिन्न जो ज्ञान हो उसे प्रत्यक्षप्रमा कहते हैं। वह प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का है—एक अव्यपदेश्य और दूसरा व्यवसायात्मक। 'अयं घटः, अयं पटः' इस व्यपदेश ( शब्दव्यवहार ) के जो अयोग्य हो उसे अव्यपदेश्य यानी निर्विकल्पक कहते हैं तथा व्यवसायात्मक ज्ञान उसे कहते हैं कि जिस ज्ञान का विषय 'अयं घटः, अयं पटः' इत्यादि विशिष्टव्यवहार हो अर्थात् विशिष्टव्यवहारविषयक ज्ञान ( व्यवसायज्ञान ) को सविकल्पज्ञान कहते हैं। निष्कर्ष यह हुआ कि 'अव्यपदेश्यम्' का अर्थ निर्विकल्पक है और 'व्यवसायात्मकम्' का अर्थ सविकल्पक है। सूत्रकार ने अपने सूत्र में जीवसमवेत अनित्यप्रत्यक्षप्रमात्मक ज्ञान को ही बताया है। उसी तरह हमने ( मुक्तावलीकार ने ) भी अनित्यप्रत्यक्षप्रमा का ही लक्षण किया है, जो अनित्य ( जन्य ) प्रत्यक्ष में पूर्णतया घटित होता है। ईश्वरप्रत्यक्ष तो उक्त लक्षण का लक्ष्य ही नहीं है।

यदि कोई दुराग्रह पर ही अड़ जाय कि प्रत्यक्षलक्षण को हम तभी निर्दुष्ट कहेंगे कि जब प्रत्यक्षमात्र ( नित्य-अनित्य द्विविध प्रत्यक्ष ) उसका लक्ष्य रहे और उसमें वह पूर्णरूपेण घटित हो जाय। तब उनके सन्तोष के लिये कहते हैं—'अथवेति' प्रत्यक्षप्रमा का दूसरी प्रकार से लक्षण कर लेना चाहिये—'ज्ञानाऽ-



करणकं ज्ञानम्प्रत्यक्षम्' ऐसा लक्षणान्तर ( प्रत्यक्ष का अन्य लक्षण ) करने से दोनों प्रकार के ( नित्य-अनित्य ) प्रत्यक्षों में वह ( लक्षणान्तर ) घटित हो सकेगा। 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं' अर्थात् 'ज्ञानाकरणकत्वे सति ज्ञानत्वम्'—प्रथम कहे गये लक्षण से यह भिन्न लक्षण हुआ। 'ज्ञानं न करणं यस्य तद् ज्ञानाकरणकम् तादृशं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'। 'ज्ञान' पद से व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, पदज्ञान और अनुभव लेना है। जिस ज्ञान में उक्त ज्ञानों में से कोई करण नहीं हो उस ज्ञान को "प्रत्यक्षज्ञान" ( प्रमा ) कहते हैं, यह इस दूसरे लक्षण का अर्थ हुआ। अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान, उपमिति के प्रति सादृश्यज्ञान, शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान स्मृति के प्रति अनुभव को करण ( साधन ) कहा जाता है। एवं च प्रत्यक्षातिरिक्त सभी ज्ञान, ज्ञानाकरणक हैं अतः उनमें इस लक्षणान्तर की अतिव्याप्ति भी नहीं है। हम लोगों के प्रत्यक्ष के प्रति तथा ईश्वर-प्रत्यक्ष के प्रति ( नित्यानित्य द्विविध प्रत्यक्ष के प्रति ) व्याप्तिज्ञानादिकों में से कोई भी करण नहीं है, अतः यह द्विविध प्रत्यक्षज्ञान ( प्रमा ) ज्ञानाऽकरणक हुआ। एवञ्च 'ज्ञानाकरणकत्वे सति ज्ञानत्वं' यह प्रत्यक्ष-लक्षण उभयविध प्रत्यक्ष में पूर्णरूपेण घटित हो जाता है। अतः इस प्रत्यक्ष प्रमा के लक्षण को तो निर्दुष्ट कहना ही होगा।

उक्त लक्षणान्तर में 'ज्ञानाऽकरणकत्व' पद का यदि निवेश नहीं करेंगे तो अनुमिति आदि ज्ञानों ( प्रमाओं ) में अतिव्याप्ति होगी, उसके निवारणार्थ 'ज्ञानाकरणकत्व' पद का निवेश करना आवश्यक है।

शंका—'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्प्रत्यक्षम्' इस लक्षण की योगिप्रत्यक्ष में अव्याप्ति होगी, क्योंकि मनन-निदिध्यासनादि के द्वारा 'योगिप्रत्यक्ष' ज्ञानकरणक ही है, ज्ञानाऽकरणक नहीं।

समा०—'ज्ञानाऽकरणकज्ञान' का अर्थ 'ज्ञानकरणकत्वाऽव्यभिचारिजातिशून्यज्ञान' करना चाहिये। तब ज्ञानकरणकत्वाऽव्यभिचारिजाति, 'अनुमितित्व' आदि जातियाँ ही होंगी। अतः योगिप्रत्यक्ष में भी अव्याप्ति नहीं है।

प्रत्यक्षप्रमा को बताकर अब क्रमप्राप्त अनुमितिप्रमा को बताते हैं—"परामर्श" इति। परामर्श से जन्य ( उत्पन्न होने वाले ) ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम्परामर्शः'—यह परामर्श का लक्षण है। 'वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वतः' इत्याकारक जो ज्ञान है, वही व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान है, उसी को 'परामर्श' कहते हैं। इस परामर्श से 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक जो ज्ञान होता है, उसी को 'अनुमिति' कहते हैं। अर्थात् उक्त परामर्शरूपव्यापारद्वारा व्याप्तिज्ञान जिस ज्ञान का जनक होता है, वह ज्ञान है 'पर्वतो वह्निमान्' और उसी ज्ञान को अनुमितिज्ञान ( प्रमा ) कहते हैं। अभिप्राय यह है कि पर्वत पर जब हम धूम को देखते हैं, तब महानस में गृहीत हुई धूम-वह्नि की व्याप्ति का स्मरण हो आता है और तब पर्वत पर हुआ धूमज्ञान उस व्याप्ति-

स्मृति से विशिष्ट हो जाता है। तदनन्तर 'वह्नि से व्याप्य ( व्याप्तिविशिष्ट ) धूम-
वाला यह पर्वत है' अर्थात् —जिस धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति ( नित्य सम्बन्ध )
है, उस धूम से युक्त यह पर्वत है। यही है 'व्याप्तिविशिष्ट ( धूम ) का पक्षधर्मता
( पक्षवृत्तित्व ) ज्ञान' और इसी को परामर्श कहते हैं। इस परामर्श के होते ही
'पर्वतो वह्निमान्'—पर्वत वह्निवाला है—यह अनुमिति प्रमा तत्काल हो जाती है।
इसलिए 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः' अर्थात् 'परामर्शजन्यत्वे सति ज्ञानत्वम्' यह
अनुमिति का लक्षण किया गया है। उक्त लक्षण में सत्यन्त अंश का निवेश प्रत्यक्ष,
उपमिति आदि प्रमात्मक ज्ञानों में अतिव्याप्ति के निरासार्थ किया गया है और
विशेष्य ( ज्ञानपद ) अंश का निवेश परामर्श-ध्वंस में अतिव्याप्ति के निरासार्थ
किया गया है। एवं च उक्तलक्षण का अर्थ 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यत्वे सति
ज्ञानत्वम्' समझना चाहिए।

शंका—'यद्यपीति। उपर्युक्त अनुमितिलक्षण की 'प्रत्यक्ष' में अतिव्याप्ति होगी।
तथा हि—घट का प्रत्यक्ष, घटजन्य है। घटप्रत्यक्ष में विषयविधया 'घट' कारण हैं,
अतः कारणतावच्छेदक 'विषयत्व' हुआ, 'घटत्व' नहीं। क्योंकि घट में जो कारणता
है, वह विषयविधया है। उसी तरह 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इत्याकारक
परामर्शात्मकज्ञान का भी मानसप्रत्यक्षात्मकज्ञान 'परामर्शं जानामि' इस रूप में
होता है। इस मानसप्रत्यक्षात्मकज्ञान में भी विषयविधया 'परामर्श' कारण है।
एवं च परामर्शप्रत्यक्ष परामर्शजन्य ही हुआ। अतः परामर्शजन्य होने से परामर्श-
प्रत्यक्ष में अनुमितिलक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट है। "परामर्शप्रत्यक्षादिकम्" यहाँ
'आदि' शब्द से परामर्शध्वंस को भी समझना चाहिए। परामर्शध्वंस भी प्रतियोगि-
विधया परामर्शजन्य है, क्योंकि 'स्वध्वंसंप्रति स्वस्य कारणत्वम्' यह नियम है।
एवं च परामर्शजन्य परामर्शध्वंस में अनुमितिलक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है।

समा०—'तथापी'ति। शंका करनेवाले ने जो कहा कि 'परामर्श का प्रत्यक्ष
तथा परामर्श का ध्वंस भी परामर्शजन्य है, क्योंकि अपने प्रत्यक्ष में परामर्श को
विषयविधया कारणता है तथा अपने ध्वंस में परामर्श को प्रतियोगिविधया कारणता
है', वह ठीक है। किन्तु हमने जो अनुमिति का लक्षण किया है, उसका तात्पर्य
इस प्रकार है—हेतु को विषय न करने वाला जो परामर्शजन्य 'पर्वतो वह्निमान्'
इत्याकारक ज्ञान, वह 'अनुमिति' है। 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इत्याकारक
परामर्शात्मक ज्ञान में हेतु का भान होता है तथा तादृशज्ञानविषयक अनुव्यवसाया-
त्मक परामर्शप्रत्यक्ष में भी हेतु का भान होना निश्चित ही है। क्योंकि 'ज्ञानेन यद्
यद् विषयीक्रियते, ज्ञानज्ञानेनाऽपि ( अनुव्यवसायात्मकेन ज्ञानेनापि ) तदवश्यं विषयी-
क्रियते' यह नियम है। इसी को अध्यापन परिपाटी के अनुसार भी समझिए—
'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः' इस लक्षण को थोड़ा-सा परिष्कृत करते हैं, जिससे
दोष की आशंका नहीं रहेगी। 'परामर्शजन्यत्वे सति हेत्वविषयकत्वे सति ज्ञानत्वम्—
अनुमितिः'। अनुमिति का यह परिष्कृतलक्षण है। परामर्श से जन्य ( उत्पन्न हुई )



'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में 'पर्वत और वह्नि' दोनों विषय हैं। इस अनु-
मिति में 'धूम'रूप हेत्वंश का प्रवेश नहीं है। किन्तु 'वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वतं पश्यामि
अथवा जानामि' इत्याकारक परामर्शजन्य प्रत्यक्ष में और 'वह्निव्याप्यधूमवत्पर्वत-
वान् देशः' इस विशिष्ट-वैशिष्ट्यज्ञान में धूमात्मक ( धूमरूप ) हेत्वंश प्रविष्ट है।
अतः ये दोनों ज्ञान 'हेत्वविषयक' न होकर 'हेतुविषयक' ही हुए। किन्तु' पर्वतो
वह्निमान्' इत्याकारकज्ञान, हेतु ( धूम ) को विषय नहीं करता, इस कारण यह
'हेत्वविषयक' है, इसलिये यही ज्ञान 'अनुमिति' रूप है। एवं च हेतुविषयक होने से
( हेत्वविषयक न होने से ) परामर्शजन्यप्रत्यक्ष तथा उसके अनुव्यवसायात्मकज्ञान
दोनों में अनुमितिलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

शंका—'न च कादाचित्केति।' किसी-किसी स्थल में हेतु का भी भान पक्षता-
वच्छेदकरूप से अनुमिति में होता है। जैसे—'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इस अनु-
मिति में धूमरूप हेतु का पक्षतावच्छेदकरूप से ( पक्षतावच्छेदकविधया अर्थात् पक्ष-
निष्ठविशेषणत्वेन रूपेण ) भान होता है, इस कारण यह अनुमिति रूप होने पर भी
हेत्वविषयक नहीं है, अपितु धूमात्मकहेतुविषयक ही है। अतः हेतु को भी विषय
करने वाली 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में ही आपके परिष्कृत अनु-
मितिलक्षण की अव्याप्ति हो रही है।

समा०—'तादृशज्ञानेति।' परामर्श से उत्पन्न होने वाला जो हेत्वविषयक-
ज्ञान अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति रूप ज्ञान, उसमें रहनेवाली ( वृत्ति )
जो अनुभवत्व की व्याप्यजाति ( अनुमितित्वजाति ), तादृशजातिमान् ( अनु-
मितित्वजातिमान् ) समस्त अनुमितिज्ञान हुआ, तब समस्त अनुमिति के अन्तर्गत
'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान भी तादृशजातिमान् हुआ। अतः अनुमितित्व
का जातिघटितलक्षण 'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' में समन्वित हो जाने से अव्याप्ति
नहीं है। मुक्तावली के 'तादृशज्ञानवृत्ति०' पद में तादृशज्ञान पद से 'व्याप्तिविशिष्ट-
पक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञान' समझना चाहिये। एवं च व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य
जो अनुमितिरूप 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारकज्ञान, उसमें वर्तमान जो अनुभव-
त्वव्याप्यजाति—' 'अनुमितित्वजाति', वह समवायसम्बन्ध से जहाँ रहती हो उसी
को 'अनुमिति' प्रमा समझनी चाहिए। इस प्रकार जातिघटित लक्षण करने से
'धूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति में हेत्वविषयकत्वरूप विशेषणांश के न
रहने पर भी अनुभवत्वव्याप्यअनुमितित्वजातिरूप विवक्षित धर्म के विद्यमान रहने
से अव्याप्ति की आशंका नहीं की जा सकती। अनुमितिलक्षण का अन्तिम आकार
यह हुआ—'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यानुमितिज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजाति-
मत्त्वम्'—अनुमितित्वम्। लक्षण में दिये गये जन्यान्त अंश से 'घटज्ञान' में अतिव्याप्ति
नहीं हो पायी। लक्षण में दिये गये द्वितीय 'ज्ञान' पद से 'ध्वंस' में अनुभवत्वव्याप्य-
जाति की अप्रसिद्धि से उपस्थित होने वाले असंभव दोष का वारण हो गया है।
सत्ताजाति को लेकर प्रत्यक्ष आदि में होने वाली अतिव्याप्ति का वारण 'अनुभवत्व-

व्याप्य' कहने से हो जाता है। यहाँ 'जातिमत्व' समवायसम्बन्ध से विवक्षित है। अन्यथा कालिकसम्बन्ध से अनुभवत्वव्याप्यजातिमान् 'काल' भी होगा, तब उसमें लक्षण के प्रविष्ट हो जाने से अतिव्याप्ति हो जायगी। समवायसम्बन्ध को विवक्षा करने पर काल में अतिव्याप्ति नहीं होगी। इस प्रकार परिष्कृत किये गये अनुमिति लक्षण का स्पष्ट अर्थ यह किया जायगा—'व्याप्तित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताशालिनिश्चय-त्वावच्छिन्ननिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावत्-पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपित-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नविधेयताकज्ञानवृत्त्यनुभवत्वन्यूनवृत्तिजातिनिष्ठाऽधेयतानिरूपितसमवायावच्छिन्नाधिकरणतावत्त्वम्'—अनुमितित्वम्।

'परामर्शजन्य' का 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्य' अर्थ होता है, तथा च इसमें 'पक्षधर्मता' का निवेश होने से शरीरकृतगौरव है। इसलिये लघुलक्षण बताने के लिये कहते हैं—'अथवे'ति। अथवा व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्तिज्ञान करण हो जिस ज्ञान का वह अनुमितिज्ञान है। अनुमानखण्ड में उनहत्तरवीं ( ६९ ) कारिका के द्वारा बताया जाने वाला जो व्याप्तिज्ञान अर्थात् 'हेतुमन्निष्ठात्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यात्मकधर्मरूपव्याप्ति का धूम में प्रकारतया होने वाला 'यत्र धूमः तत्र वह्निः' इत्याकारक साध्य और हेतु का साहचर्यरूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान है, वही है करण ( व्यापारवत्असाधारणकारण ) जिस ज्ञान का, उस ज्ञान को 'अनुमिति' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अनुमिति के भेद से व्याप्ति का भेद होने से धूमहेतुक वह्नि की अनुमिति में यद्यपि धूम-निष्ठव्याप्ति करण रहने पर भी भस्मलिङ्गक वह्नि की अनुमिति में वह ( धूम-निष्ठव्याप्ति ) करण नहीं है, अतः अव्याप्ति होगी। इसलिये किसी एक व्याप्ति को लेकर 'तद्व्याप्तिज्ञानकरणकज्ञानवृत्ति अनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वं' अथवा 'व्याप्ति-ज्ञानत्वावच्छिन्नकरणकत्वं' लक्षण करने पर कोई दोष नहीं होगा। लक्षण में 'व्याप्ति' पद के देने से उपमिति आदि में अतिव्याप्ति नहीं हो पायी। व्याप्तिकरण-कव्याप्त्यनुव्यवसायज्ञान में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'ज्ञान' पद दिया गया है। व्याप्ति-ज्ञानजन्य परामर्श में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'करणकम्' कहा गया है। व्याप्ति-ज्ञानकरणक परामर्शजन्यसंस्कार में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये द्वितीय 'ज्ञान' पद दिया गया है।

क्रमशः अन्य प्रमाओं का भी लघुलक्षण कह रहे हैं—एवमिति। एवं 'सादृश्य-ज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः।' सादृश्यज्ञान है करण जिस ज्ञान का, उस ज्ञान को उपमिति कहते हैं। लक्षण में 'सादृश्य' पद के देने से प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। 'ज्ञान' पद के देने से सादृश्यकरणक सादृश्यानुव्यवसाय में अति-व्याप्ति। 'करणकम्' पद के देने से वाक्यार्थस्मरणात्मक व्यापार में अतिव्याप्ति नहीं होती। विशेष्यभूत द्वितीय 'ज्ञान' पद के देने से सादृश्यज्ञानकरणक-वाक्यार्थ-स्मरणजन्यसंस्कार में अतिव्याप्ति नहीं हो सकी।



'पदज्ञानकरणकं ज्ञानं शाब्दबोधः'—पदज्ञान है करण जिस ज्ञान का, उस ज्ञान को शाब्दबोध (शाब्द प्रमा) कहते हैं। प्रत्यक्ष आदि में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'पद' का निवेश किया है। पदकरणक-पदानुव्यवसाय में अति-व्याप्ति का वारण करने के लिये 'ज्ञान' का निवेश है। पदार्थस्मरण में अति-व्याप्ति का वारण करने के लिये 'करणकम्' कहा है पदज्ञानकरणक पदार्थस्मरण-जन्यसंस्कार में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये विशेष्यभूत द्वितीय 'ज्ञान' पद दिया गया है।

शंका—अनुमिति आदि प्रमाओं के प्रति व्याप्तिज्ञानत्वादिरूप से कारणता न मानकर केवल मनस्त्वेन रूपेण कारणता मानी जाय। रही बात अनुमित्यादि फलवैलक्षण्य की, तो वह सामग्रीभेद से ही सम्पन्न हो जायेगा। जैसे प्रत्यक्ष के प्रति मनस्त्वेन रूपेण करणता रहने पर भी चक्षुरादि सामग्री-भेद से चाक्षुषादिप्रमा का भेद हो जाता है, वैसे ही यहाँ पर भी हो जायेगा। एवं च उपरि प्रदर्शित लक्षणों में असम्भव दोष है। इस कारण सिद्धान्त लक्षण कहते हैं—"वस्तुतस्तु" इति। 'यां काञ्चिदिति।' वस्तुतः 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि जैसी किसी भी विशेष अनुमिति को लेकर उस अनुमितिरूप व्यक्ति में रहने वाली और प्रत्यक्षज्ञान में न रहने वाली जो जाति करके अनुमितित्व जाति होगी, तद्वत्त्व अनुमिति में होगा। अर्थात् 'अनुमितित्वजातिमत्त्वमेव अनुमितित्वम्' यह अनुमिति का लक्षण है। मूलस्थ लक्षण में वृत्त्यन्तअंश, घट में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ है। 'प्रत्यक्षाऽवृत्ति' अंश अनुभवत्व को लेकर प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ है। 'जाति' पद अनुमिति-उपमिति दोनों में से किसी को लेकर उपमिति में अति-व्याप्ति के वारणार्थ है। जातिमत्त्व की समवाय से विवक्षा है, अन्यथा अनुमिति-त्ववत्त्व, काल में कालिक-सम्बन्ध से रहने के कारण काल में अतिव्याप्ति होगी, किन्तु समवायसम्बन्ध की विवक्षा करने पर नहीं होगी।

इसी प्रकार अनुमितिलक्षण की तरह लाघव की दृष्टि से प्रत्यक्ष आदि में भी प्रत्यक्ष लक्षण को घटा लेना चाहिये—'प्रत्यक्षत्वादिकमि'ति। तथाहि—'यत्किञ्चिद्घटप्रत्यक्षमादाय तत्र घटप्रत्यक्षे वर्तमाना अनुमितौ अवर्तमाना प्रत्यक्षत्व-जातिः, तद्वत्त्वं प्रत्यक्षप्रमालक्षणम् अर्थात् प्रत्यक्षत्वजातिमत्त्वं प्रत्यक्षप्रमालक्षणम्'। भाव यह हुआ कि 'अयं घटः' इस प्रत्यक्ष को लेकर उस प्रत्यक्षव्यक्ति में वृत्ति और अनुमिति में अवृत्ति जो जाति अर्थात् प्रत्यक्षत्वजाति, तादृशजातिमत्त्व ही प्रत्यक्ष-प्रमा का लक्षण है। अभिप्राय यह है—प्रत्यक्षत्वजाति जिसमें हो उसे प्रत्यक्षप्रमा समझना चाहिये। 'तद्व्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्त्वम्–प्रत्यक्षत्वम्'। इस लक्षण में 'वृत्त्यन्त अंश' से घट में अतिव्याप्ति नहीं होती। 'अनुमित्यवृत्ति' कहने से अनुभवत्व को लेकर अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति दूर होती है। प्रत्यक्ष, उपमिति इन दोनों में से किसी एक को लेकर उपमिति में अतिव्याप्ति का वारण

करने के लिये 'जाति' पद दिया है। जातिमत्त्व को समवायसम्बन्ध से जानना चाहिए, अन्यथा कालिक-सम्बन्ध से प्रत्यक्षत्ववत्त्व काल में भी रहने से अतिव्याप्ति होगी।

मूल में 'प्रत्यक्षत्वादिकम्' कहा है, वहाँ 'आदि' पद से 'गवयो गवयपदवाच्यः' इस प्रकार यत्किञ्चित् उपमिति व्यक्ति को लेकर तद्व्यक्तिवृत्ति और प्रत्यक्ष में अवृत्ति जो जाति, तद्वत्त्व होना उपमिति प्रमा का लक्षण समझना चाहिए। घट में अतिव्याप्ति का वारण 'वृत्यन्त' अंश से, अनुमिति आदि में अतिव्याप्ति का वारण 'प्रत्यक्षावृत्ति' कहने से, उपमिति-शाब्दबोधान्यतरत्व को लेकर शाब्दबोध में अतिव्याप्ति का वारण 'जाति' पद से हो जाता है। जातिमत्त्व को समवाय से ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा उपमितित्ववत्त्व, कालिक-सम्बन्ध से काल में भी रहने के कारण अतिव्याप्ति होगी।

इसी प्रकार यत्किञ्चित् शाब्दबोधव्यक्ति को लेकर तद्व्यक्तिवृत्ति और प्रत्यक्षाऽवृत्ति जातिमत्त्व जिसमें हो, उसे शाब्दबोध कहते हैं, यह शाब्दबोध का लक्षण है। घट में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'वृत्यन्त' कहा है। प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'प्रत्यक्षाऽवृत्ति', शाब्दबोध और अनुमिति दोनों में से अन्यतर को लेकर अनुमिति में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'जाति' पद दिया गया है। जातिमत्त्व को समवाय से लेने पर 'काल' में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

॥ इति प्रत्यक्षादिप्रमालक्षणकथनम् ॥

## घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम् ॥ ५२ ॥

लौकिक सन्निकर्षजन्य पूर्वोक्त प्रत्यक्ष, घ्राणज आदि भेद से छह प्रकार का होता है। अर्थात् अलौकिकसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष तीन प्रकार होता है--यह भी आगे त्रिसठवीं ( ६३ ) कारिका के द्वारा बताया जायेगा, यह ध्वनित होता है।

**जन्यप्रत्यक्षं विभजते घ्राणजादीति। घ्राणजं रासनं चाक्षुषं स्पार्शनं श्रौत्रं मानसमिति षड्विधं प्रत्यक्षम्। न चेश्वरप्रत्यक्षस्याविभाजनान्न्यूनत्वम् जन्यप्रत्यक्षस्यैव निरूपणीयत्वादुक्तसूत्रानुसारात् ॥ ५२ ॥**

'जन्यप्रत्यक्षं विभजत' इति। जन्य प्रत्यक्ष का विभाग करते हैं। यहाँ पर 'वि'पूर्वक 'भज' धातु का अर्थ 'स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदक-व्याप्यमिथोविरुद्धयावद्धर्मप्रकारकज्ञानानुकूल व्यापार' है। 'स्व' पद से 'विभजति' को अर्थात् 'वि' पूर्वक 'भज' धातु को समझना चाहिए। तथा च—'सर्वानुगतैकजन्यप्रत्यक्षत्वाऽवान्तर-घ्राणजत्वाद्यवान्तरजात्यवच्छिन्नधर्मिप्रतिपादनानुकूलकृतिमान् ग्रन्थकारः' यह 'जन्यप्रत्यक्षं विभजते' का शाब्दबोध होता है।

घ्राणजादिभेद से प्रत्यक्ष के छह प्रकार बताते हैं—'घ्राणजमि'ति। 'घ्राणजम्' अर्थात् घ्राणेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, 'रासनम्' अर्थात् रसनेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, 'चाक्षुषम्' अर्थात् चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, 'स्पार्शनम्' अर्थात् त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, 'श्रौत्रम्' अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, 'मानसम्' अर्थात् मनइन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष, इन रीति से प्रत्यक्ष के छह प्रकार समझने चाहिए।



शंका—'न चेश्वरेति' छह प्रकार की प्रत्यक्ष प्रमा के समान ही सातवीं ईश्वर समवेत प्रत्यक्ष प्रमा को क्यों नहीं बताया गया? अतः ग्रन्थ में यह कमी ( न्यूनता ) हो गयी।

समा०—जन्येति। जन्य अर्थात् इन्द्रियजन्य जो जीवात्मा में समवेत प्रमात्मक-प्रत्यक्ष है, यही 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' इस गौतमसूत्र के अनुसार विभाज्यत्वेन अभिप्रेत होने से उसी का ( जन्यप्रत्यक्ष का ) निरूपण और उसी का विभाग दिखाया गया है ॥ ५२ ॥

॥ इति प्रत्यक्षादिप्रमालक्षणकथनम् ॥

## घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः। तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः ॥ ५३ ॥

जिन इन्द्रियों में जिस विषय के ग्रहण की शक्ति है, उसे पृथक्-पृथक् दिखाते हैं। 'घ्राणस्ये'ति। गोचर, ग्राह्य, विषय—ये पर्याय शब्द हैं। घ्राणेन्द्रिय का गोचर ( प्रत्यक्ष विषय ) अर्थात् घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्धगुण, गन्धत्व जाति और 'आदि' शब्द से सुरभित्व, असुरभित्व तथा गन्धाभाव और गन्धत्वाभाव का ग्रहण होता है। उसी तरह रसगुण, रसत्वजाति, रसाभाव और रसत्वाभाव का रसनेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण होता है। रसज्ञा का अर्थ रसनेन्द्रिय है। उसी प्रकार शब्द, शब्दत्व, शब्दाभाव और शब्दत्वाऽभाव का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है।

**गोचर इति ग्राह्य इत्यर्थः। गन्धत्वादिरिति। आदिपदात् सुरभित्वादिपरिग्रहः। गन्धस्य प्रत्यक्षत्वात् तद्वृत्तिजातिरपि प्रत्यक्षा। गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्य न सामर्थ्यमिति बोध्यम्। तथा रस इति। रसत्वादिसहित इत्यर्थः। तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादिसहितः। गन्धो रसश्च उद्भूतो बोध्यः ॥ ५३ ॥**

गोचर शब्द का अर्थ 'ग्राह्य' है। कारिकागत 'आदि' पद से गन्धत्वव्याप्य सुरभित्व आदि का ग्रहण है। 'सुरभित्वादि' यहाँ 'आदि' पद से 'असुरभित्व' को लेना चाहिए। गन्ध का घ्राणेन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। इस कारण तद्वृत्ति अर्थात् गन्ध में रहने वाली गन्धत्वजाति का भी उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। निष्कर्ष यह है कि 'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तन्निष्ठा जातिः तदभावश्च गृह्यते'—जिस इन्द्रिय से जिसका ग्रहण किया जाता है उसी इन्द्रिय से उसकी जाति तथा उसके अभाव का भी ग्रहण किया जाता है—इस नियम के अनुसार घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का और रसनेन्द्रिय से रस का तथा श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण ( प्रत्यक्ष ज्ञान ) होता है, इसलिये गन्धनिष्ठ गन्धत्वजाति और गन्धाभाव आदि का और रसनिष्ठ रसत्वजाति और रसाभाव का तथा शब्दनिष्ठ शब्दत्वजाति और शब्दाभाव आदि का भी ग्रहण उसी इन्द्रिय से होता है।

शंका—घ्राणेन्द्रिय से गन्धगुण का जैसे प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही गन्धगुणाश्रय पृथ्वी का प्रत्यक्ष भी उसी इन्द्रिय से क्यों नहीं होता ?

समा०—गन्धाश्रय अर्थात् गन्धसमवायिकारण पृथ्वी का प्रत्यक्ष करने का सामर्थ्य घ्राणेन्द्रिय में नहीं है। द्रव्य का साक्षात्कार ( प्रत्यक्ष ) करने का सामर्थ्य ( शक्ति ) चक्षुरिन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय में ही होता है, अन्य इन्द्रियों में नहीं। क्योंकि अन्य इन्द्रियाँ योग्यविषय की ही अवभासक होती हैं। 'तथा रस' इति। रसत्वादिसहित इत्यर्थः। यहाँ 'आदि' पद से मधुरत्व, अम्लत्व, लवणत्व, कटुत्व, कषायत्व, तिक्तत्व का ग्रहण करना चाहिए। तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादि सहितः'। यहाँ भी 'आदि' शब्द से कत्व, खत्व आदि को समझना चाहिए। अनुद्भूत रस का ग्रहण न हो पाने से ( प्रत्यक्ष-ज्ञान न हो पाने से 'गन्धो रसश्च उद्भूतो बोध्यः' कहा गया है। अर्थात् उद्भूत रस का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अनुद्भूत गन्ध, रस का नहीं। 'यदि वह प्रत्यक्ष के प्रयोजक सन्निकर्ष से युक्त होता तो अवश्य उपलब्ध होता' इस आपादन का विषय बनना ही 'उद्भूतत्व' है। 'यद्येतत्प्रत्यक्षप्रयोजकसन्निकर्षवत् स्यात्तर्हि उपलभ्येत' इत्यापादनविषयत्वमुद्भूतत्वम्॥

**उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये।**
**विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥५४॥**
**क्रिया जातिर्योग्यवृत्तिः समवायश्च तादृशः।**
**गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥५५॥**

उद्भूतरूपम्=चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्यरूप। गोचरः=ग्रहण करने योग्य अर्थात् ग्राह्य, विषय। तद्वन्ति ( उद्भूतरूपवन्ति )=चक्षुरिन्द्रियद्वारा प्रत्यक्षयोग्यरूपवाले। परिमाणयुक्तम् = परिमाणसहित अर्थात् परिमाण। 'परिमाण-युक्तम्'—यह विशेषण है और 'विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं' यह विशेष्य है। अभिप्राय यह है कि जैसे विभाग आदि का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है। योग्यवृत्तिः=प्रत्यक्ष के योग्य। तादृशः=वैसा ही प्रत्यक्ष-योग्य। सम्बन्धात्=संयोग सम्बन्ध से।

अन्वयः—उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरः ( स्मृतः )। तद्वन्ति ( उद्भूतरूपवन्ति ) द्रव्याणि नयनस्य गोचराणि ( स्मृतानि ), परिमाणयुक्तं विभागसंयोगपरापरत्व-स्नेहद्रवत्वं योग्यवृत्ति क्रियां योग्यवृत्ति जातिं योग्यवृत्ति समवायञ्च, चक्षुः आलोको-द्भूतरूपयोः सम्बन्धात् गृह्णाति।

अर्थ—उद्भूतरूप, रूपत्व, रूपाभाव तथा उद्भूतरूपवाले द्रव्य अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज तथा पृथ्वीत्व, जलत्व और उनका अभाव, तेजस्त्व, पृथक्त्व और संख्या, विभाग एवं संयोग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, परिमाण, प्रत्यक्ष के योग्यद्रव्य की उत्क्षेपणादि पाँच प्रकार की क्रिया, जाति तथा समवाय सबका ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्रकाश तथा उद्भूतरूप के सम्बन्ध से होता है।



उद्भूतरूपमिति। ग्रीष्मोष्मादावनुद्भूतं रूपमिति न तत्प्रत्यक्षम्। तद्वन्ति = उद्भूतरूपवन्ति ॥ ४५ ॥

मूल कारिका में 'उद्भूत' पद के देने से यह सूचित हुआ है कि ग्रीष्मऋतु में होने वाली भाप ( वाष्प ) में तथा भर्जनकपालस्थवह्नि में 'रूप' उद्भूत न होने से ( अनुद्भूत रूप होने से ) उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। 'तद्वन्ति' पद का अर्थ उद्भूतरूपवन्ति अर्थात् उद्भूतरूपवाले द्रव्य किया है ॥ ५४ ॥

योग्येति। पृथक्त्वादिकमपि योग्यव्यक्तिवृत्तितया बोध्यम्। तादृश योग्य-व्यक्तिवृत्तिरित्यर्थः। चक्षुर्योग्यत्वमेव कथं तदाह—गृह्णातीति आलोकसंयोग उद्भूतरूपं च चाक्षुषप्रत्यक्षे कारणम्। तत्र द्रव्यचाक्षुषं प्रति तयोः समवाय-सम्बन्धेन कारणत्वम्। द्रव्यसमवेतरूपादिप्रत्यक्षे स्वाश्रयमसमवायसम्बन्धेन। द्रव्यसमवेतसमवेतस्य रूपत्वादेः प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेनेति ।५५।

योग्येति। पृथक्त्व और संख्या आदि का भी प्रत्यक्ष, चक्षुःप्रत्यक्षयोग्य पदार्थ में ही होता है। अर्थात् चक्षुःप्रत्यक्षयोग्यपदार्थसमवेत होने पर ही होता है। अतएव परमाणु आदि जो चक्षुःप्रत्यक्षायोग्य व्यक्ति हैं, उनमें रहने वाले पृथक्त्व-संख्या आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। चक्षुर्योग्यत्वमेवेति। पृथक्त्वादि में चक्षुर्जन्यप्रत्यक्षविषयता किस कारण ( प्रयोजक ) से होती है ? उत्तर दे रहे हैं— 'गृह्णातीति।' आलोकसंयोग और उद्भूतरूप, चाक्षुषप्रत्यक्ष में कारण होते हैं। आलोक ( प्रकाश ) संयोग को यदि कारण नहीं कहें तो अन्धेरे में घट-पटादि का भी चक्षुःप्रत्यक्ष होना चाहिए लेकिन होता नहीं। उद्भूतरूप को कारण न कहें तो पिशाचादिकों का भी चक्षुःप्रत्यक्ष होना चाहिए, लेकिन होता नहीं। अतः दोनों को कारण कहा गया है। अर्थात् दोनों को कारण मानने में तर्कजन्य निश्चय ही प्रमाण है। 'यदि आलोकसंयोगः कारणं न स्यात् तदा अन्धकारेऽपि घटादीनां चाक्षुषप्रत्यक्षं स्यात्, एवं यदि उद्भूतरूपं कारणं न स्यात् तदा पिशाचा-दीनामपि प्रत्यक्षं स्यात्।' उन दोनों के कारणतावच्छेदक-सम्बन्ध को बताते हैं— 'तत्रेति'। घट-पट आदि द्रव्यों के चाक्षुष-प्रत्यक्ष में आलोकसंयोग और उद्भूतरूप को समवायसम्बन्ध से कारणता होती है। अर्थात् आलोकसंयोग और उद्भूतरूप का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध 'समवाय' है। क्योंकि घट और आलोक दोनों का संयोग उभयवृत्ति है और गुण-गुणी का सम्बन्ध 'समवाय' होता है यह नियम है। उसी प्रकार उद्भूतरूप भी घट पटादि द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहता है। विषयनिष्ठ साक्षात्कार के प्रति उन दोनों ( आलोक-संयोग और उद्भूतरूप ) को समवायसम्बन्ध से ही कारणता हुआ करती है। द्रव्यसमवेतरूपादीति। घट-पटादि द्रव्यों में समवेत रूपादि के प्रत्यक्ष में स्वाश्रय-समवायसम्बन्ध से दोनों कारण होते हैं। यहाँ 'स्व' शब्द से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप को लेना चाहिए। दोनों का आश्रय समवायसम्बन्ध से 'घट' होगा। उस घट में समवायसम्बन्ध से रूप रहता है। इस परम्परासम्बन्ध से कारण ( आलोकसंयोग और उद्भूतरूप ),

घटरूप में वर्तमान है। तथा च घटादि द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान जो रूप-रसादि, उसका विषयतासम्बन्ध से जो प्रत्यक्ष होता है, उसमें स्वाश्रयसमवाय-सम्बन्ध से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप कारण होते हैं। 'द्रव्यसमवेतसमवेत-स्येति।' उसी प्रकार घटादि द्रव्य में समवेत जो रूपादि, उनमें समवेत जो रूप-त्वादि, उनके प्रत्यक्ष में 'स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्ध' से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप कारण होते हैं। 'स्व' शब्द से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप लेना, उनका आश्रय घट, उसमें समवेत रूप आदि, उसमें 'रूपत्व' समवायसम्बन्ध से रहता है, इस प्रकार रूपत्व' के प्रति परम्परासम्बन्ध से आलोकसंयोग और उद्भूतरूप कारण हैं। अतः रूपत्व के प्रत्यक्ष में उक्त परम्परासम्बन्ध से आलोक-संयोग और उद्भूतरूप कारक होते हैं ॥ ५५ ॥

**उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।**
**रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ॥५६॥**
**द्रव्याध्यक्षे—**

अर्थ—उद्भूत स्पर्श, स्पर्शत्व तथा उद्भूतस्पर्शवान् द्रव्य ये सब त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं। रूप, रूपत्व ( नीलत्व आदि ) जाति के सिवाय जो भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष के योग्य है, उसका त्वगिन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता है। त्वगिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'रूप' कारण है। अर्थात् रूपरहित द्रव्य का यदि स्पर्श भी हो तो उस द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अत एव वायु का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, परन्तु रूपयुक्त घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और उसी घट का त्वचा से भी प्रत्यक्ष हो सकता है।

उद्भूतेति। उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं त्वचो गोचरः। सोऽपि=उद्भूतस्पर्शोऽपि, स्पर्शत्वादिसहितः। रूपान्यदिति। रूपभिन्नं रूपत्वादिभिन्नं च यच्चक्षुषो योग्यं तत्त्वगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम्। तथा च पृथक्त्वसङ्ख्यादयो ये चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ताः, एवं क्रियाजातयो योग्यवृत्तयश्च ते त्वचो ग्राह्या इत्यर्थः।

अत्रापि त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षेऽपि रूपं कारणम्। तथा च बहिरिन्द्रिय-जन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम्।

नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपं न वा स्पर्शः कारणं प्रमाणाभावात् किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वयव्यतिरे-कात्। बहिरिन्द्रियजन्ये द्रव्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमिति चेत्, न किञ्चित्, आत्मा-वृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु। रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेन्न वायोस्त्वगिन्द्रियेणाऽग्रहणप्रसङ्गात्। इष्टापत्तिरिति चेदुद्भूतस्पर्शः एव लाघवात्कारणमस्तु। प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तिरेव किं नेष्यते। तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्यक्षस्य सम्भवाद्वायोरपि प्रत्यक्षं सम्भव-



त्येव। बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपस्य न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम्। वायुप्रभयोरे-कत्वं गृह्यत एव, क्वचिद्द्वित्वादिकमपि, क्वचित्सङ्ख्यापरिमाणाद्यग्रहो दोषा-दित्याहुः ॥ ५६ ॥

॥ चाक्षुषादिप्रत्यक्ष-चक्षुर्विषयादिकथनम् ॥

चाक्षुष प्रत्यक्ष का निरूपण करके अब त्वाच प्रत्यक्ष का निरूपण करते हैं—'उद्भूतस्पर्शवत्' इति। उद्भूतस्पर्शवाले द्रव्य का त्वगिन्द्रिय से ( त्वाच ) प्रत्यक्ष होता है। वे उद्भूतस्पर्श, स्पर्शत्वजाति और स्पर्शाभाव भी त्वगिन्द्रियगोचर होते हैं। रूपान्यदिति। रूपभिन्न, रूपत्वभिन्न, रूपाभावभिन्न और रूपत्वाभावभिन्न जो चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष करने योग्य है, वे सब त्वगिन्द्रिय के भी विषय होते हैं। उसी को स्पष्ट करते हैं—'तथा चेति।' जो पृथक्त्व, संख्या, विभाग, संयोग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, परिमाण आदि गुण और क्रिया, जाति, समवाय यदि योग्यवृत्ति ( प्रत्यक्ष योग्य पदार्थ में रहनेवाले ) हों तो उन सभी का चाक्षुष-प्रत्यक्ष के समान त्वाच प्रत्यक्ष भी हो सकता है। क्योंकि किसी पदार्थ को हम छूकर जान लेते हैं, एवं किसी वस्तु की सख्या को भी स्पर्श करके गिन लेते हैं और संयोग, विभाग या क्रिया का अनुभव भी हम स्पर्श के द्वारा कर सकते हैं। त्वगिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में रूप कारण होता है। तात्पर्य यह है कि बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्ष में 'रूप' को कारण माना गया है। अर्थात् जिस द्रव्य में रूप उद्भूत रहे उसी का बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि रूपरहित द्रव्य का यदि स्पर्श भी हो तो उसे द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता। यही कारण है कि वायु का प्रत्यक्ष नहीं माना गया है। किन्तु रूपवान् घट का जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है वैसे ही उसका त्वाच प्रत्यक्ष भी होता है और स्पर्श-गुण का प्रत्यक्ष, बिना रूप के भी केवल त्वचा से हो सकता है। लेकिन स्पर्शवाले द्रव्य का प्रत्यक्ष तभी होगा जब उस द्रव्य में रूप भी रहे। त्वक् और चक्षु इन दोनों बहिरिन्द्रियों से होने वाले 'पृथ्वी, जल, तेज' संज्ञक द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'रूप' समवाय-सम्बन्ध से कारण होता है। स्पर्शवाले तीन द्रव्यों का ही प्रत्यक्ष माना गया है। त्वाच प्रत्यक्ष के विषय होने वाले तथा रूपवाले इन्हीं तीनों द्रव्यों का स्पार्शन प्रत्यक्ष के समान चाक्षुषप्रत्यक्ष भी होता है। अतः स्पर्श और रूप दोनों को कारण स्वीकार करने के बजाय लाघवेन रूप को ही कारण मानना उचित है, यह प्राचीन नैयायिक कहते हैं।

वायु का प्रत्यक्ष माननेवाले नवीन नैयायिकों का मत उपस्थित कर रहे हैं—नवीनास्त्विति। गंगेशोपाध्याय-गदाधर-जगदीश-मथुरानाथ आदि नवीन नैयायिक हैं।

'नवीनास्तु' का आगे आने वाले 'आहुः' के साथ अन्वय होगा। नवीन नैया-यिकों का कहना है कि द्रव्य के बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमात्र में 'रूप' कारण नहीं

है और न केवल स्पर्श ही कारण है, क्योंकि उसे कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् 'रूपसत्त्वे वायुप्रत्यक्षसत्त्वं, रूपाभावे वायुप्रत्यक्षाभावः' इस अन्वय-व्यतिरेक से युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव है। क्योंकि वायु में उद्भूतरूप के न रहने पर भी स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। उसी तरह 'प्रभा' का स्पर्श न होने पर भी रूप रहने के कारण उसका प्रत्यक्ष होता है। एवं च 'स्पर्शसत्त्वे प्रभाप्रत्यक्षत्वं और स्पर्शाभावे प्रभाप्रत्यक्षाभावः' इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेकसहकृत प्रत्यक्ष-प्रमाण का अभाव है। अतः प्राचीन नैयायिकों का यह कथन—"जिस द्रव्य में उद्भूतरूप रहता है उसी का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु जिस द्रव्य में रूप और स्पर्श दोनों हों तो उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा स्पार्शन प्रत्यक्ष भी होता है। किन्तु जहाँ रूप न हो ऐसे रूपरहित द्रव्य के स्पर्श का तो प्रत्यक्ष हो सकता है, अतएव वायु के स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु स्पर्शवाले द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। अर्थात् वायु संज्ञक द्रव्य का त्वाच प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु उसका अनुमान होता है।"—उचित नहीं है। अर्थात् प्रमाणरहित कार्यकारणभाव मानना ठीक नहीं है। किन्तु 'रूपसत्त्वे-चाक्षुषप्रत्यक्षं तदभावे तदभावः।' उसी तरह 'स्पर्शसत्त्वे त्वाचम्प्रत्यक्षम्, तदभावे तदभावः। इस अन्वय व्यतिरेक के आधार पर चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप को और त्वाच प्रत्यक्ष में स्पर्श को कारण मानना चाहिए। ऐसा मानने पर वायु का त्वाच प्रत्यक्ष भी हो सकेगा, उसे ( वायु को ) अनुमेय कहने की आवश्यकता नहीं है।

शंका—प्राचीन नैयायिक पूछते हैं "बहिरिन्द्रियजन्येति।" बहिरिन्द्रिय-जन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्र में अनुगत कारण है ?

समा०—नवीन नैयायिक कहते हैं "न किञ्चिदिति।" बहिरिन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्षमात्र के प्रति ( सब प्रकार के बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में ) कोई एक अनुगत कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुगत कारण मानने में गौरव होगा। अतः तत्तद्-विशेष कार्य-कारणभाव को ही मानना चाहिए, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है।

शंका—'बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष' कहने से चाक्षुष-स्पार्शन का भी बोध होता है, तब उसके प्रति किसी एक को कारण न मानने पर उसका जो अभाव होगा, वह किस कारण ( प्रयोजक ) से होगा ? अर्थात् चाक्षुषप्रत्यक्षाभाव या त्वाच-प्रत्यक्षाभाव को किम्प्रयोज्य मानोगे ? क्योंकि कार्याभाव भी कारणाभावप्रयोज्य हुआ करता है।

समा०—"आत्मावृत्तीति"। दूसरा कल्प प्रस्तुत कर रहे हैं—'आत्माऽवृत्ति-शब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु।' आत्मनि न वृत्तिः यस्य तादृशो यः शब्दभिन्नो विशेषगुणः अर्थात् पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः रूपादिरेव, तादृशगुणवत्त्व-मेव=रूपादिविशेषगुण एव बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षसामान्यम्प्रति कारणमस्तु। अर्थात्



आत्मा में न रहनेवाले शब्द-भिन्न विशेष गुण वाला होना ही बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्य-प्रत्यक्षसामान्य के प्रति कारण ( हेतु ) है। एवञ्च तादृशगुणवत्त्वाऽभाव ही तादृश-प्रत्यक्षाभाव में प्रयोजक है। पृथिवी आदि चारों द्रव्यों में तादृशगुणवत्ता रहने से तादृशप्रत्यक्ष उनका होता है। 'आत्माऽवृत्ति' कहने से आत्मा के बहिरिन्द्रियजन्य-प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं आता। 'शब्दभिन्न' कहने से आकाश के बहिरिन्द्रियजन्य-प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं आता। 'विशेष' कहने से काल आदि के बहिरिन्द्रियजन्य-प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं आता।

शंका—प्राचीन नैयायिक कहता है 'रूपस्येति'। बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षमात्र के प्रति उद्भूतरूप को लाघवात् कारण मान लेंगे। जिससे अप्रामाणिक अनन्त-कार्य-कारणभावकल्पनारूपगौरव नहीं होगा अपितु शरीरकृत लाघव होगा। क्योंकि नवीन नैयायिक के अनुसार चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतरूपत्वेन, स्पार्शन-प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतस्पर्शत्वेन कारणकल्पना करने पर और चाक्षुषत्व-स्पर्शनत्व-एतदन्यतरावच्छिन्न के प्रति उद्भूतरूपत्व-उद्भूतस्पर्शत्वघटित-अन्यतरावच्छिन्न को प्रयोजक ( कारण ) मानने पर गौरव होता है, अतः तादृशान्यतरावच्छिन्न के प्रति उद्भूतरूपत्वेन उद्भूतरूप को ही कारण ( हेतु ) मान लेने में लाघव होता है।

समा०—नवीन नैयायिक कहता है 'वायोरिति'। 'उद्भूतरूप को कारण मानने में लाघव है'—यह प्राचीनों का कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वैसा मानने पर वायु का त्वाचप्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि रूपवान् द्रव्य का ही त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, रूपरहित का नहीं। अतः वायु में रूप के न होने से उसका त्वगिन्द्रिय से अग्रहण अर्थात् अप्रत्यक्ष होने लगेगा। इसलिये 'रूप' को कारण मानना ठीक नहीं है। इस पर प्राचीन नैयायिक यदि उसे इष्टापत्ति कहे अर्थात् हम ( प्राचीन ) वायु का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष मानते ही नहीं। हम तो उसे ( वायु को ) स्पर्श के द्वारा ( स्पर्शात्मक हेतु से ) अनुमेय मानते हैं। इसलिये नवीनों ने वायु के अप्रत्यक्ष होने की आपत्ति जो हम पर दी हैं वह तो हमें अभीष्ट ही है। वह हमारे लिये कोई दोष नहीं है। क्योंकि वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता, बल्कि स्पर्शलिङ्गक अनुमान से वायु की अनुमति होती है। अतः वायु अनुमेय ही है, प्रत्यक्ष नहीं। एवञ्च नवीनों के द्वारा दी गई आपत्ति तो हमारे लिये इष्टापत्ति ही सिद्ध हुई। अर्थात् हम त्वचा से वायु का प्रत्यक्ष मानते ही नहीं। प्राचीन नैयायिकों के द्वारा ऐसा कहने पर नवीन नैयायिक कहते हैं—"उद्भूत-स्पर्श" इति। विनिगमनाविरह समझ कर नवीन नैयायिक अन्य प्रकार से समाधान कर रहा है। बहिर्द्रव्यमात्रप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न के प्रति उद्भूत स्पर्श को ही कारण मान लो। अर्थात् जैसे आप लाघव के लोभ से 'रूप' को कारण मानते हैं, वैसे ही अर्थात् समान युक्ति से उद्भूत स्पर्श को ही कारण मान लिया जाय

तो क्या हानि है ? जैसे आपके यहाँ लाघव है वैसे ही हमारे यहाँ भी लाघव है, क्योंकि उद्भूतरूपत्व-उद्भूतस्पर्शत्व के साथ कार्यकारणभाव की कल्पना करने से तादृशान्यतरावच्छिन्न को चाक्षुषत्वादिघटित अन्यतरावच्छिन्न के प्रति प्रयोजक मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

शंका—प्राचीन नैयायिक कहते हैं—'प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे इति।' प्रभा ( प्रकाश ) का उद्भूतस्पर्श न होने से उसका ( प्रभा का ) प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।

समा०—उक्त आशंका पर नवीन नैयायिक कहता है—'इष्टापत्तिरेव किं नेष्यत इति।' प्रभा ( प्रकाश ) का प्रत्यक्ष न होना अभीष्ट ही है, ऐसा क्यों नहीं कहते, क्योंकि यदि रूपरहित होने से वायु का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, तो उसी तरह स्पर्श के न होने से प्रभा का भी प्रत्यक्ष नहीं होता, यह क्यों न कहा जाय ? अतः नवीन नैयायिक अपने कथन का उपसंहार करता है-'तस्मादिति।' तुल्य प्रतिबन्दी स्वरूप बाधक के होने से यदि स्पर्शरहित प्रभा का प्रत्यक्ष ( 'प्रभा पश्यामि' इत्याकारक ) दोनों वादियों के मत से माना जाता है और उसका अप्रत्यक्ष होना स्वीकार नहीं किया जाता, उसी प्रकार—'वायुं स्पृशामि' इत्याकारक अनुभव दोनों वादियों को होने से रूपरहित वायु का भी प्रत्यक्ष होता है, यह मान लेना चाहिए। तथा च चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति 'रूप' को और त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति स्पर्श को पृथक्-पृथक् रूप से कारण मान लेना चाहिए। अर्थात् बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्य-प्रत्यक्षसामान्य के प्रति केवल 'रूप' को ही या केवल 'स्पर्श' को ही कारण मानना ठीक नहीं है।

नवीन नैयायिक अपने कथन को पुष्ट करने के लिये एक अन्य युक्ति भी बता रहा है—'वायुप्रभयोरिति।' वायु और प्रभा दोनों में ही संख्या का भी ग्रहण होता है। अर्थात् यह एक पौरस्त्य ( पुरवैया ) वायु है, ये दक्षिण और उत्तर के दो वायु हैं, इस प्रकार वायुगत संख्या का जैसे त्वगिन्द्रिय से ग्रहण ( ज्ञान ) होता है, उसी प्रकार वायु का भी ग्रहण ( ज्ञान ) होता है। वैसे ही यह एक सौरी प्रभा है, ये दो प्रभाएँ हैं, इस प्रकार प्रभागत संख्या का और प्रभा का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। यहाँ 'प्रभा' का उल्लेख दृष्टान्त के रूप में किया गया है। एवञ्च वायु और प्रभा का अलग-अलग ( भिन्न-भिन्न ) प्रत्यक्ष समझना चाहिए। जिस द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, उसी की संख्या का प्रत्यक्ष हो सकता है। अतः वायु और प्रभा की संख्या का प्रत्यक्ष होने से कहना पड़ेगा कि वायु और प्रभा का भी प्रत्यक्ष होता है। 'क्वचिद्द्वित्वादिकमपीति।' जहाँ कहीं अर्थात् वायु और प्रभा का विलक्षणसंयोग जहाँ न हो वहाँ द्वित्व और परिमाण का भी ग्रहण होता है। ऐसी जगह 'अस्मिन् गृहे एका प्रभा, अन्यस्मिन् गृहे एका प्रभा', 'अयमेको वायुः, अयमेको वायुः' इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि का सम्भव होने से 'द्वित्व' की उत्पत्ति होती है, उससे 'द्वितीयोऽयं महान् वायुः' इत्याकारक द्वित्व और परिमाण का भी प्रत्यक्ष होता है। किन्तु उन दोनों का विलक्षणसंयोग होने



पर तादृशसम्बन्धरूप दोष होने से द्वित्व आदि की उत्पत्ति न हो सकने के कारण द्वित्वादि संख्या तथा महत् परिमाण का अग्रहण अर्थात् अप्रत्यक्ष ( प्रत्यक्ष का असम्भव ) होता है, यानि प्रत्यक्ष नहीं होता। ग्रन्थकार ( मुक्तावलीकार ) ने 'आहुः' कहकर नवीनों के मत में आस्वारस्य को सूचित किया है। 'ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः' इस कारिकांश के द्वारा प्राचीनों के अनुसार वायु को अनुमेय ही बताया गया है और यही मत मुक्तावलीकार विश्वनाथ को मान्य है॥ ५६॥

॥ इति चाक्षुषादिप्रत्यक्ष-चक्षुर्विषयादिकथनम्॥

## त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्।

त्वच इति। त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः किं तत्र प्रमाणं ? सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाजननमिति[1]।

बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षसामान्य के प्रयोजक ( कारण-नियामक ) का विचार कर चुके अब जन्यज्ञानमात्र ( ज्ञानसामान्य ) के कारण का विचार कर रहे हैं—'त्वङ्मनःसंयोग' इति। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में ( ज्ञानसामान्य में ) 'त्वङ्मनः-संयोग' अर्थात् 'त्वक् और मन ( मनस् ) का संयोग' ही साधारण कारण है। 'किं तत्र प्रमाणम् ?' जन्यज्ञानमात्र के प्रति त्वङ्मनःसंयोग के कारण कहने में क्या प्रमाण है ? उत्तर देते हैं—'सुषुप्तिकाल'[2] इति। सुषुप्तिकाल ( गाढ़ निद्रा की अवस्था ) में यह 'मन' ( मनस् ), 'त्वक्' को छोड़कर 'पुरीतत्'[3] नाम की नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है। तब 'मन' का 'त्वगिन्द्रिय' के साथ संयोग नहीं रहता, इस कारण सुषुप्तिकाल में ( गाढ़ निद्रा में ) कोई किसी प्रकार का बाह्यज्ञान नहीं रहता। क्योंकि कार्याऽभाव ( कार्य के न होने ) में कारणाऽभाव ( कारण का न होना ) ही प्रयोजक ( हेतु ) होता है। एवञ्च गाढ़ निद्रा में ज्ञानाऽभाव रहने का कारण 'त्वङ्मनःसंयोगाभाव' ही कहना होगा। इस युक्ति के बल पर यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानसामान्य के प्रति 'त्वङ्मनःसंयोग' कारण है। यदि त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानत्वावच्छिन्न के प्रति ( ज्ञानसामान्य के प्रति ) कारण न कहें तो सुषुप्ति अवस्था में भी ज्ञान होना चाहिए, किन्तु उस अवस्था में कोई ज्ञान नहीं होता। तस्मात् त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण कहने में 'सुषुप्तिकालीनज्ञाना-ऽनुत्पत्ति'[4] ही प्रमाण है। जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में मन का पुरीतत् नाड़ी में

१. 'ज्ञानाजननम्' इत्यत्र प्रमाणमित्यनुषज्यते।

२. सुषुप्तिर्नाम गाढनिद्रानाडचवच्छिन्नात्ममनोयोगः।

३. गाढनिद्रानाडी पुरीतत्।

४. अत्रेदं ज्ञातव्यम्—सांख्य मते सुषुप्तिर्द्विधा अर्धलय-समग्रलयभेदात्। अर्धलये विषयाकारा वृत्तिर्न भवति, किन्तु स्वगतसुख-दुख-मोहाकारैव बुद्धिवृत्तिर्जायते। समग्रलये तु बुद्धेर्वृत्तिसामान्याभावो मरणादाविव भवति। एवञ्च "सुषुप्त्याद्य-

प्रवेश न होने के कारण उसका त्वगिन्द्रिय के साथ सम्बन्ध रहता है, इस कारण इन दो अवस्थाओं में सब प्रकार का ज्ञान होता रहता है। गाढ़ निद्रा नाड़ी पुरीतत् के होने में श्रुति का प्रमाण—"हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते।" ( बृहदा० ५।१। २१ ) नवीन नैयायिक सुषुप्ति का क्रम इस प्रकार बताते हैं—प्रथमतः सुषुप्त्यनुकूलमनःक्रिया के द्वारा मन के साथ आत्मा का विभाग, तदनन्तर आत्ममनःसंयोगनाश, तदनन्तर पुरीतत्‌रूप उत्तर देश के साथ मन का संयोग होता है—इसी का नाम सुषुप्ति है।

ऊपर बता चुके हैं कि गाढ़ निद्रात्मक सुषुप्ति में किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि ज्ञानमात्र के प्रति त्वङ्मनःसंयोग कारण होता है। किन्तु यहाँ इस प्रकार सोच सकते हैं कि ज्ञानमात्र के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है, सुषुप्ति में ज्ञानाभाव इसलिए होता है कि उस समय ज्ञानोत्पत्ति के लिये किसी प्रकार की कोई सामग्री नहीं है। जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष के समय चक्षुरिन्द्रिय और बाह्यपदार्थ का संयोग होता है, तब इन्द्रिय का मन से संयोग होता है। एवञ्च चाक्षुषप्रत्यक्ष में कारणीभूत इन्द्रियमनःसंयोगरूप सामग्री जब रहती है तब चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। उक्त करणीभूत सामग्री के न रहने पर चाक्षुषप्रत्यक्ष अपने आप नहीं होता। इसी प्रकार सामग्री के न रहने पर मानसप्रत्यक्ष भी नहीं होता तथा अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध भी नहीं होता, एवं उद्‌बोधकसामग्री के न रहने पर स्मरण ( स्मृति ) भी नहीं होता, उसी तरह सुषुप्ति में सामग्री का अभाव रहने पर ज्ञान का अभाव रहना सम्भव है। अतः त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानमात्र के प्रति कारण ( निमित्त ) मानना आवश्यक नहीं है। उक्त अभिप्राय को ही मन में रखकर अग्रिम ग्रन्थ को शंका के रूप में उपस्थित कर रहे हैं।

**ननु सुषुप्तिकाले किं ज्ञानं भविष्यति अनुभवरूपं स्मरणरूपं वा। नाद्यः। अनुभवसामग्र्यभावात्। तथाहि प्रत्यक्षे चक्षुरादिना मनःसंयोगस्य हेतुत्वात्तदभावादेव न चाक्षुषादिप्रत्यक्षम्। ज्ञानादेरभावादेव न मानसं प्रत्यक्षम्। ज्ञानाद्यभावे चात्मनोऽपि न प्रत्यक्षमिति। एवं व्याप्तिज्ञानाभावादेव नानुमितिः। सादृश्यज्ञानाभावान्नोपमितिः। पदज्ञानाभावान्न शाब्दोबोधः। इत्यनु-**

---

साक्षित्वम्" – ( सां० सू० १।१४८ ) इत्यत्र भिक्षुणा व्याख्यातम्। वेदान्तिनां मते तु समग्रलये जीवः परमात्मना ऐक्यमाप्नोति। एवञ्च "स्वाप्ययात्"—( ब्र० सू० १।१।९ ) इत्यत्र" यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम"—( छां० उ० ६।८।१ ) इति श्रुतिमूलकं विवरीतं भगवच्छङ्करपादैः। मध्वमते—"तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तः"—( बृ० अ० उ० ६।३।१ ) इति श्रुत्या जीवः सुषुप्त्यवस्थायां परमात्मनः आलिङ्गनमात्रम्प्राप्नोति। तस्मात् परमात्मा लिङ्गनावस्थैवे सुषुप्तिः।



**भवसामग्र्यभावान्नानुभवः। उद्‌बोधकाभावाच्च न स्मरणम्। मैवम्, सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छादिव्यक्तेस्तत्सम्बन्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। तदतीन्द्रियत्वे मानाभावात् सुषुप्तिप्राक्काले निर्विकल्पकमेव नियमेन जायत इत्यत्रापि प्रमाणाभावात्।**

शंका—सुषुप्ति के समय किस प्रकार का ( कियद्धर्मावच्छिन्न ) ज्ञान उत्पन्न होगा, अनुभवरूप ( अनुभवत्वावच्छिन्न ) या स्मरणरूप ( स्मृतित्वावच्छिन्न ) ? उनमें से प्रथम अनुभवरूप ज्ञान का होना तो सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुभव की इन्द्रिय, व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, पदज्ञानरूप सामग्री नहीं है। तथा हि—प्रत्यक्षात्मक अनुभव में भी चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति चक्षुर्मनःसंयोग कारण होता है, त्वाचप्रत्यक्ष के प्रति त्वङ्मनःसंयोग कारण होता है, रासनप्रत्यक्ष के प्रति रसनामनःसंयोग कारण होता है, घ्राणजप्रत्यक्ष के प्रति घ्राणमनःसंयोग कारण होता है। श्रावणप्रत्यक्ष के प्रति श्रोत्रमनःसंयोग कारण होता है। अतः 'तदभावादेव' अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ मनःसंयोगात्मक सामग्री के न रहने से ही चाक्षुषादिप्रत्यक्ष ( बाह्यप्रत्यक्षात्मक अनुभव ) नहीं होता है। इस पर यदि कोई कह दे कि बाह्य प्रत्यक्ष भले ही न हो, मानसप्रत्यक्ष तो हो ही जायेगा। इसलिये कहते हैं "ज्ञानादेरभावादेवेति।" मानसप्रत्यक्ष ( अनुभव ) दो प्रकार का होता है—एक तो आत्मवृत्तिज्ञानादिगुणविषयक और दूसरा आत्मविषयक। उसमें से पहला तो ज्ञानादिविशेषगुण का अभाव रहने से ही नहीं हो सकता और दूसरा अर्थात् आत्मविषयक प्रत्यक्ष ( अनुभव ) इसलिये नहीं होगा कि योग्यविशेषगुणात्मकज्ञानादि सामग्री का अभाव है और आत्मा का प्रत्यक्ष तो ज्ञानादिविशेषगुण के सम्बन्ध से ही हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति में सामग्री के न रहने से न बाह्य प्रत्यक्ष होता है और न मानसप्रत्यक्ष ही होता है। उसी तरह 'व्याप्तिज्ञानाभावादेवेति'। हेतुव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यात्मकव्याप्तिज्ञानरूप कारण के अभाव में अनुमितिरूप कार्य भी नहीं होता। 'सादृश्यज्ञानाऽभावादिति'। अनुयोगितासम्बन्ध से तद्भिन्नत्वे सति तद्‌गतभूयो धर्मवत्त्व को 'सादृश्य' कहते हैं। जैसे—'गो सदृशो गवयः' इत्याकारकसादृश्यात्मक कारण के अभाव में उपमितिरूप कार्य भी नहीं होता। पदज्ञानाभावादिति। 'घटो घटपदवाच्यः' इत्याकारक शक्तिज्ञानसहकृतघटपटज्ञानात्मक कारण के अभाव में शाब्दबोधरूप कार्य भी नहीं होता। एवं स्मृतिजनक संस्कारों के उद्‌बोधक प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यादि के न होने से स्मृति ( स्मरण का होना भी सम्भव नहीं। इस रीति से चतुर्विध अनुभवात्मकज्ञान की सामग्री के न रहने से सुषुप्ति में अनुभवात्मक ज्ञान का होना सम्भव ही नहीं है। एवञ्च सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव तो सामग्री के अभाव से ही हो जाता है, उसके लिये 'त्वङ्मनःसंयोग' को ज्ञानमात्र का कारण ( निमित्त ) मानने की क्या आवश्यकता ?

समा०—मैवमिति। यदि ज्ञानसामान्य के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को कारण नहीं

मानेंगे तो सुषुप्ति के प्रारम्भ होने से पूर्व अर्थात् सुषुप्तिप्रथमक्षणाऽव्यवहित पूर्वक्षण में ( स्वप्न के अन्तिम क्षण में ) आत्मा में जो ज्ञान, इच्छा आदि धर्म होंगे उनका प्रत्यक्ष सुषुप्ति में भी बना रहना चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि उनके द्वारा आत्मा का भी प्रत्यक्ष सुषुप्ति में होगा। स्वप्न के अन्तिम क्षण में ( सुषुप्तिप्राक्काल में ) उत्पन्न जो इच्छादिव्यक्ति अर्थात् 'इच्छाया आदिः' इस व्युत्पत्ति से इच्छा का आदि यानि इच्छा का कारण अर्थात् 'अयं घटः' इत्याकारक 'ज्ञानव्यक्ति' है। वह आत्म-विषयकप्रत्यक्ष की कारणभूत विशेषसामग्री है, उसकी स्थिति सुषुप्ति के प्रथम क्षण में होने से उसके साथ मन का सयुक्तसमवायसम्बन्ध है। अतः आत्मा का ज्ञानादि-गुणों के साथ सम्बन्ध हो जाने से 'अहं सुखी', 'अहं-ज्ञानी' इत्याकारक आत्मप्रत्यक्ष का प्रसंग अवश्य प्राप्त होगा। किन्तु त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण मानने पर सुषुप्ति प्रथमक्षण में त्वङ्मनःसंयोगात्मक कारण के न रहने से ज्ञान के प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि त्वङ्मनःसंयोग को स्वप्नान्तिमक्षण तक ही माना गया है। एवञ्च सुषुप्तिप्रथमक्षण में विशेषसामग्री के रहने पर भी सामान्यसामग्री के न रहने से प्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं आता। यदि कोई यह कहे कि सुषुप्ति के पूर्व क्षण में उत्पन्न ज्ञानव्यक्ति ( सुषुप्तिप्राक्कालीन ज्ञानव्यक्ति ) अतीन्द्रिय होती है, इस कारण सुषुप्तिकाल में आत्मप्रत्यक्ष का प्रसंग नहीं प्राप्त होगा। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिप्राक्क्षण में उत्पन्न ज्ञानव्यक्ति को अतीन्द्रिय मानने में कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं है। यदि यह कहें कि सुषुप्तिप्राक्काल में उत्पन्न ज्ञान ( सुषुप्ति से पहले का ज्ञान ) निर्विकल्पक है, अतः वह अतीन्द्रिय है, किन्तु ऐसा कहने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि प्रकारता-संसर्गता विशेष्यताऽनव-गाहिरूप निर्विकल्पक ज्ञान, सुषुप्ति के पूर्व क्षण में नियमेन उत्पन्न होता है इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञानसामान्य ( ज्ञानमात्र ) के प्रति 'त्वङ्मनःसंयोग' को कारण न मानकर विशेष सामग्री को ही यदि कारण मान लिया जाय, तो स्वप्न के अन्तिम क्षण में उत्पन्न जो 'अहं सुखी' इत्याकारक ज्ञान-रूप विशेषगुण हैं, वह आत्मविशेषगुण होने से उसे आत्मा के प्रत्यक्ष होने में कारण-विशेष ( विशेषसामग्री ) माना जा सकता है और वह सुषुप्ति के प्रथम क्षण में विद्य-मान है, अतः आत्मा का मानस प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यह आपको हठात् स्वीकार करना होगा। लेकिन 'त्वङ्मनःसंयोग' को ज्ञान सामान्य के प्रति कारण मानने पर स्वप्न के अन्तिम क्षण तक ही स्थायी रहने वाले उसका ( त्वङ्मनःसंयोग का ) सुषुप्ति के प्रथम क्षण में नाश होता है, तब सामान्यकारण के न होने से आत्म-विषयक प्रत्यक्ष कदापि नहीं हो सकेगा।

अथ ज्ञानमात्रे त्वङ्मनःसंयोगस्य यदि कारणत्वं तदा रासनचाक्षुषादि-प्रत्यक्षकाले त्वाचप्रत्यक्षं स्यात्। विषयत्वक्संयोगस्य त्वङ्मनःसंयोगस्य च ( तत्र ) सत्त्वात्। परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यादिति।



अत्र केचित् पूर्वोक्तयुक्त्या त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानहेतुत्वे सिद्धे चाक्षुषादि-सामग्र्याः स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधात्कल्प्यत इति।

अन्ये तु सुषुप्त्यनुरोधाच्चर्ममनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वं कल्प्यते चाक्षुषादि-प्रत्यक्षकाले त्वङ्मनःसंयोगाभावान्न स्पार्शनप्रत्यक्षमिति वदन्ति।

॥ इति त्वङ्मनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वनिरूपणम् ॥

शंका—त्वङ्मनःसंयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण न माननेवाला शंका कर रहा है—'अथेति'। ज्ञानसामान्य के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को कारण मानने पर जब आम्रफल के रस का रासनप्रत्यक्ष किया जाता है और उसी समय उसके ( आम्र के ) रूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष भी किया जाता है, उस समय आम्रफल के साथ त्वक् संयोग भी रहता ही है। अतः रासन और चाक्षुष प्रत्यक्ष के साथ ही त्वाचप्रत्यक्ष भी होना चाहिए। क्योंकि सामग्री पूरी-पूरी विद्यमान है। मुक्तावलि-कार हेतु बताते हैं कि 'विषयत्वक्संयोगस्य त्वङ्मनःसंयोगस्य च सत्त्वात्' अर्थात् विषय-आम्रादि फल, उसके साथ त्वक्संयोग रहता ही है और त्वक् के साथ मनः-संयोग रहता है। इसलिए चाक्षुष तथा रासनप्रत्यक्ष के साथ ही त्वाचप्रत्यक्ष भी होना चाहिए। इस अवसर पर यदि यह कहा जाय कि चक्षुःसंयोगरूप चाक्षुष-सामग्री अथवा रसनासंयुक्तसमवायरूप रासनसामग्री को हम स्पार्शनप्रत्यक्षज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक मान लेंगे। किन्तु इस प्रकार प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मान लेने पर तो 'परस्परप्रतिबन्धादेकमपि वा न स्यात् इति।' अर्थात् रासनसामग्री में स्पार्शनज्ञान की प्रतिबन्धकता और त्वग्विषयसंयोगरूपस्पार्शनसामग्री में रासनज्ञान की प्रतिबन्धकता रहेगी। उसी प्रकार चाक्षुषसामग्री में स्पार्शनज्ञान की प्रतिबन्ध-कता और स्पार्शनसामग्री में चाक्षुषज्ञान की प्रतिबन्धकता रहेगी। इस रीति से दोनों सामग्रियाँ परस्पर प्रतिबन्धक हो जाने से किसी एक का भी ( रासनप्रत्यक्ष या त्वाचप्रत्यक्ष तथा चाक्षुषप्रत्यक्ष या त्वाचप्रत्यक्ष ) प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो पायेगा। क्योंकि रासनसामग्री और त्वाचसामग्री में परस्पर प्रतिबन्धकता है उसी तरह चाक्षुषसामग्री और त्वाचसामग्री परस्पर प्रतिबन्धकता है। निष्कर्ष यह है कि एक प्रकार के प्रत्यक्ष की सामग्री अन्य प्रकार के प्रत्यक्ष पर प्रतिबन्ध लगा दे तो चाक्षुष या रासन या त्वाचप्रत्यक्ष में से कोई भी प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा।

समा०—ज्ञानमात्र ( ज्ञानसामान्य ) के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को कारण मानने वाला उपर्युक्त शंका का समाधान कर रहा है—'अत्र केचिदिति' यहाँ 'केचित्' पद से त्वङ्मनःसंयोगनिष्ठ ज्ञानसामान्य-कारणतावादी को समझना चाहिए। यह कहता है—सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानाऽजननमित्या-कारिकाया युक्त्या त्वङ्मनःसंयोग में ज्ञानकारणता की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर चक्षुःसंयोगादिरूप चाक्षुषसामग्री स्पार्शनादि प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धक है वह समझ में आ जाता है। एवं च चाक्षुषादि प्रत्यक्षसामग्री, स्पार्शनप्रत्यक्ष की प्रतिबन्धक

रहने से चाक्षुषप्रत्यक्ष के समय त्वङ्मनःसंयोग के रहने पर भी स्पार्शनप्रत्यक्षज्ञान नहीं होगा। अर्थात् त्वाचप्रत्यक्ष तभी होता है जब चाक्षुष या रासनप्रत्यक्ष की सामग्री न हो, क्योंकि चाक्षुष या रासनप्रत्यक्ष की सामग्री उसकी ( त्वाचप्रत्यक्ष की ) प्रतिबन्धक है। अतः त्वाच प्रत्यक्ष में स्वप्रतिबन्धकाभाव का होना आवश्यक है। एवं च चाक्षुष–रासन सामग्री में परस्पर प्रतिबन्धकता न होने से चाक्षुष या रासन प्रत्यक्ष के होने में तो कोई बाधा नहीं है, वह तो हो जायेगा, किन्तु त्वाच-प्रत्यक्ष के प्रति चाक्षुष–रासन–सामग्री ही प्रतिबन्धक होने से केवल त्वाचप्रत्यक्ष ही नहीं होगा, यह हमारा अनुमान अनुभव के बल पर है। तथाहि—'घट-चक्षुरिन्द्रिय-सन्निकर्षः, स्पार्शन प्रत्यक्षप्रतिबन्धकः, रूपीघटः इत्याकारकज्ञानजनकत्वात् ( रूप-विशिष्टघटविषयकज्ञानजनकत्वात् ), यन्नैवं तन्नैवं, यथा त्वाचसन्निकर्षः।' यह अनुमान प्रयोग है।

प्रस्तुत समस्या का समाधान करने के लिए पक्षधरमिश्र एक अन्य मार्ग का अवलम्बन कर रहे हैं—'अन्ये तु इति।' ये मिश्रमहोदय ज्ञानसामान्य के प्रति पूर्वोक्त त्वङ्मनःसंयोग ( त्वङ्मनोयोग ) को कारण न कहकर ( ज्ञानसामान्य के प्रति ) 'चर्म-मनःसंयोग' को कारण बता रहे हैं। इनके अनुसार सुषुप्ति में ज्ञान इसलिए नहीं हो पाता कि उस समय ( सुषुप्ति के समय ) मन ( मनस् ) निद्रानाडी ( पुरीतत् नाडी ) में प्रविष्ट हो जाता है, अतः मन और चर्म का संबंध ( संयोग ) नहीं रहता। चर्म और त्वगिन्द्रिय पर्याय शब्द नहीं हैं, दोनों परस्पर भिन्न हैं। चर्म तो 'त्वगिन्द्रिय' का गोलकस्थान है। अर्थात् 'चर्म' में 'त्वगिन्द्रिय' रहती है। वस्तुतः त्वगिन्द्रिय, चर्म से भिन्न है। उस चर्म के साथ होनेवाला जो मनःसंयोग है, वह ज्ञानसामान्य के प्रति कारण ( हेतु ) है, यह अनुमानप्रमाण से अवगत होता है। तथा हि—'चर्म-मनःसंयोगः, ज्ञानसामान्यकरणं, ज्ञानसामान्याभावधिकरणसुषुप्त्य-वच्छिन्नाभावप्रतियोगित्वात्।' पक्षधरमिश्र के ऊहित कल्प के अनुसार चाक्षुष-रास-नादि प्रत्यक्ष के समय उक्त स्पार्शनप्रत्यक्षापत्तिरूप दोष नहीं होगा, क्योंकि उस समय मन का त्वगिन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं है। अर्थात् त्वङ्मनःसंयोगात्मिका स्पार्शनप्रत्यक्ष-विशेषसामग्री नहीं है। और परस्पर प्रतिवध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पना-गौरव भी नहीं है। निष्कर्ष—पक्षधर मिश्र के मत में—ज्ञान सामान्य के प्रति चर्ममनःसंयोग कारण है, और विशेषज्ञान में तत्तदिन्द्रिय-मनःसंयोग कारण है। जाग्रत और स्वप्न में सर्वदैव चर्ममनःसंयोग के विद्यमान रहने पर भी जिस विशेष इन्द्रिय के साथ मनःसंयोग रहेगा तज्जन्य प्रत्यक्ष होगा, अन्य नहीं। केचित् पक्ष में—ज्ञान-सामान्य के प्रति त्वङ्मनःसंयोग को हेतु मानने में और स्पार्शनप्रत्यक्ष में चाक्षुषादि सामग्री को प्रतिबन्धक मानने में गौरव है।

अन्ये तु कल्प में—चर्म-मनःसंयोग को हेतु मानने में गौरव है, यही अस्वा-रस्य है।

॥ इति त्वङ्मनःसंयोगस्य ज्ञानहेतुत्वव्यवस्थापनम् ॥



**मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः ॥५७॥**

अर्थ—सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, मति ( बुद्धि ), कृति ( प्रयत्न ) ये सब तथा सुखत्वादि जातियाँ तथा सुखाद्यभाव और सुखत्वाद्यभाव ये सब मन से ग्राह्य होते हैं।

मनोग्राह्यमिति। मनोजन्यप्रत्यक्षविषय इत्यर्थः। मतिर्ज्ञानम्। कृतिः प्रयत्नः। एवं सुखत्वदुःखत्वादिकमपि मनोग्राह्यम्। एवमात्मापि मनोग्राह्यः, किन्तु मनोमात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वादत्र नोक्तः ॥ ५७ ॥

॥ इति मनोग्राह्यविषयनिरूपणम् ॥

'मनोग्राह्यमिति।' 'मनोग्राह्यम्' का अर्थ कर रहे हैं—मनस् ( मन ) संज्ञक इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्ष का विषय होना। यानी मानोमात्रजन्य अर्थात् मानसत्वाश्रयनिरूपितलौकिक विषयतावाला होना। ऐसा परिष्कार करने से चाक्षुष प्रत्यक्ष में कोई क्षति नहीं पहुँची क्योंकि चाक्षुषादि प्रत्यक्ष भी मनोजन्य हैं, तथापि उसमें मानसत्वाश्रयनिरूपितलौकिकसन्निकर्षप्रयोज्यविषयता नहीं है। करणव्युत्पत्ति के द्वारा 'मति' शब्द चक्षुरादिप्रमाणपरक है, यह कहने के लिए 'मति' का अर्थ 'ज्ञान' बताया। उसी तरह करण व्युत्पत्ति के द्वारा 'कृति' शब्द, कृति-साधनपरक होने से 'कृति' का अर्थ 'प्रयत्न' किया है। एवं सुखत्व आदि जातियाँ भी मनइन्द्रिय से ग्राह्य हैं। 'आदि' शब्द से इच्छात्व आदि, सुख, सुखत्वाद्यभाव को समझना चाहिए। आत्मा भी मनोग्राह्य है तो उसे यहाँ पर क्यों नहीं बताया ? इसलिए नहीं बताया कि पहले 'मनोमात्रस्य गोचरः'—( कारि-५० ) द्वारा उसे मनोग्राह्य बता दिया गया है, यहाँ पुनः कहते तो पुनरुक्ति हो जाती, इसलिये यहाँ नहीं कहा ॥ ५७ ॥

॥ इति मनोग्राह्यविषयनिरूपणम् ॥

**ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते।**
**महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥**

अर्थ—निर्विकल्पक जो ज्ञान है, उसे अतीन्द्रिय माना जाता है। निर्गतो विकल्पो विशेषण-विशेष्यभावः यस्मात् तत् निर्विकल्पकम्, तदेव आख्या यस्य तत् निर्विकल्पाख्यं। विशेषण-विशेष्यभाव जिस ज्ञान में न हो उसे 'निर्विकल्प' यह नाम दिया गया है। वह निर्विकल्पसंज्ञक ज्ञान, अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों के परे है, यानी इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है, ऐसा नैयायिक लोग मानते हैं। निष्कर्ष यह है कि 'विषयता' तीन प्रकार की होती है—१. विशेष्यताख्य विषयता, २. विशेषण-ताख्यविषयता, ३. संसर्गताख्याविषयता। इन त्रिविध विषयताओं से अतिरिक्त एक चतुर्थ विषयता निरूपक जो ज्ञान हो उसे 'निर्विकल्पकज्ञान' कहते हैं, जैसे 'किञ्चित्' यह ज्ञान, निर्विकल्पक है। इस निर्विकल्पक ज्ञान को कुमारिलभट्टपाद ने अपने श्लोकवार्तिक में इस प्रकार बताया है—

"अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥"

'शुद्धवस्तुजम्' का अर्थ है विशेषण-विशेष्यभावानुल्लेखि। घ्राणज, रासन, श्रोत्रज, स्पार्शन और मानस इन षड्विध ( छह प्रकार के ) प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व ( महत् परिमाण ), साक्षात्सम्बन्ध ( समवाय ) और परम्परासम्बन्ध ( समवेत-समवाय आदि ) से कारण होता है। अर्थात् जन्यप्रत्यक्षसामान्य के प्रति लौकिक-विषयता-सम्बन्ध से 'महत्त्व' को कारण ( नियत पूर्ववृत्ति ) समझा जाता है। उक्त छहों प्रकार के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय ( चक्षुरादि इन्द्रिय ) करण ( असाधारण कारण ) होता है। यहाँ समझ लेना चाहिए—प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का है—एक तो 'अयं घटः' इत्याकारक सविकल्पज्ञान और एक सविकल्पज्ञान से पहिले होने वाला 'इदं किञ्चित्'—यह कुछ है—इत्याकारक निर्विकल्पकज्ञान। इस निर्विकल्पकज्ञान को सविकल्पकज्ञान के पूर्व अवश्य मानना पड़ता है।

**चक्षुःसंयोगाद्यनन्तरं 'घट' इत्याकारकं घटत्वादिविशिष्टं ज्ञानं न सम्भवति, पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात्। विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात्। तथा च प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाह्येव ज्ञानं जायते। तदेव निर्विकल्पकम्। तच्च न प्रत्यक्षम्।**

घट के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध होने के पश्चात् ही तत्काल 'किञ्चित्' ( कुछ है ) यह ज्ञान होता है। यहाँ पर 'घटत्व' और 'घट' स्वतन्त्ररूप से भासित होते हैं, उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये 'घटत्व-घटौ' इत्याकारक होने वाले ज्ञान को ही 'वैशिष्ट्या ( सम्बन्धा ) नवगाहि' कहते हैं इस अवस्था में उनके पृथक् पृथक् भासने से और उनमें विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध न होने से हमें उस निर्विकल्पकज्ञान का साक्षात्कार भी नहीं हो सकता। इसलिये निर्विकल्पकज्ञान को अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्षायोग्य माना गया है। और इसी ज्ञान को 'निर्विकल्पक' कहा जाता है। इसके पश्चात् 'अयं घटः' ( घटत्वविशिष्टो घटः ) इत्याकारक अर्थात् घटत्वादिविशिष्ट ( समवायेन घटत्वविशिष्ट ) जो व्यवसायात्मक ज्ञान होता है, उसे 'सविल्पक' कहते हैं। सविल्पकज्ञान होने के पश्चात् 'घटमहं जानामि' ( घटविषयकज्ञानवानहम् ) इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है, इस ज्ञान को 'विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान' कहते हैं। इतना समझ लेने के बाद अब मुक्तावली 'चक्षुःसंयोगाद्यनन्तरं' को पढ़िये। चक्षुरिन्द्रिय और घट का संयोग होने के बाद सबसे पहिले 'घटः' अर्थात् अयं घटः=यह घट ( घटत्ववान् घटः ) है' इत्याकारक घटत्वादि-विशिष्टज्ञान ( सविकल्पकज्ञान ) नहीं होता अभिप्राय यह है—अयं घटः इत्याकारकज्ञान, घटत्वादिप्रकारक घटत्ववद्विशेष्यकस्वरूप जो विशिष्टज्ञान है, वह उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि अयं घटः ( घटत्ववान् घटः ) इत्याकारक ज्ञान के अव्यवहित पूर्व ( प्राक् ) क्षण में ( 'यह घट है' इस ज्ञान से पहिले ) 'घट' और 'घटत्व' का विशेष्य-विशेषणभाव से रहित ( वैशिष्ट्यानवगाहि ) ज्ञान होता है। अर्थात् 'अयं घटः' इस सविकल्पकज्ञान होने के पहिले विशिष्टज्ञान-निरूपितविशेषणताश्रयस्वरूप विशेषणभूत घटत्व और समवाय का कारणत्वेनरूपेण ( कारण के रूप में ) ज्ञान नहीं है।



शंका—विशेषणज्ञान के न होने पर विशिष्टज्ञान के न होने में क्या कारण है?

समा०—विशिष्टबुद्धाविति। अयं घटः ( घटत्ववान् घटः ) इस विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषण ( घटत्व ) का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान कारण होता है। क्योंकि 'नाऽगृहीतविशेषणा बुद्धिः विशिष्टे उपजायते' यह नियम है। इसलिए 'घटत्व-घटौ' इस निर्विकल्पात्मक ज्ञान को मध्य में अवश्य मानना ही होगा। अनुमान इस प्रकार करेंगे—"अयं घट इति विशिष्टबुद्धिः विशेषणज्ञानजन्या, विशिष्ट बुद्धित्वात्, दण्डीपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्।" इसी को स्पष्ट करते हैं–'तथा चेति।' घट और घटत्व ( विशेष्य और विशेषण ) का अर्थात् धर्मी और धर्म का 'वैशिष्ट्यानवगाहि एव' अर्थात् विशेष्यत्व, प्रकारत्व, संसर्गत्व को विषय न करने वाला ही ज्ञान होता है। इसी वैशिष्ट्यनिष्ठ सांसर्गिक विषयतानिरूपितविषयिताशून्य ज्ञान को निर्विकल्पकज्ञान कहते हैं। और यह निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य नहीं होता ( निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता अर्थात् वह अनुमेय है। ) निष्कर्ष यह है—'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान, विशिष्ट ज्ञान है, क्योंकि इस ज्ञान में घट-घटत्व और दोनों का सम्बन्ध भासित होता है। उनमें 'घटत्व' विशेषण ( प्रकार ) है, और 'घट' विशेष्य है तथा जातिव्यक्तिरूप उन दोनों का परस्पर जो 'समवाय' है, वही सम्बन्ध है। 'अयं घटः' 'इत्याकारक ज्ञान के ये तीन ही विषय होते हैं। और विशिष्ट ज्ञान, सर्वदा विशेषण ज्ञान पूर्वक ही होता है। यह नियम है। एवं च इसके पूर्व घट-घटत्व का पृथक्-पृथक् ( बिशकलित ) जो ज्ञान हुआ था, वही वैशिष्ट्यानवगाहि 'इमे घट-घटत्वे' इत्याकारक निर्विकल्पक ज्ञान था। वह निर्विकल्पक ज्ञान अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं। सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

"नामादिभिर्विशिष्टार्थ विषयं सविकल्पकम्।
अविशिष्टार्थविषयम्प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।"—तार्किकरक्षा

नामादि विशेषण शून्य स्वलक्षणमात्र विषयक निर्विकल्पक होता है। अर्थात् विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध-एतत् त्रितयातिरिक्त विषयता निरूप्य यह ज्ञान है।

**तथाहि वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानस्य प्रत्यक्षं न भवति 'घटमहं जानामी'ति प्रत्ययात्। तत्रात्मनि ज्ञानं प्रकारीभूय भासते। ज्ञाने घटस्तत्र घटत्वम्। यः प्रकारः स एव विशेषणमित्युच्यते। विशेषणे यद्विशेषणं तद्विशेषणतावच्छेदकमित्युच्यते। विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाने कारणम्। निर्विकल्पके च घटत्वादिकं न प्रकारस्तेन घटत्वादिविशिष्टघटादिवैशिष्ट्यमानं**

**ज्ञाने न सम्भवति। घटत्वाद्यप्रकारकं च घटादिविशिष्टज्ञानं सम्भवति। जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वनियमात्।**

॥ इति निर्विकल्पकस्याऽतीन्द्रियत्वनिरूपणम् ॥

ऊपर बता चुके हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान अतीन्द्रिय होता है अर्थात् मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। परन्तु क्यों नहीं होता? यह प्रश्न करने पर उत्तर दे रहे हैं–"तथा हीति"। उसी ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, जिसमें विशेष्य विशेषण भाव रहता है। अर्थात् जिस ज्ञान में विशेष्य-विशेषण भाव नहीं रहता उसका प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। ज्ञान में विशेष्य-विशेषणभाव रहने का अर्थ यह है कि ज्ञान में उद्देश्य-विधेयभाव हो। अर्थात् किसी वस्तु के विषय में कुछ कहा जाय।

क्वचित् विशेष्य-विशेषण भाव रहित भी दो पदार्थों का ज्ञान यद्यपि होता है, जैसे निर्विकल्पक दशा में 'घट' और 'घटत्व' का ज्ञान हुआ करता है। किन्तु उस ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष ( अनुव्यवसाय ) ज्ञान नहीं होता, यह बात अनुभव-सिद्ध है। 'अहं घटं जानामि'––मैं घट को जानता हूँ––यह आकार, ज्ञान के प्रत्यक्ष होने का है। यहाँ 'घट' का अर्थ होता है 'घटत्ववान् घट:'–'घटत्व' विशेषण से युक्त घट अर्थात् घटत्वावच्छिन्न घट। इसी मानस प्रत्यक्ष ( अनुव्यवसाय ) का विश्लेषण मुक्तावलीकार कर रहे हैं। हमारे व्यावहारिक प्रयोजन निष्पादक सभी ज्ञानों में विशेष्य-विशेषण भाव रहता है, यह ऊपर कहा ही गया है। 'अहं घटं जानामि' यह ज्ञान 'अनुव्यवसाय' ( मानस प्रत्यक्ष ) रूप है। इसका अर्थ है 'घटज्ञानवान् अहम्'। इसमें 'मैं' ( आत्मा ) विशेष्य है, और उसका विशेषण 'ज्ञान' है। ज्ञान ( व्यवसाय ) का स्वरूप है 'अयं घट:'––यह घट है––यह ज्ञान चाक्षुषप्रत्यक्षात्मक है। इस चाक्षुषप्रत्यक्षात्मक ज्ञान में 'घट' विशेषण है, किन्तु 'घट' का अर्थ है 'घटत्व-विशिष्ट घट'। इस कथन का विश्लेषण यह हुआ कि 'ज्ञान' में 'घट' विशेषण है और 'घट' में 'घटत्व' विशेषण है। एवं च 'अयं घट:' इत्याकारक ज्ञान में 'घटत्वविशिष्ट घट' भासित होता है। विशेषण से जो युक्त होता है उसे 'विशिष्ट' कहते हैं। विशेषण का कार्य व्यावर्तन ( अलग या पृथक् करना ) करना है। इसलिये विशेषण को व्यावर्तक कहते हैं। व्यावर्तक का अर्थ है दूसरों से अलग ( पृथक् ) करने वाला। जैसे 'लाल पुष्प' को अन्य सफेद, पीले, नीले, गुलाबी आदि रंगों के पुष्पों से पृथक् ( अलग ) कर दिया है। इसलिए 'लाल' विशेषण को व्यवहार की भाषा में व्यावर्तक कहा जायेगा। इसी व्यावर्तक ( विशेषण ) को नैयायिक विद्वान् 'अवच्छेदक' शब्द से कहते हैं। क्योंकि दूसरों से अलग करने वाले को ही 'अवच्छेदक' कहते हैं। यह समझ लेने के बाद अब प्रस्तुत प्रसंग को सोचिये। 'अयं घट:' इत्याकारक ज्ञान में 'घट' विशेषण है, इसने दूसरे-दूसरे ( अन्यान्य ) ज्ञानों से प्रस्तुत ज्ञान ( अयं घट: इत्याकारक ज्ञान ) को पृथक् कर दिया है। ऊपर बता चुके हैं कि 'घट' का अर्थ है



'घटत्वविशिष्ट घट'। अत: स्पष्ट है कि 'घट' में 'घटत्व' विशेषण है। अर्थात् 'अयं घट:' इत्याकारक ज्ञान में विशेषणीभूत 'घट' का 'घटत्व' विशेषण हुआ। न्याय में विशेषण को ही 'अवच्छेदक' कहते हैं। अत: 'घटत्व' अवच्छेदक कहलाया। इससे यह समझ में आया कि ज्ञान में विशेषणीभूत 'घट' की विशेषता 'घटत्व' से अवच्छिन्न है, यानि विशेषणीभूत घटनिष्ठ विशेषणता का अवच्छेदक 'घटत्व' है। एवं च 'घटत्व' को घटनिष्ठ विशेषणता का अवच्छेदक कहा जाता है। अत: घटत्वावच्छिन्न घट कहने पर घटत्वावच्छिन्ना घटनिष्ठा विशेषणता समझनी चाहिए। इसी प्रकार 'अहं घटं जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक ( मानस प्रत्यक्षात्मक ) जो ज्ञान है, वही 'विशिष्टवैशिष्ट्य ज्ञान है; क्योंकि 'अयं घट:' यह विशिष्ट ( विशेष्य-विशेषण भावयुक्त ) ज्ञान है और 'अहं घटं जानामि' यह ज्ञान 'अयं घट:' इस विशिष्ट ज्ञान की विशिष्टता ( विशेषणता ) से युक्त है। इस कारण 'अहं घटं जानामि' इस अनुव्यवसायज्ञान को 'विशिष्ट-वैशिष्टयज्ञान' समझना चाहिए। इस अनुव्यवसाय ज्ञान के प्रति 'घटत्वविशिष्टघट' का ज्ञान कारण है। 'घटत्वविशिष्टघटज्ञान' को ही 'विशेषणतावच्छेदक प्रकारकज्ञान' कहते हैं। अर्थात् 'विशेषणतावच्छेदक' जो 'घटत्व' वह है 'प्रकार' ( विशेषण ) जिस ज्ञान में–ऐसा ज्ञान। यह अनुभव होता है, इसके बलपर ही यह कहा जा रहा है कि अनुव्यवसाय ( मानसप्रत्यक्ष ) ज्ञान तभी होता है कि जब ज्ञान के विषय में कोई विशेषणता हो अर्थात् 'ज्ञान' विशेषणरहित (निष्प्रकारक) न हो। निर्विकल्पकज्ञान का स्वरूप ही यह है कि वह निर्विशेषण ( निष्प्रकारक ) होता है। यद्यपि निर्विकल्पकज्ञान में 'घट' और 'घटत्व' दोनों का ज्ञान होता है, तथापि उस ज्ञान में 'विशेष्य-विशेषणभाव' नहीं है, अत: उस ज्ञान को निष्प्रकारक होने से उस ( निर्विकल्पकज्ञान ) का मानसप्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिए इस निर्विकल्पकज्ञान को 'अतीन्द्रिय' कहा जाता है। 'अयं घट:' इत्यकारकज्ञान को विशिष्टज्ञान तभी कहा जा सकेगा जब कि 'घट' में 'घटत्व' प्रकार ( विशेषण ) होगा। 'घटत्व' को 'घट' में प्रकार ( विशेषण ) किये बिना 'अयं घट:' इस ज्ञान को विशिष्टज्ञान नहीं कहा जायेगा। क्योंकि 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' को छोड़कर सभी पदार्थ का ज्ञान किसी विशेषणता ( प्रकारता ) को लेकर ही होता है और तभी उसका मानसप्रत्यक्ष हो पाता है। यदि उस ज्ञान में कोई विशेषणता न हो तो उसका प्रत्यक्ष न होगा। इसी कारण निर्विकल्पज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता अर्थात् उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ ( वस्तु ) का ज्ञान किसी न किसी विशेषणता ( प्रकारता ) के साथ होता है, किन्तु 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' का ज्ञान प्रकारता ( विशेषणता के ) बिना ही होता है। क्योंकि 'घट' का ज्ञान तो 'घटत्व' की विशेषण के साथ ही होता है, और यदि 'घटत्व' का ज्ञान भी किसी अन्य ( दूसरी ) विशेषणता के साथ माना जाय तो अनवस्था हो जायेगी। इस कारण 'जाति' और 'अखण्डोपाधि' का ज्ञान बिना प्रकारता ( विशेषणता ) के ही स्वीकार किया गया है। पदार्थों ( वस्तुओं ) में रहनेवाले

सामान्यधर्म दो प्रकार के होते हैं—एक तो नित्यधर्म 'सामान्य' ( जाति ) के रूप में जिन धर्मों का संसार में अस्तित्व है, जैसे ( गो=गाय ) में रहने वाला 'गोत्व', घट, पट में रहने वाला 'घटत्व-पटत्व' आदि, धर्मों का संसार में अस्तित्व है। किन्तु कतिपय सामान्य धर्म ऐसे भी हैं, जिनका संसार में वस्तुतः अस्तित्व नहीं है, तथापि कल्पना के बलपर माने जाते हैं। कतिपय समान गुणों के कारण उन धर्मों की भी कल्पना कर ली जाती है और उन्हें 'सामान्यधर्म' या 'उपाधि' कहते हैं। सभी गौओं में समानता की प्रतीति होती है, इसलिए 'गोत्व' को सामान्य ( जाति ) के रूप में कहा जाता है। उसी तरह भारतीयों में विदेशियों में भी भारतीयत्व-विदेशीयत्व धर्म को सामान्य ( जाति ) के रूप में नहीं माना जायगा, अपितु इन धर्मों को 'उपाधि' के रूप में माना जायेगा जिसकी कल्पना अपने विचार या बुद्धि के बल पर की जाती है, उसे नित्य नहीं कहा जा सकता वह केवल मानसिक होने के कारण संसार में उसका वास्तविक रूप में अस्तित्व नहीं है, अपितु केवल व्यावहारिक अस्तित्व है। ऐसे धर्मों को 'उपाधि' कहते हैं। जाति' का वास्तविक अस्तित्व हो जाता है। और 'उपाधि' का काल्पनिक अस्तित्व होता है, जाति और उपाधि में भेद है। 'गोत्व' 'मनुष्यत्व' 'घटत्व' आदि धर्म 'जाति' रूप हैं और प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व आदि धर्म 'उपाधि' रूप हैं। यह उपाधि भी दो प्रकार का है-एक सखण्डोपाधि और दूसरा अखण्डोपाधि। जिन उपलब्धियों का निरूपण ( निर्वचन ) किया जा सकता है, जैसे-भारतीयत्व ( भारत में उत्पन्न होना ), विदेशीयत्व ( विदेश में उत्पन्न होना ) आदि। परन्तु जिनका निरूपण ( निर्वचन ) नहीं किया जा सकता, उन्हें अखण्डोपाधि कहते हैं। जैसे—आकाशत्व, प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व आदि। एवं च जाति और उपाधि का भी ज्ञान बिना विशेषणता ( प्रकारता ) के ही होता है। अन्यथा अनवस्था दोष होगा। जात्यादि धर्मों का निरवच्छिन्नज्ञान होता है किन्तु तद्भिन्न जातिमदादिपदार्थों का ज्ञान किसी न किसी विशेषण से अवच्छिन्न ही हुआ करता है, यह नियम है। इस कारण घटत्वादि धर्मों का ( विशेषणों का ) निर्विकल्पकज्ञान ही होता है। यह अवश्य स्वीकार करना होगा। नैयायिकों के अनुसार निर्विकल्पज्ञान वह है जिसमें नाम, जाति आदि का सम्बन्ध न हो और जो निष्प्रकारक ( विशेषणमात्र ) हो तथा जो केवल वस्तुस्वरूपमात्र का ग्रहण करता हो। जैसे "किञ्चिदिदम्" अथवा दूर से "अस्ति किञ्चित्"।

सांख्य के अनुसार 'आलोचनात्मकज्ञानविशेष' निर्विकल्पकज्ञान है। अद्वैत-वेदान्तियों के अनुसार जिस ज्ञान में ज्ञातृ-ज्ञेय आदि विभाग न हो, और ब्रह्म—आत्मा की एकता जिसका विषय हो तथा विशेष्य-विशेषण-भावसम्बन्धशून्य, अखण्डकार जो ज्ञान हो, वह निर्विकल्पकज्ञान है। प्राभाकरमीमांसक 'निर्विकल्पज्ञान' को ही नहीं मानते। इनके मत में विशिष्टज्ञान के प्रति 'विशेषणज्ञान' की कारणता नहीं है। द्रव्यविशिष्टप्रत्यक्ष में प्रतिसन्धानविशिष्ट की भी कारणता होती है।



पदार्थ रत्नमालाकार ने कहा है—

"विशेषणं विशेष्यञ्च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम्।
गृहीत्वा सङ्कलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा॥"

अर्थ—उक्त षड्विध प्रत्यक्ष में अर्थात् चाक्षुष, रासन, घ्राणज, श्रोत्रज, त्वाच, और मानस प्रत्यक्ष में 'महत्त्व' परिमाण को कारण माना जाता है। अर्थात् लौकिक विषयता सम्बन्ध से जन्य प्रत्यक्ष सामान्य के प्रति, 'महत्त्व' ( महत् परिमाण ) नियत् पूर्ववृत्ति ( कारण ) होता है।

महत्त्वमिति। द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वं समवायसम्बन्धेन कारणम्। द्रव्यसमवेतानां गुणकर्मसामान्यानां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन कारणम्। द्रव्यसमवेतसमवेतानां गुणत्वकर्मत्वादीनां प्रत्यक्षे स्वाश्रय समवेतसमवायसम्बन्धेन कारणमिति।

उपर्युक्त महत्त्व ( महत् परिमाण ) किस किस सम्बन्ध से कहाँ कहाँ कारण होता है यह बता रहे हैं—"द्रव्यप्रत्यक्ष" इति। लौकिक सन्निकर्षप्रयोज्यविषयता सम्बन्ध से द्रव्यवृत्ति चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति और स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति समवाय सम्बन्ध से 'महत्-परिमाण' ( महत्त्व ) कारण होता है। क्योंकि 'महत्त्व' गुण है और 'द्रव्य' गुणी है। गुण और गुणी का सम्बन्ध 'समवाय' माना गया है। अर्थात् जिस द्रव्य में 'महत्त्व' समवेत ( समवाय सम्बन्ध से रहता ) हो, उसी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, दूसरे का नहीं। द्रव्य में समवेत ( समवाय सम्बन्ध से रहने वाले ) गुण, कर्म, और सामान्य ( जाति ) के लौकिकसन्निकर्षप्रयोज्यविषयता सम्बन्ध से होने वाले चाक्षुष प्रत्यक्ष ( चाक्षुष प्रत्यक्षत्वादि धर्मावच्छिन्न ) के प्रति स्वाश्रयसमवायसम्बन्ध से 'महत्त्व' कारण होता है। यहाँ पर 'स्व शब्द से 'महत्त्व' ( महत्परिमाण ) को लेना है, उसका आश्रय 'द्रव्य' होगा, उसमें गुण, कर्म, सामान्य का 'समवाय' है। अतः द्रव्य के गुण, कर्म, सामान्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'स्वाश्रय-समवाय' सम्बन्ध से 'महत्त्व' ( महत्परिमाण ) कारण होता है। नैयायिक विद्वान् गुण में रहने वाली 'गुणत्व' जाति, तथा कर्म में रहने वाली 'कर्मत्व' जाति का भी प्रत्यक्ष मानते हैं। क्योंकि द्रव्य में 'गुण' तथा 'कर्म' समवेत हैं और उनमें ( गुण-कर्म में ) गुणत्व, कर्मत्व जाति का समवाय है। इस कारण 'गुणत्व, कर्मत्व' जातियाँ द्रव्य-समवेत-समवेत कहलाती हैं। अतः उनके ( गुणत्व-कर्मत्व जातियों के ) प्रत्यक्ष में 'स्वाश्रय-समवेत-समवाय सम्बन्ध से 'महत्त्व' ( महत्परिमाण ) कारण होता है। यहाँ पर भी 'स्व' शब्द से 'महत्त्व' को लेना है। उसका ( महत्त्व का ) आश्रय 'द्रव्य' होगा, उसमें ( द्रव्य में ) समवेत 'गुण-कर्म' हैं, उनमें ( गुण-कर्म में ) गुणत्व, कर्मत्व का समवाय है।

**इन्द्रियं करणं मतम् ॥ ५८ ॥**

अर्थ—उक्त षड्विध प्रत्यक्ष में 'इन्द्रिय' करण ( असाधारण कारण ) है।

इन्द्रियमिपि। अत्रापि षड्विध इत्यनुषज्यते। इन्द्रियत्वं तु न जातिः पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यप्रसङ्गात्। शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। आत्मादिवारणाय सत्यन्तम्। उद्भूतविशेषगुणस्य शब्दस्य श्रोत्रे सत्त्वाच्छब्देतरेति। विशेषगुणस्य रूपादेश्चक्षुरादावपि सत्त्वादुद्भूतेति।

मूल कारिका में स्थित 'इन्द्रियं करणं मतम्' के आगे पूर्वोक्त 'षड्विधे' पद का अनुषङ्ग करना चाहिए। इसी बात को बताने के लिये 'अत्रापि' कहा गया है। तथा च 'चाक्षुषत्वादिप्रत्येकधर्मावच्छिन्ननिरूपितव्यापारसम्बन्धावच्छिन्नकारणताश्रयीभूतं यत्, तत् इन्द्रियविभाजकचक्षुष्ट्वादिप्रत्येकधर्मावच्छिन्नम्' यह अर्थ निष्पन्न हुआ। तादृशकारणतावच्छेदक चक्षुष्ट्वादि प्रत्येक धर्मवाले षड्विध प्रत्यक्ष में 'इन्द्रिय' करण होता है।

शंका—इन्द्रियाँ तो अनेक हैं और 'इन्द्रियत्व' धर्म एक है, जो समस्त इन्द्रियों पर रहता है। अतः 'इन्द्रियत्व' धर्म 'जाति' रूप हुआ, क्योंकि वह (इन्द्रियत्व-धर्म) स्वयं नित्य होता हुआ अनेक समवेत है, घटत्व के समान 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वात् घटत्वादिवत्'। अतः उसी जाति रूप इन्द्रियत्व धर्म के द्वारा ही 'इन्द्रिय' को षड्विध प्रत्यक्ष के प्रति हेतु मान लिया जाय। इस प्रकार मानने में छह कार्य-कारण भाव नहीं मानने पड़ेंगे, तो लाघव होगा।

समा०—'इन्द्रियत्व' धर्म 'जाति' रूप नहीं है, अपितु वह सखण्डोपाधिरूप धर्म है। उस धर्म को 'जाति' रूप न मानने में 'संकर' नामक दोष बाधक होता है, "पृथिवीत्वादिना" इति। 'संकरदोष' का स्वरूप इस प्रकार होगा—'पृथिवीत्व' को छोड़कर 'इन्द्रियत्व' धर्म चक्षुरादिकों में विद्यमान है, तथा 'इन्द्रियत्व' धर्म को छोड़कर 'पृथिवीत्व' धर्म घटादिकों में है। ये दोनों धर्म (पृथिवीत्व-इन्द्रियत्व) घ्राणेन्द्रिय में समाविष्ट हैं, अतः यह 'संकर' है। एवञ्च संकरदोष से युक्त होने के कारण 'इन्द्रियत्व' धर्म को जातिरूप नहीं माना जाता। तस्मात् 'इन्द्रियत्वं' न जातिः "इन्द्रियत्वं जातित्वाभाववत्, स्वाभाववद्वृत्ति-स्वसमानाधिकरणधर्माभाववद्वृत्तित्वात्।" इन्द्रियत्व के जाति न होने में यह अनुमान-प्रयोग है।

शंका—'इन्द्रियत्व' धर्म यदि जातिरूप नहीं है, तो वह किंरूप है? अर्थात् 'इन्द्रियत्व' क्या है?

समा०—'इन्द्रियत्व' धर्म, सखण्डोपाधिरूप है। उसे बताने के लिये ही इन्द्रिय का निर्वचन कर रहे हैं—"शब्देतरोद्भूत" इति। इन्द्रिय का लक्षण बता रहे हैं—'शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारण-मनः संयोगाश्रयत्वम्'—इन्द्रियत्वम्। शब्दात् इतरे=शब्द के अतिरिक्त उद्भूताः=प्रत्यक्षयोग्य (प्रत्यक्षसन्निकर्षवत्तापादनविषय), जो विशेषगुणाः=रूप—सुखादि, उनका अनाश्रय (आश्रय न) रहते हुए अर्थात् शब्द को छोड़कर (शब्द के बिना)



जितने रूप—सुखादि अनुद्भूत विशेष गुण हैं, उनका आश्रय होकर, ज्ञानस्य कारणीभूतः=ज्ञान का असाधारण कारणभूत, जो मनःसंयोग=इन्द्रिय-मनःसंयोग, तदाश्रयत्वम्=उसका आश्रय होना। अर्थात् उसका जो आश्रय हो उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। तत्त्वम् इन्द्रियत्वम्, इस रीति से 'इन्द्रियत्व' का निर्वचन हो सकने के कारण 'इन्द्रियत्व' धर्म सखण्डोपाधिरूप है, जातिरूप नहीं है। इन्द्रिय के लक्षण में निविष्ट पदों को आवश्यकता को (पदकृत्य को) बताते हैं—"आत्मादी"ति। लक्षण में यदि 'सत्यन्त' पद न दें तो 'ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रय' पद से 'आत्मा' भी समझा जा सकेगा तथा 'आदि' से 'चर्म-मनःसंयोगाश्रय चर्म भी होगा। अतः आत्मा और चर्म में अतिव्याप्ति हो जायेगी, उसका वारण करने के लिये 'सत्यन्त' पद की आवश्यकता है। उसके देने पर 'आत्मा' तादृशसंयोगाश्रय रहने पर भी शब्द के अतिरिक्त ज्ञान सुखादि जो उद्भूत विशेषगुण हैं, उनका वह आश्रय ही है, अनाश्रय नहीं है। उसी तरह 'चर्म' भी उद्भूत जो रूपादि विशेषगुण हैं, उनका आश्रय ही है, अनाश्रय नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। लक्षण में यदि 'शब्देतर' पद न दें तो श्रोत्रेन्द्रिय में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'श्रोत्र' उद्भूत विशेषगुण (शब्द) का अनाश्रय नहीं है, अपितु 'श्रोत्र' आकाशात्मक होने से शब्दात्मक उद्भूत विशेषगुण का आश्रय ही है। क्योंकि उद्भूतत्व अर्थात् 'प्रत्यक्षप्रयोजकसन्निकर्षवत्ता स्यात् तर्हि उपलभ्येत' के अनुसार आपादनविषयत्व ही उद्भूतत्व हुआ। वह उद्भूतत्व, शब्द में है ही। एवं च शब्द, उद्भूत हुआ, अतः अव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'शब्देतर' पद का निवेष लक्षण में किया गया है। उसके निवेश करने से शब्देतरोद्भूत-रूपादि गुणों का अनाश्रय होने से लक्षण संगत हो जाता है, तब अव्याप्ति नहीं हो पाती। अब यदि लक्षण में 'उद्भूत' पद न दें, अर्थात् 'शब्देतरविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम्' इतना ही लक्षण करें तो चक्षुरादि रूपादि विशेषगुण के आश्रय ही हैं, शब्देतरानुद्भूत विशेष गुण रूपादि के अनाश्रय नहीं हैं, अतः चक्षुरादि में अव्याप्ति होगी। 'उद्भूत' पद का उपादान करने पर चक्षुरादि, यद्यपि रूपादि विशेषगुण के आश्रय हैं तथापि उद्भूतविशेष गुण रूपादिकों के अनाश्रय हैं (आश्रय नहीं हैं) किन्तु अनुद्भूत-रूपादिगुणों के आश्रय हैं इसलिये उनमें अव्याप्ति नहीं हो पाती।

उद्भूतत्वं न जातिः शुक्लत्वादिना साङ्कर्यात्। न च शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवोद्भूतत्वमिति वाच्यम्, उद्भूतरूपवत्त्वादिना चाक्षुषादौ जनकतानुपपत्तेः। किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवानुद्भूतत्वं तदभावकूटश्चोद्भूतत्वम् तच्च संयोगादावप्यस्ति। तथा च शब्देतरोद्भूतगुणः संयोगादिश्चक्षुरादेरप्यस्त्यतो विशेषेति। कालादिवारणाय विशेष्यदलम्। इन्द्रियावयवविषयसंयोगस्यापि प्राचां मते प्रत्यक्षजनकत्वादिन्द्रियावयववारणाय, नवीनमते कालादौ रूपाभावप्रत्यक्षे सन्निकर्षघटकतया कारणीभूतचक्षुःसंयोगाश्रयस्य कालादेश्च वारणाय मनः

पदम्। ज्ञानकारणमित्यपि तद्वारणाय करणमिति। असाधारणं कारणं करणम्। असाधारणत्वं व्यापारवत्त्वम् ॥ ५८॥

लक्षण में दिये गये 'विशेष' पद का प्रयोजन बताने के लिये भूमिका ( प्रयोजन-सम्पादिका युक्ति ) बता रहे हैं---'उद्भूतत्वमिति।' गुणों में 'उद्भूतत्व' धर्म जातिरूप है या उपाधिरूप है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर कहते हैं–'न जातिः', क्योंकि 'शुक्लत्वादिना साङ्कर्यात्'। गुणों में जो 'उद्भूतत्व' धर्म है, वह जातिरूप नहीं है, अर्थात् 'उद्भूतत्व' जाति नहीं है, बल्कि वह ( उद्भूतत्व ) उपाधि रूप धर्म है अर्थात् 'उद्भूतत्व' उपाधि है। क्योंकि उसे जातिरूप मानने में 'साङ्कर्यदोष' बाधक होता है। अर्थात् 'साङ्कर्य' दोष के कारण उसे 'जाति' नहीं कह सकते। साङ्कर्य का स्वरूप यह है---'शुक्लत्व' धर्म को छोड़कर 'उद्भूतत्व', उद्भूतगन्ध ( प्रत्यक्ष गन्ध ) में है, उसी प्रकार 'उद्भूतत्व' धर्म को छोड़कर 'शुक्लत्व' धर्म अनुद्भूतशुक्ल में ( परमाणुगत अनुद्भूत शुक्ल में ) है, किन्तु उद्भूतत्व-शुक्लत्व दोनों ही धर्म, उद्भूतशुक्ल में ( वस्त्रादिशुक्ल में ) समाविष्ट हैं, इसलिये सांकर्य हो गया। इस सांकर्य दोष के कारण 'उद्भूतत्व' को जाति न कहकर उपाधि कहा है। अनुमान प्रयोग यह होगा---'उद्भूतत्वं जातित्वाभाववत्, स्वाभाववद्वृत्तिस्वसमाधिकरणधर्माभाववद्वृत्तित्वात्।'

शंका---उद्भूतत्व धर्म एक न होकर नाना ( अनेक ) हैं, यह कुछ विद्वानों का मत है। जैसे-शुक्लत्वधर्मव्याप्य उद्भूतत्व, कृष्णत्वधर्मव्याप्य उद्भूतत्व, सुरभित्वधर्मव्याप्य उद्भूतत्व, मधुरत्व धर्मव्याप्य उद्भूतत्व इस प्रकार तत्तद्धर्मव्याप्य उद्भूतत्व नाना हैं, एक नहीं हैं। अभिप्राय यह है कि शुक्लत्वादिनिष्ठा या व्यापकता, तादृशव्यापकतानिरूपिता या व्याप्यता अर्थात् यत्र यत्र उद्भूतत्वं तत्र तत्र शुक्लत्वं' इति व्याप्तिरेव, तदाश्रयः उद्भूतत्वम्, ऐसा उद्भूतत्व, तद्रूप रसादिकों में नाना ही है अर्थात् भिन्न-भिन्न ही हैं। एवं च शुक्लोद्भूतत्व, कृष्णोद्भूतत्व आदि जातियाँ मानने से संकर दोष नहीं होगा। यानी उद्भूतत्व धर्म अनेक हैं, वे शुक्लरूप, नीलरूप, गन्ध, स्पर्श आदि में रहते हैं। अतः शुक्लोद्भूतत्व, कृष्णोद्भूतत्व आदि जातियाँ मानने में संकर नहीं हो पायेगा।

समा०— 'तादृश नानाविध उद्भूतत्वों को जातिरूप मानेंगे', एकविध उद्भूतत्व को ही नहीं। ऐसी शंका नाना उद्भूत वादियों को नहीं करनी चाहिए---'न च वाच्यमिति।' उद्भूतरूपात्वादिना=उदभूतरूपत्वेन। चाक्षुषादौ=चाक्षुषादिप्रत्यक्षे। जनकत्वाऽनुपपत्तेः=हेतुत्वाऽसिद्धेः। क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्ष में अर्थात् 'चक्षुरिन्द्रियजन्यद्रव्यादिप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूत-रूपत्वावच्छिन्न उद्भूतरूप कारण होता है, इस नियम के अनुसार 'यत्र यत्र चाक्षुषप्रत्यक्षं भवति तत्र तत्र कारणम् उद्भूतरूपं' अर्थात् जहाँ जहाँ चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है वहाँ वहाँ कारण होने वाला उद्भूतरूप, कारणतावच्छेदक एक उद्भूतरूपत्वधर्म से युक्त रहता है। अर्थात् चाक्षुष



प्रत्यक्ष में उद्भूतरूप कारण है, और स्पार्शन प्रत्यक्ष में उद्भूतस्पर्श कारण है। यदि भिन्न भिन्न ( अनेक ) उद्भूतत्व होंगे तो सामान्यतः चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति एक ही उद्भूतरूपत्वधर्म से युक्त उद्भूतरूप के कारण रहने पर बाकी के अन्य उद्भूतरूपों को अकारण कहना होगा, किन्तु वहाँ भी चाक्षुष प्रत्यक्ष तो होता ही है। ऐसी स्थिति में कारण का अभाव रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति होने से व्यतिरेक-व्यभिचार होगा, 'कारणाभावेऽपि कार्यसत्त्वात्मको व्यतिरेक व्यभिचारः।' अतः एक-एक उद्भूतत्व को कारणतावच्छेदक मानने पर व्यभिचार होता है और अनेक उद्भूतत्वों का समुदाय किसी एक घट-पटादिव्यक्ति में होना कभी सम्भव नहीं, अतः उसमें कारणतावच्छेदकत्व भी नहीं बन सकेगा। कारणता का अवच्छेदक एक ही हो सकता है, अनेक नहीं। एवं च कारणतावच्छेदक न बन पाये ( कारणतानवच्छेदकाक्रान्त ) उद्भूतत्व धर्मों के कारण चाक्षुषादि प्रत्यक्षों के प्रति रूप आदि भी कारण नहीं बन पायेंगे। वही धर्म कारणतावच्छेदक हुआ करता है कि जो अन्यूनानतिरिक्तदेशवृत्ति होता है। अतः उद्भूतत्व के स्वरूप को ग्रन्थकार बता रहे हैं---'किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैव अनुद्भूतत्वं, तदभावकूटश्च उद्भूतत्वम्'। 'उद्भूतत्व' को अभावरूप मानकर उसकी एकता को सिद्ध किया जा रहा है तथाहि---शुक्लत्वादिन्यूनवृत्ति अनुद्भूतत्वं नानाविधम्, तदभावकूटः अर्थात् नानाविध-अनुद्भूतत्वाऽभावसमूह एव उद्भूतत्वं बोध्यम्। अर्थात् शुक्लत्व, कृष्णत्व आदि के व्याप्य ( न्यूनवृत्ति ) अर्थात् शुक्ल, कृष्ण आदि रूपों में या गन्ध, स्पर्श आदि में विद्यमान ( रहने वाले ) अनुद्भूतत्व अनेक ( नाना ) हैं, उन समस्त अनुद्भूतत्वों के अभावसमूह का नाम 'उद्भूतत्व' है। अर्थात् शुक्लत्वादिनिष्ठव्यापकतानिरूपित व्याप्यताश्रयस्वरूप अनुद्भूतत्व, नाना ही है, और तदभावकूट यानि अनुद्भूतत्वाभावसमुदाय ही उद्भूतत्व है। अर्थात् "शुक्लत्वादव्याप्य नानानुद्भूतत्वाभाव समुदाय एवोद्भूतत्वम्"। इस प्रकार का वह 'उद्भूतत्व' एक है। अतः उसे चाक्षुषादि प्रत्यक्ष में 'कारण' कहा जा सकता है। किन्तु यह कहने से प्रकृत में अव्याप्ति हो रही है–"तच्च संयोगादाविति।" इस प्रकार से निर्दिष्ट ( तादृशाभावकूटात्मक ) उद्भूतत्व, संयोग, विभाग आदि में भी रहता है। वे संयोग विभाग आदि, चक्षुरादि के उद्भूत गुण हैं, जो ( संयोगादि ) शब्द से इतर भी हैं। अतः चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आदि में भी शब्देतरोद्भूतगुणसंयोगाऽनाश्रयत्वाऽभाव रहने से ( शब्देतर जो संयोगादि उद्भूतगुण, वे चक्षुरादि में रहने के कारण ) उन चक्षुरादिकों में अव्याप्ति होगी, उस अव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'विशेष' पद दिया गया है। 'विशेष' पद के देने से चक्षुरादिकों में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि 'संयोग' आदि विशेषगुण नहीं हैं "रूपं गन्धो रसः स्पर्शः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः। बुद्धयादिभावनान्ताश्च शब्दो वैशेषिका गुणाः॥" विशेष गुण तो ये होते हैं। अतः चक्षुरादि, शब्देतरोद्भूत विशेष गुण का अनाश्रय ( आश्रय न )

होने से चक्षुरादि में इन्द्रियलक्षण का समन्वय हो गया, इसलिये अव्याप्ति अब नहीं है। उक्त इन्द्रियलक्षण में यदि 'ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम्' इस विशेष्य दल को न दें तो 'काल' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'काल' किसी भी विशेष गुण का आश्रय नहीं अर्थात् अनाश्रय है। विशेष्यदल को जोड़ देने पर 'काल' में लक्षण-गत सत्यन्त अंश के घटित हो जाने पर भी विशेष्य अंश घटित नहीं हो रहा है, क्योंकि 'काल' 'ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रय' नहीं है। अतः 'काल' में लक्षणसमन्वय न होने से अतिव्याप्ति नहीं है। 'कालादि' यहाँ 'आदि' पद से 'दिक्' को भी समझ लेना चाहिए। इन्द्रिय के लक्षण में 'मनस' पद के निवेश का प्रयोजन बता रहे हैं—"इन्द्रियावयवेति।" प्राचीनों के मत के अनुसार लक्षण में यदि 'मनस्' पद न दें तो घट के प्रत्यक्ष में चक्षुरिन्द्रिय के अवयव और घट दोनों का संयोग कारण होता है ( इन्द्रियावयव और विषय के संयोग से घटादि विषयों ( वस्तुओं ) का प्रत्यक्ष होता है ), तादृशज्ञान-कारणसंयोगाश्रयता चक्षुरवयव में है ही और लक्षणगत सत्यन्त दल भी चक्षुरवयव में घटित हो रहा है। अतः इन्द्रियावयव में इन्द्रियलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी, उसके निवारणार्थं 'मनस्' पद देना आवश्यक है। एवञ्च 'ज्ञान' कारण मनःसंयोग कहने से इन्द्रिय-मनस्संयोग ही हो सकेगा, इन्द्रियावयव-मनःसंयोग नहीं होगा, तब इन्द्रियावयव में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

इसी बात को केशव मिश्र ने अपनी तर्कभाषा में भी कहा है—"चतुष्टय-सन्निकर्षो यथा- इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्, इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम्, इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम्, अर्थावयविनामिन्द्रियावयवानां सन्निकर्षः।"

नवीनों के मत के अनुसार—इन्द्रियलक्षण में 'मनस्' पद को 'संयोग' के साथ यदि न जोड़ें तो इन्द्रियलक्षण की 'काल आदि' में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि नवीनों के मत में 'कालो रूपाभाववान्' इत्याकारक कालगत रूपाभाव का प्रत्यक्ष होता है। उस प्रत्यक्ष के प्रति कारण, कालगत ( काल में रहने वाले ) रूपाभाव के साथ इन्द्रिय का 'चक्षुः-संयुक्तविशेषणभावसन्निकर्ष' माना जाता है। उस सन्नि-कर्ष का घटक 'काल-चक्षुःसंयोग' है, और उस संयोग का आश्रय 'काल' है। इस रीति से काल भी 'ज्ञानकारणसंयोग का आश्रय' होता है। अतः इन्द्रियलक्षण की 'काल' में अतिव्याप्ति हो रही है, उसके निवारणार्थ 'मनस्' पद को 'संयोग' पद के साथ जोड़ा गया है। फिर भी उसके साथ 'ज्ञानकारण' पद को यदि न जोड़ें तो उक्त लक्षण की पुनः 'काल' में ही अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि 'काल' विभु है, अतः काल-मनस्संयोग रहेगा ही, उस संयोग का आश्रय 'काल' होगा। अतः मनःसंयोगाश्रयता काल में आने से अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'ज्ञानकारण' पद को 'मनःसंयोग' के साथ जोडना पड़ा। काल से मन का संयोग रहने पर भी वह ज्ञान का कारण नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं है।



मूलकारिका में 'इन्द्रियं करणं मतम्' कहा गया है। अतः 'करणत्व' का निर्वचन करते हैं—'असाधारणमिति।' प्राचीन लोग 'करण' का लक्षण "फला-ऽयोगव्यवच्छिन्नकारणत्वं—करणत्वम्'। अथवा "फलयोगाऽव्यवच्छिन्नं कारणं—करणम्"। अर्थात् जिसके रहने पर अव्यवहित उत्तरक्षण में कार्य अवश्यमेव हो, उसीको करण कहते हैं। यह प्राचीन नैयायिकों का मत है, किन्तु इसके अनुसार उक्त लक्षण की इन्द्रिय में ही अव्याप्ति होती है, अर्थात् इन्द्रिय में प्रत्यक्ष के प्रति करणत्व नहीं बन पा रहा है। अतः नवीन नैयायिक अपने मत के अनुसार 'करण' को बता रहे हैं। नवीन नैयायिकों के अनुसार 'असाधारणत्वे सति कारण-त्वं'—करणत्वम्। न 'साधारणम्'—असाधारणम्। असाधारणत्वञ्च—'तदित-राऽवृत्तित्वे सति सकलतद्वृत्तित्वम्।' 'सास्नादिमत्त्व' गाय से भिन्न पशुओं में न रहता हुआ समस्त गौओं में रहता है। अतः गोवृत्ति 'सास्नावत्त्व' जो धर्म है, वह उसका ( गौ का ) असाधारण धर्म है। उसी प्रकार प्रकृत में कारणगत असा-धारणत्व "कार्यत्वानवच्छिन्न ( कार्यत्वातिरिक्तधर्मावच्छिन्न ) कार्यतानिरूपित कारणताश्रयत्व" होगा। एतादृशकारणताशालित्व ( कारणताश्रयत्व ) तो इन्द्रिय की तरह सन्निकर्ष में भी रहेगा, क्योंकि कार्यत्वानवच्छिन्न धर्म अर्थात् कार्यत्वा-तिरिक्तधर्मावच्छिन्न कार्यता कहने से 'प्रत्यक्षत्वधर्मावच्छिन्नकार्यता' लेंगे, उससे निरूपित 'कारणता' जैसी इन्द्रिय में रहती है। वैसी ही वह सन्निकर्ष में भी रहेगी। अतः सन्निकर्ष में करणत्व की अतिव्याप्ति होगी, इसलिये 'असाधारणत्व' का निर्वचन करते हैं—'व्यापारवत्त्वम्' इति। 'सन्निकर्ष तो व्यापार है। स्व-जनकत्वसम्बन्ध से वह ( व्यापार ) व्यापारवान् नहीं है। अतः सन्निकर्ष में अति-व्याप्ति नहीं है। व्यापारश्च—तज्जन्यत्वे सति तज्जन्य-जनकः। जैसे—कुठार-दारु-संयोग, कुठारजन्य होता हुआ कुठारजन्य छेदनक्रिया का जनक है अतः तादृश संयोगात्मक व्यापार से युक्त होने के कारण छेदनक्रिया के प्रति कुठार ही असा-धारण कारण होता है। इसलिये उसी को ( कुठार को ) छिदा-करण कहते हैं। यही बात पाणिनिमुनि ने "साधकतमं करणम्"—( १।४।४२ ) के द्वारा बताई है। उसी प्रकार प्रकृत में भी चाक्षुषादिप्रत्यक्षप्रमारूपफल के प्रति 'इन्द्रिय' करण कहलाता है, क्योंकि इन्द्रिय में विषयेन्द्रियसन्निकर्षरूपव्यापारवत्त्व भी है और कारणत्व भी है। नवीन नैयायिकों के अनुसार जो व्यापार है, उसी को प्राचीन नैयायिक 'करण' कहते हैं, और जिसे नवीन लोग 'करण' कहते हैं, उसी को प्राचीन लोग 'कारण' कहते हैं।

किञ्च—जहाँ श्रोत्र से शब्दसाक्षात्कार होता है, वहाँ नवीनों के अनुसार 'समवाय' ही व्यापार होगा, किन्तु वहाँ 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः' यह व्यापारलक्षण घटित नहीं होता, क्योंकि 'समवाय' नित्य होने से वह श्रोत्र से जन्य नहीं है। तस्मात् सर्वत्र षड्विध प्रत्यक्ष में इन्द्रियमनस्संयोग में ही व्यापार-

वत्त्व ( व्यापारवत्ता ) समझना होगा, यह नव्यमत में असङ्गति है, किन्तु प्राचीनों के लक्षणानुसार कोई दोष नहीं है। यदि नव्यमत में सङ्गति बैठानी हो तो व्यापार का निर्वचन इस प्रकार करना होगा, 'इन्द्रियसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वे सति इन्द्रियजन्यजनकत्वम्।' निष्कर्ष यह है—असाधारण कारण को 'करण' कहना चाहिए। और असाधारण का अर्थ है कि जिसमें व्यापार रहता हो, अर्थात् जो व्यापारवाला हो। तथा विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष को व्यापार कहते हैं। यह व्यापार, इन्द्रियों में विद्यमान रहता है। अतः इन्द्रियों को षड्विध प्रत्यक्ष का 'करण' बताया गया है ॥ ५८ ॥

**विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः।**
**द्रव्यग्रहस्तु संयोगात् संयुक्तसमवायतः ॥५९॥**
**द्रव्येषु समवेतानां तथा तत्समवायतः।**
**तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः ॥६०॥**
**तद्वृत्तीनां समवेतसमवायेन तु ग्रहः।**
**प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ॥६१॥**
**विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत्।**
**यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते ॥६२॥**

अर्थ—विषयेन्द्रियसम्बन्धः ( एव ) व्यापारः=विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध ही व्यापार ( सन्निकर्ष ) कहा जाता है और वह छह प्रकार का है। जैसे—द्रव्यग्रहस्तु=घटादिद्रव्य का प्रत्यक्ष तो संयोगात्=इन्द्रिय संयोग से होता है। अतः 'संयोग' संज्ञक एक–सन्निकर्ष है। द्रव्येषु=घटादिद्रव्यों में समवेतानाम्=समवायसम्बन्ध से रहने वाले गुण, कर्म, सामान्य का प्रत्यक्ष तो संयुक्त-समवायतः=इन्द्रिय-संयुक्त-समवायसन्निकर्ष से होता है। अतः संयुक्त समवायसंज्ञक द्वितीय सन्निकर्ष है। तथा=उसी प्रकार तत्रापि=द्रव्य में समवेत हुए गुण, कर्म पर समवेतानाम्=समवाय से रहने वाले गुणत्व, कर्मत्व का प्रत्यक्ष तो तत्समवायतः=इन्द्रिय-संयुक्तसमवेत-समवाय-सन्निकर्ष से होता है। अतः संयुक्त समवेत समवायसंज्ञक तृतीयसन्निकर्ष है। शब्दस्य=शब्द का प्रत्यक्ष समवायतः=श्रोत्रसमवाय से होता है। अतः समवाय-संज्ञक चतुर्थ सन्निकर्ष है। तद्वृत्तीनां=शब्दवृत्तिशब्दत्व का ग्रहस्तु प्रत्यक्ष तो समवेतसमवायेन=श्रोत्र-समवेत-समवाय से होता है। अतः समवेत-समवायसंज्ञक पञ्चमसन्निकर्ष है। समवायस्य=समवायसम्बन्ध का प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष, विशेषणतया=स्वरूपसम्बन्धाख्यविशेषणता-सन्निकर्ष से होता है। अतः संयुक्तविशेषणतासंज्ञक षष्ठसन्निकर्ष है। तद्वत्=समवाय की तरह अभावानां=अभावपदार्थ का भी ग्रहः=प्रत्यक्ष, विशेषणतया=विशेषणतासम्बन्ध से होता है।



शंका—किस अभाव का प्रत्यक्ष होता है ?

समा०—'यदि स्यादिति।' योग्य पदार्थ के अभाव का प्रत्यक्ष होता है। योग्यता क्या है ? यह पूछने पर कह सकते हैं कि 'यदि स्याद् उपलभ्येत' इस प्रकार की आपादन-विषयता का होना ही योग्यता है, वह योग्यता यत्र=जिस घटपटादि में प्रसज्यते=आपादान की जाती है, उसके अभाव का प्रत्यक्ष होता है ॥ ६२ ॥

विषयेन्द्रियेति। व्यापारः सन्निकर्षः। षड्विधं सन्निकर्षमुदाहरणद्वारा प्रदर्शयति। द्रव्यग्रह इति। द्रव्यप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगजन्यम्। द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यम्। एवमग्रेऽपि।

वस्तुतस्तु द्रव्यचाक्षुषं प्रति चक्षुस्संयोगः कारणम्। द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवाय कारणम्। द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्। एवमन्यत्रापि विशिष्यैवं कार्यकारणभावः।

परन्तु पृथिवीपरमाणुनीले नीलत्वं पृथ्वीपरमाणौ पृथिवीत्वं च चक्षषा कथं न गृह्यते तत्र परम्परयोद्भूतरूपसम्बन्धस्य महत्त्वसम्बन्धस्य च सत्त्वात्। तथाहि—नीले नीलत्वं जातिरेकैव घटनीले परमाणुनीले च वर्तते। तथा च महत्त्वसम्बन्धो घटनीलमादाय वर्तते। उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादायैववर्तते। एवं पृथिवीत्वेऽपि घटादिकमादाय महत्त्वसम्बन्धो बोध्यः।

एवं वायौ तदीयस्पर्शादौ च सत्तायाश्चाक्षुषप्रत्यक्ष स्यात्।

तस्मादुद्भूतरूपावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षुःसंयुक्तसमवायस्य द्रव्यसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे, तादृशचक्षुसंयुक्तसमवेतसमवायस्य द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषप्रत्यक्षे कारणत्वं वाच्यम्।

व्यापार पदार्थ को बताने के लिये कहा 'सन्निकर्षः' अर्थात् सम्बन्ध। एवं च विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध ( सन्निकर्ष ) को ही व्यापार कहते हैं। संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेत-समवाय, विशेषण-विशेष्य-भाव इन षड्विध सन्निकर्षों ( सम्बन्धों ) को उदाहरण के द्वारा दिखा रहे हैं—'द्रव्यग्रह' इति। घटादिद्रव्य के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयोग 'व्यापार' है। अर्थात् घटादिद्रव्यवृत्ति लौकिक विषयता सम्बन्ध से जो प्रत्यक्ष होता है, वह चक्षुरादि-इन्द्रियसंयोगजन्य है, इसलिये वहाँ पर 'इन्द्रियसंयोग' को व्यापार समझना चाहिए। "द्रव्यसमवेत" इति। घटादिद्रव्यसमवेत रूपादिगुणों के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयुक्त-समवाय व्यापार है। अर्थात् द्रव्यसमवेत रूपादिगुणों का प्रत्यक्ष, 'इन्द्रियसंयुक्त-समवाय' से होता है। अतः द्रव्यसमवेतवृत्ति-लौकिक-विषयतासम्बन्ध से रूपादि के प्रत्यक्ष में 'संयुक्त समवाय' को व्यापार समझना चाहिए। 'एवमग्रेऽपी'ति। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए। जैसे-द्रव्यसमवेतसमवेतवृत्तिलौकिक-विषयता-सम्बन्ध से रूपत्वादि का प्रत्यक्ष, इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवाय से होता है, क्योंकि इन्द्रियसंयुक्तघटादि, उसमें समवेत रूपादिक, उसमें रूपत्वादिका समवाय है। अतः

द्रव्यसमवेतसमवेतगुणत्वादि के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवाय को व्यापार समझना चाहिए।

शंका—द्रव्यवृत्तिलौकिकविषयतासम्बन्ध से द्रव्यप्रत्यक्ष में इन्द्रियसन्निकर्ष को यदि कारण कहें तो त्वक्-प्रभासंयोग से प्रभा का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष होने लगेगा, उसी प्रकार घट-चक्षुःसंयोग रहने से अन्धकार में स्पार्शन प्रत्यक्ष का भी अनुभव होने लगेगा, क्योंकि इन्द्रियसंयोग, वहाँ विद्यमान है ही, किन्तु इन्द्रियत्व और तद्घटित संयोगत्व के अनुगत न होने से परस्पर व्यभिचार होता है। इसी अरुचि के कारण नवीनों के मत से विशेष कार्यकारणभाव को बता रहे है—'वस्तुनस्तु' इति। विषयतासम्बन्ध से द्रव्यनिष्ठ ( जो ) चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, उसके प्रति अर्थात् घटादिद्रव्यीयलौकिकसाक्षात्कार में 'चक्षुःसंयोग' को समवाय सम्बन्ध से कारण समझना चाहिए। उसी प्रकार विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतगुणादिनिष्ठ जो चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष उसके प्रति अर्थात् घटादिद्रव्य में समवायसम्बन्ध से विद्यमान रूपादि के साक्षात्कार के प्रति 'चक्षुःसंयुक्तसमवाय' को स्वरूपसम्बन्ध से कारण समझना चाहिए, क्योंकि विषयतासम्बन्ध से प्रत्यक्ष द्रव्यसमवेतगुण में रहता है। क्योंकि वहाँ-संयुक्त जो घटादिद्रव्य, उसमें रूपादिगुण का समवाय, स्वरूपसम्बन्ध से है। उसी प्रकार विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतगुणादि-समवेतगुणत्वादिनि चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुःसंयुक्तसमवेत-समवाय को स्वरूपसम्बन्ध से कारण से समझना चाहिए। अर्थात् घटादिद्रव्य में समवेत रूपादिक हैं, उनमें समवेत रूपत्वादि हैं, उन रूपत्वादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष में चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष कारण होता है। एवमन्यत्रापीति। इसी प्रकार त्वाचादिप्रत्यक्ष में भी उक्तसन्निकर्ष का विशिष्ट कार्य-कारणभाव समझना चाहिए। जैसे—विषयता-संबंध से द्रव्यनिष्टस्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति त्वक्संयोग, समवाय के कारण है। विषयता-सम्बन्ध से द्रव्यसमवेतगुणादिनिष्टस्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति त्वक्संयुक्तसमवाय, स्वरूप सम्बन्ध से कारण है। विषयतासम्बन्ध से द्रव्यसमवेतसमवेतगुणत्वादिनिष्ठस्पार्शन-प्रत्यक्ष के प्रति त्वक्संयुक्त-समवेत-समवाय, स्वरूपसम्बन्ध से कारण होता है। निष्कर्ष यह है कि सामान्यरूप से संयोग या संयुक्त-समवाय आदि कारण नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष में तत्तत् इन्द्रियसंयोग आदि कारण होते हैं। अब द्रव्य के महत्परिमाण और उद्भूतरूप के प्रत्यक्षकरने में पृथक् कार्य-कारण-भाव मानने में गौरव होगा, अतः महत्परिमाण और उद्भूतरूप को सन्निकर्षांश में निविष्ट करके कार्य-कारणभावकल्पनायुक्त लाधव प्रदर्शित करने के लिये पूर्वपक्षी शंका कर रहा है—'परन्तु' इति।

शंका—पृथिवी के नील परमाणुओं के नीलरूप में रहनेवाली 'नीलत्व' जाति, अर्थात् परमाणुनीलनिष्ठा 'नीलत्व' जाति, तथा पृथिवी परमाणुनिष्ठा 'पृथिवीत्व' जाति का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष ( चाक्षुषसाक्षात्कार ) क्यों नहीं होता? अर्थात् ये



जातियाँ भी चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष की विषय होनी चाहिए। क्योंकि विषय के साथ इन्द्रिय का परम्परासम्बन्ध मानकर द्रव्य में रहनेवाले रूपादिगुणों का और तद्गतरूपत्वादि जाति का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार उपर्युक्त नीलत्व पृथिवीत्व जाति का भी 'स्वाश्रयसमवेत-समवेतत्व' आदि परम्परासम्बन्ध से प्रत्यक्ष होना क्यों न माना जाय? क्योंकि नीलत्व और पृथिवीत्व में स्वाश्रयसमवेतसमवेत-त्वसम्बन्ध ( परम्परासम्बन्ध ) से उद्भूतरूप और महत्परिमाण विद्यमान है। तथाहि—एक ही नीलत्वजाति, घट के नीलरूप में और परमाणु के नीलरूप में समवाय से रहती है। उसी तरह घट में महत्परिमाण, समवाय से रहता है, और वही ( महत्परिमाण ) स्वसमवायिसमवेतसमवेतत्व सम्बन्ध से नीलत्वजाति में है। जैसे—'स्व' शब्द से महत्परिमाण को लेंगे, उसका समवायिकारण 'घट' हुआ, उसमें समवेत हुआ, नीलरूप, उसमें समवेत हुई नीलत्वजाति। इस प्रकार विषयता-सम्बन्ध से नीलत्वजातिनिष्ठ चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति स्वाश्रय-समवेत-समवेतत्व सम्बन्ध से 'महत्परिमाण' कारण होता है, इसलिये परमाणुगत नील में नीलत्वजाति का प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसी प्रकार घटगत जो नील है, वह उद्भूतरूप भी है, उसका आश्रय 'घट' हुआ उसमें समवेत नीलरूप भी वही हुआ, उसमें समवेत हुई नीलत्व जाति। इस प्रकार विषयतासम्बन्ध से नीलत्वजातिनिष्ठ चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति स्वाश्रय-समवेत-समवेतत्वसम्बन्ध से 'उद्भूतरूप' कारण हो जाता है, इसलिये परमाणु-नीलवृत्तिनीलत्वजाति का प्रत्यक्ष होना चाहिए, इसी आशय को मुक्ता-वलीकारने बताया है कि—"उद्भूतरूपसम्बन्धस्तु उभयमादायैव वर्तते।" अर्थात् 'उद्भूतरूप' तो घटनील और परमाणुनील दोनों ( उभय ) को लेकर स्वाश्रय-समवेत-समवेतत्व आदि सम्बन्ध से नीलत्व में रहता है। उपर्युक्त शंका करने वाले से पूछते हैं कि 'परमाणुनील' तो उद्भूतरूप नहीं है, तब परमाणुनील का अवलंबकर 'नीलत्व' में उद्भूतरूप का संबंध कैसे बता रहे हैं?

शंका करनेवाला उत्तर देता है कि ऊपर जो कहा था कि 'परमाणुनील को लेकर' उसका अर्थ यह है कि परमाणुनीलघटितपरम्परया त्रसरेणुगत उद्भूतरूप-सम्बन्ध। परमाणुनीलघटितपरम्परा का अर्थ है कि 'स्वाश्रयसमवायिसमवेतसमवे-तत्व।' यहाँपर 'स्व' शब्द से त्रसरेणुगत-उदभूतनीलरूप, उसका आश्रय त्रसरेणु, उसमें समवायि द्वचणुक, उसमें समवायी परमाणु, उसमें समवेत 'परमाणुनील, उसमें समवेत 'नीलत्व'।

एक अन्य प्रश्न और भी है कि त्रसरेणुगतमहत्परिमाण भी इसी रीति से अर्थात् परमाणुनीलघटित परम्परासम्बन्ध से विद्यमान है, यह न कहकर 'उद्भूत-रूपसम्बन्धस्तु उभयमादाय वर्तते' ऐसा पृथकरूप से उल्लेख क्यों किया?

शंका करने वाले ने उत्तर दिया कि कुछ लोग ( परमाणुपाकवादी ) परमाणु में उद्भूतगन्ध और उद्भूतरूप को मानते हैं। अतः उनके मत के अनुसार 'उद्भूत-रूपसम्बन्धस्तूभयमादाय वर्तते' कहा गया है।

किन्तु नवीन नैयायिक 'परमाणु' में उद्भूतगन्ध और उद्भूतरूप नहीं मानते, क्योंकि वैसा अनुभव नहीं होता। इस कारण नवीन नैयायिकों के अनुसार त्रसरेणुगत उद्भूतरूप को परमाणुनीलघटित ऐसे स्वाश्रयसमवायि-समवायि-समवेत-समवेतत्व सम्बन्ध से नीलत्व में लाकर 'उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादाय वर्तते' यह ग्रन्थ लगाना चाहिए। यहाँ 'तु' शब्द 'अपि' के अर्थ में है। उसका फल यह होगा कि त्रसरेणुगत महत्परिमाण भी 'स्वाश्रयसमवायिसमवेतसमवेतत्वसम्बन्ध से 'नीलत्व' में उपलब्ध हो जायेगा। 'एवं पृथिवीपरमाणौ' इति। पृथिवी के परमाणु में और पट में रहनेवाली 'पृथिवीत्व' जाति एक ही है, पृथक् पृथक् नहीं है। घटगत-पृथिवीत्व में घटगतमहत्परिमाण और उद्भूतरूप 'स्वाश्रयसमवेतत्व' सम्बन्ध से रहता है। अतः पृथिवीपरमाणुगत पृथिवीत्व का प्रत्यक्ष हो सकता है। 'एवं वायौ' इति। इसी प्रकार ( परम्परासम्बन्ध से ) वायु में और उसके स्पर्श आदि में विद्यमान जो 'सत्ताजाति' है उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योंकि वायु में विद्यमान सत्ताजाति में और महत्परिमाणवाले घट में रहनेवाली सत्ताजाति को लेकर 'स्वाश्रयसमवेतत्व' सम्बन्ध से प्रदर्शित किया जा सकता है। एवं वायु के स्पर्श में रहनेवाली सत्ताजाति में भी महत्परिमाण को 'स्वाश्रयसमवेतसमवेतत्व' सम्बन्ध से प्रदर्शित किया जा सकता है। तथाहि—'स्व' शब्द से महत्परिमाण, उसका आश्रय 'घट', उसमें समवेत 'स्पर्श', उससे समवेत जो 'सत्ताजाति' है, वह वही है, जो वायु के स्पर्श में रहती है। इस प्रकार वायु के स्पर्श में रहनेवाली सत्ताजाति में भी महत्परिमाण चला जायेगा। इसी प्रकार सत्ता आदि में उद्भूतरूप भी चला जायेगा।

समा०—इसीलिये सन्निकर्ष के स्वरूप में इस प्रकार का परिष्कार किया कि 'द्रव्य में समवेत जो रूप आदि, उनके प्रत्यक्ष करने में, 'उद्भूतरूपावच्छिन्न' 'महत्त्वावच्छिन्न' जो चक्षुः-संयुक्तद्रव्य, 'ऐसे द्रव्य में समवाय का होना' कारण माना जाता है। अर्थात् केवल 'चक्षुःसयुक्तसमवाय' यह, सन्निकर्ष का स्वरूप नहीं है, अपितु उपर्युक्त परिष्कृत स्वरूप ही है। निष्कर्ष यह है कि उद्भूतरूपावच्छिन्न, महत्त्वावच्छिन्न जो चक्षुःसंयुक्त, तत्समवाय को ही द्रव्यसमवेतरूपादिगुणों के प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानना चाहिए। 'तादृशेति' उद्भूतरूपावच्छिन्न महत्त्वावच्छिन्न जो चक्षुः-संयुक्त, तत्समवेतसमवाय को ही द्रव्यसमवेत-समवेत रूपत्वादि के प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानना चाहिये।

इत्थं च परमाणुनीलादौ न नीलत्वादिग्रहः, परमाणौ चक्षुःसंयोगस्य महत्त्वावच्छिन्नत्वाभावात्, एवं वाय्वादौ न सत्तादिचाक्षुषं, तत्र चक्षुःसंयोगस्य रूपावच्छिन्नत्वाभावात्।

एवं यत्र घटस्य मध्यावच्छेदेनालोकसंयोगः चक्षुःसंयोगस्तु बाह्यावच्छेदेन तत्र घटप्रत्यक्षाभावादालोकसंयोगावच्छिन्नत्वं चक्षुःसंयोगे विशेषणं देयम्।



एवं द्रव्यस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयोगः कारणम्। द्रव्यसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवायः कारणम्। द्रव्यसमवेतसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

अत्रापि महत्त्वावच्छिन्नत्वमुद्भूतस्पर्शावच्छिन्नत्वं च पूर्ववदेव बोध्यम्।

एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवायः गन्धसमवेतस्य घ्राणजन्यप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

'इत्थञ्चेति।' उद्भूतरूप और महत्परिमाण घटित चक्षुःसन्निकर्ष को कारण मानने पर पूर्वोक्त आपत्ति ( पृथिवीपरमाणुनील में नीलत्व तथा पृथिवीपरमाणु में पृथिवीत्व के प्रत्यक्ष होने की आपत्ति ) नहीं दी जा सकेगी। क्योंकि परमाणु में जो चक्षुः-संयोग है, वह महत्परिमाणविशिष्ट नहीं है। क्योंकि परमाणु में महत्परिमाण नहीं है। एवञ्च महत्परिमाणविशिष्ट जो चक्षुःसंयुक्त है, तत्समवेत-समवाय का परमाणुनीलगत नीलत्व में अभाव है, अतः वहाँ नीलत्व का प्रत्यक्ष नहीं होगा। उसी प्रकार महत्परिमाणविशिष्ट जो चक्षुः-संयुक्त है तत्समवाय का पृथिवीपरमाणुगत पृथिवीत्व में अभाव है, अतः वहाँ पर भी पृथिवीत्व का प्रत्यक्ष नहीं होगा। 'एवमिति' उसी प्रकार वायु और उसके स्पर्श तथा सत्ताजाति के भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होने का प्रसंग नहीं दिया जा सकेगा। क्योंकि ( तत्र ) वायु में जो चक्षुः-संयोग है, वह रूपावच्छिन्न ( रूपविशिष्ट ) नहीं है। एवञ्च उद्भूतरूपावच्छिन्न जो चक्षुः-संयुक्त है, तत्समवाय का वायुनिष्ठसत्ता में अभाव है, अतः वायुनिष्ठसत्ताजाति का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने का प्रसंग नहीं दिया जा सकेगा। इसी प्रकर उद्भूतरूपावच्छिन्न जो चक्षुःसंयुक्त है, तत्समवेत-समवाय का वायुस्पर्शनिष्ठसत्ता में अभाव है, अतः वायुस्पर्शनिष्ठसत्ता का भी प्रत्यक्ष होने का प्रसंग नहीं दिया जा सकेगा। 'सत्तादि' के 'आदि' पद से भर्जनकपालस्थवह्निनिष्ठसत्ता का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का न होना समझ लेना चाहिए। अभिप्राय यह है—द्रव्यसमवेतरूपादि के चाक्षुष-प्रत्यक्ष में उद्भूतरूपविशिष्ट महत्त्वावच्छिन्न के साथ चक्षुः-संयुक्तसमवाय भी कारण होता है। उसी प्रकार द्रव्यसमवेत-समवेतरूपत्वादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष में ( तादृश ) उद्भूतरूपविशिष्टमहत्त्वावच्छिन्न के साथ चक्षुः-संयुक्त-समवेत-समवाय सम्बन्ध भी कारण होता है।

'एवमिति'। पहले बता चुके हैं कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने में व्यापार 'सन्निकर्ष' रहता है, उसके अतिरिक्त उसके अपने तीन सहकारिकारण भी होते हैं— ( १ ) महत्परिमाण ( २ ) उद्भूतरूप ( ३ ) प्रकाशसंयोग। दो सहकारिकारणों के बारे में बता चुके, तथापि 'प्रकाशसंयोग' रूप सहकारिकारण को लेकर प्रश्न हो सकता है कि अँधेरे में महत्परिमाणविशिष्ट-उद्भूतरूपविशिष्ट-चक्षुःसंयुक्त घट का प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा। इस अन्वय-व्यभिचार का निवारण करने के लिये चक्षुः-संयोग में 'अलोकसंयोगविशिष्टत्व' यह विशेषण जोड़ देना चाहिये।

शंका—जहाँ अन्धेरे में घट के बीच ( मध्य भाग में ) दीपक रखा जाय,

तो उसका प्रकाश घट के मध्यदेश में पड़ेगा अर्थात् आलोकसंयोग ( प्रकाश संयोग ) घट के मध्य ( उदर ) भाग में रहेगा और चक्षुःसंयोग तो अन्धकार में घट के बाह्य देश में ( बाह्यावच्छेदेन ) हुआ है। अतः घट में महत्त्व भी, उद्भूत-रूप भी, आलोकसंयोग भी और चक्षुःसंयोग भी है तथापि घट का प्रत्यक्ष नहीं होता, यह अन्वयव्यभिचार है।

समा०—उपर्युक्त अन्वयव्यभिचार के निवारणार्थ उक्त चारों का एकस्थलावच्छेदेन वैशिष्ट्य कहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि चक्षुःसंयोग में 'प्रकाशसंयोगावच्छिन्नत्व' विशेषण भी देना चाहिए; क्योंकि 'संयोग' अव्याप्यवृत्तिगुण है अतः वह द्रव्य के एक भाग में ही रहेगा, इसलिये यह कहने की आवश्यकता हुई कि जिस देश ( भाग ) में चक्षुःसंयोग हो उसी देश में प्रकाश का भी संयोग रहना चाहिए अर्थात् जहाँ उद्भूतरूप, महत्परिमाण, प्रकाशसंयोगविशिष्ट चक्षुःसंयोग होगा, वहीं पर द्रव्य-प्रत्यक्ष होगा; अन्यथा नहीं। यही भाव मुक्तावली में 'आलोकसंयोगावच्छिन्नत्वं चक्षुःसयोग' इति, इस ग्रन्थ में बताया गया है। एवञ्च एकस्थलावच्छेदेन जो महत्त्वविशिष्टोद्तरूपविशिष्टालोकसंयोगविशिष्ट चक्षुःसंयोग हो, वही द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति कारण कहलाता है। घट के बाहरी भाग में जहाँ चक्षुःसंयोग है, वहाँ यदि आलोकसंयोग होता तो प्रत्यक्ष होता, किन्तु वहाँ आलोसंयोग किसी जगह है और चक्षुःसंयोग अन्यत्र कहीं है अर्थात् दोनों भिन्न-भिन्न देशों में हैं। एवञ्च विशिष्टकारण के न रहने से प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, अर्थात् उपर्युक्त अन्वयव्यभिचार नहीं है। यहाँ ज्ञातव्य यह है—चाक्षुषप्रत्यक्ष में 'चक्षु' करण है। चक्षुःसन्निकर्ष ( संयोगादि ) व्यापार है, महत्त्व, उद्भूतरूप और आलोकसंयोग ये तीनों सहकारि कारण हैं। यह सब मिलकर प्रत्यक्ष की एक साथ पुष्कलसामग्री हो जाती है, इनमें से एक की भी यदि कभी ( न्यूनता ) रहे तो द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। 'एवमिति' इसी रीति से द्रव्य के स्पार्शनप्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्न, उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न 'त्वक्संयोग' कारण होता है। द्रव्य-समवेत-उष्णादि-स्पर्श के प्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न 'त्वक्संयुक्त-समवाय' कारण होता है। द्रव्य-समवेत-समवेत उष्णत्वादि के स्पार्शनप्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न त्वक्संयुक्तसमवेतसमवाय' कारण होता है। यहाँ पर भी पूर्ववत् ( चाक्षुषप्रत्यक्ष की तरह ) महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतस्पर्शत्वावच्छिन्न के साथ 'त्वक्संयुक्तसमवेतादि' संबंध को कारण समझना चाहिये। इसी प्रकार गन्धप्रत्यक्ष के प्रति घ्राणसंयुक्त-समवाय सम्बन्ध को कारण माना जाता है, और गन्धसमवेत-'गन्धत्वादि' के प्रत्यक्ष में 'घ्राणसंयुक्त-समवेतसमवाय' कारण होता है। अर्थात् द्रव्य के त्वाचप्रत्यक्ष ( स्पार्शनप्रत्यक्ष में ) सन्निकर्ष 'त्वक्संयोग' है, और द्रव्य में समवेत स्पर्श आदि के स्पार्शनप्रत्यक्ष में त्वक्संयुक्तसमवायसंनिकर्ष कारण है, क्योंकि त्वक्संयुक्त हुए घटपटादि द्रव्य, उनमें 'स्पर्श' का समवाय है, तथा द्रव्य में समवेत जो स्पर्श, उसमें समवेत जो स्पर्शत्वादिजाति, उसके स्पार्शनप्रत्यक्ष में 'त्वक्संयुक्त-



समवेतसमवाय' कारण होता है। क्योंकि त्वक्संयुक्त द्रव्य हुआ, उसमें स्पर्श का समवाय है। अर्थात् स्पर्श समवेत है, उस स्पर्श में स्पर्शत्व जाति का समवाय है। यहाँ पर भी त्वक्संयुक्त द्रव्य को महत्त्वावच्छिन्न और उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न होना चाहिए। अणु और द्व्यणुक का स्पर्शनप्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि उसमें महत्परिमाण नहीं है। उसी तरह प्रकाश का स्पार्शनप्रत्यक्ष इसलिये नहीं होता कि उसमें उद्भूतस्पर्श नहीं है। बाह्यद्रव्य का प्रत्यक्ष केवल चक्षु और त्वक् दो इन्द्रियों से होता है। आत्मा का प्रत्यक्ष 'मन' इन्द्रिय से होता है। अब बाकी बचे घ्राण, रसना, श्रोत्र, इन तीन इन्द्रियों से द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। घ्राणेन्द्रिय से पुष्प के गन्ध का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु पुष्प का प्रत्यक्ष नहीं होता, इस कारण घ्राणजन्यप्रत्यक्ष में संयोग सन्निकर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि संयोग तो द्रव्य से ही हो सकता है। घ्राणजप्रत्यक्ष में गन्ध का प्रत्यक्ष, घ्राणसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से होता है। क्योंकि घ्राण से संयुक्त जो पुष्प, उसमें गन्ध का समवाय है। उसी प्रकार गन्ध-समवेत गन्धत्व आदि जाति का प्रत्यक्ष घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष से होता है।

**एवं रसप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवायः, रससमवेतरासनप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।**

**शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायः कारणम्। शब्दसमवेतश्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतसमवायः कारणम्।**

**अत्र सर्वं प्रत्यक्षं लौकिकं बोध्यम्। वक्ष्यमाणमलौकिकप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगादिकं विनापि भवति। एवमात्मनः प्रत्यक्षे मनःसंयोगः, आत्मसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवायः, आत्मसमवेतसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।**

इस प्रकार रासनप्रत्यक्ष में भी संयोग' सन्निकर्ष नहीं होता, क्योंकि रसना के द्वारा किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, बल्कि 'रस' संज्ञक गुण का ही प्रत्यक्ष होता है। उसके ( रस के ) प्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्न-रसनासंयुक्त समवाय ही कारण होता है। अर्थात् रसना से संयुक्त जल हुआ, उस जल में रस का समवाय है। उसी प्रकार रस-समवेत-रसत्व के प्रत्यक्ष में महत्त्वावच्छिन्नरसना-संयुक्तसमवेतसमवाय कारण होता है। 'शब्दप्रत्यक्षे' इति। 'श्रोत्र' आकाशरूप है और 'शब्द' गुण है। अतः श्रोत्रात्मक आकाशसमवेतशब्द के प्रत्यक्ष में श्रोत्रानुयोगिकसमवाय कारण होता है। इसी कारण अन्यदेशस्थशब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता। शब्दसमवेतशब्दत्व ( शब्द में रहनेवाली शब्दत्वजाति ) के श्रावण प्रत्यक्ष में श्रोत्रावच्छिन्नसमवेत समवाय ( श्रोत्रानुयोगिकसमवेतसमवाय ) कारण होता है, क्योंकि श्रोत्रावच्छिन्न देश में शब्द समवेत है और उसमें शब्दत्व जाति का समवाय है।

अलौकिक और लौकिक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, यह आगे बताया जायेगा। षड्विध ( छह प्रकार के ) सन्निकर्ष, लौकिक प्रत्यक्ष के ही होते हैं, किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष, इन्द्रियसंयोगादिसन्निकर्षों के बिना भी होता है। उसे अलौकिक इसलिये कहा जाता है कि वह लोकव्यवहार में प्रायशः अप्रसिद्ध ( अज्ञात ) रहता है। वह अलौकिकप्रत्यक्ष, सामान्यलक्षणासन्निकर्ष, ज्ञानलक्षणा-सन्निकर्ष, योगजधर्मसन्निकर्ष-प्रयोज्य-विषयता-निरूपक होता है। अतः चक्षुरादि-इन्द्रियसंयोगात्मक लौकिकसन्निकर्ष की उसे अपेक्षा नहीं होती है। 'विनापि' यहाँ 'अपि' शब्द से यह सूचित किया गया है कि क्वचित् अलौकिक प्रत्यक्ष में भी लौकिकसन्निकर्ष की अपेक्षा ( आवश्यकता ) होती है। उसी प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष मनस् इन्द्रिय ( मानस प्रत्यक्ष ) से होता है। मनस् ( मन ) और आत्मा दोनों द्रव्य हैं। इस कारण आत्मा को मनस् ( मन ) से संयोग होता है। इसलिये उसके ( आत्मा के ) प्रत्यक्ष में 'मनःसंयोग' सन्निकर्ष कारण होता है। यद्यपि 'पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्' इस कारिका की मुक्तावली में 'आत्म-मानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्त्वस्य कारणत्वात्' कहकर आत्मा के मानस प्रत्यक्ष में महत्परिमाण को कारण बताया है, तथापि कार्य-कारणभाव के बीच में महत्परिमाण के निवेश करने का कोई प्रयोजन न होने से महत्परिमाण का निवेश बिना किये ही कार्य-कारणभाव को बताया गया है कि 'मनःसंयोग सन्निकर्ष' कारण होता है। अर्थात् आत्मवृत्तिलौकिकविषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति केवल 'मनःसंयोग' को कारण बताया गया है। आत्मा में समवेत ज्ञान आदि गुणों का भी मानस प्रत्यक्ष माना गया है। आत्मा के गुणों के प्रत्यक्ष में 'मनःसंयुक्त-समवाय' सन्निकर्ष कारण है। क्योंकि मन से सयुक्त हुआ आत्मा और उसमें ज्ञान आदि गुणों का समवाय है। तथा आत्मा में समवेत जो ज्ञान, सुख आदि गुण, उनमें समवेत जो ज्ञानत्व, सुखत्व आदि जातियाँ, उनके प्रत्यक्ष में 'मनःसंयुक्तसमवायसन्निकर्ष' कारण है।

**अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता हेतुः। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः।**

**अत्र यद्यपि विशेषणता नानाविधा। तथाहि—भूतलादौ घटाद्यभावः स्वसंयुक्तविशेषणतया गृह्यते, सङ्ख्यादौ रूपाद्यभावः स्वसंयुक्तसमवेतविशेषण-तया, सङ्ख्यात्वादौ रूपाद्यभावः स्वसंयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतया, शब्दाभावः केवलश्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतया, कादौ खत्वाद्यभावः श्रोत्रावच्छिन्नसमवेत-विशेषणतया, एवं कत्वाद्यवच्छिन्नाभावे गत्वाभावादिकं श्रोत्रावच्छिन्नविशेषण-विशेषणतया, एवं घटाभावादौ पटाभावः चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणतया, एव-मन्यदप्यूह्यम्। तथापि विशेषणतात्वरूपेणैकैव सा गण्यते। अन्यथा षोढा सन्निकर्ष इति प्राचां प्रवादो व्याहन्येतेति।**

॥ इति लौकिकसन्निकर्षनिरूपणम् ॥



समवाय को छोड़कर भावात्मक पदार्थ के प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष का निरूपण कर चुके। अब अभाव और समवाय के प्रत्यक्ष होने में सन्निकर्ष को बताते हैं—

'अभावप्रत्यक्षे इति।' समवाय के प्रत्यक्ष मानने में कुछ विवाद है। इसलिये प्रथमतः अभाव के प्रत्यक्ष का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। अभाव तथा समवाय का 'इन्द्रिय-सम्बन्ध विशेषणता' सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है। चक्षु से सम्बद्ध भूतलादि में घटादिकों का अभाव तथा समवेत रूपादिकों का समवाय दोनों विशेषण हैं। इसलिये इन्द्रियसम्बद्ध जो भूतलादि, उसमें विशेषणीभूत अभावादिकों का 'इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता' सन्निकर्ष ( सम्बन्ध ) से ग्रहण होता है। भूतल पर घटाभाव का जहाँ प्रत्यक्ष होता है, वहाँ पर चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त हुए भूतल में ( अभाव के अधिकरण में ) विशेषण 'घटाभाव' स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। स्वरूप-सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता को ही विशेषणता विषयता कहा जाता है। वह घटाभाव में है। इस कारण अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष को कारण कहा गया है। यथा 'घटाभाववद् भूतलम्' इत्याकारक प्रतीति में भासित होता है उसी प्रकार इन्द्रियसम्बद्ध रूपादि भी समवेत हैं, वहाँ पर समवाय विशेषणीभूत है। जैसे 'रूपीरूपसमवायवान् घटः' यहाँ पर विशेषणतारूपा विषयता, समवाय-निष्ठा है। अर्थात् 'रूपसमवायवान् घटः' यहाँ पर समवायप्रत्यक्ष में और चक्षुःसम्बद्ध घट में विशेषण 'समवाय' है और वह स्वरूपसम्बन्ध से रहता है, इस इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणताख्य सम्बन्ध को ही विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष भी कहते हैं। एवं च समवाय के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता सन्निकर्ष' को कारण कहते हैं। क्योंकि वस्तुतः सम्बन्ध तो दो ही प्रकार के माने जाते हैं, जिनका अपना पृथक् अस्तित्व है, एक संयोग और दूसरा समवाय। दो द्रव्यों के सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। दोनों संयुक्त द्रव्यों में वह 'संयोग' गुण होने के कारण समवाय सम्बन्ध से रहता है। किन्तु समवाय किस संबंध से रहता है? यह पूछने पर यदि दूसरा समवाय कहें तो अनवस्था होगी। अतः समवाय अपने अधिकरण में अपने स्वरूप से ही रहता है। इसलिये समवाय अपने अधिकरण का विशेषण कहलाता है। अतएव 'समवाय' का प्रत्यक्ष भी 'अभाव' के प्रत्यक्ष के समान इन्द्रियसम्बद्ध-विशेषणता-सन्निकर्ष से ही होता है। इस विशेषण-विशेष्यभावाख्य सन्निकर्ष को छठा ( षष्ठ ) सन्निकर्ष समझना चाहिए। वह दो प्रकार का होता है-( १ ) इन्द्रियसम्बद्ध-विशेष्यत्व और ( २ ) इन्द्रियसम्बद्धविशेषणत्व। जब हम कहें 'भूतले घटाभावः' तब उसका अर्थ होगा 'भूतलवृत्तितावान् घटाभावः।' यहाँ पर 'घटाभाव' विशेष्य पदार्थ है और 'भूतल'-वृत्तितासम्बन्ध से घटाभाव में विशेषण है। अतः ऐसे स्थल में घटाभाव-प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुःसंयुक्त-भूतलनिरूपितविशेष्यताख्य सन्निकर्ष को कारण समझना चाहिये। और जब 'घटाभाववद्भूतलम्' ऐसा प्रत्यय हो तब घटाभाव को भूतल में विशेषण समझना चाहिये। ऐसे स्थल में चक्षुःसंयुक्त-भूतल-निरूपित-विशेषणता-सन्निकर्ष को कारण समझना चाहिये।

गोतम के मत में 'समवाय' का तो प्रत्यक्ष होता है, किन्तु नवीनों के मत में तो समवायसम्बन्ध अनेक प्रकार के माने गये हैं। 'प्रत्यक्षद्रव्यादौ प्रत्यक्षाः' इस मत के अनुसार 'समवाय' का प्रत्यक्ष कहा गया है।

वैशेषिकमते इति—वैशेषिकों का कहना है कि यदि समवाय का प्रत्यक्ष होता तो रूपादिकों का समवाय जिनमें है ऐसे परमाणु आदिकों का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये था, और समवाय के एक होने से एक ही समय में भविष्यकाल के तथा भूतकाल के समवायाश्रय समस्त व्यक्तियों का प्रत्यक्ष होना चाहिये था, क्योंकि सम्बन्ध के प्रत्यक्ष में यावदाश्रयप्रत्यक्ष कारण होता है। तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तभी हो सकता है कि जब उस सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष हो। संसार में समवाय नित्य तथा एक माना जाता है। उसके द्वारा सम्बद्ध समस्त वस्तुओं का यानी त्रैकालिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष होना चाहिये, किन्तु वह सम्भव नहीं। इस कारण वैशेषिकों ने समवाय का प्रत्यक्ष नहीं माना है।

परन्तु नैयायिक समवाय का प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि जब घट में रूप का प्रत्यक्ष होता है, तो यह आवश्यक है कि रूप के समवाय का भी प्रत्यक्ष हो, यानी सम्बन्ध का प्रत्यक्ष भी आवश्यक है। नवीन नैयायिकों के अनुसार 'सम्बन्धप्रत्यक्ष' को कार्यतावच्छेदक नहीं माना गया है, अपितु यावदाश्रयप्रत्यक्ष का कार्यतावच्छेदक 'संयोगप्रत्यक्ष' ही है। वैशिषिकों का जो यह कहना है कि 'समस्त त्रैलाकिक सम्बन्धों के प्रत्यक्ष होने पर ही सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है, वह उचित नहीं है। हाँ, 'संयोग' सम्बन्ध के विषय में वह कथन ठीक है, किन्तु 'समवाय' में भी उसे कह देना ठीक नहीं। अतः नैयायिक 'समवाय' का भी प्रत्यक्ष 'अभाव' के प्रत्यक्ष के समान ही 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' सन्निकर्ष से ही मानते हैं। **'अत्र यद्यपीति।'** यहाँ पर विशेषणतासन्निकर्ष का 'प्रत्यक्ष' के साथ कार्यकारणभावस्थल में जो विशेषणता सम्बन्ध है; वह, इन्द्रिय और तत्सन्निकर्ष के भेद से अनेक प्रकार का है, तब विशेषणतासन्निकर्ष को एक षष्ठसंख्या का पूरकमात्र समझना ठीक नहीं है, तथापि 'विशेषणतात्व' रूप एक धर्म के कारण विशेषणता सन्निकर्ष को एक कहा जाता है। इसलिये षष्ठसंख्यापूरक के रूप में उसे स्वीकृत किया गया है। विशेषणता की अनेक विधता को बता रहे हैं—'तथा हीति।' चक्षुःसंयुक्त-भूतल या जल में घटपटादि के अभाव का प्रत्यक्ष—'घटाभाववद्भूतलं जलं वा'—चक्षुसंयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष से होता है। क्योंकि चक्षुसंयुक्त हुआ भूतल या जल आदि, उसमें 'घटाभाव' विशेषण है तथा संख्या, आदि गुणों में रूपादि के अभाव का (संख्या में रूप नहीं है) प्रत्यक्ष, चक्षुःसंयुक्तसमवेत-विशेषणता-सन्निकर्ष से होता है, क्योंकि चक्षुसंयुक्त हुआ भूतल, उसमें समवेत हुई संख्या, उसमें विशेषण हुआ रूपादि का अभाव। तथा 'संख्यात्व' जाति में रूपभाव का प्रत्यक्ष, चक्षुः-संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेषणता सन्निकर्ष से होता है, क्योंकि चक्षुः-



संयुक्त हुआ भूतल, उसमें समवेत हुई संख्या, उनमें समवेत हुआ संख्यात्व, उसमें रूपादि का अभाव विशेषण है। उसी प्रकार शब्द के अभाव का प्रत्यक्ष, केवल श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणतासन्निकर्ष (श्रोत्रवृत्तिविशेषणतासन्निकर्ष) से होता है, क्योंकि 'शब्दाभाव' श्रोत्र का विशेषण है। अर्थात् 'शब्दाभाववत्श्रोत्रम्' इस प्रतीति के समय शब्दाभाव में जो विशेषणता है, वह श्रोत्रावच्छिन्न है। श्रोत्रवृत्ति 'क'-कार में ('क' आदि शब्दों में) जो 'खत्व' जाति का अभाव, उसके प्रत्यक्ष में 'श्रोत्रसमवेत (क) विशेषणता-सन्निकर्ष' कारण है, क्योंकि श्रोत्रावच्छेदेन समवेत जो 'क' शब्द, उसमें 'खत्वाभाव' विशेषण है। उसी प्रकार आकाशात्मक श्रोत्र में जो कत्वावच्छिन्न 'क'कार का अभाव है, उस अभाव में 'गत्व' जाति का जो अभाव है ('क'कार के अभाव में 'ग'कार का अभाव है) उसके प्रत्यक्ष में श्रोत्र-विशेषण ('क'काराभाव) विशेषणतासन्निकर्ष कारण होता है, क्योंकि श्रोत्र में विशेषण 'क'काराभाव, उसमें विशेषण 'गत्व'जाति का अभाव है। उसी प्रकार भूतल में जो घटाभाव है, उसमें रहनेवाले पटाभाव के प्रत्यक्ष में चक्षुःसंयुक्त (भूतल) विशेषण (घटाभाव) विशेषणता (पटाभावनिष्ठ) सन्निकर्ष कारण है, क्योंकि चक्षुःसंयुक्त भूतल में विशेषण घटाभाव हुआ और उसमें विशेषण पटाभाव हुआ। इसलिये घटाभावनिरूपितविशेषणता पटाभाव में हुई। 'एवमन्यदप्यूह्यमि'ति। इसी प्रकार इतर अभावों के प्रत्यक्ष में भी जैसा जहाँ हो वहाँ पर वैसे सम्बन्धों की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार विशेषणता अनेक प्रकार की होती है, यह प्रतीत होता है, तथापि उन सभी विशेषणताओं में जो अनुगत धर्म विशेषणतात्व है, उस (विशेषणतात्व) रूप से उन सब विशेषणताओं के समुदाय को एक ही (विशेषणतारूप) माना है। 'विशेषणतया तद्वत्' कहकर मूलकार ने यही अभिप्राय व्यक्त किया है। अन्यथा (विशेषणता को यदि अनेक मानेंगे तो) 'सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है' यह प्राचीनों का कथन (प्रवाद) संगत नहीं हो सकेगा, क्योंकि विशेषणताओं को अनेक प्रकार का मानने से तो सन्निकर्ष भी छह से कहीं अधिक होंगे। जैसे—घटद्रव्य में गुण, गुण में गुणत्व, गुणत्व में पदार्थत्व, पदार्थत्वधर्म में घटाभाव, घटाभाव में गुणत्वाभाव इस क्रम से विशेषण-विशेष्यभाव के रहने पर तत्तद् विशेष्यों के साथ विशेषणों के जो सम्बन्ध होंगे, उनके अनुसार सम्बन्धपरम्परा की कल्पना करनी पड़ेगी।

॥ इति लौकिकसन्निकर्षनिरूपणम् ॥

यदि स्यादुपलभ्येतेति। अत्राभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिः कारणम्। तथाहि—भूतलादौ घटादिज्ञाने जाते घटाभावादिकं न ज्ञायते। तेनाभावोपलम्भे प्रति-योग्युपलम्भाभावः कारणम्। तत्र योग्यताप्यपेक्षिता। सा च प्रतियोगिसत्त्व-प्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा। तदर्थश्च प्रतियोगिनो घटादेः सत्त्व-प्रसक्त्या प्रसञ्जित आपादि उपलम्भरूपः प्रतियोगी यस्य सोऽभावप्रत्यक्षे हेतुः।

तथाहि—यत्रालोकसंयोगादिकं वर्तते, तत्र 'यद्यत्र घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येते'त्यापादयितुं शक्यते। तत्र घटाभावादिप्रत्यक्षं भवति। अन्धकारे तु नापादयितुं शक्यते। तेन घटाभावादेरन्धकारे न चाक्षुषं प्रत्यक्षम्, स्पार्शनप्रत्यक्षं तु भवत्येव, आलोकसंयोगं विनापि स्पार्शनप्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्। गुरुत्वादिकं यदयोग्यं तदभावस्तु न प्रत्यक्षस्तत्र गुरुत्वादिप्रत्यक्षस्यापादयितुमशक्यत्वात्। वायौ रूपाभावः। पाषाणे सौरभाभावः। गुडे तिक्ताभावः। श्रोत्रे शब्दाभावः। आत्मनि सुखाभावः। एवमादयस्तत्तदिन्द्रियैर्गृह्यन्ते, तत्तत्प्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्। संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यता। अन्योन्याभावप्रत्यक्षे त्वधिकरणयोग्यताऽपेक्षिता। अतः स्तम्भादौ पिशाचादिभेदोऽपि चक्षुषा गृह्यत एव ॥ ५९–६२ ॥

यहाँ तक अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय कारण है और 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता सन्निकर्ष व्यापार है—यह बताया। अब अभाव के प्रत्यक्ष में 'योग्यानुपलब्धि' को सहकारिकारण [ सहायक ] के रूप में बता रहे हैं उसके सहायक होने में युक्ति बताते हैं—जिस किसी भूप्रदेश में 'घट' है, ऐसा भ्रम हुआ, उसी भूप्रदेश में घट के अभाव का ज्ञान [ यहाँ घट नहीं है—इस प्रकार का ज्ञान ] नहीं होता। अर्थात् जहाँ प्रतियोगी का प्रत्यक्ष नहीं होगा, वहीं पर उसके अभाव का प्रत्यक्ष होता है, यानी घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर घटाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, यह वस्तुस्थिति है। अतः अभाव के लौकिक प्रत्यक्ष में प्रतियोगी के [ जिस वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष होता है, उस वस्तु के ] ज्ञान का जो अभाव है, वही, [ अभावरूपी अनुपलब्धि ] कारण होता है। अर्थात् अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी के ज्ञान का अभाव ही कारण है।

शंका—प्रतियोगी का उपलंभाभाव [ अनुपलब्धि ] प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष होने में यदि कारण है तो जलादि परमाणु में पृथ्वीत्व का उपलंभ [ प्रत्यक्ष ] नहीं होता, अतः जलादि परमाणु में पृथ्वीत्वोपलंभाभाव है, तो वहाँ [ जलादिपरमाणु में ] पृथ्वीत्वाभाव का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता?

समा०—प्रतियोगी के उपलंभाभाव में 'योग्यता' भी अपेक्षित होती है। अर्थात् योग्यताविशिष्ट जो प्रतियोग्युपलंभाभाव हो; वही प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष होने में कारण होता है। योग्यता को प्रदर्शित करते हैं—"सा चेति।" सा च प्रतियोगित्वप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा। इसका अर्थ यह हुआ कि वह योग्यता प्रतियोगी के सत्त्वापादन से आपादित प्रतियोगिकत्वरूपा है, अर्थात् घटादि प्रतियोगियों की प्रसक्तिद्वारा जिसके प्रतियोगी का उपलंभरूप से आपादन हो सके, ऐसा उपलंभाऽभाव, अभावप्रत्यक्ष में कारण है। अभिप्राय यह है—प्रतियोगी के उपलंभ ( अस्तित्व ) के आरोप का जहाँ संभव हो सके वहाँ तत्प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा नहीं। निष्कर्ष यह निकला कि 'अभाव' का प्रतियोगी



'घट' है, वह जिस भूप्रदेश में जब रहे, तब उस अभाव के प्रतियोगी की उपलब्धि होती है, उस उपलब्धि का अभाव ही उस प्रतियोगी के अभावप्रत्यक्ष के प्रति कारण होता है। भाट्ट मीमांसकों का कहना है कि 'अभाव' पदार्थ का ज्ञान 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से नहीं होता, किन्तु 'अनुपलब्धिप्रमाण' से होता है। अर्थात् अभाव पदार्थ अनुपलब्धिप्रमाणजन्य अनुपलम्भात्मक प्रमिति का विषय होता है। उसी तरह भाट्ट मीमांसक 'समवाय' संज्ञक पदार्थ को भी नहीं मानते। अतः उन दोनों के प्रत्यक्ष के लिये 'विशेषणता-सन्निकर्ष को मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

उक्त मीमांसकसिद्धान्त का खण्डन 'यदि स्यादुपलभ्येत' के द्वारा किया जा रहा है। अनुपलब्धिसहकृत इन्द्रिय के द्वारा 'अभाव' का प्रत्यक्ष यदि हो सकता है तो अनुपलम्भात्मक एक पृथक् ज्ञान और तत्करणत्वेन अनुपलब्धिरूप एक पृथक् प्रमाण क्यों माना जाय? क्योंकि पृथक् प्रमिति और तत्साधनार्थ एक पृथक् प्रमाण मानने में गौरव होगा। नैयायिक अपने सिद्धान्त को बता रहा है—'अभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिरिति।' इन्द्रिय से होनेवाले अभावप्रत्यक्ष में योग्यानुपलब्धि सहकारि कारण होती है। योग्यस्य अनुपलब्धि, योग्यानुपलब्धिः। प्रत्यक्ष होने की योग्यता जिसमें है, ऐसे घट की अनुपलब्धि=उपलम्भाभाव अर्थात् प्रत्यक्ष प्रतीति न होना। तात्पर्य यह है कि घटप्रत्यक्षाभाव, घटाऽभावप्रत्यक्ष में सहकारि कारण होता है। योग्यानुपलब्धि का वास्तविक अर्थ यह है कि योग्यताविशिष्ट उपलब्ध्यभाव, वह योग्यता अभाव में रहती है। कारणमिति। योग्यानुपलब्धि, प्रत्यक्ष में कारण ही है, 'करण' नहीं है। इसीके उपपादथार्थ 'तथाही'ति के द्वारा बता रहे हैं—भूतलरूप अधिकरण में चक्षुःसंयुक्त-संयोग के द्वारा घट का प्रत्यक्षज्ञान होने पर घटाभाव ( घटप्रतियोगिताक अभाव ) का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। अर्थात् तत्तदिन्द्रियजन्यसंयोगादिसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताशाल्यनहार्यनिश्चये जाते सति तत्तदिन्द्रियजन्यसंयोगादिसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावत्वावच्छिन्न-लौकिकप्रकारताशाल्यनाहार्यज्ञानत्वावच्छिन्नं न जायते। तात्पर्य यह है कि विशेष्यतासम्बन्ध से भूतलनिष्ठ घटाभावज्ञान में विशेष्यतासम्बन्ध से घटनिश्चय प्रतिबन्धक होता है 'विशेष्यतासम्बन्धेन भूतलनिष्ठ घटाभावज्ञानम्प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन घटनिश्चयः प्रतिबन्धकः।' 'तेने'ति। घटाभावज्ञान में घटनिश्चय प्रतिबन्धक होने से 'अभावोपलम्भे' अर्थात् विशेष्यतासंबंध से घटाद्यभावज्ञान के प्रति 'प्रतियोग्युपलम्भाभावः' अर्थात् विशेष्यतासम्बन्ध से घटात्मकप्रतियोगिनिश्चयाऽभाव को कारण माना जाता है, करण नहीं। अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोग्युपलम्भाभाव को कारण मानने पर जलपरमाणु में पृथिवीत्वोपलम्भाभाव रहने से पृथिवीत्वाभाव के प्रत्यक्ष होने की आशंका का निवारण करने के लिये योग्यताविशिष्ट प्रतियोग्युपलम्भाभाव को कारण बताया जा रहा है—'तत्र योग्यताप्यपेक्षिता' तत्र=उस प्रतियोग्युपलम्भाभाव में अर्थात् पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षाभावरूप कारण में सहकारिकारण के रूप में योग्यता की अपेक्षा की जाती है। उस योग्यता को मणिकार के

अनुसार बता रहे हैं—'प्रतियोगीति' यहाँ पर तर्क आपादक होता है, अतः तर्क का स्वरूप यह होगा—'यदि अत्र घटः स्यात्, तर्हि उपलभ्येत'। इसमें 'यदि अत्र घटः स्यात्' यह प्रथम दल, आपादक है, वह घटरूप–प्रतियोगी की सत्ता ( सत्त्व ) का आरोपक होता है। उस आपादक के द्वारा ( प्रतियोगी के सत्त्वारोप के द्वारा ) 'तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार घटोपलम्भ—( घट प्रत्यक्ष ) रूप आपाद्य का आरोप होता है। आपाद्याभाव से आपादकाभाव की सिद्धि अर्थात् घटोपलम्भाभाव से घटाभाव की सिद्धि यहाँ प्रत्यक्ष हो जाती है। आपाद्याभाव में ( प्रतियोग्युपलम्भाभाव में ) जो आपाद्यप्रतियोगिकत्व धर्म ( घटोपलम्भप्रतियोगिकत्व धर्म ) है, वही 'योग्यता' पदार्थ है। इसी अभिप्राय को मुक्तावलीकार बता रहे हैं—प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जन के द्वारा प्रसञ्जित है प्रतियोगी जिसका। प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जन का अर्थ होगा कि घट की सत्ता का आरोप। जैसे 'यदि अत्र घटः स्यात्' इत्याकारक आरोप, इस आरोप के द्वारा प्रसञ्जितप्रतियोगिकः अर्थात् आरोपित प्रतियोगी, यानी 'तर्हि उपलभ्येत' इस आरोप का विषय जो घटोपलम्भ [ घटप्रत्यक्ष ] है, वही प्रतियोगी है जिस अभाव का, वह घटोपलम्भप्रतियोगिक अभाव हुआ। उस अभाव में जो तादृशप्रतियोगिकत्वरूप धर्म है, वही योग्यता पदार्थ है। अर्थात् तादृशयोग्यताविशिष्टप्रतियोग्युपलम्भाभाव ही प्रतियोग्यभाव के प्रत्यक्ष में कारण होता है। जलपरमाणु में यदि अत्र पृथिवीत्वं स्यात् तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार आपादन करना संभव न होने से अर्थात् पृथिवीत्वसत्तारोपजन्य आरोपविषय पृथिवीत्वात्मकप्रतियोगिकत्व का जलपरमाणुगतपृथिवीत्वाभाव में अभाव होने से जलपरमाणु में पृथिव्त्वाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता। योग्यता का लघुलक्षण इस प्रकार होगा—'प्रतियोगिसत्ताव्यापकोपलम्भप्रतियोगिकत्वं योग्यत्वम्।' मुक्तावलीकार 'योग्यता' को व्युत्पत्ति के द्वारा बता रहे हैं—'तदर्थश्चेति।' जिसका अभाव प्रत्यक्ष करना है, वह प्रतियोगी है। जैसे घटाभाव का प्रतियोगी 'घट' हुआ, उसकी 'सत्त्वप्रसक्ति' से अर्थात् 'स्यात्' इत्याकारक सत्ता की प्रसक्ति ( आरोप ) से प्रसञ्जित ( आरोपित ) अर्थात् 'तर्हि उपलभ्येत इस प्रकार आरोप का विषय बना हुआ, उपलम्भरूपः ( प्रत्यक्षज्ञानात्मक ) प्रतियोगी, जिस उपलंभाभाव है, उस उपलंभाभाव में रहनेवाला जो तादृशप्रतियोगिकत्वात्मक धर्म है, वही योग्यता पदार्थ है। तादृशयोग्यताविशिष्टप्रतियोग्युपलंभाभाव, प्रतियोगी के अभावप्रत्यक्ष में कारण है। प्रतियोगी ( घट ) की सत्ता व्याप्य है और प्रतियोगी का उपलंभ व्यापक है। इसी को स्पष्ट करते हैं—'तथा हीति।' जहाँ ( जिस भूप्रदेश में ) आलोकसंयोग आदि है अर्थात् आलोकसंयोगावच्छिन्न-महत्त्वावच्छिन्न-उद्भूतरूपावच्छिन्न चक्षुःसंयोग है, वहाँ ( उस भूप्रदेश में ) 'यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत' ऐसा आपादन ( आरोप ) कर सकते हैं, अतः वहाँ पर घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। जहाँ प्रतियोगी की सत्ता है वहाँ प्रतियोगी का उपलम्भ होता है। एवञ्च चक्षुःसन्निकर्षसहकृत जो प्रतियोगि ( घट ) सत्तानिष्ठव्याप्यतानिरूपित-



व्यापकतावान् प्रतियोग्युपलम्भ, उसका विशेष्यतासम्बन्ध से जो भूतलनिष्ठ अभाव है, वह प्रतियोग्यभाव के प्रत्यक्ष में कारण है। निष्कर्ष यह है—तन्निष्ठ ( घटनिष्ठ ) प्रकारताशालि ( घटवद्भूतलम् ) प्रत्यक्ष का जो लौकिकविशेष्यतासंबंधावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट-अभाव; वही, तदभाव ( घटाभाव ) प्रत्यक्ष में कारण है। जहाँ अंधकार है ( जहाँ आलोकसंयोगाद्यवच्छिन्न चक्षुःसंयोग नहीं है ) वहाँ तो पूर्व प्रदर्शित रीति से उपलब्धि की संभावना चक्षुरिन्द्रिय से नहीं की जाती, इस कारण अन्धकार में घटाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि उस अंधकार में 'यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत' ऐसा आपादान ( आरोप ) नहीं कर सकते। तेन=उस कारण अर्थात् प्रतियोगि ( घट ) सत्ताव्यापक प्रतियोग्युपलम्भप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यता का ही अभाव होने के कारण योग्यताविशिष्ट-प्रतियोग्युपलम्भाभावरूप कारण नहीं है, इसलिए अन्धकार में घटाभाव का चाक्षुष-प्रत्यक्षरूप कार्य नहीं हो पाता। किन्तु अन्धकार में घट का स्पार्शन प्रत्यक्ष होने में कोई रुकावट नहीं है। अतः स्पार्शन प्रत्यक्ष ( त्वगिन्द्रियजन्यप्रत्यक्ष ) तो होता ही है, क्योंकि घट के स्पार्शन प्रत्यक्ष में आलोकसंयोग को कारण नहीं माना जाता, अपितु उद्भूतस्पर्शावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्न-त्वक्संयोग को ही कारण माना जाता है। एवञ्च अन्धकार में भी जब घट नहीं होता, तब त्वगिन्द्रियजन्य अभावप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतस्पर्शावच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्न त्वक्संयुक्तविशेषणता को ही कारण माना जाता है। अतः उक्त 'कारण' अन्धेरे में भी स्थित घटाभाव में विद्यमान है। इस कारण वहाँ अन्धेरे में आलोकसंयोग के बिना भी स्पार्शन प्रत्यक्ष ( त्वगिन्द्रिय-प्रत्यक्ष ) का 'यदि अत्र गृहे घटः स्यात् तर्हि त्वचा उपलभ्येत' इत्याकारक आपादान ( आरोप ) कर सकते हैं। अतः घटसत्ताव्यापक-घटस्पार्शनोपलम्भप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के विद्यमान होने से घटाभाव का स्पार्शनप्रत्यक्ष होने में कोई रुकावट नहीं होती। जैसे अन्धकार में घटाभाव का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही अतीन्द्रिय पदार्थ के अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं होता, यह बताते हैं—'गुरुत्वादिकमिति।' गुरुत्व, धर्म, अधर्म, पिशाच आदि अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, जो प्रत्यक्ष होने के योग्य नहीं हैं, उनका अभाव भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। क्योंकि उस गुरुत्वादिकरण में गुरुत्वादिप्रत्यक्ष का 'यदि घटे गुरुत्वं स्यात्, तर्हि उपलभ्येत' इत्याकारक आपादान [ आरोप ] करना संभव नहीं है। गुरुत्व तो सर्वथा तुला के द्वारा अनुमेय ही होता है। उसी तरह धर्माऽधर्म भी प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं, इस कारण धर्माऽधर्माधिकरण में 'यदि मयि धर्मः स्यात्, तर्हि उपलभ्येत' ऐसा आपादान भी नहीं किया जाता, किन्तु सुखादिफलात्मकलिङ्ग से धर्माऽधर्म का अनुमान ही किया जाता है। तात्पर्य यह है कि तादृशयोग्यता और उपलम्भ ही अप्रसिद्ध है। एवञ्च कारण की अप्रसिद्धि होने से गुरुत्वादिप्रत्यक्ष भी अप्रसिद्ध है।

इसी प्रकार वायु में रूपाभाव का, पाषाण में सुगन्ध के [सौरभ के] अभाव का,

गुड़ में तिक्तरस के अभाव का, श्रोत्र में शब्दाभाव का, आत्मा में सुखाभाव आदि का ग्रहण [ प्रत्यक्ष ] तत्तद् इन्द्रियों से [ उन उन इन्द्रियों से ] होता है, जिन जिन इन्द्रियों से उन उन अभावों के प्रत्यक्ष का आपादन [ आरोप ] किया जा सकता है। क्योंकि उक्त अभावों के प्रतियोगी जो रूपादिक हैं, उनके उपलंभाभाव में 'प्रतियोगित्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूप' योग्यता है। पृथिवी में उद्भूत-रूप का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता देखा गया है, अतः 'वायौ यदि उद्भूतरूपं स्यात् तर्हि चक्षुषा उपलभ्येत' ऐसा आपादान ( आरोप ) हो सकता है। एवञ्च उद्भूतरूप-सत्ताव्यापक-चाक्षुषप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्टाभावात्मक कारण के विद्यमान होने से वायु में उद्भूतरूपाऽभाव का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार पुष्प आदि में उद्भूतसौरभ का घ्राणजप्रत्यक्ष होता है। अतः पाषाणे यदि उद्भूत-सौरभं स्यात् तर्हि घ्राणेन उपलभ्येत' ऐसा आपादन हो सकता है। एवञ्च—उद्भूतसौरभसत्ताव्यापकघ्राणजप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के रहने से पाषाण में उद्भूतसौरभाभाव का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार मरीचिका आदि में उद्भूत तिक्तरस का रासनप्रत्यक्ष होता है। अतः 'गुडे यदि उद्भूततिक्तः स्यात् तर्हि रसनया उपलभ्येत' यह आपादन किया जा सकता है। अतः उद्भूततिक्तसत्ताव्यापकरासनप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के रहने से गुड में उद्भूततिक्ताभाव का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार पृथिवी में अनुष्णस्पर्श का त्वाच प्रत्यक्ष होता है। अतः 'वह्नौ यदि उद्भूताऽनुष्ण-स्पर्शः स्यात् तर्हि त्वचा उपलभ्येत' ऐसा आपादन किया जा सकता है। इसलिये उद्भूतानुष्णस्पर्शसत्ताव्यापकत्वाचप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के रहने से वह्नि में उद्भूतानुष्णाभाव का प्रत्यक्ष होता है। श्रोत्र में एक बार शब्द का प्रत्यक्ष हो चुका है, अतः दूसरी बार भी 'यदि श्रोत्रे शब्दः स्यात् तर्हि श्रोत्रेण उपलभ्येत' यह आपादन किया जा सकता है। अतः शब्दसत्ता-व्यापकश्रोत्रजप्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के रहने से श्रोत्र में शब्दाभाव का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार एक बार आत्मा में सुख का प्रत्यक्ष हो चुका है, तो दूसरी बार भी 'यदि आत्मनि सुखं स्यात् तर्हि मनसा उपलभ्येत' यह आपादन किया जा सकता है। इस कारण सुखसत्ताव्यापकमानस-प्रत्यक्षप्रतियोगिकत्वात्मकयोग्यताविशिष्ट अभावात्मक कारण के विद्यमान रहने से आत्मा में सुखाभाव का मानस प्रत्यक्ष होता है। 'आदि' शब्द से 'प्रभा' में उद्-भूतस्पर्शाभाव का त्वाचप्रत्यक्ष होता है, क्योंकि 'प्रभायां यदि उद्भूतस्पर्शः स्यात् तर्हि उपलभ्येत' ऐसा आपादन ( आरोप ) किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि वायु में रूपाभाव के प्रत्यक्ष से लेकर आत्मा में सुखाभाव आदि का प्रत्यक्ष उन-उन इन्द्रियों से होता है, जिन-जिन इन्द्रियों से उन-उन अभावों के उन-उन प्रतियोगियों का प्रत्यक्ष होता है। क्योकि तत्तत् अभावों के प्रत्यक्ष का आपादन ( आरोप ) कर सकते हैं, क्योंकि तत्तत् अभावों के रूपादि प्रतियोगियों के उपलंभा-भाव में 'प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जनप्रसञ्जितप्रतियोगिकत्व' रूप योग्यता विद्यमान है।



अब संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में और अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में भिन्न-भिन्न योग्यता अपेक्षित होती है 'संसर्गाभावप्रत्यक्षे' इति। प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव-अत्यन्ता-भाव के भेद से संसर्गाभाव के तीन प्रकार हैं। संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी ( घटादि ) की प्रत्यक्षयोग्यता आवश्यक रहती है। अर्थात् जिस किसी इन्द्रिय से जो घटादि प्रतियोगी प्रत्यक्षयोग्य रहता है, उसी के प्रागभाव का, प्रध्वंसाभाव का और अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष हो पाता है। जो प्रतियोगी इन्द्रिय का गोचर ( विषय ) कभी होता ही नहीं, उसके संसर्गाभाव का कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता। 'प्रतियोगिनो योग्यता' अर्थात् 'प्रतियोगियोग्यत्व'। 'योग्य' का अर्थ है प्रत्यक्ष के योग्य अर्थात् प्रत्यक्षविषय। इस योग्यत्व ( योग्यमात्रप्रतियोगिकत्व ) को अभाव-निष्ठ समझना चाहिए। उसी तरह अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में तो अधिकरण की योग्यता अपेक्षित है। अर्थात् संसर्गाभाव के अतिरिक्त अभाव के प्रत्यक्ष में अधि-करणयोग्यता अर्थात् अभावाधिकरण की ही प्रत्यक्षयोग्यता आवश्यक है। यदि अधिकरण प्रत्यक्षयोग्य ( प्रत्यक्ष का विषय ) है, तो अन्योन्याभाव का प्रत्यक्ष अवश्य होगा। अधिकरणयोग्यत्व अर्थात् योग्या ( प्रत्यक्षविषया ) धिकरणवृत्तित्व। एवञ्च यहाँ योग्यतापदार्थ, अन्योन्याभावनिष्ठ है। अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में अधिकरणयोग्यता कारण होने से 'स्तंभः पिशाचो न' इत्याकारक भेद अर्थात् स्तंभ आदि अधिकरण में प्रत्यक्ष के अयोग्य ऐसे पिशाच आदि का भेद ( अन्योन्या-भाव ) चक्षु से गृहीत होता है 'एवमिति'। नैयायिकों के मत में लौकिक तथा अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष के दो प्रकार माने जाते हैं। लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध-संयोगादिषड्विधसन्निकर्षजन्यप्रत्यक्ष को लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं, इस लौकिक प्रत्यक्ष के हेतुभूत षड्विध ( षोढ़ा ) सन्निकर्षों का निरूपण अभी तक किया गया। [ ५९-६० - ६१ - ६२ ]

॥ इति योग्यानुपलब्धिनिरूपणम् ॥

एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम्। तत्र लौकिकप्रत्यक्षे षोढा सन्निकर्षो वर्णितः। अलौकिकसन्निकर्षस्त्विदानीमुच्यते—

**अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।**
**सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥ ६३ ॥**

अलौकिकः लोके भवः लौकिकः, न लौकिकः अलौकिकः, इन्द्रियसम्बन्धरहित इत्यर्थः। व्यापारः सन्निकर्षः—यहाँ व्यापार, सन्निकर्ष को समझना। अन्यथा धूमत्वादि-सामान्यलक्षणा में इन्द्रियजन्यत्व के न रहने से व्यापार का कथन असंगत होगा, क्योंकि व्यापार तो तज्जन्यजनकत्वरूप होता है। सामान्यलक्षणः—सामान्यं लक्षणं यस्य सः, सामान्य पद से यहाँ जाति का ग्रहण है। अर्थात् समानानां भावः अनागन्तुको नित्यो धर्मः सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मैतत्त्रितयवृत्तिः। वात्स्यायन ने

बताया है कि 'या समानाम्बुद्धिम्प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो व्यावर्तन्ते, 'योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम्' । ( न्या० भा० २।२।७१ ) इति । यथा घटत्वादि जातिः । ज्ञानलक्षणः—ज्ञानं लक्षणं यस्य सः । योगजः—योगाभ्यासजनित इत्यर्थः ।

अलौकिक सन्निकर्ष तो सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण तथा योगाभ्यासजन्य इन भेदों से तीन प्रकार का है ।

अलौकिकस्त्विति । व्यापारः सन्निकर्षः । सामान्यलक्षण इति सामान्यं लक्षणं यस्येत्यर्थः ।

अत्र लक्षणपदेन यदि स्वरूपमुच्यते तदा सामान्यस्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते । तच्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूतं बोध्यम् । तथाहि यत्रेन्द्रियसंयुक्तो धूमादिस्तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र ज्ञाने धूमत्वं प्रकारः । तत्र धूमत्वेन सन्निकर्षेण धूमा इत्येवं रूपं सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते । अत्र यदीन्द्रियसंबद्धमित्येवोच्यते तदा धूलीपटले धूमत्वभ्रमानन्तरं सकलधूम वषयकं ज्ञानं न स्यात् तत्र धूमत्वेन सह इन्द्रियसम्बन्धाभावात् ।

'अलौकिकसन्निकर्षस्तु' इति । लोकव्यवहार में जो संयोगादिसन्निकर्ष प्रसिद्ध हैं, उनसे भिन्न ( अतिरिक्त ) जो सन्निकर्ष शास्त्रगम्य हैं उन्हें, 'इदानीम्' लौकिकसन्निकर्षों के निरूपण करने के पश्चात् 'उच्यते' कहा जा रहा है । 'अलौकिकस्त्विति' नैयायिकों ने अलौकिक व्यापार ( सन्निकर्ष ) तीन प्रकार के बतलाये हैं । 'सामान्यलक्षण' इति । 'सामान्यं लक्षणं यस्य' इस व्युत्पत्ति से जात्यात्मक ( जातिरूप ) और व्यक्त्यात्मक ( व्यक्तिरूप ) सन्निकर्ष, यह एक प्रकार हुआ । सामान्य शब्द का अर्थ 'जाति और घटादिव्यक्ति' दोनों समझना । ऐसा सामान्य ही है लक्षण ( स्वरूप ) जिसका, उसे 'सामान्य लक्षण' शब्द से कहा गया है । अब सन्निकर्ष का दूसरा प्रकार है—'ज्ञानलक्षण', अर्थात् ज्ञान ही है लक्षण ( स्वरूप ) जिसका, उसे 'ज्ञानलक्षण' शब्द से कहा गया है, यानी ज्ञानात्मक सन्निकर्ष, यह दूसरा प्रकार हुआ । उसी तरह तीसरा प्रकार 'योगज' है । योग ( चित्तवृत्तिनिरोध ) से जन्य ( उत्पन्न होनेवाला ) सन्निकर्ष, यानी ध्यानधारणासमाधिरूपसंयमात्मकसन्निकर्ष यह तीसरा प्रकार हुआ । तात्पर्य यह है कि लौकिक और अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है । लौकिक प्रत्यक्ष के सन्निकर्ष भी लौकिक, और अलौकिक प्रत्यक्ष के सन्निकर्ष अलौकिक हुआ करते हैं । सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज भेद से तीन प्रकार के ही अलौकिक सन्निकर्ष बताये गये हैं । इन तीनों में से 'योगज' सन्निकर्ष से होनेवाला प्रत्यक्ष केवल योगियों को ही होता है, सर्वसाधारणों को नहीं । किन्तु सामान्यलक्षण तथा ज्ञानलक्षण इन दो अलौकिक सन्निकर्षों से होनेवाला अलौकिक प्रत्यक्ष साधारण लोगों को भी होता है। यहाँ सन्निकर्ष को 'व्यापार' शब्द से कहा गया है । 'सामान्यलक्षण'



शब्द का अर्थ इस प्रकार है—'सामान्य' ( घटत्वादिजाति और घटादि व्यक्ति )
है 'लक्षण' ( स्वरूप ) जिसका । क्योंकि 'लक्षण' शब्द के दो अर्थ ( स्वरूप और
विषय ) किये जा सकते हैं । उनमें से 'लक्षण' शब्द से यदि 'स्वरूप' अर्थ का ग्रहण
किया जाय तो 'सामान्यं लक्षणं यस्य' ( सामान्य है स्वरूप जिसका ) ऐसा
सन्निकर्ष । 'प्रत्यासत्ति' का अर्थ 'सन्निकर्ष', 'सम्बन्ध' है । 'तच्चेति' । उस
सामान्यस्वरूप प्रत्यासत्ति को ( सम्बन्ध या सन्निकर्ष को ) इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक
जो 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान, उसमें प्रकारीभूत ( विशेषणीभूत ) समझना
चाहिये । अर्थात् 'घट' में नेत्र का सम्बन्ध ( संयोग ) होने के अनन्तर 'घटघटत्वे
यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है, तदनन्तर 'अयं घटः' यह सविकल्पक प्रत्यक्ष
( अनुभव ) होता है । इस प्रत्यक्ष ( साक्षात्कार या अनुभव ) का कारणीभूत
( हेतुभूत ) संयोग सम्बन्ध लौकिक है । 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान 'घटघटत्व'
दोनों को विषय करता है, उनमें 'घट' को विशेष्यविधया तथा 'घटत्व' को प्रकार
( विशेषण ) विधया विषय करता है । इस कारण 'इन्द्रियसम्बद्धं विशेष्यं यस्य तत्
इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं ज्ञानम्' अर्थात् इन्द्रियसम्बद्धविशेष्य ( घट ) का जो ज्ञान
( अयं घटः इत्याकारक ) उसमें जो प्रकारविधया भान हो रहा है, वही सामान्य-
स्वरूप प्रत्यासत्ति ( सम्बन्ध ) का स्वरूप है । ऐसे 'घटत्व' आदि ही होंगे । अर्थात्
'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान में प्रकारीभूत सामान्य 'घटत्व' है । इस घटत्वरूप
सामान्यलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा 'घटाः' इस प्रकार सकलघटविषयक अलौकिक
प्रत्यक्ष होता है । यहाँ यह समझना चाहिए कि 'सामान्य' को इन्द्रियसम्बद्ध नहीं
कहा है, बल्कि इन्द्रियसम्बद्ध पदार्थ 'विशेष्य' है जिस ज्ञान में, उस ( ज्ञान ) में
'सामान्य' को विशेषण होना चाहिये । जब 'अयं धूमः' इत्याकारक धूम का ज्ञान
होता है, तब उस ज्ञान में विशेष्य है 'म'धू और विशेषण ( प्रकार ) है 'धमत्व' ।
वह 'धूमत्व' ही सन्निकर्ष बन जाता है । उस 'धूमत्व' नामक सामान्यसन्निकर्ष के
द्वारा संसार के यच्च यावत् समस्त धूमों का ज्ञान हो जाता है । संसार के
समस्त धूमों का ज्ञान का करा देना ही 'सामान्यलक्षण' संज्ञक अलौकिकसन्निकर्ष
का फल है । इसी अभिप्राय को मुक्तावलीकार बता रहे हैं—'तथाहीति ।' जहाँ
धूमादि विशेष्य पदार्थों के साथ नेत्रादि इन्द्रियों का सम्बन्ध हुआ है वहाँ धूमादि-
विशेष्यक 'धूमः' इत्याकारक ज्ञान होता है । उस ज्ञान में प्रकारविधया 'धूमत्व'
का भान होता है । वह धूमत्व ही अलौकिक सन्निकर्ष है, उस धूमत्वरूप सन्निकर्ष
से 'धूमाः' इत्याकारक सकलधूमविषयकज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि इस ज्ञान में
प्रकार जो धूमत्व है, वह सभी धूमों में एक ही है, इसलिये पुरोवर्ती धूम के ज्ञान-
काल में नेत्रेन्द्रिय का 'स्वजन्यज्ञानप्रकारीभूत धूमत्ववत्ता' सम्बन्ध सकल धूमों में
है । इस सम्बन्ध से नेत्रेन्द्रियजन्य यावत् धूम का प्रत्यक्ष द्वितीय क्षण में होता है ।
इस प्रत्यक्ष का विषय पुरोवर्ती धूम भी हो सकता है, क्योंकि ज्ञानप्रकारीभूत धूम-
त्ववत्ता जैसे अन्य धूमों में है, वैसे ही पुरोवर्ती धूम में भी है, इसीलिये पुरोवर्ती

धूमादि पदार्थों में प्रथम क्षण में लौकिक और द्वितीय क्षण में अलौकिक ये दो ज्ञान मानने चाहिये।

शंका—'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूत सामान्य' के बजाय 'इन्द्रियसम्बद्धवृत्तित्व' ही कहें तो लाघव होगा। अर्थात् इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञान में प्रकारीभूत धर्म को 'सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति' न मानकर लाघवात् केवल प्रकारत्वेन इन्द्रियसम्बद्ध को ही प्रत्यासत्ति ( सन्निकर्ष ) कहें तो क्या दोष है? जैसे तादृशज्ञान प्रकारीभूतसामान्य 'धूमत्व' आदि होते हैं, वैसे ही इन्द्रियसम्बद्ध हुआ 'धूम', उसमें 'धूमत्व' वृत्ति है ही। अर्थात् धूमचक्षुःसंयोगकाल में 'धूमत्व' भी प्रकारत्वेन इन्द्रियसम्बद्ध है ही जिससे धूमत्वेन 'धूमाः' इत्याकारक सकलधूमविषयकज्ञान हो सकेगा। अतः 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञान में जो सामान्य, विशेषण हो' इतना न कहकर 'जो सामान्य इन्द्रियसम्बद्ध हो' इतना ही कहा जाय।

समा०—'इन्द्रियसम्बद्धवृत्तित्व' कहने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि जहाँ कहीं धूलिपटल के साथ चक्षुरिन्द्रिय का जब संबंध हुआ तब उस धूलिपटल में 'धूमत्व' का भ्रम होने पर 'धूमत्व' स्वरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से सकल धूमविषयक 'धूमाः' यह ज्ञान होता है। परन्तु अब नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'धूमत्व' के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संबंध नहीं है। 'धूम' के साथ जब इन्द्रियसंयोग रहेगा तभी 'संयुक्त-समवाय' संबंध 'धूमत्व' के साथ हो पायेगा, अन्यथा नहीं। यहाँ तो धूलिपटल के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संबंध है। और इन्द्रियसंबद्ध धूलिपटल में 'धूमत्व' वृत्ति नहीं है। यहाँ तो प्रकारतासंबंध से इन्द्रियसंबद्ध 'धूलिपटलत्व' है, 'धूमत्व' नहीं। तथापि सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से सकलधूमविषयक ज्ञान तो यहाँ भी होता है, किन्तु 'धूमत्व' इन्द्रियसंबद्ध न होने से नहीं होना चाहिये—यही दोष है। 'इन्द्रियसंबद्धविशेष्यकज्ञान में जो सामान्य प्रकार ( विशेषण ) हो' यह कहने पर दोष नहीं होगा, क्योंकि इन्द्रिय से संबद्ध यहाँ 'धूलीपटल' है, वह 'धूम' इत्याकारक ज्ञान में विशेष्य है, उसमें 'धूमत्व' प्रकार ( विशेषण ) है। इस रीति से वह 'धूमत्वासामान्य' सन्निकर्ष होगा। उससे यावत् ( सकल ) धूमों की उपस्थिति हो जायेगी। इन्द्रिय संबद्धविशेष्यकज्ञान से इन्द्रियसंबंध को लौकिक समझना चाहिये। इसी तरह 'इन्द्रियसंबद्धविशेष्यकज्ञान में जो 'सामान्य' विशेषण हो' यह कथन बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय में कहा गया है। अनुमान-शब्दादिजन्य मानसज्ञान में 'इन्द्रियसंबद्ध' यह अंश संगत नहीं होगा।

मन्मते तु इन्द्रियसम्बद्धं धूलीपटलं, तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानम्, तत्र प्रकारीभूतं धूमत्वं प्रत्यासत्तिः। इन्द्रियसम्बन्धश्च लौकिको ग्राह्यः। इदं च बहिरिन्द्रियस्थले। मानसस्थले तु "ज्ञानप्रकारीभूतं सामान्यमात्रं प्रत्यासत्तिः।" अतः शब्दादिना यत्किञ्चित् पिशाचाद्युपस्थितौ मानसः सकलपिशाचादिबोध उपपद्यते ॥ ६३ ॥



'मन्मतेत्विति।' हम नैयायिकों के—'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूतसामान्यम्प्रत्यासत्तिः'—मत में तो अलौकिकप्रत्यक्ष की सिद्धि हो जाती है। पूर्वोक्त धूलीपटलवाले भ्रम के स्थल में भी हमारा वही लम्बायमान 'इन्द्रियसंबद्धविशेष्यक ज्ञान में प्रकारीभूत धर्म' ही प्रत्यासत्ति स्वरूप है। अतः कहीं पर भी कोई दोष नहीं है। जैसे—बहिरिन्द्रिय से संयुक्त 'धूलीपटल' है, वह धूलीपटल पूर्वोक्त भ्रम में 'विशेष्य' बनकर विषय होता है। अर्थात् इन्द्रियसंबद्ध धूलीपटल में धूलीपटलविशेष्यक धूमत्वप्रकारक 'धूमः' इत्याकारक ज्ञान हुआ है, उसमें प्रकार ( विशेषण ) रूप से भासमान 'धूमत्व' ही सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति है, अर्थात् यहाँ पर 'धूमत्व' विशेषण बनकर विषय होता हैं। अतः इस प्रकार का विषय मानने से अलौकिकप्रत्यक्षात्मकज्ञान हमारे मत से उपपन्न हो जाता है। अतः हमारे मत में पूर्वोक्त दोष नहीं आ पाता। पुरोवर्ती पदार्थ में 'इन्द्रिय का सम्बन्ध, लौकिक ग्रहण करना उचित है, किन्तु यह कथन बाह्य इन्द्रियस्थल में हैं। अर्थात् बहिरिन्द्रिय से 'घट ज्ञान' जहाँ होता हैं, और तदनन्तर 'घटत्वरूपसामान्यलक्षणसन्निकर्ष' के द्वारा सकल घटों का ज्ञान हुआ हो ऐसे स्थल में ही 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतसामान्य' की प्रत्यासत्ति ( सन्निकर्ष ) के रूप में कारण समझना चाहिये।

मानस प्रत्यक्षस्थल में तो केवल 'ज्ञानप्रकारीभूतसामान्य' को ही प्रत्यासत्ति ( सन्निकर्ष ) मानना चाहिये। इसी प्रत्यासत्ति से सर्वत्र सर्वथा प्रत्यक्ष के अयोग्य ऐसे किसी पिशाच आदि का ज्ञान जब शब्द आदि के द्वारा होता हैं, तब 'सर्वे पिशाचाः पिशाचत्ववन्तः' इत्याकारक सकलपिशाचादिविषयक मानसबोध ( मानसप्रत्यक्ष ) उत्पन्न होता है। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार द्वारा 'ज्ञानशब्द' से पिशाचादिविषयक शाब्दज्ञान को भी ले सकते हैं, उसमें प्रकारीभूत जो पिशाचत्वरूप सामान्य, वही मनोजन्यज्ञानप्रकारीभूत पिशाचत्ववत्ता' सम्बन्ध से सकल पिशाचविषयक अलौकिक प्रत्यक्षज्ञान का जनक हैं। इस प्रकार से 'सामान्यलक्षण' का प्रथम ( पहिला ) अर्थ नित्य जातिरूप सामान्य लिया गया है ॥ ६३ ॥

परन्तु समानानां भावः सामान्यम्। तच्च क्वचिन्नित्यं धूमत्वादिः, क्वचिच्चानित्यं घटादिः। यत्रैको घटः संयोगेन भूतले, समवायेन कपाले ज्ञातस्तदनन्तरं सर्वेषामेव तद्घटवतां भूतलादीनां कपालादीनां वा ज्ञानं भवति तत्रेदं बोध्यम्। परन्तु सामान्यं येन सम्बन्धेन ज्ञायते, तेन सम्बन्धेनाधिकरणानाम्प्रत्यासत्तिः। किन्तु–यत्र तद्घटनाशानन्तरं तद्घटवतः स्मरणं जातं, तत्र सामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्घटवतां भानं न स्यात्। सामान्यस्य तदानीमभावात्। किञ्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकं घट इति ज्ञानं यत्र जातं, तत्र परदिने इन्द्रियसम्बन्धम् विनापि तादृशज्ञानप्रकारीभूतसामान्यस्य सत्त्वात्तादृशज्ञानं कुतो न जायते, तस्मात् सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रत्यासत्तिर्न तु सामान्यमित्याह–

परन्तु इस प्रकरण में 'सामान्य' शब्द का अर्थ साधारण धर्म है। समान पदार्थों के भाव ( साधारण धर्म ) को सामान्य कहते हैं। कहीं पर जातिरूप सामान्य

शब्द से नित्य धूमत्व, घटत्व, पटत्व आदि लिये जाते हैं। और कहीं पर अनित्य-व्यक्तिरूप सामान्य शब्द से अनित्य घट, पट आदि लिये जाते हैं। एवञ्च नित्य जाति और अनित्य व्यक्ति दोनों 'सामान्य शब्द से लिये जाते हैं, क्योंकि यच्च-यावत् घटों से युक्त भूतलों का सामान्य ( साधारण ) धर्म 'घट' है। जिस सम्बन्ध से सामान्य धर्म, अधिकरण में ज्ञात होता है, उसी सम्बन्ध से उस अधिकरण के समस्त धर्मों को वह उपस्थित करता है। अनित्य ( घटादिरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष ) के उदाहरण को प्रदर्शित करने के लिये कहते हैं—जिस स्थल में एक ही घट का संयोगसंबंध से भूतल में या समवाय संबंध से कपालों में समूहालम्ब-नात्मकज्ञान एक ही मनुष्य को हुआ, तदनन्तर उस लौकिकज्ञान के पश्चात् द्वितीय क्षण में 'सर्वाणि भूतलादीनि संयोगघटवन्ति, एवं सर्वे कपालाः समवायेन घटवन्तः' इस प्रकार संयोगसंबंध से सकलघटवद्भूतलों का एवं समवायसंबंध से सकल घटवाले कपालों का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् संयोग संबंध से घटयुक्तभूतल का ज्ञान होने पर संयोगसंबंध से ही घटयुक्त समस्त भूतलों का ज्ञान सामान्यलक्षणसन्निकर्ष से हो जायेगा। उसी तरह समवायसंबंध से घटयुक्त कपाल का ज्ञान होने पर समवायसंबंध से ही घटयुक्त कपालों का ज्ञान सामान्यलक्षणसन्निकर्ष से हो जायेगा। 'तत्रेदं बोध्यमिति।' वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि अनित्य वस्तु भी सामान्य-रूपप्रत्यासत्ति हो सकती है। अर्थात् ऐसे स्थल में ज्ञायमान अनित्य को ही आश्रय के प्रत्यक्ष में प्रत्यासत्तिरूप समझना उचित है 'परन्तु इति।' परन्तु उसमें भी इतना और अधिक जानना चाहिये कि वह सामान्य, जिस संबंध से अपने अधि-करण में ज्ञात हुआ है, उसी संबंध से उस सामान्य को आधेय के रूप में रखने वाले तत्सदृश अधिकरणों के अलौकिक प्रत्यक्ष में प्रत्यासत्ति ( अलौकिक सन्निकर्ष ) होता है। अर्थात् चक्षुरादि-इन्द्रियसंबंधवद्विशेष्यकज्ञान में सामान्य जिस संबंध से विशेषण होता है, वह सामान्य उसी संबंध से अर्थात् इन्द्रियसंबंधवद्विशेष्यकज्ञान की प्रकारता का अवच्छेदक ( नियामक ) जो संबंध उसी संबंध से अपने अधि-करणों ( आश्रयों ) के अलौकिक प्रत्यक्ष में प्रत्यासत्ति ( अलौकिक सन्निकर्ष ) हो सकता है। जैसे—'संयोगेन घटवद् भूतलम्' इस ज्ञान में घटनिष्ठ प्रकारता, संयोगसंबंध से अवच्छिन्न है। अतः यहाँ पर उस प्रकारता के नियामक संयोग-संबंध से ही अवच्छिन्न जो प्रकारता, उससे विशिष्ट घटात्मक अनित्यसामान्य, अपने अधिकरणभूत समस्तभूतलों के अलौकिक प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष हो सकता है, अन्य संबंध से नहीं। अन्यथा किसी स्थल में धूमपर समवायसंबंध के द्वारा विशेषण-रूप से विषय बने हुए धूमत्वरूप सामान्य के योग से कालिकसंबंध के द्वारा धूमत्व का आश्रय काल भी हो सकता है, अतः उसका भी अलौकिक ज्ञान होने लगेगा, यह आपत्ति उपस्थित होगी, वह न हो इसलिये पूर्वप्रकार माना है। ऐसा मानने पर समवाय-सम्बन्ध से धूमत्व का आश्रय धूम ही होता है, कालिक सम्बन्ध से धूमत्व का आश्रय कहकर 'काल' को नहीं ले सकते। अतः कोई दोष नहीं है।



निष्कर्ष यह है कि स्वाधिकरण में जिस सम्बन्ध से 'सामान्य' अवगत होता है, उसी सम्बन्ध से तत्सदृश अधिकरणों के अलौकिक प्रत्यक्ष में वह हेतु होता है। अन्यथा समवायसम्बन्ध से ज्ञानप्रकारीभूत धूमत्व, घटत्वादिसामान्य भी काल, आकाशादि पदार्थों के अलौकिक प्रत्यक्ष में हेतु होने लगेगा। किन्तु उक्त नियम के अनुसार धूमत्व-घटत्वादि सामान्य धूम, घटादि अधिकरणों में ही समवाय-सम्बन्ध से ज्ञात होता है, अतः उन्हीं के अलौकिक साक्षात्कार ( प्रत्यक्ष ) को वह कराता है। प्राचीनों के अनुसार सामान्य लक्षण के पूर्वोक्त पहले अर्थ ( ज्ञायमान-सामान्यं प्रत्यासत्तिः ) में दो दोष आते हैं, उनमें से पहले दोष को दिखाते हैं—'किन्तु इति।' जहाँ 'संयोगेन घटवद् भूतलम्' इस प्रकार भूतल में संयोग संबंध से घट का चाक्षुषप्रत्यक्ष हुआ, उसके पश्चात् किसी कारणवश वह घट नष्ट हो गया, उस घट के नाश होने के बाद भी पूर्वोक्त चाक्षुष प्रत्यक्षात्मक अनुभव-जन्यसंस्कार के बल से 'भूतलं तद्घटवत्' इस प्रकार स्मरण होने के अनन्तर सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति के द्वारा तद्घट वाले समस्त अधिकरणों का ( भूतलों का ) 'तद्घटवन्ति भूतलानि' इत्याकारक अलौकिकभान होता है, किन्तु 'ज्ञाय-मानसामान्य को प्रत्यासत्ति' मानने के पक्ष में वह नहीं हो सकेगा। क्योंकि कारणी-भूतसामान्य ( तद्घट ) नहीं है, वह तो नष्ट हो चुका, तब कारण के व्यतिरेक ( न होने पर ) में कार्य का होना तो व्यतिरेकव्यभिचार होगा—यह प्राचीनमत में प्रथम दोष बताया गया। 'किञ्चेति।' अब 'किञ्च' से 'अन्वयव्यभिचार' संज्ञक द्वितीय दोष बता रहे हैं। किञ्च अर्थात् दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय-सम्बद्धविशेष्यक 'अयं घटः' यह ज्ञान आज हुआ, तब कल ( दूसरे दिन ) घट के साथ इन्द्रियसंबंध हुए बिना भी 'सर्वे घटाः' इत्याकारक अलौकिकमान प्राचीन मत के पक्ष में होना चाहिये, क्योंकि आज हमें चक्षुरिन्द्रिय का घट के साथ सम्बन्ध होकर 'अयं घटः' यह ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में प्रकारीभूतसामान्य 'घटत्व' नित्य होने के कारण हमेशा रहेगा, अर्थात् कल भी रहेगा। अतः जब सामान्यरूप कारण है तो कार्य ( अलौकिक प्रत्यक्ष ) क्यों नहीं होता—यह अन्वयव्यभिचार प्राचीन मत में द्वितीय दोष बताया गया। एवञ्च 'ज्ञायमानसामान्यं प्रत्यासत्तिः' इस प्राचीन मत में दो दोष होने से 'सामान्यज्ञानमेवप्रत्यासत्तिः' सामान्यज्ञान को ही प्रत्यासत्ति ( सन्निकर्ष ) कहना चाहिए। और 'सामान्यलक्षण' शब्द का अर्थ 'सामान्यविषयकज्ञान' करना चाहिए। अर्थात् 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारी-भूतसामान्यज्ञानं सन्निकर्षः' कहना चाहिए। 'तादृशसामान्यमात्र' यह अर्थ नहीं। एवं च घटनाशस्थल में इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूततद्घटस्मरणज्ञानात्मक सन्निकर्षरूप कारण विद्यमान है अतः कार्य होता है। अर्थात् घट का नाश होने पर भी घट का ज्ञान तो है ही। तस्मात् व्यतिरेकव्यभिचार नहीं है। और दूसरे दिन इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतघटत्व का स्मरणज्ञानरूप कारण न रहने से कार्य नहीं हो रहा है। अर्थात् सामान्य ( घटत्व ) के नित्य होने पर भी इन्द्रिय

संबंध के बिना उसका ज्ञान सर्वथा असंभव है। अतः अन्वयव्यभिचार भी नहीं है। अतः 'सामान्य' प्रत्यासत्ति नहीं बन सकता, किन्तु 'सामान्य का ज्ञान' ही प्रत्यासत्ति बन सकता है, इसी बात को कारिकाकार 'आसत्तिराश्रयाणान्तु' कारिका ग्रंथ से कह रहे हैं—

**आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते ।**
**तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते ॥ ६४ ॥**

आश्रयाणाम् भूतलादि अधिकरणों के अलौकिकप्रत्यक्ष का कारण, सामान्यज्ञानम् इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यज्ञानप्रकारीभूतसामान्यज्ञान (सामान्यविषयकज्ञान) को ही आसत्तिः सन्निकर्ष समझना चाहिये। 'तदिन्द्रियजेति।' चक्षुरादीन्द्रिय से होनेवाले घटात्मक धर्म के ज्ञान में (चक्षुः-संयुक्त-संयोग, आलोकसंयोग, महत्-परिमाण, उद्भूतरूपादि) सहकारिसामग्री की उपस्थिति भी अपेक्षित होती है।

आसत्तिः प्रत्यासत्तिरित्यर्थः। तथा च सामान्यलक्षणमित्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः। तेन सामान्यविषयकं ज्ञानम्प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते।

ननु चक्षुःसंयोगादिकं विनापि सामान्यज्ञानं यत्र वर्त्तते तत्र सकलघटादीनां चाक्षुषादिप्रत्यक्षं स्यादत आह—तदिति। अस्यार्थः—यदा बहिरिन्द्रियेण सामान्यलक्षणया ज्ञानं जननीयं तदा यत्किञ्चिद्धर्मिणि तत्सामान्यस्य तदिन्द्रियजन्यज्ञानस्य सामग्री अपेक्षिता। सा च सामग्री चक्षुःसंयोगालोकसंयोगादिकम्। तेनान्धकारादौ चक्षुरादिना तादृशज्ञानं न जायते ॥ ६४ ॥

॥ इति सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिनिरूपणम् ॥

'आसत्ति' पद का अर्थ करते हैं—'प्रत्यासत्ति' यानी सम्बन्ध। 'सामान्यलक्षण' शब्द का अर्थ 'सामान्यज्ञान' है, यह बताने के लिये 'लक्षण' पद का अर्थ बता रहे हैं—'तथा चेति।' 'सामान्यलक्षण' संज्ञाघटक 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'विषय' है, पूर्वोक्त रीति के अनुसार 'स्वरूप' अर्थ नहीं है। 'सामान्यं लक्षणं विषयो यस्य' ऐसा समास करने से 'सामान्यविषयकज्ञान ही प्रत्यासत्ति है' इस अर्थ का लाभ होता है। प्राचीनमतवादी पूर्वपक्षी कहता है कि सामान्यज्ञान कराना सन्निकर्ष का अलौकिक स्वभाव है, अतः इन्द्रियसम्बन्ध के बिना भी सकलव्यक्तिसाक्षात्कार का होना सम्भव हो सकता है, इसी अभिप्राय से शंका कर रहे हैं।

शंका—'ननु चक्षुःसंयोगादिकं विनापीति।' जहाँ चक्षुःसंयोग के बिना भी सामान्य 'घटत्व' का शाब्दिक या स्मरणात्मक ज्ञान हुआ, वहाँ सामान्यविषयकज्ञान विद्यमान है यह मानना ही होगा, तब सकल घट आदि अर्थात् सकलघटवद्भूतलादि विषयों का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये। क्योंकि प्रत्यक्षकारणीभूत 'सामान्यज्ञानप्रत्यासत्तिरूपा' सामग्री विद्यमान है।

समा०—'तदिति।' 'अस्यार्थः।' 'तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्री' इसका अर्थ



यह है—'यदेति।' अभिप्राय यह है कि प्राचीनों ने 'प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता?' यह जो पूछा है, तो उसमें सामग्री की न्यूनता होने से प्रत्यक्ष नहीं हो पाता यह समझना चाहिये। जब चक्षुरादि बहिरिन्द्रिय से सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा अलौकिक चाक्षुषप्रत्यक्ष करना हो तब (उस समय) यत्किञ्चित् घटादिधर्मी में 'घटत्वादि' सामान्यविषयक चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञान की सामग्री भी अपेक्षित है। उसके बिना वह ज्ञान नहीं हो सकता। 'सा चेति।' वह सामग्री चक्षुःसंयोग, आलोकसंयोग, उद्भूतरूप, महत्त्वपरिमाणादि यथायोग्य तत्तदिन्द्रियजप्रत्यक्ष में जाननी चाहिये। अतः पूर्वोक्त स्थल में चक्षुःसंयोग के बिना अलौकिक चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। आलोकसंयोग भी सामग्री के अन्तर्गत होने से अंधेरे में घटादि पदार्थ का चक्षुरादि इन्द्रिय के द्वारा घटत्वादिधर्मविशिष्ट धर्मी (घट) का ज्ञान (अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष) नहीं हो पाता, इसलिये वहाँ सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति भी नहीं बन सकती ॥ ६४ ॥

॥ इति सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिनिरूपणम् ॥

## विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः ।

यस्य सौरभ आदि का, विषयी ज्ञान, तस्यैव उसी सौरभ आदि का व्यापारः सन्निकर्ष, ज्ञानलक्षणः प्रत्यासत्ति है। अर्थात् जिस अलौकिक सन्निकर्ष से यद्-विषयकज्ञान होता है, उसी सम्बन्धविशेष का नाम 'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति' है। 'सुरभिचन्दनम्' यह वाक्यप्रयोग करने पर जिस सौरभ आदि का ज्ञान होता है उसी सौरभादि का जो सन्निकर्ष है, उसे ज्ञानस्वरूप समझना चाहिये। अर्थात् पूर्व दिन चन्दन को सूँघकर 'सुरभिचन्दनम्' निश्चय कर लिया। दूसरे दिन बिना सूँघे ही दूर से चन्दन को देखकर ही 'सुरभिचन्दनम्' ऐसा दूसरे से कह देते हैं। तब दूसरे दिन के 'सुरभिचन्दनम्' इस ज्ञान में 'सौरभ', 'चन्दन', और 'चन्दनत्व' भासित होता है यानी वह ज्ञान तीनों को विषय करता है। उनमें 'चन्दन' तथा 'चन्दनत्व' का तो यथाक्रम 'चक्षुःसंयोग' तथा 'चक्षुःसंयुक्त-समवाय' सम्बन्ध से लौकिक प्रत्यक्ष हो सकता है। अर्थात् चक्षुःसंयोग से चन्दन का ज्ञान और चक्षुः-संयुक्तसमवाय से चन्दनत्व का जो ज्ञान होता है वह लौकिक सन्निकर्षजन्य होने से उसे लौकिकप्रत्यक्ष कहा जा सकता है, परन्तु सौरभांश में साक्षात्कारजनक लौकिकसम्बन्ध होना तो दुर्घट है क्योंकि घ्राणसम्बन्ध के बिना भी जो सौरभज्ञान हुआ है, वह तो चक्षुःसंयुक्तमनःसंयुक्त आत्मसमवेतज्ञानाख्य सन्निकर्ष से संस्कार द्वारा हो रहा है, अतः उसे अलौकिकप्रत्यक्ष के रूप में ही समझना होगा। अर्थात् सौरभांश को चाक्षुषज्ञान का विषय तो कह नहीं सकते क्योंकि सौरभांश को विषय करने वाली घ्राणेन्द्रिय का तो उस काल में सम्बन्ध ही नहीं है। प्रभाकर मीमांसक के कथनानुसार पूर्वगृहीत सौरभांश का स्मरणात्मक (स्मृति) ज्ञान और चन्दन का प्रत्यक्ष ज्ञान ऐसे पृथक् पृथक् दो ज्ञान हो रहे हैं यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि

स्मृतित्व और प्रत्यक्षत्व का संकर हो जायेगा। अतः 'सुरभिचन्दनम्' यह एक ही विशिष्टज्ञान है कहना चाहिये। प्रभाकर की तरह यहाँ दो ज्ञान नहीं हैं। अर्थात् पूर्वगृहीत सौरभ का स्मरण तथा पूर्वगृहीत सौरभ का आत्मा में संस्कार मात्र का संभव हो सकता है, इस कारण 'सुरभिचन्दनम्' में सौरभानुयोगिक तथा चक्षुः-प्रतियोगिक कोई एक संबंध अवश्य ही मानना होगा। वह संबंध साक्षात् तो बन नहीं सकता। अतः चक्षुःसंयुक्तआत्मसमवेतज्ञानरूप, या चक्षुःसंयुक्त-मनःसंयुक्त-आत्म समवेत-संस्काररूप-परम्परासंबंध बन सकता है, इस परम्परासम्बन्ध का ही नाम 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' है। इससे होनेवाला ज्ञान अलौकिक ही है। जिस समय चक्षुरिन्द्रिय का चन्दन से संयोग होता है उसी समय 'एकसम्बन्धिज्ञान-मपरसम्बन्धिस्मारकम्' न्याय से सौरभ का स्मरण या स्मृति में हेतुभूत पूर्वानु-भव-जन्यसंस्कार उद्बुद्ध होकर 'सुरभिचन्दनम्' इस प्रकार के चाक्षुषज्ञान को उत्पन्न करता है। यह ज्ञान चन्दनांश में तो लौकिक है और सौरभांश में पूर्वोक्त सम्बन्ध से अलौकिक है। यद्यपि सौरभ के प्रत्यक्ष करने का सामर्थ्य चक्षु में नहीं है तथापि उक्त अलौकिक सम्बन्ध के द्वारा चक्षु से भी जो सौरभज्ञान होता है, वही यह द्वितीय अलौकिक प्रत्यक्ष है। एवंरूपा सौरभसाक्षात्कार-हेतुभूत जो प्रत्या-सत्ति है उसे 'ज्ञानलक्षणा' प्रत्यासत्ति कहते हैं।

**ननु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिर्यदि ज्ञानरूपा सामान्यलक्षणापि ज्ञानरूपा तदा तयोर्भेदो न स्यादत आह—**

**सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हि तदाश्रयस्य ज्ञानं जनयति। ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिस्तु यद्विषयकं ज्ञानं तस्यैव प्रत्यासत्तिरिति।**

**अत्रायमर्थः। प्रत्यक्ष सन्निकर्षं विना भानं न सम्भवति। तथा च सामान्य-लक्षणां विना धूमत्वेन सकलधूमानां वह्नित्वेन सकलवह्नीनां च भानं कथं भवेत्तदर्थं सामान्यलक्षणा स्वीक्रियते।**

**न च सकलवह्निधूमभानाभावे का क्षतिरिति वाच्यं, प्रत्यक्षधूमे वह्नि-सम्बन्धस्य गृहीतत्वादन्यधूमस्य चानुपस्थितत्वाद् 'धूमो वह्निव्याप्यो न वे'ति संशयानुपपत्तेः।**

शंका—पूर्वोक्त सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण, और योगज इन तीन सन्निकर्षों में से प्रथम तथा द्वितीय अर्थात् सामान्यलक्षणसन्निकर्ष तथा ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष ये दोनों यदि ज्ञानरूप हैं अर्थात् सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति की व्याख्या करते समय यह बताया था कि 'सामान्य' स्वयं प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) नहीं है, बल्कि 'सामान्य का ज्ञान' प्रत्यासत्ति ( सन्निकर्ष ) है। एवं च सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति ( सन्निकर्ष ) भी ज्ञानरूप है और ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति ( सन्निकर्ष ) भी ज्ञानरूप है तो दोनों में भेद क्या होगा ?

समा०—'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हीति।' उक्त दोनों प्रत्यासत्तियाँ



( सामान्यलक्षण और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष ) ज्ञानरूप ही हैं तथापि सामान्य का ज्ञानरूप जो सामान्यलक्षणसन्निकर्ष ( सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति ) है, वह उस सामान्य के समस्त आश्रयों ( अधिकरणों ) का अलौकिक प्रत्यक्ष ( ज्ञान ) करा देता है अर्थात् घटत्वादिधर्मविशिष्ट एक घटरूप धर्मी का साक्षात्कार ( प्रत्यक्ष ) होने पर, उस धर्म के आश्रय देशान्तरीय या कालान्तरीय यावत् धर्मियों का ज्ञान, सामान्य-लक्षणाप्रत्यासत्ति के द्वारा होता है। यानी घटत्वज्ञानरूप सामान्यलक्षण से उन घटत्वाश्रय समस्त घटों का 'सर्वे घटाः' इत्याकारक अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। किन्तु द्वितीय ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष ( प्रत्यासत्ति ) से चन्दन में जिस सौराभादि का अलौकिक ज्ञान होता है, उस सौरभ का सन्निकर्ष का ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति का स्वरूप है। अर्थात् ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से जिस सौरभ का अलौकिक भान हुआ है उसी के साथ होनेवाले सम्बन्धविशेष को ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति कहते हैं। जैसे सुरभिचन्दनम् में चन्दन को देखकर सौरभ का ही स्मृतिज्ञान ( स्मरणात्मक ज्ञान ) रूप ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति ( सन्निकर्ष ) के द्वारा अलौकिक भान होता है, सौरभाश्रयचन्दन का नहीं, क्योंकि 'चक्षुःसंयुक्तमनःसंयुक्त-आत्मसमवेतस्मृतिविषयत्व' ही ज्ञानलक्षणा पदार्थ है। चन्दन को देखने के पश्चात् सौरभ का स्मरण होता है, इसलिये तादृशस्मृतिविषयत्वरूप जो ज्ञानलक्षणा है, वह सौरभ का ही सन्निकर्ष है, चन्दन का नहीं। क्योंकि चन्दन का तो चाक्षुष प्रत्यक्ष हो रहा है।

शंका—सामान्यलक्षणासन्निकर्ष तथा ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से अलौकिक प्रत्यक्ष होता है, यह क्यों कहा जाता है ? जब दोनों का एक ही कार्य है, तब उनमें भेद क्यों ? दोनों को मानने की आवश्यकता भी क्या ?

समा० —'अत्रायमर्थ इति'। सामान्यलक्षणा नामक अलौकिक सन्निकर्ष मानने में नैयायिक-वैशेषिकों का यही अभिप्राय है कि समस्त सामान्याश्रयों का भान हो सके। अलौकिक सन्निकर्ष को न मानने पर समस्त सामान्याश्रयों का भान नहीं हो पायेगा। क्योंकि बिना सन्निकर्ष के प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्यक्ष होने में सन्निकर्ष को कारण माना गया है। अभिप्राय यह है कि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को न मानने पर धूमत्व के आश्रय समस्त धूमों ( उपस्थित-अनुपस्थित समस्त धूम ) और वह्नित्व के आश्रय सब वह्नियों ( उपस्थित-अनुपस्थित समस्त वह्नि ) का प्रत्यक्ष कैसे होगा ? उनका प्रत्यक्ष हो सके ( ये सब प्रत्यक्ष के विषय हो सकें ) इसलिये सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को मानना आवश्यक है।

शंका—सकल वह्नियों का तथा सकल धूमों का ज्ञान ( भान ) न हो तो क्या हानि है ?

समा०—महानसीय धूम में तो वह्नि के साथ 'सहवृत्तित्व' रूप सम्बन्ध का ( यत्र धूमस्तत्र वह्निः इत्याकारक व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ) चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण हुआ है, किन्तु देशान्तरीय-कालान्तरीय ( पर्वतादिवृत्ति ) धूम की तो उपस्थिति नहीं है ( चक्षु से सन्निकृष्टता नहीं हैं ), तब वह्नि-धूम के व्याप्तिज्ञान से पूर्व 'धूम,

वह्निनिरूपित व्याप्ति का आश्रय है या नहीं' ( धूमो वह्निव्याप्यो न वा ) यह संशय नहीं बन सकेगा। अर्थात् पक्षता का आपादक संदेह उपपन्न नहीं होगा और सन्देह के न होने पर पर्वत पर वह्नि का अनुमान नहीं हो पायेगा।

मन्मते तु सामान्यलक्षणया सकलधूमोपस्थितौ कालान्तरीयदेशान्तरीयधूमे वह्निव्याप्यत्वसन्देहः सम्भवति।

न च सामान्यलक्षणास्वीकारे प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने जाते सार्वज्ञ्यापत्तिरिति वाच्यं, प्रमेयत्वेन सकलप्रमेयज्ञाने जातेऽपि विशिष्यसकलपदार्थानामज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्याभावात्।

किन्तु मेरे ( सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिवादी नैयायिक के ) मत में तो सामान्यलक्षणा ( सामान्यविषयज्ञानरूप अलौकिक सम्बन्ध ) से यावत् धूमों की उपस्थित ( धूमत्वेन सकल धूमों का साक्षात्कार ) हुई हैं। अतः देशान्तरीय-कालान्तरीय धूम में ( अन्य पर्वतादि देशवृत्ति धूम में, अतीत अनागतादि धूम में ) भी व्याप्ति का निश्चय न होने से वह्निनिरूपित व्याप्ति के आश्रयत्व का अर्थात् अयं वह्निनिरूपितव्याप्त्याश्रयो न वा इत्याकारक सन्देह बन सकता हैं। अभिप्राय यह है कि सभी धूम यदि प्रत्यक्ष के विषय न हों तो सब धूमों में अग्नि की व्याप्ति ( सम्बन्ध ) हैं या नहीं, यह संशय होता है। किन्तु अब वह न हो सकेगा, क्योंकि जितनी धूमव्यक्तियों का प्रत्यक्ष होता है, उतनी ही धूमव्यक्तियों में अग्नि की व्याप्ति का निश्चय होता है। अतः वहाँ निश्चयरूप प्रतिबन्धक के होने से पूर्वोक्त संशय तो होता ही नहीं हैं और जिन धूमव्यक्तियों का प्रत्यक्ष नहीं हैं, उन धूमव्यक्तियों में संशय होने का सम्भव नहीं हैं, क्योंकि पूर्वोक्त संशय के प्रति धूमज्ञान ( धर्मिज्ञान ) कारण है। अतः कारणीभूत धूमज्ञान के होने से कार्यभूत संशय भी नहीं होगा, किन्तु हम नैयायिकों के मत में संशय हो सकेगा, जिससे पर्वत पर वह्नि का अनुमान कर सकने में कोई बाधा नहीं होगी। अतः सामान्यलक्षणा का स्वीकार करना निरर्थक नहीं है।

शंका—नैयायिक के मन्तव्य के अनुसार यदि सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति को मान लिया जाय तो प्रमेयत्वरूप सामान्यलक्षणा के द्वारा ( प्रमेयत्वरूपसामान्य से ) सतपदार्थरूप समस्त प्रमेयों का भी अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने से मनुष्य सर्वज्ञ हो जायेगा। अर्थात् प्रमेय का सकल प्रमेय का ज्ञान प्राप्त किये हुए मनुष्य को यावत् पदार्थविषयकज्ञानवान् यानी सर्वज्ञ हो जाना चाहिये।

समा०—'प्रमेयत्वेनेति।' प्रमेयत्वेन ( प्रमेयत्वरूप से ) अर्थात् प्रमेयत्वरूप सामान्यलक्षणा के द्वारा सकल पदार्थों ( सकल सप्तपदार्थात्मक प्रमेयों ) का ज्ञान ( मानसप्रत्यक्षज्ञान ) हो जाने पर भी घटत्व, पटत्वादि तत्तद् विशेष धर्मों के द्वारा देशान्तरीय-कालान्तरीय घट, पटादि सकल धर्मी पदार्थों का ज्ञान न हो पाने से उसे सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकेगा? अभिप्राय यह है कि प्रमेयत्वरूप महाव्यापक धर्म को लेकर कार्यकारणभाव का स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु प्रमेयत्वव्याप्य



धूमत्वादि धर्मों को लेकर ही विशेष कार्यकारणभाव को माना गया है। एवञ्च प्रमेयत्वेन रूपेण सकल पदार्थों का ज्ञान होने पर भी तत्तद् विशेषरूप से ज्ञान न होने के कारण सर्वज्ञत्व की आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि 'सार्वज्ञ्यं प्रति साधारणधर्मप्रकारकज्ञानवत्वे सति विशेषतत्तद्यावत्पदार्थवृतिधर्मप्रकारकज्ञानवत्त्वं प्रयोजकम्' यह नियम है।

एवं ज्ञानलक्षणाया अस्वीकारे सुरभि चन्दनमिति ज्ञाने सौरभस्य भानं कथं स्यात्। यद्यपि सामान्यलक्षणयापि सौरभभानं सम्भवति, तथापि सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया। एवं यत्र धूमत्वेन धूलीपटलं ज्ञातं तत्र धूलीपटलस्यानुव्यवसाये भानं ज्ञानलक्षणया।

इसी प्रकार ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष ( प्रत्यासत्ति ) को यदि न माना जाय तो 'सुरभिचन्दनम्' इस ज्ञान में सौरभ का ज्ञान कैसे हो पायेगा? क्योंकि चन्दनखण्ड का चाक्षुषप्रत्यक्ष रहने पर भी उपस्थित सौरभांश के साथ चक्षुःसन्निकर्ष नहीं है। किसी एक दिन चन्दनखण्ड को सूँघ कर सुरभिचन्दन का अनुभव कर लिया, उसके पश्चात् किसी अन्य दिन चन्दनखण्ड को दूर से देखकर ही कह दिया जाता है कि 'सुरभिचन्दनम्' यह चन्दन सुगन्धी है। इस प्रकार सौरभ का जो अलौकिक ज्ञान हो रहा है, उसमें इन्द्रियसन्निकर्ष तो है नहीं, तब किस सन्निकर्ष से सौरभ का अलौकिक ज्ञान हो रहा है? यह शंका हो सकती है, उसके समाधान के लिये तादृश-अलौकिकप्रत्यक्षविषयताव्यापकज्ञानलक्षणासन्निकर्ष को मानना आवश्यक है।

शंका—'यद्यपीति।' 'सुरभिचन्दनम्' में सौरभत्वरूप सामान्यलक्षणा के द्वारा सौरभ का ज्ञान हो सकता है। अतः सौरभ के ज्ञान के लिये ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष को मानने की आवश्यकता नहीं है।

समा०—'सुरभिचन्दनम्' चन्दनखण्ड सुगन्धियुक्त है, इस ज्ञान में दो विषय हैं, एक तो चन्दन का खण्ड, दूसरा सुगन्ध। चन्दनखण्ड से तो चक्षुःसन्निकर्ष होता है और सुगन्ध में ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष होता है। इसी प्रत्यक्ष को 'उपनीत भान' भी कहते हैं। इस प्रकार के चाक्षुषप्रत्यक्ष में सुगन्ध विषय होता है। वह अब न हो सकेगा। क्योंकि चन्दनखण्ड से तो चक्षुःसन्निकर्ष है, किन्तु सुगन्धरूप-विषय से चक्षुःसन्निकर्ष नहीं है। अतः ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष मानना चाहिये। 'तथापीति।' जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारकत्वम्—जाति और अखण्डोपाधि से भिन्न पदार्थ का ज्ञान किञ्चिद्धर्मप्रकारक ही हुआ करता है यह नियम है। तदनुसार सौरभत्वजाति का ज्ञान तो किसी धर्म से नहीं हो रहा है, अतः उसका ( सौरभत्व का ) स्वरूपेण ही अलौकिकमानसप्रत्यक्षज्ञानलक्षणा से ही हो सकता है, इसलिये ज्ञानलक्षणा को मानना आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि 'सुरभिचन्दनम्' आदि स्थलों में सौरभ का भान, सौरभत्वादि सामान्यलक्षण-

सन्निकर्ष से भी हो सकता है, क्योंकि सौरभत्वप्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष या सौरभत्वावच्छिन्नप्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष, इन दोनों में से किसी एक सामग्री की सहायता से सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को फलजनक माना गया है। प्रकृत में यद्यपि पहली सामग्री का अभाव है, तथापि सौरभत्वावच्छिन्नप्रकारकलौकिक प्रत्यक्षरूप दूसरी सामग्री तो विद्यमान है ही। इसलिये सामान्यलक्षणा से भी सौरभ का ज्ञान हो सकता है, तथापि स्वरूप से सौरभत्व धर्म का ज्ञान ( भान ) को ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से ही होता है, क्योंकि उस समय के सौरभत्व अंश में किसी भी धर्मान्तर का ग्रहण नहीं है। इस कारण सामान्यलक्षणा से सौरभत्वांश के ग्रहण का निर्वाह नहीं हो सकता। एवं च जाति का स्वरूपतः भान होने के लिये ज्ञानलक्षणा को मानना आवश्यक है। तथा ज्ञानलक्षणा के मानने में दूसरी युक्ति यह है कि जात्यतिरिक्तपदार्थ का किञ्चिद्धर्मप्रकार से जो भान होता है उसके लिये ज्ञानलक्षणा की आवश्यकता है 'एवमिति'। जब 'धूमत्वेन' धूलीपटल में भ्रम हुआ अर्थात् जहाँ धूलिसमूह का धूमत्वरूप से ज्ञान हुआ उसके पश्चात् 'धूमत्वावच्छिन्नधूलीपटलभ्रमवानहम्' अर्थात् 'धूमत्वेन धूलीपटलं जानामि' ऐसा अनुव्यवसायज्ञान मन में हुआ। तब उस अनुव्यवसायज्ञान में 'धूमत्व', 'धूलीपटल' और 'भ्रम' ये तीन भासित हो रहे हैं, क्योंकि 'ज्ञान का ज्ञान' भी ज्ञानविषयविषयक होता है। तथा च—उक्त तीनों में भ्रमांशविषयक अनुव्यवसाय, मनःसंयोगसन्निकर्ष से हो रहा है। धूमत्वांश विषयक, पटलांशविषयक अनुव्यवसाय, मनःसंयुक्त-आत्मसमवेतभ्रमात्मकज्ञानलक्षणासन्निकर्ष से ही हो सकता है, क्योंकि अनुव्यवसाय में धूलीपटल और धूमत्व के साथ मन का लौकिक सन्निकर्ष नहीं है, और धूमत्व भी विद्यमान नहीं है। इसलिये सामान्यक्षणा का भी संभव नहीं है। अतः उक्त अनुव्यवसाय स्थल में किञ्चिद्धर्म-धूमत्वप्रकारक धूलीपटल, ज्ञानलक्षणा का विषय बन जाता है। अभिप्राय यह है कि धूमत्व धर्मपुरस्कारेण धूलीपटल से 'अयं धूमः' इत्याकारक ज्ञान होने के बाद 'धूममहं जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय में 'धूलीपटल' का भान, ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से होगा। ज्ञानविषयक को अनुव्यवसाय कहते हैं। वह सर्वत्र मानसिक होता है, तथा स्वविषयभूत ज्ञान को उसके विषय सहित विषय करता है। उसमें ज्ञान को तो 'स्वमनःसंयुक्त—आत्मसमवेतत्व' रूप आभ्यन्तर सम्बन्ध से विषय करता है, किन्तु ज्ञान के विषय जो बाह्य घट-पटादि हैं, उनके साथ उसका कोई लौकिक संबंध नहीं है, अपितु 'स्वमनःसंयुक्त-आत्म-समवेत-ज्ञानविषयत्व' रूप ज्ञानलक्षणा नाम का अलौकिक सम्बन्ध ही रहता है। घटादि सद्विषय स्थल में तो 'आसत्तिराश्रयाणाम्' इत्यादि पूर्वोक्त रीति से घटादि अंश में सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति तो हो सकती है, तथापि अनुव्यवसाय में घटत्वादि धर्मभान का निर्वाह ज्ञानलक्षणा से ही होता है। इसी प्रकार धूमत्वेन धूलीपटलादि भ्रमस्थल में भी ( धूमत्वाभाववाले धूलीपटल में धूमत्वप्रकारकज्ञान के भ्रमरूप होने से ) उभयांश में (धूम, धूमत्व दोनों के ज्ञान में)



ज्ञानलक्षण को ( स्वसंयुक्तात्मसमवेतज्ञान-विषयत्वरूपज्ञानलक्षणा को ) ही मानना पड़ता है। क्योंकि वहाँ धूमत्वधर्म का अस्तित्व धूलीपटल में वास्तविकरूप से नहीं है, इसलिये तदाश्रयत्वेन धूलीपटल का ज्ञान भी सामान्यलक्षणा से नहीं हो सकता, किन्तु पूर्वोक्त सम्बन्धरूप ज्ञानलक्षणा से ही हो सकता है। जहाँ यथार्थज्ञान है, जैसे 'अहं घटं जानामि' इस प्रतीति में ज्ञान का प्रत्यक्ष तो संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से हो सकता है, क्योंकि आत्मा मन से संयुक्त है और उसमें ज्ञान का समवाय है, परन्तु मानसज्ञान में घट भी भासित हो रहा है। मानसज्ञान में घट का ज्ञान लौकिकसन्निकर्ष से तो हो नहीं सकता, क्योंकि लौकिकसन्निकर्ष से तो चाक्षुषप्रत्यक्ष में ही घट का ज्ञान होता है। किन्तु मानस प्रत्यक्ष में घट के ज्ञान के लिये ज्ञानलक्षणा नामक अलौकिक सन्निकर्ष की ही आवश्यकता होगी।

**योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः ॥ ६५ ॥**
**युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ।**

योगज इति। योगाभ्यासजनितो धर्मविशेषः श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रतिपाद्य इत्यर्थः। युक्तयुञ्जानभेदत इति। युक्तयुञ्जानरूपयोगिद्वैविध्याद्धर्मस्यापि द्वैविध्यमिति भावः॥ ६५ ॥

युक्तस्य तावद्योगजधर्मसहायेन मनसा आकाशपरमाण्वादिनिखिलपदार्थगोचरं ज्ञानं सर्वदैव भवितुमर्हति। द्वितीयस्य चिन्ताविशेषोऽपि सहकारीति।

॥ इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां
न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम्प्रत्यक्षखण्डम् ॥

———

पूर्वोक्त तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्षों में से तृतीय योगजसन्निकर्ष को बता रहे हैं—'योगज इति।' 'योगात् जातो योगजः' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को बताते हैं—'योगाभ्यासजनितो धर्मविशेष' इति। चित्तवृत्तिनिरोध को 'योग' कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—( यो० सू० १।२ ) वह योग, समाधिरूप ही है। 'युज् समाधौ' इस समाधि अर्थ वाले 'युज्' धातु से उक्त 'योग' शब्द की निष्पत्ति होती है, 'युजिर् योगे' इस संयोगार्थक 'युजिर्' धातु से उक्त योग शब्द की निष्पत्ति नहीं है। युक्त और युञ्जानरूप योगी के भेद से योगाभ्यास से उत्पन्न होने वाले तथा श्रुतिपुराणादिकों में वर्णित, योगज धर्म ( पुण्य ) विशेष दो प्रकार का होता है। योगरूप समाधि के लिये उसके साधनों ( यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ) का अभ्यास तथा ईश्वरप्रणिधान का अभ्यास करना पड़ता है, तब उससे धारणा, ध्यान का सम्पादक एक धर्म विशेष ( महान् पुण्य ) और ईश्वरानुग्रह से प्राप्त हुए ज्ञान में वैशारद्य

होता है। इसका समर्थन श्रुतियों ने किया है—'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।'—( कण्ठवल्ली अ–१, व–२, मं–१२ ) 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।'—( मुं–३, खं–१, तं–८ ), 'ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्त।'—( मुं–३, खं–२, मं–५ )। तथा च यमनियमादि के अभ्यास से उत्पन्न पुण्यात्मक सन्निकर्ष, धारणा-ध्यान-समाधिरूपसंयम ( चिन्तन ) सहित होकर युञ्जानयोगी को कालन्तरीय-देशान्तरीय-सूक्ष्म-विप्रकृष्ट पदार्थों का अलौकिक प्रत्यक्ष करा देता है। उसी प्रकार ईश्वरप्रणिधानलभ्य ईश्वरानुग्रहान्वितज्ञानवैशारद्यरूप सार्वज्ञ्यकल्प सन्निकर्ष से युक्तयोगी को सार्वदिक् स्फुरणरूप विवेकसाक्षात्कार होता रहता है। ईश्वरानुग्रहान्वितज्ञानप्रसाद ही युक्तधर्म है उससे समन्वित योगी को युक्तयोगी कहते हैं। और संयमसहकृत महत् पुण्य ही युञ्जानधर्म है, उससे समन्वित योगी को युञ्जानयोगी कहते हैं। युक्त और युञ्जान ये दो धर्म हैं। युक्तस्येति। ईश्वरानुग्रहविशिष्टज्ञानप्रसाद प्राप्त किये युक्तयोगी को ईश्वरप्रणिधानजनित अनुग्रहविशिष्टज्ञानप्रसाद रूप योगजधर्म की सहायता से, मन ( अन्तःकरण ) में आकाश, परमाणु आदि समस्त पदार्थों का अलौकिक प्रत्यक्षात्मकज्ञान सर्वदा ही अविच्छिन्नरूप से होता रहता है। तथा युञ्जानयोगी को ध्यान, धारणा आदि संयमरूप चिन्ताविशेष करने से अर्थात् संयम सहकृत पुण्यान्वित मन के द्वारा यद्विषयक संयम होगा, तद्विषयक ही अलौकिक साक्षात्कार ( अलौकिक प्रत्यक्ष ) होता है। अभिप्राय यह है कि युक्तयोगी को निखिलविषयविषयकसाक्षात्कार, बिना चिन्ता किये भी होता रहता है किन्तु युञ्जानयोगी को अपना चित्त एकाग्र करना पड़ता है अर्थात् चित्त को तत्तद्विषयाकार करना पड़ता है तब उसे सार्वकालिक, सार्वदेशिक पदार्थों का ज्ञान होता है ॥ ६५ ½ ॥

श्रीमद्भगवदवताराणाम्पूज्यपादानाम्पण्डितराज—श्रीराजेश्वरशास्त्रि-
द्राविडचरणानामनुगृहीतान्तेवासिना, पूज्यपादश्रीमन्महामहोपाध्याय-
श्रीसदाशिवशास्त्रिचरणतनूजन्मना, मुसलगाँवकरोपनामकेन
श्रीगजाननशास्त्रिणा विरचितायां बालप्रियाख्यायां
व्याख्यायाम् प्रथमम्प्रत्यक्षखण्डम्।
( प्रत्यक्षस्वरूपाभिधानपरा तुरीया मुक्ता )

---

# रेखाचित्रों द्वारा न्या० सि० मु० का सिंहावलोकन

**चित्र संख्या १**

- मंगलवाद
  - पूर्वपक्ष ( मंगलाचरण व्यर्थ )
  - सिद्धान्तपक्ष
    - प्राचीन नैयायिक ( समाप्तिफल )
    - नव्य नैयायिक ( विघ्नध्वंस फल )

**चित्र संख्या २**

- 'कार्यत्व' हेतु से ईश्वर की सिद्धि
  - पूर्वपक्ष
    - 'शरीराजन्यत्व' हेतु से सत्प्रतिपक्ष।
  - सिद्धान्तपक्ष
    - कार्य-कारणभावरूप अनुकूल तर्क के आधार पर पूर्वपक्ष का निरसन।

**चित्र संख्या ३**

- पदार्थ विभाग
  - ( १ ) द्रव्य
  - ( २ ) गुण
  - ( ३ ) कर्म
  - ( ४ ) सामान्य
  - ( ५ ) विशेष
  - ( ६ ) समवाय
  - ( ७ ) अभाव

**चित्र संख्या ४**

- द्रव्य विभाग
  - ( १ ) पृथिवी
  - ( २ ) जल
  - ( ३ ) तेज
  - ( ४ ) वायु
  - ( ५ ) आकाश
  - ( ६ ) काल
  - ( ७ ) दिशा
  - ( ८ ) आत्मा
  - ( ९ ) मन

**चित्र संख्या ५**

- तम
  - पूर्वपक्ष
    - रूपवत्व तथा कर्मवत्व के आधारपर दशम द्रव्य तम का प्रतिपादन।
  - सिद्धान्तपक्ष
    - आवश्यक तेजोऽभावरूप से तम की उपपत्ति करते हुए पूर्वपक्ष का निरसन।

चित्र संख्या ६ — गुण विभाग

- (१) रूप
- (२) रस
- (३) गन्ध
- (४) स्पर्श
- (५) संख्या
- (६) परिमाण
- (१३) सुख
- (१४) दुःख
- (१५) इच्छा
- (१६) द्वेष
- (१७) यत्न
- (१८) गुरुत्व
- (७) पृथक्त्व
- (८) संयोग
- (९) विभाग
- (१०) परत्व
- (११) अपरत्व
- (१२) बुद्धि
- (१९) द्रवत्व
- (२०) स्नेह
- (२१) संस्कार
- (२२-२३) अदृष्ट
  - (१) धर्म
  - (२) अधर्म
- (२४) शब्द

चित्र संख्या ७ — कर्म विभाग

- (१) उत्क्षेपण
- (२) अपक्षेपण
- (३) आकुञ्चन
- (४) प्रसारण
- (५) गमन
  - (१) भ्रमण
  - (२) रेचन
  - (३) स्यन्दन
  - (४) उर्ध्वज्वलन
  - (५) तिर्यग्गमन

चित्र संख्या ८ — सामान्य ( जाति ) विभाग

- परसामान्य — द्रव्य, गुण कर्म तीनों में विद्यमान सत्ता
- अपरसामान्य — सत्ताभिन्न द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि
- परा-पर-सामान्य
  - पर सामान्य — पृथिवीत्व, जलत्व, रूपत्व गमनत्वादि की अपेक्षा द्रव्यत्व, गुणत्व कर्मत्वादि पर-सामान्य हैं।
  - अपर सामान्य — द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि की अपेक्षा-पृथिवीत्व, जलत्व, रूपत्व, गमनत्वादि-अपर सामान्य हैं।



घटत्व, पटत्व, रसत्व, शुक्लत्व, भ्रमणत्वादि की अपेक्षा पृथिवीत्व, जलत्व रूपत्व, गमनत्वादि, परसामान्य हैं। पृथिवीत्व, जलत्व, रूपत्व, गमनत्वादि की अपेक्षा घटत्व-पटत्व-रसत्व शुक्लत्व-भ्रमणत्वादि अपर-सामान्य है।

चित्र संख्या ९ — जातिबाधक

- (१) व्यक्ति का अभेद, — आकाशत्व,
- (२) तुल्यत्व, — कलशत्व-घटत्व,
- (३) संकर, — भूतत्व-मूर्तत्व,
- (४) अनवस्थिति, — जातित्व,
- (५) रूपहानि, — विशेषत्वजाति,
- (६) असम्बन्ध — समवायत्व अभावत्व

चित्र संख्या १० — अभाव-विभाग

- (१) संसर्गाभाव
  - (१) प्रागभाव
  - (२) प्रध्वंसाभाव
  - (३) अत्यन्ताभाव
- (२) अन्योन्याभाव

चित्र संख्या ११ — साधर्म्य-प्रदर्शन सप्त-पदार्थ

- (१) द्रव्य
- (२) गुण
- (३) कर्म
- (४) सामान्य
- (५) विशेष
- (६) समवाय
- (७) अभाव

ज्ञेयत्व अभिधेयत्व तथा प्रमेयत्व यह सातों पदार्थों का साधर्म्य है। परिमाण्डल्य (परमाणु द्व्यणुक एवं मन के परिमाण को) छोड़कर कारणत्व यह सातों का साधर्म्य है। भावत्व अनेकत्व तथा समवायित्व यह पाँचों का साधर्म्य है। गुणरहितत्व क्रियाशून्यत्व (निष्क्रियत्व) गुण से लेकर अभाव तक इन छः का साधर्म्य है। द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों का सत्तावत्त्व रूप साधर्म्य है। सामान्य का अधिकरणत्व सामान्य से लेकर अभाव तक इन चारों का साधर्म्य है।

चित्र संख्या १२ — कारण-विभाग

- (१) समवायि कारण — द्रव्यमात्रवृत्ति
- (२) असमवायि कारण — गुणकर्ममात्रवृत्ति
  - (१) कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति
  - (२) कारणैकार्थप्रत्यासत्ति
- (३) निमित्त कारण

चित्र संख्या १३ — अन्यथा सिद्धि

| (१) | (२) | (३) | (४) | (५) |
|---|---|---|---|---|
| जिसके साथ पूर्वभाव हो। | कारण को लेकर ही जिसका पूर्वभाव हो। | किसी अन्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होने पर ही कार्य के प्रति जिसके पूर्वभाव का निश्चय हो। | जनक के प्रति पूर्वभाव ज्ञात हुए विना कार्य के प्रति जिसके पूर्वभाव का ज्ञान न हो। | नियत आवश्यक पूर्वभावी पदार्थों से जो भी अतिरिक्त हो। |
| घट कार्य के प्रति दण्डत्व। | घट कार्य के प्रति-दण्डरूपादि। | घट के प्रति-आकाश। | घट के प्रति-कुलाल-पिता | घट के प्रति-रासभ ( गर्दभादि ) |

चित्र संख्या १४ — पृथिवी

- (१) नित्य-परमाणुरूपा
- (२) अनित्य-द्व्यणुकादिरूपा
  - (१) देह
    - (१) योनिज
      - (१) जरायुज — मनुष्यादि देह
      - (२) अण्डज — सर्पादि-देह
    - (२) अयोनिज
      - (१) स्वेदज — कृमि, दंशादि-देह
      - (२) उद्भिज्ज — वृक्षादि-देह
  - (२) इन्द्रिय — घ्राणेन्द्रिय,
  - (३) विषय — द्व्यणुकादि से ब्रह्माण्डपर्यन्त



चित्र संख्या १५ — पार्थिव गुण

- १ रूप
  - (१) शुक्ल (२) नील (३) पीत (४) रक्त (५) हरित (६) कपिश (७) चित्र
- २ रस
  - (१) मधुर (२) अम्ल (३) लवण (४) कटु (५) कषाय (६) तिक्त
- ३ गन्ध
  - (१) सुगन्ध
  - (२) दुर्गन्ध
- ४ स्पर्श — अनुष्णाशीत पाकज

चित्र संख्या १६ — जल

- नित्य-परमाणुरूप
- अनित्य-द्व्यणुकादिरूप
  - (१) देह — अयोनिजमात्र
  - (२) इन्द्रिय — रसन
  - (३) विषय — सिन्धु, हिम, समुद्रादि

जलीय गुण

(१) रूप — अभास्वर शुक्ल
(२) रस — मधुर
(३) स्पर्श — शीत
(४) स्नेह
(५) द्रवत्व — सांसिद्धिक

चित्र संख्या १७

तेज

(१) नित्य-परमाणुरूप
(२) अनित्य-द्व्यणुकादिरूप
- (१) देह — अयोनिज मात्र सूर्य, सूर्यलोक में प्रसिद्ध
- (२) इन्द्रिय — चक्षु
- (३) विषय — वह्नि, स्वर्ण आदि

तैजसगुण

(१) रूप — शुक्ल-भास्वर,
(२) स्पर्श — उष्णस्पर्श
(३) द्रवत्व — नैमित्तिक

चित्र संख्या १८

वायु

(१) नित्य परमाणु रूप
(२) अनित्य द्व्यणुकादिरूप
- (१)
- (२)
- (३)



शरीर — अयोनिज-पिशाचादि
इन्द्रिय — त्वक्
विषय — प्राणादिवायु से महावायुपर्यन्त

वायु

(१) वायवीय गुण — अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श
(२) वायवीय कर्म — तिर्यग्-गमन

वायवीय अनुमान हेतु

(१) स्पर्श
(२) शब्द
(३) धृति
(४) कम्प

चित्र संख्या १९

आकाश

(१) एकव्यक्ति नित्यमात्र
(२) गुण — शब्द
(३) इन्द्रिय — श्रोत्र

चित्र संख्या २०

काल
एक व्यक्ति, नित्यमात्र

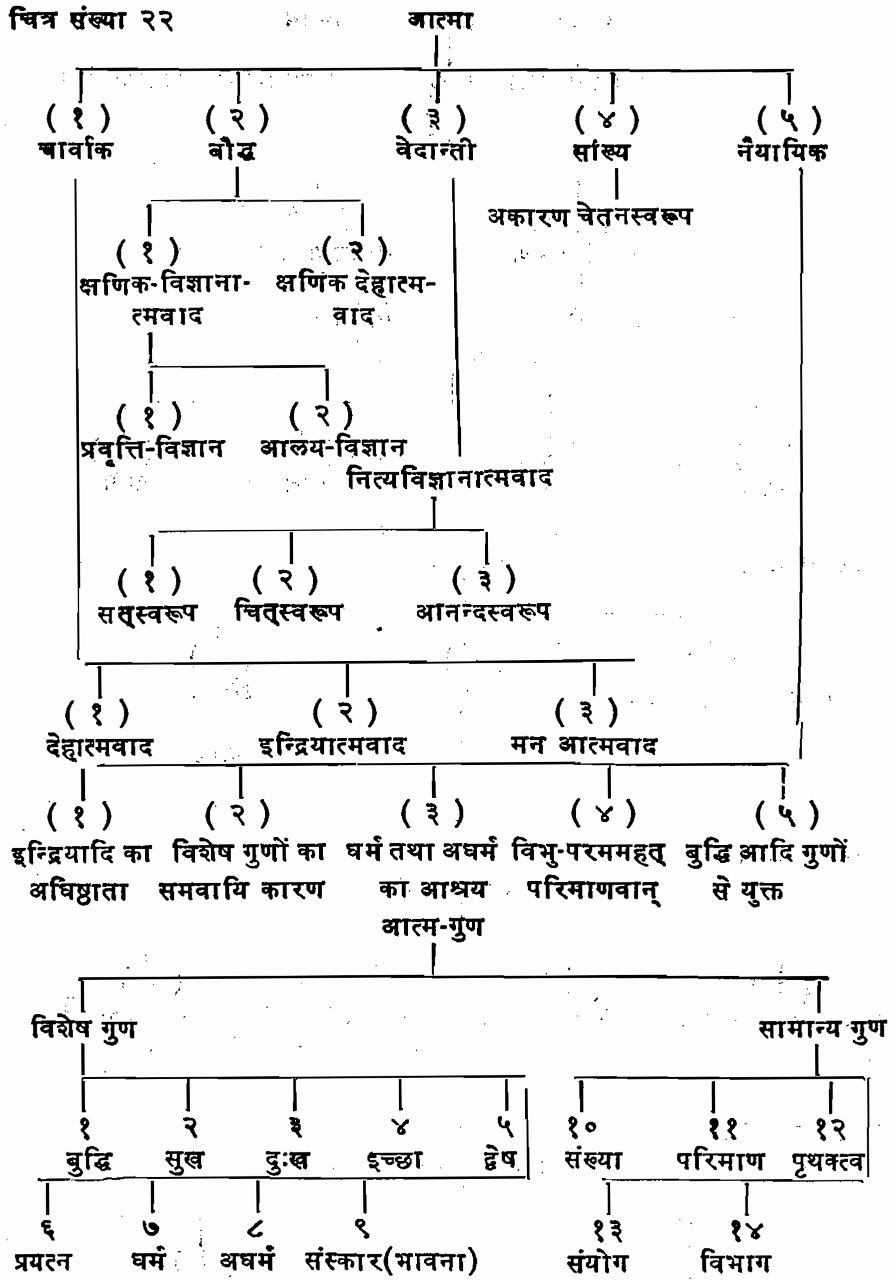
(१) कार्यमात्र का कारण
(२) जगत् का आश्रय
(३) परत्वापरत्वज्ञानहेतु
(४) उपाधिभेद से क्षणादिरूप

चित्र संख्या २१

दिक्
नित्य, एकव्यक्तिमात्र

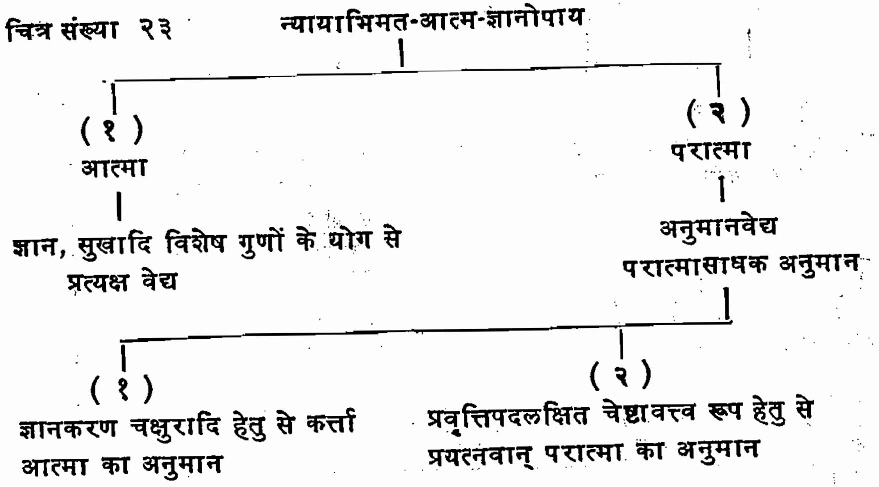
(१) दूर तथा समीप ज्ञान हेतु
(२) उपाधि भेद से प्राची, प्रतीची आदि व्यवहार

चित्र संख्या २२

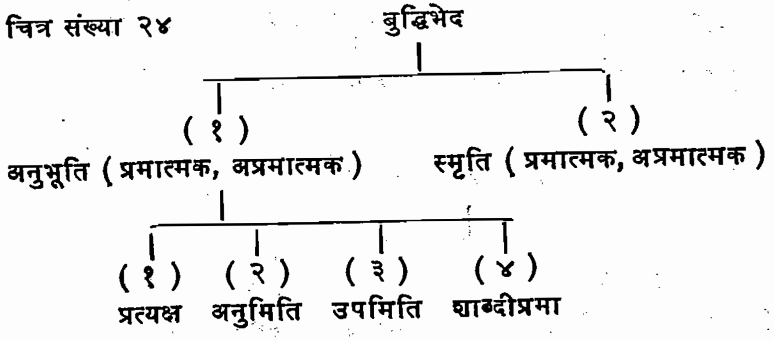




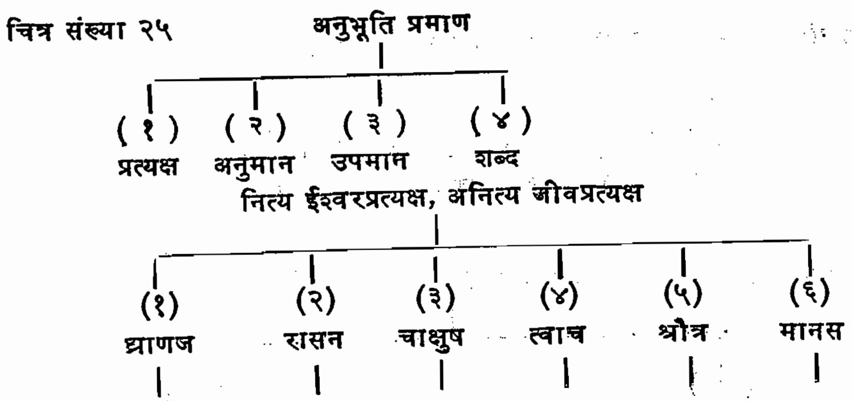

चित्र संख्या २३

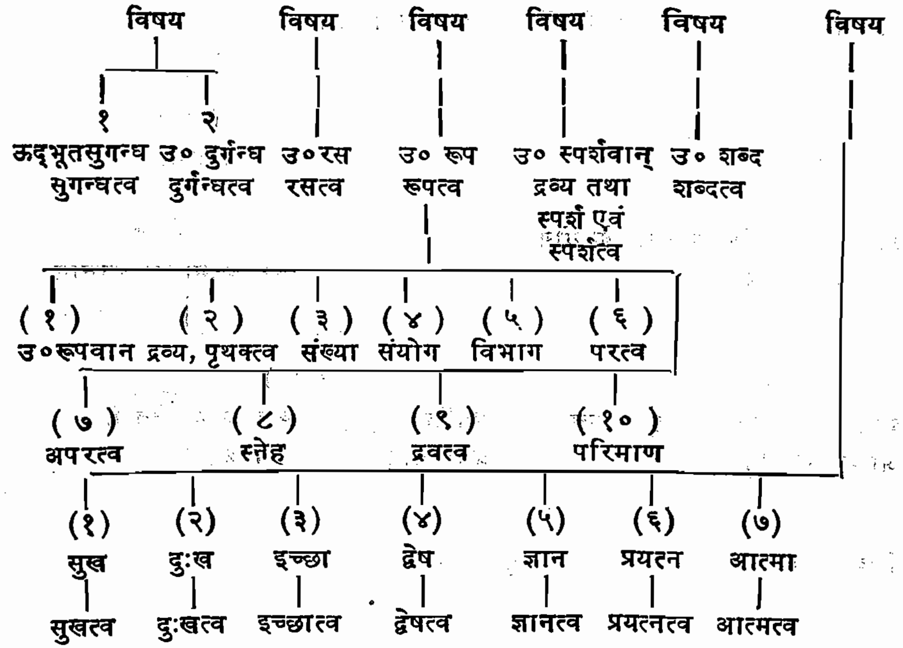



चित्र संख्या २४

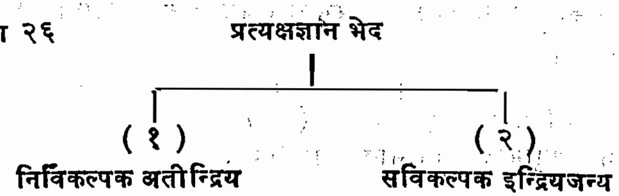



चित्र संख्या २५

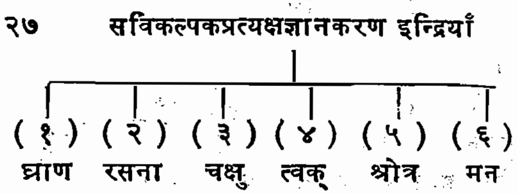




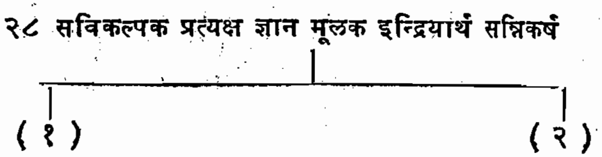

चित्र संख्या २६



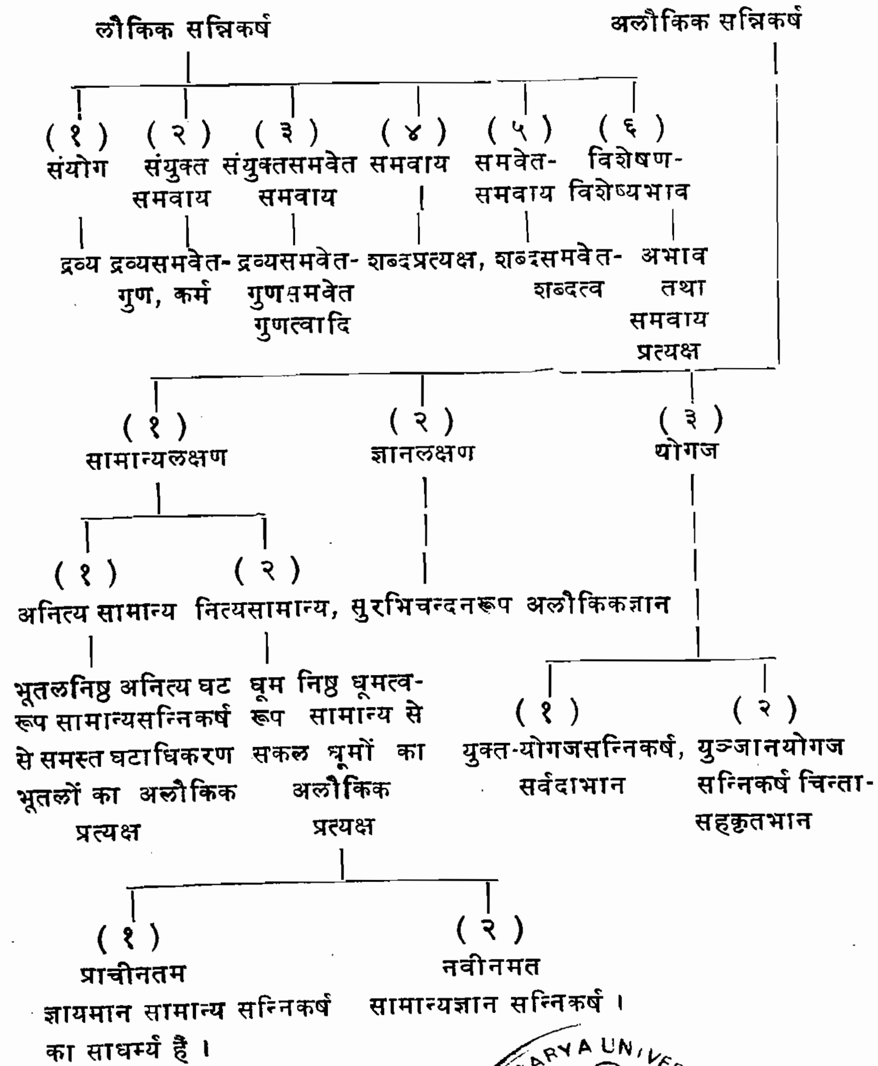

चित्र संख्या २७




चित्र संख्या २८






॥ समाप्ति ॥